प्रसाद-साहित्य में आदर्शवाद एवं नैतिक-दर्शन

[पात्रों के परिपार्श्व में]

लेखक :
आचार्य उमेश शास्त्री
एम ए. (हिन्दी-संस्कृत), साहित्याचार्य

प्राक्कथन :
डा. मण्डन मिश्र
प्राचार्य
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

- [ ] हिन्दी-प्रचार-परिषद् राजस्थान, जयपुर के तत्वाधान में परिशोधित शोध-प्रबन्ध
- [ ] प्रसाद-साहित्य के आदर्श पात्रों का नैतिक-दर्शन विषयक विश्लेषणात्मक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

आचार्य उमेश शास्त्री

प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३.

मुद्रक : एलोरा प्रिण्टर्स, जयपुर

मूल्य : ५५.०० रुपये

—जीवन सहचरी
शकुन्तला को

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व-कर्म रंगस्थल है;
है लग रही परम्परा यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है

—प्रसाद

प्राक्कथन

शोध-प्रबन्ध की दृष्टि से यह काल भीड़ भरा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वर्तमान काल हिन्दी साहित्य का, रचनात्मक दृष्टि से प्रयोगवादी रहा है किन्तु शोध-संधान की प्रवृत्ति रचनात्मक रही है, यह तथ्य पृथक् है कि इस दिशा में हमें सफलता कहाँ तक प्राप्त हुई है? भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा प्राच्य-शोध-प्रतिष्ठानों में शोधपरक प्रवृत्ति की अच्छी खासी भीड़ है और कुछ कार्य भी हुआ है। इस दिशा में अनेक विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और उनके प्रबन्ध हिन्दी-वाङ्मय के लिये उपलब्धियाँ हैं—इसी क्रम में "प्रसाद साहित्य में आदर्शवाद एवं नैतिक-दर्शन" प्रबन्ध है। यह शोध-प्रवन्ध न पी. एच. डी. के निर्धारित सूत्रों से प्रतिवद्धित है और न ही किसी पूर्वाग्रह-दृष्टि से अनुबन्धित ही, अपितु श्री उमेश शास्त्री की मौलिक-प्रतिभा की उपस्थिति है, जिसमें प्रसाद-दर्शन की उन मूल-वृत्तियों का विशद विवेचन है—जिनका आधार भारतीय संस्कृति एवं दर्शन है। प्रबन्ध का विषय केवल गवेषणा ही नहीं हैं प्रत्युत सम्यक विषय का अभिनव दृष्टि के साथ प्रस्तुतीकरण भी है। श्री शास्त्री ने अपने संस्कृत-अध्ययन के कारण प्रसाद-साहित्य में महाकवि के रचनाक्रम में उन बिन्दुओं को खोजने का प्रयास किया है—जिनके आधार अथवा बिन्दुओं के प्रश्रय पर रचनाकार सृजन की दिशा में गतिशील होता है। यह सत्य है कि किसी भी रचनाकार की सृजन-प्रक्रिया में कुछ मूलभूत आधार होते हैं—और कवि उन्हीं बिन्दुओं के सम्बल पर रेखायें खींचकर मन चाहा रंग भरने की ओर प्रवृत्त होता है।

श्री जयशंकर प्रसाद हिन्दी–साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं—यह निस्सन्देह है। अपितु यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्रसाद हिन्दी साहित्य के आधुनिक-युग के वेदव्यास हैं। जिस प्रकार व्यास ने संस्कृत-साहित्य और भारतीय-संस्कृति को प्रभावित किया है—उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य का वर्तमान स्वरूप किसी भी क्षेत्र में प्रसाद के प्रभाव से उन्मुक्त नहीं है। प्रसाद का साहित्य आगे आने वाले लेखकों के लिये प्रेरणा-स्रोत रहा है और उसमें इतनी गम्भीरता और अगाधता है कि वह युग-युगों तक सहस्रों लेखकों को प्रेरणा देता रहेगा।

प्रसाद-साहित्य का मूल वैशिष्ट्य भारतीय संस्कृति के सूत्र ही नहीं है प्रत्युत उनकी रचना-प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में गम्भीर स्वाध्याय की प्रवृत्ति का प्रभाव है । इसी गम्भीरता एवं व्यापकता के कारण प्रसाद-वाङ्मय साहित्य में सर्वोपरि स्थान रखता है । लेखक श्री शास्त्री ने भी प्रसाद-साहित्य के अभाव में हिन्दी-साहित्य को अपूर्व स्वीकारते हुए कहा है :—"जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी-साहित्य की प्रत्येक विधा में महत्त्वपूर्ण सृजन किया और नवीन दृष्टि के साथ सांस्कृतिक, सामाजिक-स्थितियों का मूल्यांकन स्थापित किया । प्रसाद-साहित्य के अभाव में हिन्दी-साहित्य का आधुनिक-काल अधूरा-सा लगने लग जाता है । भारतीय सांस्कृतिक-मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले प्रसाद ही हैं ।"

इसका मूल कारण प्रसाद के भाव-पक्ष की महत्ता है । वह स्थायी आध्यात्मिक-तत्त्वों को लेकर चलता है और उसके प्रत्येक भाव का विलय 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में जाकर होता हैं । इसलिए प्रसाद का साहित्य देश और काल की परिधि से ऊपर उठा हुआ है । यदि आधुनिक हिन्दी-साहित्य को प्रसाद और उसके साहित्य को पृथक कर देखा जाय तो वह न केवल आभाहीन प्रतीत होगा अपितु निष्प्राण सा लगेगा । यही कारण है कि गत-दशकों में प्रसाद हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक चिन्तन का विषय रहा है और अनेकों समालोचकों ने उसकी समालोचना कर महत्वपूर्ण दिशा प्रदान की है । उसी परम्परा में श्री उमेश शास्त्री का प्रस्तुत ग्रन्थ एक नई दिशा के साथ शृंखला को जोड़ता है । सृजन का आधार स्वाध्याय भी है—और महाकवि ने सृजन-प्रक्रिया के आधार-स्वरूप समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया । इस प्रसंग में श्री शास्त्री ने लिखा है - "प्रसाद जी की यह विशेषता कही जा सकती है कि अपने प्रतिपाद्य विषय के लिये उन्हें जहाँ से जितनी सामग्री प्राप्त हो सकती थी—उसके लिये वे हर क्षण प्रयत्नशील रहे और तत्सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करने के लिए वैदिक-ग्रन्थों से लेकर शिलालेखों तक की ज्ञान-यात्रा की, इतिहास के पृष्ठों में उन पंक्तियों को खोज निकाला और फिर बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित कर उन्होंने अपने सृजन का आधार बनाया ।"

आज सृजन-प्रक्रिया की गति अति ही तीव्र है, प्रकाशन भी सुलभ है किन्तु रचनाकार के निकट कथ्य नहीं है । आज का रचनाकार केवल कल्पना के प्रवाह में बहता हुआ अनुकरणमूलक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर है । उसके निकट अपनापन कुछ भी नहीं है, और नये के नाम पर यदि कुछ सम्भव है तो शब्द-व्यापार की प्रक्रिया में से तराशी हुई शैली ! यही कारण है कि आज पाठक का मन आधुनिक-सृजन से विमुख होता दिखाई दे रहा है । इसका मुख्य कारण आज का रचनाकार अतीत के इतिहास से स्वयं को पृथक् कर अहंमन्यता की भूमिका को प्रस्तुत करता हुआ

सांस्कृतिक-मूल्यों को अस्वीकृति के साथ हेय-दृष्टि देख रहा है। नैतिकता के आंगन से दूर खड़ा हो मिथ्या आकांक्षा के हवाई महल खड़े करने की प्रक्रिया में पंगु-विश्वास जीने का दम्भी हो गया है—ऐसा प्रतीत होता हैं। कल तक के सृजन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और भावी 'कल' के निर्माण में योगदान देने की आकांक्षा नहीं, यदि कुछ है तो अपनी शैली के फैलाव में उपलब्धियों एवं पुरुष्कारों को भर लेना चाहता हैं— और यही कारण है कि वह स्वाध्याय से बहुत दूर चला गया है, चिन्तन के चौराहे से हटकर भीड़ भरी काली कोठरी में बैठा हुआ यथार्थ का वमन करता रहता है, अथवा सठियायी खांसी खासने का आदी हो चला है। सम्भव है, मैं अति ही कटु अनुभूति को व्यक्त कर गया हूँ किन्तु मैं अपने-आपमें इस सत्यता को छिपा कर रखना भी नहीं चाहता हूँ। आज विश्वजनीन मानवता में असन्तोष, कुण्ठा, संत्रास आदि की जो विसंगतियाँ उभर कर आ रही हैं—उनका मुख्य कारण सांस्कृतिक-मूल्यों को ठुकरा कर उच्छृखंल जीवन जीना है। इसकी पृष्ठभूमि में रचनाकारों का महत्वपूर्ण दायित्व है— इसे कभी नहीं अस्वीकार किया जा सकता।

श्री प्रसाद का रचना-समय अनेक विसंगतियों से पूर्ण तथा निराशा का वितान लिए हुए था—किन्तु इनकी रचना-प्रक्रिया में कहीं भी असांस्कृतिकता का प्रवेश दिखाई नहीं देता है। निरन्तर स्वाध्याय, दिशातीत चिन्तन एवं मंगलमयी कल्पना के साथ मानवता को एक अभिनव स्वस्थ्य परिवेश में देखना चाहा है, एक दिव्य शान्तिप्रद राष्ट्र की परिकलपना में अपने कवि को मुक्त रूप से विचरण करने के लिये असीम-स्थिति में छोड़ दिया। श्री उमेश शास्त्री की प्रमुख विशेषता यह रही कि—प्रसाद-सृजन में सांस्कृतिक मूल्यों की स्थिति का पर्यालोचन करते हुए मूलभूत आधार-बिन्दुओं को ग्राह्य किया है तथा यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय संस्कृति के सूत्रों पर विश्व को एक नवीन दिशा प्रदान की जा सकती है। भारतीय कवि केवल शब्दों का सूत्रधार ही नहीं और न यथार्थ का वमन करने वाला ही अपितु मानवता के हितों का संरक्षक है, वह आशा एवं विश्वास के साथ संत्रस्त मानवता को अभिनव-दिशा देने में सक्षम है। प्राचीन को नवीन परिवेश के साथ प्रस्तुत करते हुए श्री प्रसाद ने मानव-जगत् को बहुत कुछ दिया है।

श्री उमेश शास्त्री ने प्रसाद-साहित्य के पात्रों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए प्राचीन भेद-विभेद की मान्यताओं का खण्डन किया है तथा साथ ही पात्र-वर्गीकरण एवं सूत्रों की पुनर्व्याख्या की है जो सामयिक-चिन्तन-धारा को देखते हुए उपयुक्त भी है। आज 'श्रृंगार' को दृष्टिगत रखते हुए मानवीय-गुणों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है और न किसी पात्र के व्यक्तित्व का वास्तविक मूल्यांकन ही संभव हो सकेगा। पात्र-व्यक्तित्व की समीक्षा के लिए हमें नूतन परिभाषाओं की अपेक्षा थी। श्री शास्त्री ने इस दिशा में पात्रों के वाहय स्वरूप को ग्राहय न कर आन्तरिक मनो-

वेगों को स्पर्श किया है । यद्यपि ऐसे पात्र हमें प्राचीन काल के साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं किन्तु समीक्षा-दृष्टि में बहुत कुछ अन्तर आ गया है। इस शोध-प्रबन्ध में प्रसाद जी के समस्त वाङ्मय के आदर्शनिष्ठ पात्रों को लेखक ने एक स्थान पर एकत्रित कर उनके व्यक्तित्व एवं आदर्शनिष्ठ-मूल्यों का सम्यक् विश्लेषण किया है। साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि प्रसाद के खल-पात्र भी आदर्शपरक दिशा की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित रहे हैं। प्रसाद के द्वारा ऐसे पात्रों की कल्पना में भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की प्रेरणा रही है।

प्रसाद का साहित्य संस्कृत के साहित्यिक तथा दार्शनिक तत्त्वों से ओतप्रोत है। अत: मेरी दृष्टि में संस्कृत-साहित्य का परिनिष्ठित विद्वान ही उसके अन्तस्तल तक पहुंचने का एक मात्र अधिकारी हो सकता है। सौभाग्य से श्री शास्त्री में संस्कृत-साहित्य की अन्तरात्मा या भावपक्ष और हिन्दी-साहित्य के शरीर अथवा कला-पक्ष का अधिकारपूर्ण समन्वय है। अतएव उनके विषय-निरुपण में गम्भीर-पाण्डित्य और मनन तथा प्रस्तुतीकरण में शोध-दृष्टि एवं सम्यक चिन्तन की तीव्रता व प्रांजल शैली का समन्वयात्मक रूप दिखाई देता है।

श्री शास्त्री की प्रतिभा को उनके अनेक ग्रंथों की अपेक्षा इसमें अधिक निखरने का अवसर मिला है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रतिपाद्य विषय श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि समस्त प्रक्रियाओं से उनके द्वारा आत्मसात् कर लिया गया है। प्रसाद पर जब उनकी लेखिनी चलती है तो ऐसा आभास होता है कि वह अपने अधिकृत राजमार्ग पर विहार कर रही है।

प्रसाद की एक-एक रचना पर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये हैं और अभी भी लिखे जायेंगे। किन्तु इस एक ही शोध-प्रबन्ध में प्रसाद की समस्त रचनाओं का विश्लेषण प्रसाद के महान स्वरूप को एक दिव्य और सूक्ष्म आकृति प्रदान करता है। एक ही स्थान पर प्रसाद की विविधताओं के सम्मिलन ने इस पुस्तक को एक उत्तम संगम का रूप प्रदान कर दिया है। निश्चय ही यह ग्रन्थ प्रसाद के जिज्ञासुओं और गम्भीर पाठकों के लिए एक दीप्तिमान ज्ञान-प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगा।

हिन्दी-साहित्य के शोध-ग्रन्थों में यह ग्रन्थ एक नवीन परम्परा को स्थापित करता हुआ दिशा देने में सक्षम है, इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी हिन्दी-संसार को उपलब्ध हो सके तो रचनाकारों तथा हिन्दी-पाठकों को बहुत कुछ पाने और समझने का अवसर सुलभ हो सकेगा। इस सत्प्रयास की सफलता के लिए मैं श्री उमेश शास्त्री का अभिनन्दन करता हूं और आशा करता हूं कि उनकी लेखनी इसी प्रकार के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों से हिन्दी-साहित्य की श्री वृद्धि करती रहेगी।

डा० मण्डन मिश्र
प्राचार्य
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
तिरुपति (आँन्ध्र प्रदेश)

संदर्भीय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यद्यपि जयशंकर प्रसाद साहित्य के आदर्शनिष्ठ पात्रों का प्रधानतया विश्लेषण है तथा उनके नैतिक मूल्यों का विवेचन है परन्तु ये आदर्श-पात्र भारतीय संस्कृति के नीतिपरक तत्वों का स्वरूप लिए हुये हैं— अतः आदर्शवाद, पात्र-लक्षण एवं वर्गीकरण तथा नैतिक मूल्यों का स्वरूप भी इस विवेचन में सम्मिलित किया गया है। आदर्श पात्रों के निरूपण में मैंने यह प्रमाणित करने का यत्न किया है कि यथार्थमूलक पात्र केवल युग बोध के दर्शन कराने में सक्षम हैं न कि दिशाबोध प्रदान करने में प्रेरक; आदर्शनिष्ठ पात्र ही इस समाज को समुचित दिशा प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं और अपने नैतिक-मूल्यों के सम्बल पर सामाजिक-व्यवस्था को अस्तित्वमय एवं विकृतिशून्य प्रकृति दे सकते हैं।

नैतिकता साहित्य का परम लक्ष्य है और जीवन का शाश्वत् सत्य है—इसकी उपेक्षा किसी की युग को स्वीकार नहीं हो सकेगी और यही एक ऐसा तत्व है—जो युग-युगों से व्यक्तिचेतना को सृजन-धर्म के हित प्रेरित करता रहा है। सम्प्रति नैतिकता व्यक्ति-चेतना से असम्पृक्त सी परिलक्षित होती दिखाई दे रही है—जिसकी परिणति सामाजिक-अव्यवस्था, जीवन-धर्म के प्रति अनास्था एवं मानसिक-सुख की अपेक्षा भौतिक सुखों के प्रति लालसा, अनस्तित्व एवं संत्रास के विकृत स्वर हैं। इसका कारण आदर्शपरक पथ से विलग होकर केवल युगीन बोध का दिग्दर्शन करना है जो सत्य होते हुए भी शिवात्मक एवं सुन्दर नहीं है।

महाकवि कालिदास के अनन्तर मानस के रचयिता तुलसीदास ने मानव जीवन के शाश्वत धर्म को समझा और मानस की रचना कर नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की—इस क्रम में श्री जयशंकर प्रसाद ही एक ऐसे समर्थ रचनाकार हुए—जिन्होंने अपने युगीन धर्म एवं व्यवस्था को तलाशते हुये साहित्य-सृजन किया और भारतीय संस्कृति के लुप्त स्वरों को पुनः प्रतिष्ठापित् करने के लिये आदर्श-पात्रों की सर्जना कर नैतिक-स्वर प्रदान किये। मैंने पात्रों को संस्कृत साहित्य के लक्षणों के आधार पर चारित्रिक दृष्टि से वर्गीकरण में सम्मिलित नहीं किया है—अपितु पात्र-वर्गीकरण पर पुनःविचार करने के लिये साग्रह साहस किया है तथा आदर्शपरक दृष्टि से उनका वर्गी-

करण प्रस्तुत किया है । प्रसाद साहित्य में आदर्शनिष्ठ पात्रों का साम्राज्य है और जो पात्र यथार्थ के स्वर पर चलता रहा—वह भी अन्त में प्रायश्चित के साथ आदर्शवाद की ओर ही प्रेरित हुआ ।

भारतीय-संस्कृति के नीतिपरक तत्वों के अभाव में सृजित साहित्य कभी भी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता है और न वह युग को दिशाबोध देने में ही सक्षम हो सकता है । प्रसादजी ने प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रंथों का पर्याप्त अध्ययन किया था और उन्हीं से शाश्वत सत्य-सूत्रों का चयन कर अपने सृजन का आधार बनाया इस संदर्भ में सम्यक् विवेचन हुआ है ।

प्रसाद-साहित्य के विवेचन, आदर्शवाद तथा पात्रों के नैतिक-दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन के हित यह प्रबन्ध पूर्ण ग्रंथ होगा—ऐसी मेरी मान्यता है । मैं अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ तथा प्रस्तुत ग्रंथ प्रसाद साहित्य के अध्ययन क्षेत्र की अभिवृद्धि में कहाँ तक योग देगा ? इसका निर्णय विद्वान ही करेंगे ।

इस प्रबन्ध के प्रकाशन में देवनागर प्रकाशन के संचालक व्यवस्थापक श्री पवनचन्द सिंघवी एवं श्री मनमोहनराज ने अपना उत्साह दिखाकर मुझे अनुगृहीत किया है । मैं अपने गुरुवर श्रद्धेय डा० श्री मंडन मिश्रजी का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से समय निकालते हुए प्राक्कथन लिख कर मार्ग प्रशस्त किया है । इनके अतिरिक्त आचार्य श्री सीताराम पारीक, रामजीलाल शास्त्री एवं रेवती रमण साहित्याचार्य का भी आभारी हूँ जिनसे मुझे परामर्श मिलता रहा और इस कार्य में अन्त तक सहयोगी रहे ।

उमेश शास्त्री
प्राचार्य
चमड़िया संस्कृत कालेज
फतेहपुर–शेखावाटी

गुरुपूर्णिमा २०३०

अनुक्रम

हिन्दी साहित्य और प्रसाद

सफल मानवीय व्यक्तित्व

हिन्दी साहित्य और प्रसाद

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग सृजन का स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। यही युग हिन्दी साहित्य के इतिहास का सर्वाधिक विस्तृत काल है। इस युग का आरम्भ सामान्यत: सन् १८५० से माना जाता है। इस युग का श्री गणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म-संवत से हुआ। इस युग से पूर्व साहित्यिक-विधाओं में केवल पद्य-रचना की ही परम्परा थी। यद्यपि संस्कृत-वाङ्मय में विविध-विधाओं का जन्म व सृजन हजारों वर्ष पूर्व ही हो चुका था किन्तु हिन्दी साहित्यकारों ने अभिव्यक्ति का माध्यम पद्य-रचना को ही स्वीकार किया। रीति काल में लक्षण-ग्रन्थों की रचना भी पद्य-विधा में ही की गई। रीतिकाल तक यही परम्परा चलती रही किन्तु आधुनिक युग के प्रारम्भ ने सृजन के क्षेत्र में अनेक करवटें बदली और विविध-विधाओं ने साहित्यिक क्षेत्र में अनेक समर्थ हस्ताक्षर दिये। इस काल में पद्य के साथ-साथ गद्य क्षेत्र का बहुमुखी विकास हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के आधुनिक इतिहास को दो खण्डों में विभाजित कर तीन उत्थानों में बाँटा है। प्रथम उत्थान संवत् १९२५–५० तक द्वितीय उत्थान संवत् १९५०–७५ तक और तृतीय उत्थान १९७५ से अब तक। आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल के गद्य खंड को संवत् १९००– से १९८० तक मानते हुए अनेक वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं। आधुनिक गद्य-साहित्य परम्परा का प्रवर्तन और उसका प्रथम उत्थान का समय संवत् १९२५ से १९५० तक स्वीकार किया गया है। इस काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, (१९०७–१९४१) प्रतापनारायण मिश्र (१९१३–१९५१) पं. बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, श्री श्रीनिवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, कार्तिकप्रसाद खत्री, ठाकुर जगमोहनसिंह, किशोरीलाल गोस्वामी, तोताराम वर्मा, देवकीनन्दन खत्री, मोहनलाल विश्वनाथ पंड्या, केशव राम भट्ट, फ्रैडरिक पिंकाट, सुधाकर द्विवेदी आदि अनेक गद्य-लेखकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस काल में अनेक नाम ऐसे भी हैं जिनका इतिहास में कभी उल्लेख नहीं हो सका किन्तु उन्होंने हिन्दी साहित्य की अमूल्य सेवायें की। राजस्थान

के व्यास बालाबक्स जिनका जन्म जयपुर में हुआ था। उन्होंने भारतेन्दु युग में १८ नाटकों की रचना करके साहित्य की अमूल्य सेवा की। इस काल के प्रथम उत्थान के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है :—"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक माने गये।[1]

यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम चरण को भारतेन्दु काल के नाम से व्यवहृरित किया गया। कुछ आलोचक इस प्रकार से नाम दिये जाने से सहमत नहीं हैं लेकिन यह निर्विवाद विषय है कि आधुनिक-युग का श्रीगणेश भारतेन्दु से हुआ और उन्होंने इसके लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य की सृजन-परम्परा के हित एक नवीन पथ प्रशस्त किया। भक्ति कालीन एवं रीतिकालीन युग से चली आ रही भक्ति एवं शृंगार की विचार धारा को बिलग करते हुए राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने का स्फूर्त आन्दोलन चलाया गया। साहित्य को कला से ही सम्पृक्त न रखते हुए उसे जीवन के सारस्वत मूल्यों से सम्पृक्त करने में भारतेन्दु ने महत्वपूर्ण योग-दान दिया। इस युग में नवीन विचारधाराओं ने जन्म लिया, नूतन मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया गया, सृजन को अभिनव दिशाबोध मिल सका, विविध विधाओं में अभिव्यक्ति हुई और साथ ही शैली ने भी अपना स्वरूप परिवर्तित किया।

गद्य-साहित्य का द्वितीय उत्थान का समय संवत् १९५० से १९७५ रहा। इस युग के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है :—"इसमें हम कुछ ऐसी चिन्ताओं और आकांक्षाओं का आभास पाते हैं जिनका समय भारतेन्दु के सामने नहीं आया था। इस द्वितीय उत्थान में जैसे अधिक प्रकार के विषय लेखकों की विस्तृत दृष्टि के भीतर आए वैसे ही शैली की अनेक रूपता का अधिक विकास भी हुआ। ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी जिनकी शैली में कुछ उनकी निज की विशिष्टता रहती थी जिनकी लिखावट को परखकर लोग कह सकते थे कि यह उन्हीं की है। साथ ही वाक्य-विन्यास में अधिक सफाई और व्यवस्था आई। विराम चिन्हों का आवश्यक प्रयोग होने लगा। अंग्रेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. सं. ४२९ प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा। १३वां संस्करण।

से परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखने वाले कुछ लेखकों की कृपा से हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यंजन प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ।"[1]

द्वितीय उत्थान के युग प्रवर्तक श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं और इसी कारण यह युग द्विवेदी युग के नाम से हिन्दी-साहित्य में व्यवहरित किया जाता है। द्विवेदी युग में भाषा संस्कार पर विशेष ध्यान दिया गया। भाषा को सुसंस्कृत एवं परिष्कृत करने की दृष्टि से संस्कृत साहित्य से शब्दों को लिया गया और हिन्दी भाषा को संस्कृत-गर्भित बना दिया गया। यद्यपि भाषा में सौष्ठव व परिमार्जित-स्वरूप का समावेश हो गया था किन्तु खड़ी बोली के वास्तविक-स्वरूप में बाधा उत्पन्न हो गई थी। द्विवेदी जी ने खड़ी-बोली की बाधक-समस्याओं का निराकरण किया और हिन्दी को व्याकरण व शब्दकोष की दृष्टि से व्यापक समुन्नत किया। इस युग में बंगला, अंग्रेजी व संस्कृत भाषा के विविध नाटकों एवं उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। द्विवेदी युग में —पंडित माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र, बाबू श्यामसुन्दर दास, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पंडित चन्द्रधर शर्मा, गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, बाबू गुलाबराय आदि अनेक लेखकों ने हिन्दी गद्य-साहित्य को समृद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

हिन्दी गद्य साहित्य के तृतीय उत्थान का समय संवत् १९७५ से आरम्भ होता है। यह युग हिन्दी साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का युग कहा जा सकता है। यह युग वह है - जिसमें हिन्दी-साहित्य की विविध-विधाओं में सर्वाङ्गीणता के साथ पूर्ण विकास के दर्शन होते हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विचार-धाराओं का प्रभाव पूर्णरूपेण इस युग में परिलक्षित होता है। आधुनिकता का जन्म यहीं से हुआ— अर्थात् योरोप के साहित्यकारों के सृजन का अनुकरण एवं विभिन्न वादों का विवाद इसी युग से प्रारम्भ हुआ था। इस युग के संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "हमारा यह तात्पर्य नहीं कि योरोप के साहित्य क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहां न हो। यदि हमें वर्तमान जगत के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहां के अनेक वादों और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय होना चाहिए। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो, और उनके भीतर जो थोड़ा बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाय। पर उनमें से कभी इसको, कभी उसको, यह कहते हुए

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ. सं. ४६८ प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा। १३वां संस्करण।

सामने रखना कि वर्तमान विश्व-साहित्य का स्वरूप यही है जिससे हिन्दी-साहित्य अभी बहुत दूर है, अनाड़ीपन ही नहीं जंगलीपन है ।"

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में विविध शैलियों का जन्म हुआ। आधुनिकता के नाम पर अनेक प्रयोग होने लगे किन्तु इस भीड़ में भी जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल आदि ने स्वस्थ स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए नूतन शैलियों को जन्म दिया। प्रेमचन्द ने मिश्रित शैली को जन्म देकर कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के लिए द्वार खोल दिये। प्रौढ़ विषयों के व्यक्तीकरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्यास-प्रधान शैली को जन्म दिया। श्री जयशंकर प्रसाद ने ऐसे वाद-विवाद के युग में भी काव्यत्वपूर्ण शैली का गद्य में आविष्कार किया और यह सम्भावनायें व्यक्त करदी कि हिन्दी-साहित्य आधुनिकता के नाम पर पश्चिम का अनुकरण न करते हुए भी अपने-आप में पूर्ण समृद्ध है। नाटक के क्षेत्र में श्री जयशंकर प्रसाद नवीन शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। नाटक के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि में भी उन्होंने एक विशिष्ट सौंदर्यमयी सौष्ठवयुक्त गद्य-शैली को जन्म दिया है। यह सत्य है कि श्री प्रसाद की शैली अपनी मौलिक शैली है—जिसका अनुकरण करना भी हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। द्विवेदी युग की परम्परा में जयशंकर प्रसाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है—इनके पश्चात् सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, वियोगीहरि, एवं ओंकारनाथ दिनकर आते हैं। इनमें से अधिकांश ने प्रसाद की काव्यमयी शैली का अनुकरण किया है किन्तु प्रसाद सी सफलता किसी ने भी नहीं पाई है। जयशंकरप्रसाद ने हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा में महत्वपूर्ण सृजन किया और नवीन दृष्टि के साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक व सामाजिक स्थितियों का मूल्यांकन स्थापित किया। प्रसाद-साहित्य के अभाव में हिन्दी-साहित्य का आधुनिककाल अधूरा सा लगने लग जाता है। भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले प्रसाद ही हैं। अपने अतीत के गौरवमय पृष्ठों को पुनः खोलने वाले प्रसाद ही हैं, आधुनिकता के प्रभाव से मुक्त रह कर अभिनव व समर्थ दृष्टि देने वाले प्रसाद ही हैं। गद्य-साहित्य में नाटकों को प्रसाद की एक नई देन है। इस संदर्भ में राजनाथ शर्मा ने लिखा है:—"प्रसाद के नाटक क्षेत्र में आते ही हिन्दी नाटकों का काया-कल्प हो गया। अधुनिक हिन्दी नाटकों के पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन प्रसाद के नाटकों में ही दिखाई दिया। इन्होंने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता के चित्र अङ्कित करने वाले नाटक लिखे।..........इन्होंने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को अपना आधार बनाकर पात्रों का अंकन किया। इस नाट्यकला में भारतीय और

योरोपीय दोनों पद्धतियों का सौहार्द्रपूर्ण एवं सुखद समन्वय हुआ। साथ ही इन्होंने यूरोप में प्रचलित शील-वैचित्र्यवाद का पूर्णरूपेण अनुसरण न करके भारतीय रस-विधान और शील-वैचित्र्य का सामंजस्य रखा।"[1]

श्री जयशंकर प्रसाद के नाटकों की शैली की अनुकरण-परम्परा में–'रक्षा-बंधन' 'स्वप्न-भंग' 'आहुति' 'विषपान' 'अम्बा' 'संगर-विजय' 'विश्वामित्र' मत्स्यगंधा' 'प्रताप-प्रतिज्ञा' 'संग्राम' 'प्रेम की वेदी' 'मुक्तिरथ' 'भीष्म' 'कृष्णार्जुन-युद्ध' 'ज्योत्स्ना' 'स्वर्ग-भूमि का यात्री' व 'मुंजदेव' आदि अनेक नाटकों का प्रणयन किया गया है। प्रसाद की इस शैली के हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', माखनलाल चतुर्वेदी, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' सुमित्रानन्दन पंत, प्रेमचन्द, सुदर्शन, रामनरेश त्रिपाठी, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा व रांगेय राघव आदि ऋणी हैं। हम यह कह सकते हैं कि श्री जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ किया था। जिसे हम प्रसाद-युग की संज्ञा दे सकते हैं। कुछ लोग प्रसाद-युग को स्वीकारने में हिचकिचाते हैं लेकिन यह उनका दुराग्रह ही कहा जा सकता है। द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी साहित्य में तृतीय उत्थान प्रसाद-युग ही है। जिसमें कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी व निबन्ध तथा आलोचना आदि का विशद् सृजन हुआ। स्वयं प्रसाद ने इन सभी विधाओं में सशक्त सृजन किया। वे स्वयं अपने आप में एक युग हैं तथा उनके द्वारा लिखा गया विशद् साहित्य अपने आप में विविध-प्रवृत्तियों और नूतन दृष्टियों से परिपूर्ण साहित्य का इतिहास है।

डा० प्रेमदत्त शर्मा ने प्रसाद-युग स्वीकारते हुए लिखा है:—'इसमें संदेह नहीं कि प्रसाद ने युग का प्रवर्तन किया किन्तु यह बात भी संदिग्ध नहीं है कि प्रसाद की साहित्यिक सृष्टि की पृष्ठ-भूमि में उनके युग की प्रधानता है। इस दृष्टि से प्रसाद को युगद्रष्टा और युगस्रष्टा दोनों ही नामों से अभिहित करना समीचीन है।[2]

गद्य की तरह ही कविता के इतिहास में भी श्री जयशंकर प्रसाद का अपना विशिष्ट इतिहास व महत्व है। आधुनिक काल में कविता के क्षेत्र में जितनी उथल-पुथल हुई शायद ही किसी अन्य विधा में हुई हो। द्विवेदी काल के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में छायावादी व रहस्यवादी दो प्रमुख प्रवृत्तियों का एक प्रबल वेग आया और उस प्रवाह में अनेक समर्थ साहित्यकारों ने अभिनव दिशायें प्रदान की। छायावाद और

---

१. हिन्दी-साहित्य का सरल इतिहास पृ० सं० १३२। प्रकाशक, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा। ११ वां संस्करण (१९६७)।
२. प्रसाद-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठ.भूमि पृ० सं० १२। प्रकाशक, जयपुर पुस्तक सदन, प्रथम संस्करण।

रहस्यवाद के संदर्भ में हिन्दी साहित्य-समीक्षकों की विविध विचारधारायें और विभिन्न मत भेद हैं। छायावाद की उत्पत्ति के विषय में बाबू गुलाबराय की धारणा है कि—"जिस प्रकार द्विवेदी युग में रीतिकालीन अत्यधिक शृंगारी भावना के प्रति प्रतिक्रिया हुई थी उसी प्रकार छायावाद में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति प्रतिक्रिया हुई।"

श्रीमती महादेवी वर्मा का अभिमत है—"यह द्विवेदी कालीन स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।"

डा० रामविलास शर्मा का कथन है कि—"इसमें विद्रोह की भावना तो है किन्तु विद्रोह का यह रूप सामाजिक अधिक है। छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वावधान में हुआ था। इसीलिए इसके साथ मध्यवर्गीय असङ्गति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई हैं।"

कुछेक समालोचक छायावाद व रहस्यवाद में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस नवीन-धारा के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—

"'छायावाद' का नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थ भूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्‌गारों तक ही काव्य की गतिविधि प्रायः बंध गई। हृत्तन्त्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनंत-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पांव आना, आँख-मिचौली, मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कवियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए। कुछेक हेर-फेर के साथ वही बंधी हुई पदावली, वेदना का वही प्रकांड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं में मिलने लगा।"[1]

छायावादी प्रवृत्ति के कारण गति में जड़ता का आभास अवश्य होने लगा

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ सं० ६२१, १३ वां संस्करण।

था किन्तु फिर भी इस युग ने ऐसा साहित्य प्रदान किया जो सारस्वत-संदेश देने में समर्थ हुआ। छायावाद में दुःख-वाद, मानव-गौरव और व्यक्तिवाद, स्वदेश प्रेम, प्रकृति के प्रति नया दृष्टिकोण व आत्माभिव्यंजना का पूर्णरूपेण समावेश है तथा इस युग में कलापक्ष चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। छायावाद और रहस्य-वाद को भी हम एक ही नहीं मान सकते हैं, यद्यपि कलापक्ष के दृष्टिकोण से एक दूसरे में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, किन्तु भावपक्ष की दृष्टि से मौलिक अन्तर स्पष्ट रूप से विद्यमान है। जीव, जगत् और ब्रह्म ये तीन सृष्टि के मूल तत्व हैं। इनमें से ब्रह्म और जीव की एकता को स्थापित करना अथवा तादात्म्य प्रस्थापित करना ही रहस्यवाद है और जीव या प्रकृति की अन्तर्मुखी वृत्ति का विशदीकरण छायावाद है। इसी छायावाद को प्रतीकवाद, चित्र भाषावाद, एवं अभिव्यंजनावाद अनेक नाम दिये गये। इस परम्परा में श्री जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानन्दन, पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, गुरुभक्तसिंह, नवीन, उदयशंकर भट्ट, अंचल, रामधारीसिंह 'दिनकर', गोपालसिंह नेपाली, विद्यावती कोकिल, हरिकृष्ण प्रेमी, सुमित्राकुमारी सिन्हा, आदि हैं।

आधुनिक-काव्य धारा में यह युग ऐसा युग आया कि जिसने सारस्वत मूल्य प्रदान किये व अन्तर्मन की घनीभूत पीड़ा के साथ मानवता की पीड़ा का तादात्म्य स्थापित किया और उसे प्रतीकों के माध्यम से शब्दों के सहारे फिर से जगत में उतार दिया। यह युग हिन्दी-साहित्य का स्वर्णिम काल रहा है—जिसमें प्रकृति से लेकर दर्शन की अनन्त घाटियों तक कवियों ने अन्तर्मन से हर रहस्य को देखने की चेष्टा की है।

प्रसाद–युग

समर्थ साहित्यकार अपनी स्थायी रचना के माध्यम से अपना युग प्रस्थापित कर लेता है। केवल सृजन की भीड़ से स्थायित्व नहीं आ सकता है और न युग-निर्माण ही सम्भव है। यद्यपि इस संसार में अनेक साहित्यकार हैं और आये दिन रचनाओं का सृजन होता रहता है साथ ही हर रचनाकार अपने आप को समर्थ सृष्टा मानने की भ्रान्ति में भटकता रहता है, लेकिन इतिहास में उसे स्थान न मिलने पर उसका अहं विखण्डित हो जाता है। इतिहास में समर्थ रचनाकारों को ही स्थान मिल पाता है और उन समर्थ रचनाकारों में बहुत कम ऐसे व्यक्तित्व होते हैं, जो युग के प्रवर्तक कहला पाते हैं। साहित्यकार युग को एक अभिनव दिशा-बोध देकर युग का निर्माण करता है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि युग अपना बोध देकर साहित्यकार का निर्माण करता है। साहित्यकार और युग का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है। श्री जयशंकरप्रसाद ने अपने युग तव अनी के

सांस्कृतिक गौरव को पर्यालोचन की दृष्टि से देखा और तभी इस कवि के युग को एक नई दिशा प्रदान की तथा ऐसे मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया जिससे इतिहास के पृष्ठों पर प्रसाद-युग अंकित हो सका।

प्रसाद ने अपने युग में एक विषमता पाई थी। द्विवेदी युग रीतिकालीन-परम्परा का प्रबल विरोधी था, और उसी का यह कारण था कि उस युग में शृंगार का बहिष्कार किया जाने लगा था। शृंगार-विरोधी भावना के कारण साहित्य में नीरसता का आ जाना स्वाभाविक था—जिसे कोई भी सहृदय हृदय सहन नहीं कर सकता था। श्री प्रसाद के कवि ने इसकी अनुभूति कड़वाहट के साथ की और इस उपेक्षा को सहन नहीं कर सके। यह सत्य भी है कि साहित्यकार प्रेम-तत्व' के अभाव में सृजन को गति व सरसता प्रदान कर पाये। यह असम्भव सा है लेकिन इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि रीतिकालीन उद्दाम वासना व उन्माद के चित्रों की भारी भीड़ भर दी जाये या शृंगार के नाम पर कामुकता का प्रदर्शन कर अश्लीलता से उसे ओत-प्रोत कर दिया जावे। प्रसाद शृंगार-विरोधी भावना का विरोध करने के लिए उत्सुक हो उठे। प्रसाद ने शृंगार की कवितायें लिखीं किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रसाद का शृंगार पक्ष वासनात्मक दुर्गन्ध से युक्त नहीं था अपितु सत्य शिव सुन्दरम् की भावना से सम्पृक्त रहा है। मानसिक शुद्ध भावनाओं का व्यक्तीकरण ही प्रसाद के शृंगार की विशिष्टता है। डा० प्रेमदत्त ने इस संदर्भ में लिखा है—"किन्तु प्रसाद का शृंगार किसी कामुक का प्रलाप नहीं है मानसिक-ग्रंथियों की प्रेरणा नहीं है, वह एक भावुक हृदय की तरल साहित्यिक अभिव्यंजना है, जिसमें स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता और विकृति के स्थान पर प्रांजलता है। प्रसाद सुन्दरता के पक्षपाती थे किन्तु सत्य और शिव के भी पक्षपाती थे। वे केवल सुन्दर सत्य देखना नहीं चाहते थे वरन् सुन्दर सत्य को शिव रूप में व्यक्त कर देखना चाहते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में शृंगार की बड़ी परिष्कृत झांकियां दिखाई पड़ती हैं। मनु को देखकर श्रद्धा की सम्मोहात्मक अभिव्यक्ति में प्रेमी हृदय की एक झाँकी देखिए—

'कौन तुम ? संसृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक।"[1]

प्रसाद युग में भाषा को प्रांजलता के साथ सौकुमार्य भी प्रदान किया गया। यद्यपि द्विवेदी-युग में भाषा को परिष्कृत रूप दिया गया था किन्तु हिन्दी-भाषा में

---

१. प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—पृष्ठ संख्या १२।

संस्कृत शब्दों की भीड़ अधिक हो गई थी --जिससे दुरुहता का आजाना स्वाभाविक बात थी। प्रसाद ने इस दुरुहता से भाषा को बचाने के निमित्त व खड़ी बोली में प्राँजलता के साथ सौकुमार्य लाने के लिए रचनाओं में अथक प्रयास किया। प्रथम बात तो यह थी कि द्विवेदी युगीन परिष्कृत भाषा भाव-सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम न रह सकी थी साथ ही छायावादी कविता की अभिव्यंजना के लिए भी उपयुक्त न थी और दूसरी बात यह थी कि द्विवेदी युगीन भाषा संस्कृत के दुरुह शब्दों को लेकर जड़ता का रूप ले बैठती यदि छायावादी युगीन कवि उसे नये संस्कार प्रदान नहीं करते। प्रसाद ने भावों के अनुकूल भाषा को स्वरूप दिया, साथ ही ध्वन्यात्मक शब्दों को जन्म दिया गया—जिससे भाषा केवल बुद्धिगम्य न रहकर रसिक-जनों के हृदय को आल्हादित करने में भी सफल हो सकी।

प्रसाद युग में रूढ़ियों के विद्रोह की प्रवृत्ति उभर कर आई। सृजन परम्परा में जिन रूढियों का स्थायी प्रभाव था—उन्हें तोड़ने लिए प्रसाद ने दुस्सहास किया। प्राचीन छंदों की परिपाटी से विलग होकर नूतन छन्दों को जन्म दिया गया। अतुकांत शैली में सृजन का श्रीगणेश हुआ। गद्य-गीत लिखने की परम्परा का उदय हुआ। द्विवेदी कालीन युग में पाश्चात्य-विचारधारा को अस्पृश्यता की तरह दूर ही रखा गया लेकिन प्रसाद ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। प्रसाद के कवि ने शैले व कीट्स की शैली को अपनाने की चेष्टा की, पश्चिम की शैली का प्रतिपादन किया गया लेकिन भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित रहते हुए। प्रसाद के कवि की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसकी आत्मा भारतीय सस्कृति एवं आदर्श निष्ठा से ओत-प्रोत है उसके गौरव से अनुप्राणित है तथा शिवात्मक मार्ग का अनुयायी है किन्तु उसका वाह्य स्वरूप पश्चिम के अनुसरण के लिए द्विवेदी कालीन कवियों की तरह विरोधी नहीं है। उसका कवि जन-रूचि से सदा के लिए सम्पृक्त रहा हैं। द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मका की प्रतिक्रिया छायावाद के रूप में हुई; प्रकृति के माध्यम से जीव या जगत् की अन्तप्रवृत्तियों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

प्रसाद ने भाषा-परिष्कार को नया संस्कार दिया।

प्रसाद ने रूढ़िवादिता का विखण्डन कर विद्रोही भावना को जन्म दिया किन्तु कवि की भावनायें सत्यं शिवं सुन्दरम् से सदा आनुप्राणित रहीं।

पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया गया साथ ही उसके तत्वों को समर्थन भी दिया गया, जिससे बद्धिजीवी वर्ग को भी एक स्फूर्त चेतना का आभास मिलने लगा। प्रसाद ने अपने युग को भारतीय संस्कृति के गौरवमय क्षणों व अतीत के स्वर्णिम इतिहास के दर्शन कराये तथा सारस्वत नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए आदर्शवादिता का अनुसरण किया।

प्रसाद-युग में सामाजिक-चेतना एवं नव-जागरण के स्वर क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए आन्दोलन को जन्म देने लगे थे। धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के विखण्डन के लिए कवि ने सतत प्रयास किया। इसका मुख्य कारण यह भी था कि उस युग में ब्रह्म-समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि ने जागृति के लिए सशक्त आन्दोलन किये थे। जिसका प्रभाव प्रसाद युगीन साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। उस प्रभाव से प्रेरित साहित्य ने इन आन्दोलनों को और भी स्फूर्ति प्रदान की।

प्रसाद का युग स्वतंत्रता-आंदोलन एवं क्रान्ति युग था। एक ओर भारतीय जनता को विदेशी शासकों से स्वाधीनता लेने के लिए बलिदान करने पड़ रहे थे तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं कुप्रथाओं से संघर्ष करना पड़ रहा था। भारतीय जनता उसी रूढ़िवादिता के क्षणों में जीने के लिए विवश थी जो उसे मुगल साम्राज्य में दी गई थी। जिन विवशताओं के कारण उसने अनेक परम्पराओं को अपने गले के पत्थर की तरह बाँध लिया था। प्रसाद-युग में भी भारतीय जनता उन पत्थरों को अपने कण्ठ से बांधे मृत्यु मुखी बनी हुई थी लेकिन उन प्रथाओं का तीव्र गति से विरोध किया जा रहा था—जैसे बाल-विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या-वृत्ति, नारी-शिक्षा आदि के लिए आन्दोलनों को जन्म दिया जा रहा था। प्रसाद ने भी इन समस्याओं की ओर ध्यान दिया तथा इनके उन्मूलन के लिए एक आन्दोलन खड़ा किया गया जिसका प्रभाव प्रसाद-युगीन साहित्य पर पूर्ण रूप से पड़ा। प्रसादजी ने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में तीव्र गति से अपनी लेखिनी को बढ़ाया। इन सभी की पृष्ठभूमि भारतीय संस्कृति पर आधारित है, कवि ने अतीत के गौरव-मय पृष्ठों का मूल्यांकन किया है। छायावाद के प्रवर्तक रूप में तो प्रसाद जी का स्थान इतिहास में सदा ही अविस्मरणीय रहेगा। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में — "प्रसादजी जो छायावाद काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी आरम्भिक रचनाओं में प्रकृति की रमणीयता से आकृष्ट होकर उसके सौंदर्य प्रभावों को व्यक्त करते हैं। इस व्यक्त सौंदर्य वस्तु का प्रभाव कवि के काव्य में एक हल्की रहस्य-भावना की सृष्टि करता है, 'झरना और आँसू' में यह सौंदर्य-सत्ता क्रमशः विकसित होकर कवि की भावना में और भी गहराई लाती है और कवि प्रेम तत्व के निरूपण में संलग्न दिखाई देता है। 'लहर' के गीतों में मानव जीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन-तत्व के समन्वय का प्रयत्न है। 'कामायनी' काव्य में जीवन की अनुभूतियां अपनी व्यापकता में प्रदर्शित है और उन सबका समाहार कवि के जीवन-दर्शन, आनन्दवाद, में किया गया है। प्रसादजी के काव्य के अभिनव भाव-विस्तार को देखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और साम्प्रदायिक अध्यात्म-काव्य बहुत कुछ सीमित और परतंत्र प्रतीत

होता है।" प्रसादजी की छायावादी प्रवृत्ति का प्रभाव सम-सामयिक वातावरण पर पड़ा और एक नई परम्परा अबाध गति से चल पड़ी। निरालाजी ने अनेक काव्य कृतियों को जन्म दिया—जिनमें 'परिमल' 'गीतिका' 'अनामिका' 'तुलसीदास' 'अणिमा' 'नये पत्ते' 'बेला' 'अर्चना' 'आराधना' आदि प्रमुख हैं। निराला के काव्यों में छायावादी व रहस्यवादी प्रवृत्तियों का पूर्ण-रुपेण संचरण है। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने हिन्दी-साहित्य को–'वीणाग्रंथि' 'पल्लव, 'गुंजन' 'ज्योत्स्ना' 'युगान्त' 'युगवाणी' 'ग्राम्या' 'युगपथ' 'स्वर्णकिरण' स्वर्णधूलि' 'उत्तरा' 'अतिमा' 'वाणी' कला और बूढ़ा चांद आदि अनेक समर्थ रचनायें दी।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सांध्य-गीत' दीप-शिखा' सप्तपर्णा, वयामा आदि अनेक छायावादी व रहस्यवादी कृतियों को जन्म दिया।

प्रसादजी का इन कवियों की कृतियों पर कितना प्रभाव पड़ा—यह कहा जाना एक विशद विवेचन है, किन्तु प्रसाद और निराला को लेकर हिन्दी-साहित्य-समीक्षकों के सामने अनेक प्रश्न उपस्थित हुए। किसी की मान्यता रही कि प्रसाद अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उनकी विचारधाराओं का व्यापक प्रभाव अपने युग पर पड़ा। अन्य आलोचकों की मान्यता है कि प्रसाद ने अपने युग को प्रभावित अवश्य किया था लेकिन निरालाजी अपना पृथक् व्यक्तित्व लिए हुए सामने आये थे। हम यहाँ पर यही कहेंगें कि प्रसाद और निराला अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और इन्होंने अपनी-अपनी विचारधाराओं से युग को प्रभावित किया था। विराट-चेतना के दर्शन और एक सम्पूर्ण मानवीय संचेतना के सदर्भ में प्रसादजी ने जो कुछ दिया —वह निरालाजी नहीं दे सके।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस संदर्भ में कहा है:–'कितने आश्चर्य की बात है कि वैयक्तिक अनुभूति की प्रमुखता और प्रबलता रखने वाले प्रसाद ने एक महाकाव्य लिख डाला जबकि वे मूलतः श्रेष्ठ प्रगीतों के रचयिता की प्रतिभा रखते थे। कदाचित् यही कारण है कि 'कामायनी' प्रगीतात्मक भावनाओं का महाकाव्य कहा जाता है और यह भी कम आश्चर्य नहीं है कि निराला जैसे निःसंग, तटस्थ और वस्तुमुखी सौन्दर्य-द्रष्टा कवि ने कोई महाकाव्य न लिखकर लघु-दीर्घ प्रगीतों में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य-रचना की है। वे प्रगीत इतनी स्वच्छ और उदात्त भावना का प्रतिफल करते हैं, जब कि प्रगीत काव्य मूलतः वैयक्तिक भावात्मक द्वन्द्वों की क्रीड़ा भूमि है। निराला के प्रगीतों का वाह्य कौशल और तराश भी किसी विषयप्रधान कवि का प्रदेय नहीं है। उसमें सर्वत्र एक क्लासिकल पूर्णता प्राप्त होती है। अपने कई प्रगीतों में तो निराला महाकाव्योचित सौंदर्य की सृष्टि भी करते हैं। इस प्रकार प्रसाद का महाकाव्य तो प्रगीतात्मक शैली का एक अप्रतिम उदाहरण है और निराला के प्रगीत

महाकाव्य की स्वच्छता और उदात्तता से सम्पन्न है। यह विरोधाभास इस युग की काव्य-रचना की एक स्मरणीय विलक्षणता है।"[१]

प्रसाद-युग में जो महाकाव्य लिखे गये वे सभी प्राचीन परम्परा को लेकर लिखे गये थे। प्रसाद के सम-सामयिक समय में श्री मैथिलीशरण गुप्त का साकेत, श्री हरिऔध का प्रिय-प्रवास व वैदेही वनवास महाकाव्य के रूप में उभर कर आये। प्रसादोत्तर काल में द्वारिकाप्रसाद का 'कृष्णायन' बल्देवप्रसाद का 'साकेत-संत' रामधारीसिंह' दिनकर' का 'उर्वशी' कुरुक्षेत्र' रश्मिरार्थ और 'परशुराम' श्री सुमित्रानंदन पंत का 'लोकायतन महाकाव्य, अनूप शर्मा का 'सिद्धार्थ' हरदयालुसिंह का 'दैत्यराज' डा० रामानन्द तिवारी का 'पार्वती महाकाव्य' आनन्दकुमार का 'अंगराज' पुरोहित प्रतापनारायण का 'नल-नरेश' महाकाव्य, मोहनलाल महतो का 'आर्यावर्त' ठाकुर-प्रसादसिंह का 'महामानव' रघुवीरशरण का 'जननायक' परमेश्वरद्विरेफ का 'मीरा' तारादत्त हारीत का 'दमयन्ती डा० रामगोपाल दिनेश का 'सारथि' श्री करील का 'देवार्चन' व बालकृष्ण शर्मा नवीन का 'उर्मिला' आदि अनेक महाकाव्यों की रचना हुई है।

इनके अतिरिक्त 'जौहर' 'विक्रमादित्य' 'वर्द्धमान' 'रावण' 'जयभारत' 'जगदा-लोक' 'झांसी की रानी' 'नारी' 'एकलव्य' 'तारक-वध' 'युगद्रष्टा प्रेमचन्द' 'रामराज्य' वाणीम्बरी' प्रिय-मिलन' कमला नेहरू व कैलाश विद्रोही का 'दशानन व बाल्मीकि उमेश शास्त्री कृत 'कण्व-कन्या' अपराजिता-गौतमी आदि अनेक काव्य रचे गये हैं। इनमें से कुछ काव्य प्रसाद-युगीन वातावरण से प्रभावित हैं और प्राचीन भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्यों का पर्यालोचन करने में समर्थ हुए हैं। नवीन दृष्टियों ने जन्म लिया है किन्तु प्रसादजी की कामायनी की विराट-चेतना किसी भी काव्य में अवतरित नहीं हो पाई।

प्रसाद-युगीन महाकाव्य

[प्रिय-प्रवास]

श्रीअयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध कृत 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी-साहित्य के आधुनिक-युग का प्रथम महाकाव्य है। सत्रह सर्गों में विभक्त इस महाकाव्य के आख्यान का आधार महाभारत, श्रीमद्भागवत, हरिवंशपुराण, पदमपुराण, विष्णुपुराण, वराहपुराण, गरुड़पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, देवी-भागवतपुराण, आदि अनेक संस्कृत-ग्रंथों से लिया गया है। श्रीकृष्ण के चरित्र पर इस काव्य की रचना की गई है।

---

१. हिन्दी आलोचना के आधार-स्तम्भ (प्रसाद और निराला) पृष्ठ सं. १५८–१५९

श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र व लीलाओं पर हिन्दी-साहित्य में शक्तिकाल से ही लिखा गया है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य में श्रीकृष्ण के चरित्र पर हमें अनेक ग्रंथ देखने को मिलते हैं। लेकिन हिन्दी साहित्य में स्वतन्त्र रूप से श्रीकृष्ण पर महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' ही है। प्रिय-प्रवास के सृजन का मूल आधार स्रोत श्रीमद्भागवत ही है। भागवत के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र का विशद् विवेचन हुआ है।[१] प्रिय-प्रवास में भी दावानल-दाह[२] कालिय-दमन,[३] अघासुर-वध,[४] कैशीदैत्य-हनन[५] आदि अनेक घटनाओं के माध्यम से श्रीकृष्ण के लोकनायकत्व व उदात्त चरित्र को प्रस्तुत किया गया है।

प्रिय-प्रवास में श्रीकृष्ण का चरित्र रीतिकालीन श्रीकृष्ण का विलासी-चरित्र नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने लोकनायक श्रीकृष्ण के चरित्र को इतना संकीर्ण व शृंगारमय बना दिया था कि श्रीकृष्ण केवल विलासी नायक के रूप में हमारे सामने रह गये थे। यद्यपि घटनायें वही हैं, लीलायें वही हैं किन्तु हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के विलास-सौन्दर्य को न देखकर उनके उदात्त रूप को देखा है। प्रिय-प्रवास का नायक श्रीकृष्ण एक चरित्र-नायक है। वह समाज-सुधारक तथा विश्वजनीन मानवता को प्रेम करने वाला है। उनका प्रेम रीतिकालीन प्रेम की तरह कालिन्दी के कदम्ब-कुंजों तक ही नहीं रह गया है अपितु समस्त संसार की मानवता को अनुप्राणित करने लगा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'प्रिय-प्रवास के संदर्भ में कहा है—"नवशिक्षितों के संसर्ग से उपाध्यायजी ने लोक-संग्रह का भाव अधिक ग्रहण किया है। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण ब्रज के रक्षक नेता के रूप में अंकित किये गये हैं। खड़ी-बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। यह काव्य अधिकतर भावव्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली प्रेम की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना करती हुई बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्धकाव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते थे ? किसी के वियोग में कैसी-कैसी बातें मन में उठती हैं और क्या-क्या कह कर लोग रोते हैं —इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण-दशम स्कन्ध।

२. प्रिय-प्रवास ११–५६–६६

३. यथोपरि ११–११–५४

४. यथोपरि १३–३७–५७

५. यथोपरि १३–५८–६७

किया गया है।[1] श्रीकृष्ण के अतिरिक्त, राधा की गम्भीर मूर्ति एवं विश्वप्रेम तन्मयता उभर कर आई है। प्रिय-प्रवास की राधा आज तक की राधाओं से भिन्न ही है, जो विश्व नारी जगत् का प्रतिनिधित्व करती है। यशोदा, नन्द व उद्दव आदि अन्य पात्र भी हैं—इनमें किसी विशिष्ट उदात्त चरित्र का पूर्णरूपेण अंकन नहीं हो पाया है। प्रिद-प्रवास का प्रारम्भ श्रीकृष्ण गौ-चारण से प्रारम्भ होता है। 'गौधूलि' दृश्य के वर्णन से प्रथम सर्ग का आरम्भ है। सांध्यकाल का प्रकृति चित्रण देखिये:—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-बल्लभ की प्रभा।।

प्रिय-प्रवास काव्य में प्रकृति चित्रण मनोरम शैली में प्रस्तुत किया है। प्रकृति के साथ मानवीकरण को सम्पृक्त करने का प्रयास अवश्य किया गया है किन्तु वाह्य रूप का सफल चित्रण हो पाया है। 'वायु-दूती' की कल्पना दूत काव्य-परम्परा का प्रभाव है। प्रिय-प्रवास पर संस्कृत काव्यों का गहरा प्रभाव है। संस्कृत-काव्यों की तरह ही इतिवृत्तात्मकता, छन्द-योजना, सर्ग-सृजन, अलंकारों का प्रयोग हो पाया है। श्रीकृष्ण के चरित्र को विशिष्ट दृष्टि से देखा गया है। उपाध्यायजी की दृष्टि में श्रीकृष्ण का चरित्र जन-नायक के रूप में उभरा है:—

बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी
छोटे-बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार संग थे मिलते सबों से
वे थे सहायक बड़े दुःख के दिनों के।

श्रीकृष्ण विश्व की मानवता से प्रेम करने लगे थे। गोकुल की गोप-वधूटियों का प्रेम विश्व प्रेम की उदारता में बस गया था। 'विश्व' वसुधैव कुटुम्बकम्' का मंत्र श्रीकृष्ण के चरित्र में समा गया था—

वे जी से हैं जगत जन के सर्वथा श्रेयकामी,
प्राणों से हैं अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।
स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना,
जो आ जाता जगत हित है सामने लोचनों के।

प्रिय-प्रवास काव्य में संस्कृत शब्दों का प्राबल्य है। कहीं कहीं तो ऐसा आभास होने लगता है कि कवि ने संस्कृत भाषा में ही काव्य का सृजन किया हो।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल—पृ० सं० ५८१–५८२।

संस्कृत के मन्दाकान्ता, द्रुत विलम्बित, वंशस्थ मालिनी, आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति आदि अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है। प्रिय-प्रवास का काव्य-शिल्प महाकाव्य-शास्त्रीय-परम्परा के अनुकूल हुआ है। राधा के व्यक्तित्व का परिमार्जित भाषा में अंकन देखने योग्य है:—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना,
तन्वंगी कलहासिनी, सुरसिका, क्रीड़ा कला पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी, लावण्य लीलामयी,
श्री राधा मृदु भाषिणी, मृग दृगी, माधुर्य सन्मूर्ति थी।

प्रिय-प्रवास भारतीय संस्कृति का गौरवमयी काव्य है। विश्व प्रेम के संदेश को प्रसारित करने का मूल उद्देश्य है।

साकेत—

श्रीमैथिलीशरण गुप्त का हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल सदा ऋणी रहेगा। श्रीगुप्त ने हिन्दी साहित्य को अनेक काव्य दिये हैं। द्विवेदी कालीन वातावरण का पूर्ण प्रभाव गुप्तजी पर रहा है। गुप्तजी की 'भारत-भारती' के पश्चात् दूसरी रचना 'साकेत' महाकाव्य है। आधुनिक महाकाव्यों में साकेत' का अपना विशिष्ट स्थान है। साकेत रामकथा का महाकाव्य है—जिसका आधार बाल्मीकि रामायण, रघुवश, रामचरित मानस आदि हैं। महाभारत के द्रोण और शान्ति पर्व में भी राम कथा मिलती है। डा० देवीप्रसाद गुप्त ने पुराणों में राम-कथा—आख्यान का विवरण इस प्रकार दिया है:—

(१) हरिवंश पुराण अध्याय ४१, १२१, १२५; (२) विष्णु पुराण खण्ड ४ अध्याय ४, (३) वायु पुराण अध्याय २८ (४) श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्द ६ अध्याय-१०-११ (५) कूर्म पुराण-अध्याय १९, ३१, २४ (६) अग्नि पुराण अध्याय-५-११ (७) ब्रह्म-पुराण-अध्याय-२१३ (८) गरुड़ पुराण अध्याय १४३ (९) स्कन्द-पुराण माहेश्वर खण्ड-अ० ८, ब्रह्म खण्ड अ० २७, २२, ३०, ४४, ४७; नागर खण्ड अ० ९९-१०३, (१०) पदम पुराण पाताल खण्ड अ० १०८ (११) शिव पुराण-गर्भ संहिता अ० १३, १४। श्रीगुप्त जी के साकेत महाकाव्य का मुख्य आधार 'रामचरित मानस' ही है। साकेत महाकाव्य की कथा १२ सर्गों में आबद्ध है। साकेत के मुख्य नायक राम के प्रति कवि की सहज गम्भीर श्रद्धा है। काव्य के मुख-पृष्ठ पर कवि ने अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए कहा है:—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं काव्य है।

कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है ।[1]

राम काव्य-परम्परा में प्रत्येक कवि ने राम को अपनी दृष्टि से देखा है। बाल्मीकि और भवभूति के राम अपनी-अपनी पृथक् विशेषता रखते हैं, इसी प्रकार तुलसीदास और कवि केशव के रामों में भी अन्तर है। इसी क्रम में गुप्तजी के राम सभी रामों से ईषत् अन्तर लिए हुए हैं। तुलसीदासजी ने राम को लोकनायक व देवता बना कर सभी के लिए आराध्य सिद्ध किया था जबकि गुप्तजी के राम मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर आए हैं। श्री रामधारीसिंह दिनकर का कहना है कि—"साकेत के राम हैं तो वही पात्र, जिनके दर्शन हमें बा मीकीय अथवा तुलसी कृत रामायण में होते हैं। किन्तु पुनरुत्थान के भावों से प्रभावित कवि ने उन्हें सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखा है।[2]

मानवतावादी दृष्टिकोण रहते हुए भी गुप्तजी की राम के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति-भाव हमें दिखाई देते हैं, काव्य में सर्वत्र अपने आराध्य के प्रति उनकी ईश्वरत्व वाली भावना रही है।

राम के व्यक्तित्व को प्रदर्शित करते हुए कवि ने कहा है—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया,
सुख-शान्ति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।

आधुनिक युग के वातावरण का कवि पर पूर्ण प्रभाव रहा है। आर्य समाज का प्रभाव भी काव्य में यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है। साकेत महाकाव्य की सजीवता है—उर्मिला का चरित्र। ठाकुर रवीन्द्रनाथ के लेख से प्रभावित होकर कवियों का उपेक्षित पात्रों पर ध्यान गया—ऐसा ही एक पात्र उर्मिला थी–जिस पर किसी भी कवि का ध्यान नहीं गया था। श्रीगुप्तजी ने उर्मिला के चरित्र को उठाया। लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का जीवन विसंगतियों के मध्य से गुजरा था। उर्मिला के राजवधू व आदर्श-गृहिणी, विरहिणी तथा सर्वगुण सम्पन्न आदर्श नारी का चरित्र काव्य में प्रस्तुत किया गया है। साकेत महाकाव्य का आरम्भ ही उर्मिला के चरित्र से किया जाता है। प्रारम्भ में उसके कुलवधुत्व का चरित्र सफलता के साथ अंकित किया गया हैं। लक्ष्मण के वन-गमन के पश्चात् उसे एक दीर्घ अवधि

---

१. आधुनिक प्रतिनिधि हिन्दी महाकाव्य पृ० सं० १११–११२।

२. साकेत महाकाव्य-मुख पृ०।

तक अयोध्या के राज-प्रासादों में विरहिणी का जीवन-व्यतीत करना था। उस समय वह सम्पूर्ण भोगों में विरक्त होकर अपने प्रियतम की मूर्ति हृदय में स्थापित कर लेती है —

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती थी उस विरह में बनी आरती आप।
आँखों में प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम वियोग ॥

साकेत महाकाव्य में उर्मिला का विरह प्राचीन-परिपाटी की परम्परा में ही है। किन्तु रीतिकालीन वियोगिनी की तरह वह प्रिय-विरह में मूर्छित नहीं हो पाती है अथवा सूर की गोपियों की तरह हर क्षण नयनों में सावन के मेघ नहीं बसाये रहती है, अपितु अवधि के दिन गिनती हुई प्रकृति के उपमानों से अपने हृदय की पीड़ा व्यक्त करने में तन्मय रहती है। महाकाव्यत्व की दृष्टि से ऋतु वर्णन आदि का चित्रण साकेत में भी हुआ है। उस महाविरहिणी के लिए कवि ने सच्चे अर्थों में अपनी अभिव्यक्ति की है :—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के ?

साकेत महाकाव्य के नवम सर्ग में विरह-गीतों को भी पर्याप्त स्थान मिला है और इन गीतों के कारण नवम सर्ग इस महाकाव्य का प्राण बन गया। सभी गीत उर्मिला की पीड़ा को व्यक्त करते है:—

(क) वेदने तू भी भली बनी,
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
(ख) निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे, रंजन ने नयन उधर मन भाये।
(ग) विरह संग अभिसार भी,
भार जहाँ आभार भी।
(घ) सखि निरख नदी की धारा।
(ङ) आज जो प्रियतम को पाऊँ।
(च) शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज-नन्दन में।
(छ) दोनों ओर प्रेम पलता है।

साकेत में करुण रस का प्रवाह है। नवम सर्ग में उर्मिला का विरह करुणा की अजस्र धारा से आप्लावित है। साकेत काव्य में स्वयं गुप्त कहते हैं-करुणे! क्यों रो रही हो? उत्तर में बहुत रो चुकी हो! यहाँ श्लेष की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है:—

करुणे! क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक रोई—
"मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई?"

साकेत का प्रकृति चित्रण प्रिय-प्रवास' से कहीं अधिक आधुनिकता एवं मानवीकरण लिए हुए है। उर्मिला का पशु-पक्षियों के साथ संवाद एक विकल टीस पैदा कर जाता है, किन्तु प्रतीकात्मक या अन्य किसी विच्छित्ति को उत्पन्न नहीं कर पाता है। साकेत काव्य में कवि की नवीन दृष्टि मानवतावाद की प्रस्थापना करना है। राष्ट्र प्रेम और व्यवस्थित जीवन जीने की दिशा में रामराज्य की स्थापना करने का परम उद्देश्य है। भारत की एकता और राष्ट्रीयता के संदर्भ में कवि ने कहा है:—

'एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।

प्रजातंत्रीय-प्रणाली में शासक निरङ्कुश न हो जाये, उन पर भी शासक होता है, एक-दूसरे द्वारा सभी शासित हैं:—

शासक सब पर हैं, इसे न कोई भूले,
शासक पर भी, वह भी न फूल कर उले।

शासन सम्बन्धित अनेक धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। कवि अपने राम से कहता है:—

राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना।
करो न तुम यों हाय, लोकमत अनसुना।

साकेत के संदर्भ में—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है;—"'साकेत' और 'यशोधरा' इनके दो बड़े प्रबन्ध हैं। दोनों में उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबन्धत्व की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों (लीरिक्स) की ओर हो चुकी थी। 'साकेत' की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला 'काव्य की उपेक्षिता' न रह जाये। पूरे दो सर्ग (६ व १०) उसके वियोग-वर्णन में खप गये। इस वियोग-वर्णन के भीतर कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक, चमत्कारपूर्ण पद्य तथा आजकल की नई रंगत, वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्यवाले गीत दोनों रखे हैं। काव्य का नाम साकेत रखा गया है—जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें अयोध्या में होने वाली घटनाओं और परिस्थितियों का ही वर्णन प्रधान है। राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम-भरत मिलन तक की कथा आठ

सर्गों तक चलती है । इसके उपरांत दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अन्तर्वृत्तियों का विस्तार है, जिसके बीच-बीच में अत्यन्त उच्च भावों की व्यंजना !"

साकेत महाकाव्य है किन्तु कामायनी की तरह उसमें विराट सत्य के दर्शन नहीं हो पाते हैं। इतिवृत्तात्मक शैली में लिखा हुआ आधुनिक युग का एक श्रेष्ठ महाकाव्य है ।

प्रसादोत्तर अन्य महाकाव्य—

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' के पश्चात् अनेक महाकाव्यों एवं काव्यों का सृजन हुआ है । यद्यपि कामायनी जैसी कृति का सृजन नहीं हो पाया है लेकिन अनेक समर्थ कृतियों का निर्माण हुआ है । प्रसादोत्तर महाकाव्यों में उर्वशी, लोकायतन, पार्वती, नल नरेश व आत्मजयी आदि काव्य उभर कर आये हैं, अनेक काव्य प्रसादजी की विचार धारा और शैली से अनुप्राणित हैं । उर्वशी, लोकायतन और पार्वती महाकाव्य तो अनुवर्ती महाकाव्य कहे जा सकते हैं । उर्वशी और कामायनी की विचार धारा और रूपक विधान में कितने ही स्थलों पर साम्यता दिखाई देती है, इसी प्रकार 'लोकायतन' में भी हमें कामायनी का प्रभाव दिखाई देता है । इन काव्यों में 'विराट-चेतना' के प्रति आग्रह के भाव दिखाई देते हैं । कुछ प्रमुख अनुवर्ती काव्यों की चर्चा यहाँ कर लेते हैं :—

उर्वशी

'उर्वशी' महाकाव्य श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' कृत आधुनिक विचार-धाराओं से युक्त काव्य है । उर्वशी की कथा वैदिक पुराख्यानों पर आधारित है । इतिवृत्तात्मक होते हुए भी आधुनिक युगकी जन-चेतना के लिए यह एक चेतना-काव्य है । कवि ने अपने युग के सभी प्रतिबिम्ब इस काव्य में मुखर किए हैं । 'नारी' के अनेक स्वरूपों का तथा उसकी प्रकृति का चित्रण कवि ने सफलता के साथ चित्रित किया है । 'उर्वशी' की भूमिका में श्री दिनकर ने कहा है -"कहते हैं निरुक्त के अनुसार आयु का अर्थ भी मनुष्य होता है (डा. फतहसिंह) इस दृष्टि से मनु और इड़ा तथा पुरुरवा और उर्वशी ये दोनों ही कथायें एक ही विषय को व्यंजित करती हैं । सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है ।" इससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि श्री दिनकर यह कहना चाहते हैं कि कामायनी और उर्वशी के पात्रों में अभिन्नता है और ये दोनों ही प्रतीकात्मक योजना के अनुसार लिखे गये काव्य हैं । इसके अतिरिक्त उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला, और आनन्द की महिमा का आख्यान है । कवि ने कामादि प्रवृत्तियों को मानवीय सहज धर्म मानते हुए यह संकेत किया है कि वे धर्म हमारे आचरण को सहज रूप से स्वतः ही प्रभावित करते हैं । सहज-प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए पुरुरवा के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त किया गया है ।

हाय तृषा फिर वही तरंगों में गाहन करने की;
वही लोभ चेतना सिंधु के अपर पार जाने की
झम्प मार तन की प्रतप्त, उफनाती हुई लहर में;
ठहर सकेगा कभी नहीं क्या प्रणय शून्य अम्बर पर ?

और भी :—

कहां उच्च वह शिखर—
कला का जिस पर कभी निलय था ?
और कहां वह तृषा ग्राम्य नीचे आकर बहने की
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में ?
भ्रांत स्वयं या जान बूझ कर मुझ को भ्रमा रही हो ?

प्रसादजी ने कामायनी में 'कामसर्ग' लिखकर काम-प्रवृत्ति का विशद विश्लेषण किया है :—

शिशु चित्रकार चंचलता में
कितनी आशा चित्रित करते !
अस्पष्ट एक लिपि ज्योतिमयी
जीवन की आँखों में भरते ।

'उर्वशी' में भी काम-प्रवृत्ति का विशद् विश्लेषण हुआ है । दिनकर की दृष्टि में 'काम-प्रवृत्ति' का स्वरूप इस प्रकार है :—

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को,
उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है ।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण सेवित अति उच्च शिखर पर ।।

उर्वशी का प्रधान उपजीव्य नारी समस्या है । उसकी प्रकृति और भावनाओं की सुन्दर अभिव्यंजना की गई है । नारी के सौन्दर्य का कवि सम्मान करता हैं क्योंकि रमणत्व की चरम परिणति सृजन में होती है । कामायनी की नारी और उर्वशी की नारी में कुछ भिन्नता है । कामायनी का मनु नारी को श्रद्धा की दृष्टि से देखता हुआ उसे विश्वास की संज्ञा देता है :—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में ।
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।।

उर्वशी में नारी को ही चेतना-स्रोत माना गया है । इससे यह सिद्ध होता है

कि इतिहास में पुरुषों का जितना स्थान है उससे कहीं अधिक नारी की महत्ता है। 'उर्वशी' काव्य की पात्रा सुकन्या कहती है कि नारियाँ ही इतिहास की आधार-शिला है, समरांगण में स्फूर्ति प्रदान करने वाली और क्लांत सैनिक को विश्वास बाँटने वाली नारी ही है। नारी के अभाव में सभी क्रियाएँ शून्य सी हो जाती हैं; कवि दिनकर ने यहाँ कहा है कि नारी स्वयं कोई क्रिया नहीं अपितु वह करुणा की वारुणी है, उसमें क्षमा का विस्तृत आकाश है। वह इतिहास नहीं कविता है :—

नारी क्रिया नहीं वह केवल क्षमा है शान्ति करुणा है।
इसीलिए इतिहास पहुँचता तभी निकट नारी के—
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

'उर्वशी' महाकाव्य में नारी-गौरव को प्रतिष्ठापित करने का महान प्रयास किया गया है। नारी जब कभी नर की ओर देखती है तो अग्नि को प्रज्वलित नहीं करती है अपितु एक नये कवि को जन्म दे बैठती हैं। 'उर्वशी' काव्य में मानव में जिन दिव्य-गुणों का समावेश है— उसका आधार भी नारी को ही माना गया है—

और देवि ! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उसके भी अत्यधिक निकट नर नहीं मात्र नारी है।
जितना अधिक प्रभुत्व तृषा से पीड़ित पुरुष हृदय है,
उतने पीड़ित कभी नहीं रहते हैं प्राण त्रिया के।

'उर्वशी' महाकाव्य के संदर्भ में डा० जगदीशप्रसाद शर्मा ने कहा है कि— इस दृष्टि से उर्वशी इस दशक की महान उपलब्धि है। इसमें नर-नारी सम्बन्ध का यथार्थ धरातल पर अत्यन्त कवित्वपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इस कृति में दिनकर की पात्र-कल्पना जिस चिन्तन की वाहक है, उसका साथ उनकी प्रतीक योजना, अप्रस्तुत-विधान और बिम्बात्मकता एवं उक्ति-वक्रता ने पूरी तरह दिया है। यही कारण है कि काव्य के हर स्तर पर भाव, विचार, रूप-वर्णन और उक्ति-सौंदर्य के स्तर पर एक-एक पंक्ति में पाठक को मोहित करने की क्षमता है। इसलिए यह मानना होगा कि नाट्य-विधान की दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी उर्वशी एक अत्यन्त प्रभावशाली काव्य-कृति है।"[1]

'उर्वशी' महाकाव्य कामायनी के प्रभाव से मुक्त नहीं कहा जा सकता है। कथा का मूल स्रोत, पात्रों की योजना और उद्देश्य में प्रसादजी के दिनकर ऋणी कहे जायेंगे।

लोकायतन—

श्री सुमित्रानन्दन पंत का 'लोकायतन' महाकाव्य सम्पूर्ण समष्टि का

---

१. कामायनी का प्रतिपाद्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पृ. सं. १४१

जीवन्त काव्य है। इस काव्य का कथानक इतिवृत्तात्मक या अन्य पौराणिक ग्रंथों के आधार पर नहीं है अपितु कवि-कल्पना निस्यूत है। हिन्दी साहित्य के महाकाव्यों की परम्परा में सम्भवत: यह सबसे बडा महाकाव्य है। कामायनी की तरह यह काव्य भी प्रतीकात्मक योजना-वद्ध महाकाव्य है। कविवर पंत ने इस संदर्भ में अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा है:—"यदि मेरा कवि-प्रयास इस संक्रान्ति काल की युग-गाथा के भीतर से विकास का भी मानवता के जीवन-सत्य की झांकी प्रस्तुत कर सका तो मै अपने सृजन-श्रम को सफल समझूँगा।" पतजी ने एक बार कहा था कि यदि मैं कामायनी लिखता, तो उसमें कुछ और ही दृष्टियां दे पाता। ऐसा आभास होने लगता है कि पंतजी के मन में प्रसाद के प्रति निरन्तर स्पर्धा रही है और उसी स्पर्धा की परिणति लोकायतन महाकाव्य है। कामायनी में प्रसादजी ने व्यक्ति-परिवेश की समस्याओं को स्थान दिया है उनके सामञ्जस्य का प्रतिपादन किया है जबकि लोकायतन में पंतजी ने अनेक समस्याओं का विश्लेषण करते हुए समाधान का संकेत दिया है। भौतिक-आध्यात्मिक, पुरातन-नूतन, स्वार्थ और प्रणय, इन्द्रिय भोग और नैतिकता तथा चेतन और उर्ध्व-चेतन से सम्बन्धित् अनेक सूत्रों को जन्म दिया गया है। लोकायतन का कवि किसी एक चिन्ता से संत्रस्त नहीं है, कभी समाज की विभिन्न विसंगतियों से पीड़ित है, तो कभी व्यवस्था के प्रति असन्तुष्ट है, कभी साम्राज्यवादिता से क्षुब्ध है तो कभी विज्ञान की विद्रूपता से चिन्तित है। कवि पंत का जीवन-दर्शन प्रसाद के चिन्तन से सर्वथा भिन्न है। कामायनी के चिन्तन के प्रति तो कवि का असन्तोष लोकायतन में हमें मिलता है:—

> कैसे कह दूँ इड़ा-लुब्ध-मनु से
> श्रद्धा-सग वह करे मेरु-नग-आरोहण,
> आत्म बोध को निष्क्रिय समरस स्थित को
> जन भू पथ पर करना सक्रिय विचरण।
>
> समरस स्थिति में ही अटका ऊर्ध्व
> सभव न बहिर्मुख विश्व-प्रगति,
> बहु रस वैचित्र्यों के भीतर
> मानव-जीवन की सत परिणति।"

कामायनी का कवि एक निश्चित उद्देश्य और निश्चित क्रम के अन्तर्गत मानव विकास की ओर बढ़ता है, वह प्रकाश की किरणों के प्रति आश्वस्त है, उसका ध्येय दिव्य-पथ पर अग्रसर होना है किन्तु 'लोकायतन' का कवि तिमिर की भ्रांत गलियों से गुजरता हुआ संक्रान्त परिस्थितियों के विषम वातावरण में अनेक समस्याओं से संघर्ष करता है—यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि पंत के कवि

ने विसंगतियों के मध्य निर्देशात्मक प्रणाली को अपनाया है। मानो कवि ऐसे दृश्यों का कलात्मक ढंग से प्रस्तुतीकरण कर रहा हो। कहीं-कहीं तो हमारे प्राचीन-ग्रंथ वेदों और उपनिषदों के सूत्र-वाक्यों के भावानुवाद अथवा छायानुवाद हमें लोकायतन में देखने को मिलते हैं। इससे काव्य के क्रमिक-विकास में बाधायें उत्पन्न हुई हैं। वातावरण का प्रस्तुतीकरण समस्याओं की भीड़ और उपनिषद् के वाक्यों से मन निश्चित उद्देश्य से हट सा जाता है। इन सभी से ऐसा आभास होने लगता है कि कविवर पंत ने सम्पूर्ण समष्टि के मूर्त और अमूर्त चित्रों को इस काव्य में उतार देने का संकल्प ले लिया था। भारतीय संस्कृति और नैतिकता के सूत्रों में भी कवि का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता हुआ दिखाई देता है। प्रस्तुतीकरण में कविवर पंत पर पाश्चात्य शैली का प्रभाव लक्षित होता हुआ दिखाई देता है। 'सुन्दरपुर' का समस्त संसार का प्रतीक माना गया है और मानव-मन की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन किया गया है। ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के चित्रण के बाद कवि पंत का मुख्य उद्देश्य विश्व की मानवता का पुनरुद्धार करना है। कामायनी की तरह कवि ने पात्रों में प्रतीकात्मकता को अपनाया है। नव मानवता के प्रतीक अतुल को जारज कहा है और उसके विवाहादि संस्कारों के संदर्भ में कवि की मान्यता है: —

सामाजिक–स्वीकृति-विवाह बंधन,
भू-विकास स्थिति क्रम में आवश्यक।
किन्तु न वह रस शुद्ध कामना का,
शुभ्र प्रीति परिणय का परिचायक।
भोग लालसा की अनुमति भर वह
युग्म कक्ष में बद्ध भावना-गति,
अध काम के आवेगों से प्रेरित
कृमियों सी रगती मनुज-सतति।
प्राण शक्ति दुर्जेय-ग्रंथि बंधन,
भाव मुक्ति हित बने नहीं बंधन।
सर्व प्रीति के सित पंखों में उड़,
मनुज प्रकृति कर सके ऊर्ध्व-रोहण।।

अनेक स्थलों पर लोकायतन के प्रणेता ने अनेक समस्याओं को उपस्थित किया है। अवचेतन से ऊर्ध्वचेतन की ओर ले जाने की प्रक्रिया की ओर कवि का ध्यान सर्वाधिक गया है। विशाल ग्रंथ लोकायतन में अनेक प्रश्नों को समेटने का प्रयास किया गया है–जिससे यह महाकाव्य न रह कर ग्रंथ का स्वरूप ले बैठा है। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक कवियों ने 'नारी' को अपनी-अपनी पृथक दृष्टि से देखा है। लोकायतन में नारी के व्यक्तित्व की सुन्दर अभिव्यक्ति हो पाई है :—

सोच रही थी यह 'क्यों' स्त्री के
आँखों में नित खारा पानी,
दुःख ने मूर्ति गढ़ी हो उसकी
आँसू ने हो लिखी कहानी ।

इस काव्य में क्या नहीं है ?—इसका उत्तर खोज पाना असम्भव सा है। भौतिक-आध्यात्मिकता का समन्वय, वैयक्तिक संकीर्णता और वर्ग भेद का अभाव एवं नैतिकता की निरपेक्षता का सम्यक् चित्रण हुआ है। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं साथ ही अणु शक्ति को विद्रूपता एवं विध्वंस-पथ से हटाकर शान्ति एवं विकास के पथ पर उद्वेलित करने के लिए दिशा-बोध के सूत्र उपलब्ध होते हैं। भाषा की दृष्टि से लोकायतन भी दोषों से वंचित नहीं कहा जा सकता है। कितने ही स्थलों पर पुनरुक्त एवं व्याकरण-विरुद्ध दोष मिल जाते हैं।

पार्वती—

डा० रामानन्दन तिवारी शास्त्री 'भारती-नन्दन' द्वारा रचित 'पार्वती' महा-काव्य आधुनिक महाकाव्यों में, विशेषकर प्रसादोत्तर कालीन महाकाव्यों में, अपना विशिष्ट स्थान रखता है। २७ सर्गों में विभक्त यह महाकाव्य 'शिव-पार्वती' के आख्यान पर आधारित है। संस्कृत के महाकवि कालिदास कृत 'कुमार सम्भव' महाकाव्य इसका आधार-स्रोत है। प्रारम्भिक सर्गों में कवि ने कुमार सम्भव का ही अनुकरण किया है किन्तु मध्य के पश्चात् अपनी मौलिक सूझ-बूझ और अभिनव-चिन्ता के साथ गतिशील हुआ है। राजतपुर, आयसपुर, और काँचनपुर' के वर्णन की कल्पना और शैव-मार्ग की ओर प्रवृत्त करने की दृष्टि कवि की सर्वथा मौलिकता है। चिन्तन के क्षेत्र में कामायनी का प्रभाव कवि पर लक्षित होता है। 'त्रिपुरदाह' के प्रकरण में प्रसादजी की संयोजना से कवि पूर्णतः प्रभावित है। प्रसादजी ने रहस्य सर्ग में त्रिपुरो की विडम्बना का वर्णन किया है। पार्वती महाकाव्य शैवागमों के गम्भीर अध्ययन और शिव-संस्कृति का अमर ग्रंथ है। मानवता के प्रति कवि की उदात्त भावनायें भी शैव-मत से समन्वित हैं :—

जग मंगल में दीप जलें।
जीवन के ध्रुव तारे बन कर स्नेह-प्रदीप जलें।
दीपक सा शुचि-स्नेह-पूर्ण मिट्टी का तन हो,
बाती सा मृदु-सत्व पूर्ण ज्योतिर्मय मन हो,
आत्मा के आलोक-स्रोत में तम के पुंज गलें।
× × ×
हो शिव का साम्राज्य विश्व में मंगलकारी;

ज्ञान-शक्ति-युत बने श्रेय का चिर-प्रतिहारी;
शिव जीवन की कल्पलता पर श्री श्रानन्द फलें।[1]

कवि भारतीनन्दन मानवतावाद में शिवात्मक स्थितियों को देखने के लिए प्रयत्नशील हैं और इसी दृष्टि से उसने कहा भी है :—

मानव ही रह गया एक ईश्वर की आशा,
जीवन ही बन गया धर्म की नव-परिभाषा,
आत्मा का परमार्थ अर्थ में अन्वित होता,
आत्मा का परमार्थ काम से सरसित होता।[2]

मानवता को ही सर्वोन्नत मानता हुआ कवि उसे विश्व का नया विधाता कहता है। मानवता का निर्माता मानव ही है, और इसी मानव में त्रिदेव समाहित हैं। इसी प्रकार नारी में सरस्वती, लक्ष्मी व पार्वती ज्ञान, शक्ति और सम्पद् लिए हुए हैं। कवि ने नारी को अत्यधिक सम्मानजनक दृष्टि से देखते हुए कहा है:—

नारी का बहुमान बना सस्कृति की बेला,
जीवन सागर रहा शान्त जिसमें अलबेला,
मानवता की मर्यादा थी निर्मल नारी,
शक्ति मती श्रीमूर्ति मनोहर औ सुकुमारी।

डा० देवीप्रसाद गुप्त ने पार्वती महाकाव्य के संदर्भ में कहा है—"डा० तिवारी ने इन्हीं चिरन्तन संगठन तत्वों का युगानुरूप पुनर्मूल्यांकन किया है। पौराणिक कथा-सत्य को उन्होंने युग-सत्य और सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल ही चित्रित किया है। 'पार्वती' महाकाव्य का शिव-संस्कृति निरूपण उनकी काव्य-कला, चिन्तन शक्ति और प्रखर मेघा का सबल प्रमाण है। इस दृष्टि से 'पार्वती' महाकाव्य की रचना 'कामायनी' जैसे विश्व महाकाव्यों की परम्परा में ठहरती है।" हिन्दी साहित्य की महाकाव्य-परम्परा में 'पार्वती' महाकाव्य एक सशक्त रचना है—जिसने मानवतावाद के क्षेत्र में एक सबल स्फूर्ति दृष्टि प्रदान की है, मानवता में ईश्वरत्व की परिकल्पना कवि की अपनी मौलिक अभिव्यक्ति है। कामायनीकार की तरह शैव-दर्शन की अभिव्यजना सफलता के साथ हो पायी है, निःसन्देह 'पार्वती' एक महान् काव्य कहा जा सकता है।

आत्मजयी—

श्री कुंवरनारायण का 'आत्मजयी' भी आधुनिक काव्य परम्परा में आता है। यह पूर्णतया आधुनिकता को लिए जीवन-दर्शन को व्यक्त करने में सफल हुआ

---

१. पार्वती महाकाव्य, पृ० सं० ५६७
२. यथोपारि सर्ग २५, पृ० सं० ५१७

है। यद्यपि इस काव्य को देखने के पश्चात् यह कहना सरल नहीं है कि आत्मजयी और कामायनी में कहीं साम्यता हो अथवा यह कामायनी का अनुवर्ती काव्य हो। 'पार्वती' 'उर्वशी' व लोकायतन आदि काव्यों में कामायनी की अनुवर्तिता दृष्टिगोचर होती है। 'नचिकेता' इस काव्य का मुख्य पात्र है जो प्राचीन परम्पराओं के प्रति विद्रोह करता हुआ अपने अस्तित्व का मूल्यांकन करने में लगा हुआ है। वह मृत्यु के भयंकर दृश्यों में अस्तित्व-सुरक्षा के प्रश्न पर चिन्तित है। आधुनिक युग में इस प्रकार का चिन्तन ही अपने-आप में एक विशिष्टता है और फिर काव्य-रचना। नचिकेता मानसिक दुष्प्रवृत्तियों से हटकर उनके विश्लेषण के साथ एक नवीन धारा को जन्म देने के लिए आकुल है। 'अस्तित्ववाद' की परिकल्पना पर ही इस काव्य का सृजन हुआ है। अस्तित्व की रिक्तता का स्वरूप देखिये :—

अपने विश्वासों के कन्धों पर खड़ा हुआ
जीवन का एक हताश बिन्दु,
चेतना-केन्द्र, चिंतित मनुष्य
भयभीत अधर में टंगा हुआ,
अस्तित्व मरण के अधरों से
कुछ बचा हुआ, कुछ लगा हुआ।

यहाँ आकर मृत्यु-भय की स्थिति का प्रश्न जन्म लेता है। प्रलयकालीन भयंकर दृश्यों से भय नहीं है, विनाश की चिन्ता नहीं है किन्तु मृत्यु का भय है। अतीत के खंडहर मृत्यु के भय का बोध कराने के लिए प्रतीक बने हुए से दिखाई देते हैं। मृत्यु पर मानव का नियन्त्रण नहीं लेकिन अपने भविष्य का निर्माता वह स्वयं है:—

इस विभ्रम से विशिष्ट
एक और दुनिया है
केवल निर्माता की
जिसमें हम बार-बार नये जन्म लेते हैं
झुठलाये जीवन को फिर साबित करते हैं,
कोरे भविष्यों को संस्कार देते हैं।

आत्मजयी का दर्शन व्यक्तिबोध परक है। उसका नचिकेता मृत्युभय से मुक्त होकर अस्तित्व का बोध कर लेता है, उसके अस्तित्व बोध में ही विराट चैतन्य के दर्शन हैं—

सम्पूर्ण बोध,
हो चुका काल को जो अर्पित
जीवन वापस आया

वह शोधित प्रसाद,
मै
सभी दिशाओं में प्रतिक्षण
उत्पन्न
विभासित
आरभित
अनुसृष्ट नहीं स्रष्टा स्वरूप
लाखा निर्माणों में गलता-ढलता
कोई अव्यय भविष्य
मैं जाग्रत हूँ,
मैं जागृत हूँ।

'कामायनी' के जीवन-दर्शन से प्रेरित होकर इस काव्य ने बहुत कुछ नवीनता दी है—इसमें सन्देह नहीं है।

प्रसाद की साहित्य को विलक्षण देन—

महाकाव्य परम्परा के इतिहास में 'कामायनी' प्रसादजी की अभूतपूर्व देन है; जो युग-युगों तक अनेक काव्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनी रहेगी। अपने युग में कवि ने कविता को नये मूल्यों के साथ पुनः प्रतिष्ठापित किया अन्यथा सृजन की भीड़ रहते हुए भी भाव-धारा में जड़ता का समावेश हो गया था। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में—"आर्य-समाज के प्रचार के साथ भी एक रूक्षता समाज में आयी। इन सब कारणों से कविता की स्वाभाविक गति रुद्ध हो रही थी। उस काल की श्रेष्ठ समझी जाने वाली कविताओं में भी सिवा शब्दों के जोड़-तोड़ के कुछ नहीं है। भावना का उद्दीपन नहीं, प्राण-प्रवाह का रस नहीं, कोई बौद्धिक आधार नहीं, शुष्क शब्द जाल है। इस अनैसर्गिक काव्य व्यापार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करने वाले और कविता गंगा की जो धारा शुष्कता के जटा जूट में उलझी हुई थी उसे वहां से निकाल कर मानव जीवन की घाटियों के बीच बहाने वाले पहले कवि प्रसाद हैं।[1]

प्रसादजी ने हिन्दी साहित्य को एक नवीन दृष्टि प्रदान की—एक ऐसा अनन्त दिव्य पथ प्रशस्त किया जिस पर मानवीय चेतना दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते हुए पूर्णता को प्राप्त कर ले। प्रसाद ने परम्परित रूढ़ मान्यताओं के प्रति विद्रोह करते हुए आने वाली पीढ़ी के लिए दिशा-निर्देश किया। छायावादी प्रवृत्ति का श्रेय तो प्रसादजी को ही देना चाहिये। प्रतीक-योजना की हिन्दी-साहित्य में इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रसाद-युग से ही आरम्भ होती है।

---

१. कवि प्रसाद की काव्य-साधना—पृ. सं. ५५

प्रसादजी अतीत के खंडहरों तक गये और वहाँ से जीवन्त प्रतिध्वनियाँ लेकर साहित्य साधना पथ तक लौट आये । उन ध्वनियों की परिणति स्वरूप हमें अतीत का स्वर्णिम विहान मिला । भारतीय संस्कृति के गरिमामय चित्र और नये सूत्र हमें देखने को मिल पाये । प्रसादजी ने अपने नाटकों में नैतिकता और आदर्शनिष्ठा की महती भूमिका प्रदान की है । प्रसादजी का प्रत्येक पात्र गरिमामय, त्यागनिष्ठ, एवं स्वाभिमानी है, जो अपने सिद्धान्तों के सघर्ष के लिए प्रतिक्षण संकल्प शील है । आर्य-संस्कृति के गहन निष्ठा का परिचय हमें प्रसाद के जीवन्त पात्रों में सहज रूप से मिल जाता है । प्रसादजी ने काव्य–क्षेत्र में जिस प्रकार पूर्णता के दर्शन कराये उसी प्रकार नाट्य–क्षेत्र में प्रसादजी सिद्धहस्त रहे । उनके नाटक हिन्दी-साहित्य में हमेशा अमर रहेंगे और एक नया सन्देश हर युग को देते रहेंगे ।

साहित्य का मूल प्रयोजन नैतिकता और विराट दर्शन का प्रतिपादन है । संत्रस्त मानव चेतना को भौतिक विसंगतियों के गलियारे से हटाकर उन्मुक्त वातावरण की ओर ले जाने की प्रक्रिया का नाम ही सृजन-साधना है, उस साधना के सफल साधक प्रसादजी रहे हैं । उनके साहित्य में नैतिकता का संदेश देने वाली काव्य ऋचायें हैं, उनके पात्र नैतिक मूल्यों के प्रेरणा स्रोत हैं और उनकी चिंतन-धारा समस्त मानवता को विजयिनी बनाने के लिए आग्रहशील है । डा० शम्भुनाथ पांडेय का कथन है कि—'श्रद्धा के मुख से निकला हुआ एक एक शब्द जयशंकरप्रसाद का त्रस्त और भग्न हृदय राष्ट्र को आशा और जीवन का युग संदेश है, इसमें किसी प्रकार का तर्क वितर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है और यह संदेश शाश्वत संदेश है जिससे किसी भी युग का कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति जीवन की प्रेरणा पा सकता है ।[1]

श्री शिवनन्दन प्रसाद ने कहा है—"मानवता के मानसिक विकास का यह चित्रांकन, मनस्तत्व की यह अपूर्व समीक्षा संसार के साहित्य में कदाचित ही कहीं मिले । मानवता का महाकाव्य प्रस्तुत कर इसके द्वारा प्रसादजी ने प्रमुख दिशा साहित्य-सृष्टाओं के समकक्ष स्थान पाया है । जीवन के इसी मौलिक विश्लेषण के कारण कामयानी अमर रहेगी ।[2]

डा० विनोदशकर व्यास की मान्यता है कि—'रामचरितमानस के बाद यही एक ऐसा महाकाव्य है जो हिंदी को विश्व साहित्य में स्थान दिला सकता है । होमर, मिल्टन, वाल्मीकि और कालिदास से तुलना करके भी इसका गुण-दोष देखा जाय–

---

१. सरस्वती-संवाद (प्रसाद अंक) जनवरी-फरवरी १९५८, पृ. सं. ४

२. प्रसाद की कला—सं. गुलाबराय पृ. ६१

इतनी योग्यता इस कला कृति में है ।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य में प्रसादजी का विशिष्ट स्थान है। रामचरितमानस के पश्चात् दूसरी कृति 'कामायनी' ही कही जा सकती है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यकारों में महामना तुलसीदास के पश्चात् प्रसादजी को ही स्थान दिया जा सकता है—जिनकी साहित्य साधना से विश्व की मानवता एक अभिनव दिशा-बोध प्राप्त कर सकती है।

---

१. प्रसाद और उनका साहित्य पृ. सं. २०२

प्रसाद : सफल मानवीय व्यक्तित्व

हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों में कुछ नाम ही अनामिका की पोर पर आते हैं। आधुनिक काल के समर्थ साहित्यकारों में श्री जयशंकरप्रसाद का नाम सर्वाधिक उभर कर आता है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भक्ति-कालीन महाकवि श्री तुलसीदास के पश्चात् हिन्दी साहित्य में समर्थ रचना प्रदान करने वाले श्री प्रसाद ही हैं। 'रामचरितमानस' के पश्चात् कामायनी ही ऐसा महाकाव्य है जिसमें पूर्णता का पर्यालोचन एवं अभिनव दिशाबोध का दिग्दर्शन है। हमारे आर्यावर्त के गौरवमय अतीत एवं सांस्कृतिक व नैतिक मूल्यों का पुनरावलोकन हमें प्रसाद साहित्य में सहज रूप से प्राप्त होता है। श्री जयशंकरप्रसाद अपने युग के समर्थ महाकवि ही नहीं अपितु एक नये युग के प्रवर्तक स्वीकारे जाते हैं। प्राचीन संस्कृति के स्वर्णिम पृष्ठों को खोलकर हमारे गौरवमय अतीत के दिव्य दर्शन कराते हुए भारतीय-जन-जीवन को नैतिक मूल्यों की ओर ले जाने का प्रयास इस महाकवि ने किया है। संसार की समस्त पीड़ा को आत्मसात करते हुए इस क्षणभंगुर जगत की नश्वरता को जानते हुए भी दुखों की अनवरत बाढ़ से प्रसाद का अन्तर्मन निराश नहीं होता है अपितु समस्त मानवता को हर क्षण आश्वस्त करता रहता है। लोकनायक महाकवि तुलसी सा व्यक्तित्व प्रसाद के व्यक्तित्व में हमें देखने को मिलता है।

श्री जयशंकरप्रसाद का जन्म काशी के प्रतिष्ठित एव बहुसम्पन्न परिवार में माघ शुक्ल १० सवत् १६४६ को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री देवीप्रसाद साहु और पितामह का नाम श्री शिवरत्न साहु था। प्रसाद के पूर्वज 'सुँघनी साहु' के नाम से जाने जाते थे। इनके पिता और पितामह अत्यन्त विनम्र प्रकृति के, धार्मिक एवं सद्व्यवहारिक तथा दानी थे। ये लोग एक विशेष किस्म की तम्बाकू का व्यापार किया करते थे। पिता श्री देवीप्रसाद शैव थे और उन्होंने पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक शिव-मंदिरों की यात्रा की थी। श्री प्रसादजी का जन्म समृद्ध परिवार में हुआ था। इनके घर हमेशा परिचितों व अन्य सम्बन्धियों के आने-जाने का तांता लगा रहता था। पिता भी सकोचशील प्रकृति के नहीं थे—उनकी दानशील प्रकृति उस समय

विख्यात थी। प्रसादजी के पिता श्री देवीप्रसाद साहू साहित्यिक रुचि वाले व्यक्ति थे। अपने घर में अनेक बार कविगोष्ठी का आयोजन करते या कवियों एवं मनीषियों को आमन्त्रित कर ससम्मान स्वागत किया करते। उन्हें ऐसा करने में हार्दिक आनन्द की अनुभूति हुआ करती थी। विद्वानों एवं कवियों के वातावरण में प्रसादजी का शैशव व्यतीत हुआ और उस वातावरण का व्यापक प्रभाव इन पर पड़ा।

प्रसादजी का बचपन पिता की छत्रछाया में आनन्द के साथ व्यतीत हुआ किन्तु यह सौभाग्य अधिक दिन स्थिर नहीं रह सका और दुर्भाग्य ने प्रसादजी पर चारों ओर से आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। १९०१ में प्रसादजी के पिताजी का स्वर्गवास हो गया—इस प्रकार सर्वप्रथम १२ वर्ष की आयु में प्रसादजी पितृ-सुख से वंचित हो गये। इस पीड़ा को समझ भी नहीं पाये थे कि तीन वर्ष पश्चात् ही प्रसाद-जी की माता का भी स्वर्गवास हो गया—और इस प्रकार प्रसादजी किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते मातृ-पितृ सुख से वंचित हो गये। उनके स्नेह की अधूरी प्यास सम्भवतः जीवन में कभी तृप्त नहीं हो सकी।

श्री रामनाथ सुमन ने प्रसादजी के जीवन-परिचय के संदर्भ में लिखा है—"संवत् १९५७ में ग्यारहवें वर्ष के आरम्भ में, अपनी माता के साथ इन्होंने धारा क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज, अयोध्या आदि की यात्रा की। धारा क्षेत्र की यात्रा में सघन वनमय अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच नर्मदा की धारा पर इनकी नाव हिलती डुलती बढ़ रही थी तब प्रकृति की उस सुनसान उपत्यका में, विराट की उस गोद में इनके हृदय में पहली बार एक अस्पष्ट उद्वेलन का अनुभव हुआ। संस्कार और समाज की अनुकूलता तो थी ही, इस तथा इसके वर्षों बाद की महोदधि भुवनेश्वर और पुरी की यात्रा में पर्वत और समुद्र की महानता एवं विशा-लता ने इनकी भावुकता को उत्तेजना दी। कल्पना के पंख उन्मुक्त हो गये। अपने मन पर अमरकण्टक की यात्रा के प्रभाव का ये अब तक अनुभव करते हैं। इनके यहाँ बेनी, शिवदा तथा अन्य कितने ही कवि आया करते थे और अक्सर समस्यापूर्ति एवं कविता पाठ का अखाड़ा आधी-आधी-रात तक चलता रहता था। ठंडाई बन रही है, रसगुल्ले और दूध-मलाई की हँडिया भरी हैं, कहीं डंड बैठक और कुश्ती का बाजार गर्म है, तो कहीं सभा-चातुरी खिल-खिल कर हंस रही हैं, कहीं कवित्त पर कवित्त चल रहे हैं, तो कहीं पंडितों से ज्ञान-चर्चा हो रही है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अलस-वैभव का ढलता हुआ जमाना, एक ओर आजकल की गति की अनिश्चितता से रहित था और दूसरी ओर औचित्य की सीमा से आगे चली गयी फुर्सत की व्यर्थता से लदा था, आखिरी सांस ले रहा था और ये फिसाने उसकी अन्तिम चिन-गारियों को फूलती-सी याद के बचे-खुचे चिन्ह-स्वरूप कहीं-कहीं सुनाई पड़ जाते हैं।[1]

---

१. कवि प्रसाद की काव्य-साधना पृ० सं० १४–१५ छात्र हितकारी पुस्तकमाला-६७वां संस्करण, १९५७

ऐसे वैभवमय व मादक वातावरण में प्रसादजी की काव्य-साधना का श्रीगणेश हुआ था। वातावरण मानव-मन को प्रेरित करता है वह उसके तदनुकूल अपने आपको चलाता है। ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो वातावरण में प्रतिकूलता की ओर अग्रसर हो सकें। प्रसादजी का सौभाग्य था—उन्हें अपनी भावनाओं के अनुकूल वातावरण मिल सका और उनकी अंतर्मुखी सहज-वृत्तियों के प्रकाशन का अवसर मिल सका। वातावरण ने इनके मन में भी कवित्व के प्रति मोह एवं स्फूर्ति उत्पन्न की। सर्वप्रथम ये भी अपने घर में आने-जाने वाले विद्वानों की तरह समस्या-पूर्ति की ओर प्रवृत्त हुए। घर वालों से लुक-छिप कर समस्या-पूर्ति किया करते थे। १५ वर्ष की आयु में इनकी इस प्रवृत्ति का घरवालों को आभास हुआ—उसके उपरान्त ये निश्चिंत होकर कविता लिखने लगे।

प्रसादजी किसी संस्था में नियमित रह कर अध्ययन नहीं कर सके थे। घर पर ही इनकी शिक्षा-दीक्षा हो सकी थी। संस्कृत-हिन्दी एवं अन्य भाषाओं का अध्ययन कर सके। विविध भाषाओं के महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन में इनकी विशिष्ट अभिरुचि रही। घर पर ही इनको गुरुजन अध्ययन कराया करते थे और ये उनके सन्निकट श्रद्धा के साथ अध्ययन किया करते थे। माता के निधन के पश्चात् प्रसादजी के ज्येठ भ्राता श्री शम्भूरत्न जी का भी देहावसान हो गया—इस प्रकार प्रसादजी जीवन-क्षेत्र में अकेले ही रह गये। प्रसादजी ने अपना प्रथम विवाह सं० १९६६ में किया किन्तु दुर्भाग्य था कि उनकी पत्नी अधिक दिन उनके साथ नहीं रह सकी। १० वर्ष तक सहयोग देकर प्रसाद जी से विदा ले इस संसार से चल पड़ी। प्रसादजी के हृदय में गहन पीड़ा ने जन्म ले लिया था और उनके मानस में विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गये थे, वे अनासक्त भाव से शेष जीवन को जीना चाहते थे लेकिन आसक्ति की लचीली डोरियाँ उनके कदमों में इस कदर उलझी हुई थीं कि वे उस व्यामोह-जाल से सहसा अपने आपको मुक्त नही कर सकते थे। उनकी भाभी ने उनसे दूसरा विवाह कर लेने के लिए आग्रह किया और वे न चाहते हुए भी उस आग्रह को नहीं ठुकरा सके। अंत में उन्होने दूसरा विवाह भी किया, किन्तु विधि की विडम्बना! दुर्भाग्य ने अपनी अजेय छाया यहाँ भी डाली और विवाह के एक वर्ष बाद ही नव-विवाहिता धर्मपत्नी प्रसव के समय अपनी भौतिक देह को छोड़ कर दिवगंता हो गई। प्रसादजी ने इसे भी भाग्य की विडम्बना कह अनासक्त भाव ग्रहण कर लिए किन्तु फिर उन्हें एक और पराजय स्वीकारने के लिए विवश होना पड़ा। द्वितीय धर्मपत्नी के देहावसान के ५ वर्ष पश्चात् प्रसादजी ने तृतीय विवाह किया—उसी पत्नी से उन्हें एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई-जिसका नाम रत्नशंकर रखा गया।

प्रसाद जी का पारिवारिक जीवन वैभवमय होते हुए भी रिक्तता से पूर्ण रहा। उन्हें अपने जीवन में आए दिन एक नई व्यथा का भार झेलना पड़ा, एक नई

पीडा से आलिंगन करने के लिए तत्पर रहना पड़ा और शोक के लिए हर क्षण व्यस्त रहना पड़ा- ऐसी विषम परिस्थितियों में भी प्रसाद जी ने धैर्य को नहीं छोड़ा अपितु स्वाभिमान एवं आत्मसंयम के साथ अपना जीवन व्यतीत करते रहे ।

महादेवीवर्मा ने प्रसाद जी के आकर्षक व्यक्तित्व का चित्रांकन करते हुए लिखा है:—"न अधिक ऊंचा न नाटा, मझोलाकद, न दुर्बल न स्थूल, छरहरा शरीर, गौर-वर्ण, माथा ऊंचा और प्रशस्त, बाल न बहुत घने न विरल, कुछ भूरापन लिए काले, चौडाई लिए मुख, मुख की तुलना में कुछ हल्की, सुडौल नासिका, आंखों में उज्ज्वल दीप्ति, ओठों पर अनायास आने वाली बहुत स्वच्छ हंसी, सफेद खादी का कुरता । उनकी उपस्थिति में मुझे एक उज्ज्वल स्वच्छता की वैसी ही अनुभूति हुई जैसी उस कमरे में सम्भव है जो सफेद रंग से पुता और सफेद फूलों से सजा हो ।"[१]

इससे स्वत: सिद्ध हो जाता है कि प्रसाद जी का शारीरिक व्यक्तित्व भी उतना ही आकर्षक एवं गम्भीर था जितना कि उनका अन्तर्मन काव्यों में अभिव्यंजित हो सका है ।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रसादजी के व्यक्तित्व के संदर्भ में लिखा है, "(वे) मित्रों का स्वागत बड़ी आकर्षक और आत्मीय नेत्र गति से करते थे, अक्सर मित्रों के कन्धे पकड कर हल्के ढंग से झकझोर देते थे, जिससे यदि कहीं खिन्नता या उपालम्भ का भूत सवार हो तो तुरन्त उतर जाय । रहा-सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था ।[२] अन्यत्र ऐसा भी उल्लेख मिलता है–" प्रसाद जी को पाक-कला में विशेष रूचि थी । वे अपने मित्रों के लिए स्वयं भोजन तैयार करके आनन्द का अनुभव करते थे और मित्रों द्वारा उसकी प्रशंसा सुन कर फूले न समाते थे । मटर गोभी व आलू की सब्जी और चूरमे के लड्डू बनाने में तो उन्हें कमाल हासिल था ।[3] प्रसादजी सात्विक प्रकृति के व्यक्ति थे । जीवन में भांग-ठंडाई के अतिरिक्त अन्य किसी मादक द्रव्य का सेवन उन्होंने जीवन में नहीं किया । साहित्यकार भावुकता के नाते सौंदर्य-बोध के प्रति सदा ही आकृष्ट रहता है । प्रसाद का भावुक मन भी रसिक-वृत्तियों से आपूरित था । श्री रमेश चन्द्र गुप्त ने उनकी रसिक-प्रकृति के संदर्भ में उल्लेख किया है:—

"इसी प्रसंग में प्रसादजी के रसिक व्यक्तित्व एवं व्यवहार की चर्चा कर देना भी उचित होगा । शारीरिक-दृष्टि से वे अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट थे, वैभवपूर्ण परिवार में उनका जन्म हुआ था और सरल हृदय एवं मधुर-वाणी उनकी अतिरिक्त विशेषतायें

---

१. पथ के साथी-पृष्ठ सं० ६१

२. जयशंकरप्रसाद पृ० सं० २२–२३ ।

३. प्रसाद और उनका साहित्य पृ० सं० ३०, ।

थीं। कवि-हृदय होने के कारण वे सौंदर्य के अनन्य उपासक थे। इस सबका यह परिणाम हुआ कि उनका अनेक नर्तकियों से परिचय हो गया। काशी में उन दिनों सिद्धेश्वरी बाई की बहुत चर्चा थी। प्रसाद जी भी अपने अंतरंग मित्रों के साथ उसके मधुर संगीत को सुनते थे। नारियल बाजार की किशोरी बाई और भगवती तो उन पर अत्यन्त आसक्त रहती थी। कहते हैं कि भगवती तो एक दिन उनके घर पर स्थायी रूप से रहने के लिए ही पहुँच गई थी, जिसे प्रसाद जी ने बडी कठिनाई से समझाया। इस प्रकार प्रसाद जी की रसिक वृत्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।"[1]

प्रसादजी विनोदप्रिय एवं रसिक प्रकृति के होते हुए भी संकोचशील स्वभाव वाले थे। कवि होते हुए भी वे कभी कवि-सम्मेलन में नहीं गये और न कभी किसी साहित्यिक या सामाजिक समारोह के सभापतित्व को ही ग्रहण किया यह उनकी संकोची प्रवृत्ति का ही परिणाम था। यह बात नहीं थी कि वे अपनी कवितायें सुनाना पसन्द नहीं करते थे—प्रायः वे अपने ही घर के एक छोटे से बगीचे में बैठकर अपने मित्रों को कविता सुनाया करते थे। वे स्वच्छन्दता अर्थात् मुक्त-वातावरण को अधिक पसन्द करते थे। भीड़ में जाकर एक बंधी हुई व्यवस्था के अन्तर्गत जीना उन्हें पसन्द नहीं था अपितु अपने मित्रों के मध्य बैठकर पान-सुपारी खाते हुए उनके साथ ठहाके लगाने में उन्हें अधिक आनन्द आया करता था। गिने-चुने मित्रों के मध्य कभी गम्भीरता के साथ काव्य चर्चा करते थे तो कभी चिन्तन की विभिन्न दृष्टियों पर तर्क-वितर्क करते रहते किन्तु शालीनता के विरूद्ध आचरण उन्हें कतई पसन्द नहीं था और सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि वे कविसम्मेलनों आदि में भाग लेना अस्वीकारते रहे हों। प्रसादजी ने अपनी सम्पत्ति बढ़ाने के लिए भी कभी विशेष प्रयत्न नहीं किया। उन्हें अभावों और व्यथाओं के मध्य हंस कर जीने में आनन्द आता था। वे दूकान पर तम्बाकू का व्यवसाय भी करते रहते और वहीं अपनी साहित्य साधना में भी तमन्य रहते।

प्रसादजी ने अल्पायु में ही कविता लिखना आरम्भ कर दिया था। उन दिनों वे 'कलाधर' उपनाम से कविता लिखा करते थे। सर्वप्रथम उन्होंने समस्या-पूर्ति करना प्रारम्भ किया था। जब उन्होंने सर्वप्रथम अपने गुरु मोहनीलाल गुप्त को समस्या-पूर्ति सुनाई तो वे आश्चर्य-चकित रह गये थे। उनकी प्रथम समस्या-पूर्ति इस प्रकार है:—

"हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेस न हू पावत पारे।
पारे हैं कोटिक पातकी पुंज 'कलाधर' ताहि छिनौ लिखितारे॥
तारेन की गिनती सम नाहीं, सुजेते तरे प्रभु पापी बिचारे।

---

१. कामायनी एक नवीन दृष्टि पृ० सं० १२ (प्रथम संस्करण)

चारे चले न विरंचिहू के जो दयालु व्है शंकर नेहु निहारे ।।

यहीं से इनकी साहित्य साधना आरम्भ हुई ।

सृजनशील व्यक्तित्व

संवत् १९६३ में सर्वप्रथम 'भारतेन्दु' में इनकी कविता का प्रकाशन हुआ । इसके पश्चात् 'इन्दु' पत्रिका में इनकी रचनाओं का नियमित प्रकाशन होने लगा । इसी पत्र के माध्यम से गद्य-रचना का आरम्भ हुआ । प्रारम्भ में कुछ लेख प्रकाशित हुए और उसके पश्चात् इनकी प्रथम कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई । भिन्न तुकांत शैली में 'प्रेम-पथिक' काव्य लिखा । यह काव्य पहिले बृजभाषा में और कालान्तर में खड़ी बोली में अनुदित किया गया । इस कृति का तत्कालीन साहित्य-समाज ने तीव्र विरोध किया और परम्परा भंग करने का दोष कवि के सिर पर मढ़ा गया । अनेक प्रकार के आलोचनात्मक शब्द वातावरण में उछाले गये किन्तु प्रसाद के कवि ने संयम के साथ आगे बढ़ते रहने का दुस्साहस ही किया और तीव्र गति से बढ़ते रहे । 'चित्राधार' का प्रकाशन हुआ— इसमें अनेक खंड थे—उनमें विविध रचनायें अनेक भावों को लेकर जन्मी थीं । प्रकृति की रमणीयता और प्रेमविषयक रचनाओं का संग्रह कहा जा सकता है । ये कवितायें बृजभाषा में लिखी हुई थी तथा परम्पराओं से दबी हुई रहने पर भी विकास की रेखाओं को अंकित करने में समर्थ थी । प्रारम्भ में प्रत्येक कवि प्रेमविषयक रचनायें लिखता है, कुछ लोग यहीं ठहर जाते हैं और कुछ लोग इससे आगे बढ़ कर समर्थ रचनायें दे पाते हैं । प्रसाद का कवि भी प्रेम के उन्माद और मादकता से ऊपर उठ गया था, उस क्षेत्र से आगे बढ़ निकला था । प्रेम की परिधियाँ व्यापक हो चली थी और उसी व्यापकता का परिणाम है—'कानन-कुसुम' । कवि की प्रसुप्त जिज्ञासाशील भावनायें इस काव्य में चैतन्य प्राप्त कर चिन्तन के अभिनव आयाम प्रस्तुत करने लगी । कवि प्रत्येक कण-कण में ईश्वर से सान्निध्य प्राप्त करने को लालायित हो उठता है, प्रकृति के अंग-अंग में उसे जगन्नियन्ता की झलक दिखाई देने लगती है—तभी तो वह कहने लगता है – हर एक पत्थर में वही मूर्ति छिपी है और वह विश्व ही उसका अनन्त मन्दिर है ।" यहाँ आकर प्रसाद का कवि अनन्त रहस्यों को जानने के लिए उत्सुक हो जाता है । और यह जिज्ञासा उसे आत्मबोध की प्रवृत्ति की ओर ले जाती है । अन्तर्द्वन्द्वों के मध्य संघर्ष करता हुआ कवि एक दिन सत्य के दर्शन प्राप्त कर लेने के पश्चात् कह बैठता है:—

विश्व विमल आनन्द-भवन-सा बन रहा,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था ।

मानस में प्रभात की किरणों ने दिव्य आलोक को प्रसृत कर दिया और वह

आलोक उसकी भावनाओं तथा चिन्तन की धारा में व्यापक हो उठा। प्रेम की परिकल्पनायें भी व्यापक साधनामय होकर प्रसृत होने लगी—

सुखः-दुख, शीतातप भुलाकर प्राण की आराधना,
इस स्थान पर की थी अहो सर्वस्व की साधना।
हे सारथे! रथ रोक दो, स्मृति का समाधि स्थान है,
हम पैर क्या, शिर से चलें तो भी न उचित विधान है।

वह अपनी साधना में निरन्तर दृढ़ होता चला और उसकी व्यापकता मानवतावाद की ओर प्रवृत्त हुई। उसका सहज स्वर कह उठा—'दूर हों दुर्बलता के जाल, दीर्घ निश्वासों का हो अन्त।" यहीं से कवि मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर विद्रोही हो उठा—उसके मानस से निकली चिनगारियों ने कहा—जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक करों का दृढ़ बल हो, दुःखिया की आँखों का आँसू और मजदूरों का बल हो—उसके लिए अचल सत्य सकल्प जागृत रहें। प्रसादजी में यहीं से सत्कवि का आभास हमें मिलने लग जाता है। इसके पश्चात् 'महाराणा का महत्व' 'अयोध्या का उद्धार' 'वन-मिलन' 'प्रेम-राज्य' 'चित्र-कूट' 'कुरुक्षेत्र' 'अशोक की चिन्ता' 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' 'प्रलय की छाया' 'पेशोला की प्रतिध्वनि' 'भरत' 'शिल्प-सौन्दर्य' 'श्रीकृष्ण-जयन्ती' 'पराग आदि अनेक काव्य व कवितायें प्रकाशित हुई।

'झरना' से कवि जीवन की दूसरी यात्रा आरम्भ होती है। छायावादी प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप से उभर कर आना इसी संग्रह से आरम्भ होता है। झरना के आरम्भ में कवि ने समर्पण के शब्दों में कहा है:—'तुम्हें तो मैंने हृदय ही दान कर दिया था, पर वह क्षुद्र था, इसलिए उसने गर्व किया ....अब हमारा क्या रह गया है? जो कुछ था वह कभी से तुम्हारा हो रहा है।" यहीं से कवि की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का अन्तर्मुखी होना आरम्भ हो गया और विराट चैतन्य के अन्वेषण की भावना ने कवि को साधक बना दिया—प्रश्न उपस्थित कर दिये गये:—

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा,
वृक्ष-पत्र की मधु छाया में,
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है,
अमृत-सदृश नश्वर-काया में?

साधना का यह एक ऐसा स्थल था जहाँ विराट-सत्ता तक पहुँचने की तीव्र लालसा और एक अजीब सी छटपटाहट विकलता लिए रहती है। झरना के पश्चात् 'आँसू' का समागम हुआ। 'आँसू' एक श्रेष्ठ विरह काव्य और गीति काव्य कहा जाता है। इस काव्य में कवि-हृदय की सहज अभिव्यक्ति हुई और कवि की अन्तश्चेतना

अनावरित होकर सभी के सामने व्यक्त हो गई । आँसू के पश्चात् कवि का महाकवित्व हमारे सामने आता है–जिसका प्रतिफलन कामायनी महाकाव्य है–जो कवि को पूर्णता की ओर ले जाता है और उस विराट चैतन्य में आत्मसात कर देता है कवि प्रसाद का मानसिक विकास यहाँ आकर पूर्णता को प्राप्त होता है ।

प्रसादजी ने गद्य के क्षेत्र में सफलता के साथ जन-जीवन को चित्रित करते हुए प्राचीन भारतीय संस्कृति और मानवतावाद के प्रति गहन निष्ठा व्यक्त करते हुए पूर्णता को प्राप्त किया है । 'छाया' का प्रकाशन १९६९ में हुआ उसके पश्चात् १९८३ में 'प्रतिध्वनि का प्रकाशन हुआ । इसी क्रम में १९८६ में आकाशदीप, १९८६ में ही आंधी, और १९९३ में 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुआ प्रसादजी कहानीकार के रूप में एक सफल व्यक्तित्व को लेकर चले हैं । उपन्यासों में तितली का प्रकाशन १९७१ में हुआ और उसके पश्चात् संवत् १९८६ में कंकाल का प्रकाशन हुआ किन्तु उनका 'इरावती' उपन्यास जीवन में अधूरा ही रह गया ।

नाटकों के सृजन की भी उनकी दीर्घ यात्रा है । सज्जन से ध्रुवस्वामिनी तक के नाटकों में उनकी नाट्यकला और अतीत के प्रति निष्ठा के भाव देखे जा सकते हैं जो चरम विकास की स्थिति तक पहुँच पाते हैं । सज्जन का प्रकाशन संवत् १९६७ में हुआ और उसके पश्चात् 'कल्याणी-परिणय' 'करूणालय' 'राज्यश्री' 'विशाख' 'अजातशत्रु' 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'कामना' 'स्कन्दगुप्त' एक घूंट' 'चन्द्रगुप्त' और ध्रुवस्वामिनी' नाटक का प्रकाशन हुआ ।

श्री प्रसादजी सफल कवि के साथ-साथ सफल नाटककार, कहानी लेखक, उपन्यासकार एवं गीतकार के रूप में हिन्दी-साहित्य को अमरता प्रदान की है । प्रसादजी की साहित्यिक विशेषतायें इस प्रकार कही जा सकती हैं —

भिन्न तुकांत शैली को जन्म देना ।
अन्वेषक के रूप में साहित्य-साधना में प्रवृत्त होना ।
मानव सापेक्ष्य रमणीयता के भावों को अभिव्यंजना ।
परम्परित अनैसर्गिक भावों के प्रति विद्रोही स्वर ।
हिन्दी काव्य में आधुनिकता प्रदान करने का श्रेय ।
अतीत के प्रति तीव्र आग्रह के दर्शन ।
जीवन की सर्वग्राही साधना का विकास ।
हिन्दी साहित्य में छायावाद का प्रवर्तन और रहस्यवाद का विकास ।
मानवतावाद की ओर चिन्तन के नये सूत्र ।
अध्यात्मवाद की प्रवृत्ति ।
भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति गहन निष्ठा ।

एक अभिनव व्यवस्था और विराट-चैतन्य की ओर लेजाने के लिए पूर्ण मार्ग की कल्पना ।

व्यक्ति-चेतना का अन्तर्मुखी विकास और समष्टि के प्रति आग्रहशीलता का उद्योतन ।

नारी के प्रति अगाध-श्रद्धा ।

प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने हिन्दी-साहित्य को बहुत कुछ अभिनव क्षेत्र प्रदान किये हैं—जिनके परिणामस्वरुप एक युग का निर्माण हो सका और आने वाला युग प्रेरणा लेकर और भी आगे बढ़ सका ।

प्रसादजी की काव्य-शिल्प-मान्यतायें

'काव्य और कला' शीर्षक से प्रसादजी ने काव्य-शिल्प सम्बन्धित् अपने विचारों तथा मान्यताओं का संग्रह प्रकाशित करवाया । छायावादी प्रत्येक कवि अपनी कविताओं के संकलन में ही काव्य सम्बन्धित् मान्यताओं के सदर्भ में विशद् वक्तव्य देता रहा है, लेकिन प्रसादजी ने किसी भी कृति के आमुख में काव्य सम्बन्धित् मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण नहीं किया अपितु 'काव्य और कला' में शिल्प सम्बन्धित अपने विचार व्यक्त किये । प्रसादजी ने भावाभिव्यंजना के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है—"व्यंजना वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है । क्योंकि अनुभूति का विकास सौंदर्यपूर्ण होगा ही ।"[1]

"जहाँ कवि अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो ।[2]

प्रसादजी की मान्यता रही है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हो सकता है । जैसी अनुभूति होगी वैसी ही अभिव्यक्ति होगी । यदि अनुभूति सत्य और सुन्दर होगी तो उसकी अभिव्यक्ति भी समर्थ और सुन्दर ही होगी यदि अनुभूति ही मिथ्यापवाद से ग्रस्त है तो वह रचना भी उतनी ही विशृंखल होगी । केवल कल्पना के प्रश्रय पर की गई रचना समर्थ रचना नहीं हो सकती है, वह कभी भी प्रभावोत्पादक अथवा सत्य-रचना नहीं कहला सकती है । जहाँ केवल बुद्धि-परक तत्वों की प्रधानता पाकर प्रतिभा सृजन में रत रहे और उसका हृदय से स्पर्श न हो पाये तो वह रचना तादात्म्य विहीन होकर अभिव्यंजना के धरातल पर विशृं-

---

१. काव्य और कला पृ० ४४ ।

२. यथोपरि पृ० १२८ ।

खल हो जायेगी। अतः श्रेष्ठ रचना वही कही जा सकती है जिसमें हृदय से तादात्म्य हो न कि केवल मस्तिष्क से ही सम्पृक्त हो।

इसी संदर्भ में प्रसादजी ने कहा है:—'जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।"[1]

छायावाद का समर्थन करते हुए प्रसादजी ने कहा है:—"आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद योजना असफल रही। उनके लिए नवीन-शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।[2]

धार्मिक-प्रवृत्ति

प्रसादजी मूलतः शैवोपासक रहे। उनके साहित्य में भी शैव-सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या हुई है किन्तु उनकी धार्मिक दृष्टि 'शिव' पर केन्द्रित होते हुए भी व्यापकता लिए हुए रही। उनके विस्तृत सृजन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रसादजी ने ईश्वर को मनुष्यत्व के रूप में पाया। मानवता में परब्रह्म के दर्शन किये। प्रसादजी का 'शैववाद' कामायनी में हमें विशद् रूप से प्राप्त होता है ता अन्य-रचनाओं में राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के प्रति भी उनकी गहन-श्रद्धा दिखाई देती है। प्रसादजी ने शैशवावस्था में ही अनेक संस्कृत धार्मिक-ग्रंथों का अध्ययन कर लिया था। कहते हैं कि अनेक दार्शनिक अंश तो निरन्तर पारायण करने के कारण उन्हें कंठस्थ हो गये थे। डा० प्रेमप्रकाश रस्तौगी ने लिखा है—"प्रसादजी आरम्भ से ही एक परम सत्ता में विश्वास रखने वाले धर्म-प्राण साधक थे। उनके सम्पूर्ण साहित्य एक ब्रह्म में आस्था, श्रद्धा और विश्वास का साहित्य है। उनके सम्पूर्ण साहित्य पर आस्तिकता की प्रबल छाप है।"[3] प्रसादजी की प्रारम्भिक कृतियों में ब्रह्म की सत्ता मे विश्वास का आभास मिलता है:—

पिता सब का वही है एक,
पतित पद्पद्म में होवे
तो पावन हो ही जाता है।

(कानन-कुसुम पृ० सं० ६४)

---

१. यथोपरि पृ० ४५।
२. यथोपरि पृ० १२३।
३. "प्रसादजी के काव्य पर वैदिक दर्शन का प्रभाव"—छायावाद और वैदिक दर्शन पृ० सं० १५१

प्रसादजी का ब्रह्म सर्व-व्यापक है, उसी से समस्त संसार की उत्पत्ति हुई है — उनकी मान्यता को दार्शनिकगण 'सर्ववाद' की संज्ञा देते हैं। प्रसादजी अपने परम ब्रह्म से कहते हैं कि तुमने छिपकर मन्दिर, मस्जिद व गिरजा का झगड़ा फैला दिया है, जबकि सब कुछ एक ही है:—

'मस्जिद पैगोड़ा, गिरजा, किसको बनाया तूने
सब भक्त-भावना के छोटे-बड़े नमूने।

(कानन-कुसुम पृ० सं० ६)

प्रसादजी का कवि एकेश्वरवाद में विश्वास रखता है उन्होंने अनेक स्थलों पर वरुण शब्द का प्रयोग किया है। वरुण को वैदिक काल में एकेश्वरवाद का प्रतीक माना है। आर्यों का प्रमुख देवता वरुण ही रहा है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वरुण देवता के नाम पर ऋचायें मिलती हैं। वरुण में समन्वयी विचारधारायें सन्निहित है। मुख्य रूप से प्रसादजी ने शिव की प्रशस्ति में अनेक स्वरूप वर्णित किये हैं। कामायनी मे शिव-स्वरूप की स्थिति इस प्रकार है:—

धूमकेतु-सा चला रुद्र नाराच भयंकर,
लिए पूंछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुँकार कर उठी
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठी।

(कामायनी २०२)

अथर्ववेद और यजुर्वेद में शिव को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। यद्यपि प्रसादजी ने वरुण व शिव के अतिरिक्त विष्णु, सविता, इन्द्र, सरस्वती ब्रह्मा, आदि देवताओं के प्रति भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। एकेश्वरवाद के सदर्भ में वैदिक ग्रंथों में भी हमें सूत्र मिलते हैं।[1] उन्हीं मान्यताओं के आधार पर प्रसादजी ने भी एकेश्वरवाद को अपनाया है।

शैववाद

'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' में शैववाद के संदर्भ में स्वयं प्रसादजी ने उल्लेख किया है शैवों का अद्वैतवाद और उनका साम्यरस वाला रहस्य-सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्यभाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा कामकला की सौंदर्य-उपासना

---

१. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—ऋग्वेद–१/१४६/४६
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणाश्च।
(श्वे० उ० ६/११)

आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधन प्रणालियाँ हैं जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने संघों में प्रचार किया था।' (रहस्यवाद) प्रसादजी स्वयं शैव-दर्शन के गम्भीर विद्वान थे—इसी की परिणिति उनके साहित्य में शैव-धर्म का अविच्छिन्न प्रवाह है। आचार्य सोमानन्द ने शिव और शक्ति में अभेद माना है।[1] शैवागमों में माया को भी शक्ति का रूप माना गया है। उपनिषद्-साहित्य में भी माया को शक्ति का रूप दिया गया है।[2] शैवागमों में ब्रह्म के प्रथम स्वरूप को शिव, चिति एवं महाचिति के नाम से कहा गया है। शैवागमों का मुख्य सिद्धान्त यही है कि शिव ही इस सृष्टि के विकासकर्ता हैं, स्रष्टा हैं। जगत् और ब्रह्म में अभेद-स्थिति को स्वीकारा गया है 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में 'चिति संकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितः विश्वमय' इस सूत्र की व्याख्या के संदर्भ में ब्रह्म और जीव में अभेद-स्थिति मानी गई है।[3] हमारे वैदिक वाङ्मय में भी अभेद की सत्ता है – जैसे 'सर्वं खल्विदम्' एवं 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्।'[4] अभिनवगुप्ताचार्य ने 'तंत्रसार' एवं 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' में शैववाद पर विशद् विवेचन किया है।

शैववाद में जीवमुक्ति के लिए तीन उपायों का उल्लेख किया गया है (क) आणव (ख) शक्ति और (ग) शांभव। शैवागमों का त्रिपुरा सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्तों से समन्वय रखता है।

प्रसादजी मूलतः शैव थे और उनकी रूचि भी शैवागमों में ही विशेषतः रही थी—अतः उनकी दार्शनिक विचार-धारा शैववाद को लेकर ही आगे चली। कामायनी में शैववाद के सिद्धान्तों का सम्यक् विश्लेषण हुआ है। इसी की अन्तिम परिणिति आनन्दवाद की ओर प्रवृत्त हुई।

रहस्यवाद

रहस्यवाद अद्वैत भावनात्मक साधना पद्धति का नाम है जहाँ आत्मा का अव्यक्त ब्रह्म के साथ रागात्मक सम्बन्ध-स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की जाती हो अथवा स्थापित किया जाता हो।[5] मानव अपने जीवन की विवशताओं से संत्रस्त

---

१. न शिव शक्तिरहितो न शक्ति व्यतिरेकिणी
शिवः शक्त तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते।
शक्ति शक्तिमतो भेद् शैवे जातु विवर्ष्यते।

२. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र–४

४. ऋग्वेद १०, ९०, २

५. ऋग्वेद ७/८८/३

होकर इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि वह स्वयं कर्ता नहीं है अपितु उसका नियामक कोई और ही है—यही जिज्ञासा उसे रहस्य जानने के लिए प्रेरित करती रहती है। इसी रहस्य की अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। प्रसादजी उस परम अज्ञात शक्ति को जगन्नियन्ता मानते हुए कहते हैं:—

समस्त निधियों का वह आधार,
प्रमाता अखिल विश्व का सत्य,
लिए सब उसके बैठा पास
उसे आवश्यकता ही नहीं।[1]

इस रहस्य को जानने की जिज्ञासा वैदिक-युगसे रही है। अथर्ववेद में भी इसी जिज्ञासा को जानने के लिए ऋषिगण-प्रश्न करते हैं कि ये दिन-रात कहाँ जाना चाहते हैं औ ये सरितायें परम आश्रय को प्राप्त करने की इच्छा से कहाँ जा रहा है—वह स्थान अथवा वह कौन है ?[2] इसी जिज्ञासा से परिचित होने के लिए प्रसादजी भी विकल हैं—और इसी भावना को जीते हुए उन्होंने कहा है ?

तुम हो कौन और मैं क्या हूं ?
इसमें क्या है ? धरा सुनो !
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।

इसी प्रकार कामायनी का कवि उस विराट सत्ता को जानने के लिए कहता है—'वह विराट था हेम घोलता नयारंग भरने को आज, कौन हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतुहल का था राज।" मनु इसी जिज्ञासा पथ पर अविरत चलता रहा और साधना-पथ में उसे दिव्य पुरुष की सत्ता का आभास होने लगा—वह श्रद्धा से उस अनन्त पथ की यात्रा पर अविरत चलते रहने के लिए आग्रह करता है—मनु उस परम ब्रह्म के चरणों के सानिध्य में पहुँच जाना चाहता है जहाँ जीवन व चिन्तन के सभी द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं—जहाँ केवल समरसता और अक्षुण्ण आनन्द की स्थिति है। जहाँ न जागृति रहती है न स्वप्न ही और न सुसुप्ति ही—केवल आनन्द का निनाद रहता है—जिसमें भी केवल तन्मयता के क्षण। प्रसादजी का रहस्यवाद सूफियों के पीड़ामय प्रेम का प्रतीक नहीं है और न वैष्णवों के माधुर्य-मूलक भक्ति-

---

१. झरना पृ० सं० ७३

२. क्व प्रेप्सन् दीप्यत उर्ध्वो अग्निः
क्व ? प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा,
यत्र प्रेप्सन्ती रभियन्त्यावृतः स्कम्भं
तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। अथर्ववेद १०/७४

भावना का अनुकरणशील ही-अपितु साधना पथ की विविध-स्थितियों के अतिक्रमण के पश्चात् आनन्दकोप तक पहुँचने का मार्ग है ।[1]

सर्वात्मवाद—

डा० हरिकृष्ण पुरोहित ने सर्वात्मवाद के संदर्भ में कहा है—"आलोच्य काल के कवियों ने रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को साधन रूप में अपनाया है । इसी दृष्टि से छायावाद का दार्शनिक आधार सर्वात्मवाद माना जाता है । कवि प्रकृति को केवल सजीव सत्ता के रूप में ही नहीं देखता वरन् वह प्रकृति के कण-कण में परोक्ष सत्ता का संकेत पाता है । 'सर्वात्मवाद' वह दृष्टिकोण है जिससे हम सभी पदार्थों को ईश्वर स्वरूप देखते हैं अथवा ईश्वर के सभी पदार्थों में व्याप्त पाते हैं ।"[2]

प्रसादजी के व्यक्तित्व में भी सर्वात्मवाद की विचारधाराओं का गहन चिन्तन व्याप्त था । उनकी कृतियों में हमें सर्वात्मवाद की चिन्तन धारा दिखाई देती है । कामायनी में कवि प्रकृति का अवगुण्ठन हटाकर असीम आनन्द के दर्शन के लिए जिज्ञासु है—

चांदनी सदृश खुल जाय कहीं
अवगुण्ठन आज संवरता सा
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा
लहरों में मस्त विचरता सा ।[3]

इसी प्रकार 'एक लेख' में कवि कहता है —"विमल इन्दु की किरणें तेरे ही प्रकाश का पता देती हैं, सागर के विस्तार में तेरी दया के प्रसार के दर्शन होते हैं, तरंग मालाएं तेरी ही प्रशंसा का गान गा रही हैं, चांदनी में तेरी मुस्कराहट देखी जा सकती है, तेरे हंसने की धुन में नदियां कलकल करती बही जा रही हैं । तुम प्रकृति रूपी कमलिनी को प्रकाशित एवं प्रफुल्लित करने वाले सूर्य हो ।"[4]

इसी प्रकार महासगीत' में भी भगवान को विराट पुरुष के रूप में अनुभूत

---

१. उस दिन जब जीवन के पथ में
छिन्न-पात्र ले कम्पित कर में ।
मधु-भिक्षा की रटन अधर में,
इस अन जाने निकट नगर में
आ पहुँचा था अंकिचना—लहर पृ० सं० १७
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचार धारा पर पाश्चात्य प्रभाव पृ० सं० २५०
३. कामायनी पृ० सं० ६८
४. चित्राधार पृ० सं० १०२ 'प्रयो ! रचना ।

किया है। प्रसादजी की अद्वैत भावना अनेक कविताओं में उपलब्ध होती है। प्रसादजी एक कविता मे कहते हैं—

फिर वही हमारा हम उसी के
वह हमीं, हम वह हुए,
तव तुम न मुझ से भिन्न हो,
सब एक ही फिर हो गये।

प्रसाद का कवि परम ब्रह्म को पुरातन पुरुष व अव्यय मानता है। उस विराट चैतन्य की सत्ता को स्वीकारता हुआ यही कहता है—"अयमात्मा ब्रह्म।"

वैदिक दर्शन का व्यापक प्रभाव—

प्रसादजी मूलतः शैव थे और उनके साहित्य में शैव-दर्शन विशेषतः उभर कर आया है किन्तु प्रसादजी के व्यक्तित्व पर वैदिक-दर्शन का व्यापक प्रभाव था—जो उनके सृजन में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। प्रसादजी एकेश्वरवादी रहे[1] और ब्रह्म के अस्तित्व में उन्होंने सदैव विश्वास किया। सम्पूर्ण वैदिक दर्शन का प्रसादजी ने गहन अध्ययन किया था तभी उनके साहित्य में एक-एक शब्द चिन्तन की प्रवृत्ति से अर्थ गाम्भीर्य लिए हुए है। वेदों में एकेश्वरवाद के संदर्भ में विशद् विवेचन हुआ है।[2] वैदिक-दर्शन में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दो रूप माने गये हैं। प्रसादजी ने भी ब्रह्म के दोनों रूपों का वर्णन किया है।[3] प्रसादजी ने साकार और निराकार दोनों ही रूपों का वर्णन किया है। प्रसादजी उस परम ब्रह्म का निवास हृदय के मध्य मानते हैं[4], वैदिक दर्शन में भी यही कहा गया है।[5] वैदिक दर्शन के ईशवास्य-मिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' के अनुसार प्रसादजी भी ईश्वर को सर्व व्यापक स्वीकारते है। 'सर्वात्मवाद' का दर्शन भी प्रसाद साहित्य में हमें मिलता है। 'अयमात्मा ब्रह्म' के प्रभावानुसार ही प्रसादजी भी 'कानन कुसुम' की एक कविता में सर्वात्मवाद की पुष्टि करते हैं।[6] कठोपनिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन इस कविता

---

१. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।—ऋग्वेद १, १४६, ४६।
२. एक एव नमस्यो विक्ष्वीऽय:—अथर्ववेद २, २, १।
एक एव नमस्य: सुशेव—अथर्ववेद २, २, २।
३. छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो?
मंदिर मस्जिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो।
४. "प्यारे मनुष्य उर मध्य निवास तेरो"—'विभो' कविता।
५. इहैव अन्तः शरीरे सौम्य स पुरुष:—प्र० उ० ६, २।
६. फिर वह हमारा, हम उसी के, वह हमीं, हम वह हुए।
तब तुम न मुझ से भिन्न हो, सब एक ही फिर हो गये।

में पूर्णतः हुआ है ।[१] चित्राधार से कामायनी तक की सृजन-यात्रा वैदिक-दर्शन से ओत-प्रोत है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, मुण्डकोपनिषद्, इशावास्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, छांदोग्योपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्, तैत्तरीय आरण्यक-प्रपाठक, निरुक्त, एवं शतपथ ब्राह्मण आदि का पूर्ण प्रभाव प्रसादजी की चिन्तन धारा में स्पष्टतः दिखाई देता है । यद्यपि प्रसादजी ने अन्य दर्शनों का भी पूर्ण अध्ययन किया था और उनका भी प्रभाव प्रसाद के सृजन में मुखर होकर आया है किन्तु वैदिक-दर्शन प्रसादजी के सृजन की मूल आत्मा है । स्वयं प्रसादजी ने छायावाद व रहस्यवाद के संदर्भ में लिखा है—"उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थ पञ्चदशी में कहा है—अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदंयतः ।"[२] इसी प्रकार मूर्त और अमूर्त के संदर्भ में वैदिक-मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं—"द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च ।" (बृहदारण्यक (२–३)" काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध के विविध निबन्धों में उन्होंने वैदिक-दर्शन के मतों की विशद् पुष्टि की है । विश्व को ब्रह्म का स्वरूप मानने के दृष्टि से उपनिषद् का मत प्रस्तुत करते हैं—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसूतं ब्रह्मावेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।[३]

सत्य की उपलब्धि के लिए कहा है—"सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च ।"[४]

आत्मा को मनोमय, वाङ्मय, व प्राणमय मानने की दृष्टि से कहा है—'अयमात्मा वाङ्मयः मनोमयः प्राणमयः (बृहदारण्यक)[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी के साहित्य पर वैदिक-दर्शन का पूर्ण प्रभाव रहा है । रहस्यवाद, व छायावाद का प्रवृत्ति का जन्म वैदिक-दर्शन ही है । कुछ लोगों की मान्यता है कि ये वाद पाश्चात्य की प्रवृत्तियों की छाया है–यह मानना नितान्त भ्रम है । स्वयं प्रसादजी ने इस भ्रान्ति को निराधार प्रमाणित किया है ।

आनन्दवाद

प्रसादजी दर्शनशास्त्रों के महान अध्येता रहे हैं । उन्होंने आजीवन अध्ययन

---

१. एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बहिश्च—क० उ० ५-१०-११
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ३०
   काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ३४
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ३६
४. यथोपरि पृ० सं० ३७
५. यथोपरि पृ० सं० ३७

करने के पश्चात् अपने जीवन और दर्शन में भारतीय दार्शनिक विचार-धाराओं का समावेश कर लिया था। वे एक ऐसे महान् पायोधि बन गये थे जिसमें दर्शन के अनेकवाद धाराओं की तरह लीन हो गये थे। उनके साहित्य में-'शैववाद' सर्वात्मवाद 'रहस्यवाद' 'समरसतावाद' 'नियतिवाद' 'दुःखवाद' 'स्वातंत्र्यवाद' 'क्षणिकवाद' 'करुणावाद' 'परमाणुवाद आदि अनेक प्रवृत्तियों का विकास पाया जाता है किन्तु प्रसाद जी का 'आनन्दवाद' उनकी एक निजी विशेषता या उनकी सफल साधना का प्रतीक कहा जायेगा। जो लोग निगमों और आगमों में परस्पर विरोधी भावना अथवा दृष्टि को न मान कर एक ही विचार-धारा स्वीकृत करते आये हैं-उन्हीं का मत 'आनन्दवाद' है, और इसी आनन्दवाद को मानने वाले प्रसादजी रहे हैं। श्री रामनाथ सुमन ने प्रसादजी के 'आनन्दवाद' के संदर्भ में कहा है:—

"चिरकाल से ही मनुष्य आनन्द के शोध में विकल है। चाहे कोई 'इज्म' या वाद हो, सबका लक्ष्य आनन्द का शोध ही है। भेद और संघर्ष पथ और आनन्द की परिभाषाओं को लेकर है। इस विभेद में 'प्रसाद' जी हमें अभेद का संदेश देते हैं। उनका आनन्द कष्ट-साध्य या विश्लेषणात्मक नहीं है। उनका आनन्द एक कवि, चित्रकार, एक कलाविद, एक साहित्यकार का सामञ्जस्यात्मक आनन्द है-वह आनन्द जो प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक पग पर प्राप्य है। यह मंजिल कठिन हो, पर हर कदम पर है·यदि हम देख सकें और पा सकें।"[1]

प्रसादजी की जीवन्त एवं सफल कृति 'कामायनी' महाकाव्य इसी आनन्दवाद को लेकर सृजित हुई है।

हमारे प्राचीन ग्रंथ तैत्तरीयोपनिषद् में इस आनन्दवाद की परिभाषाओं में कहा गया है-आनन्द ही परम ब्रह्म है और उसी आनन्द के माध्यम से संसार के समस्त प्राणी जन्म लेते है और इसी के मध्य जीते हैं, अन्ततोगत्वा सभी इसी में विलीन हो जाते हैं।[2] यह आत्मा आनन्दमय है और आनन्द ही आत्मा है।[3] 'मुण्डकोपनिषद्' में भी कहा गया है—हमारे हृदय में स्थित अज्ञान-ग्रंथि का विनाश ही मोक्ष है।[4] यजुर्वेद में भी कहा गया है—जो संसार के समस्त जीवों को आत्मा में

---

१. कवि प्रसाद की काव्य साधना पृ० सं० २८७-२८८

२ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
—तैत्तरीयोपनिषद्।३।६

३. आत्माऽन्दमयः' आनन्द आत्मा' —तैत्तरीयोपनिषद्। ३।५

४. मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव।
अज्ञान हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः। —मुण्डकोपनिषद् २।२।२८

ही देखता है और समस्त प्राणियों में आत्मा को ही देखता है वह सर्वात्मभाव के कारण किसी से घृणा नहीं करता है।[1]

डा० प्रेमप्रकाश रस्तोगीजी ने इस संदर्भ में कहा है: 'कामायनी का लक्ष्य भी आनन्दवाद की प्रतिष्ठा है। यह आनन्द इन्द्रियों के विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न क्षणिक आनन्द से भिन्न है। यह अन्तर्मुखी आनन्द है।"[2]

प्रसादजी का यह आनन्दवाद अद्वैतवाद अथवा समत्ववाद की परिकल्पना के अन्तर्गत ही है। भाव, कर्म और ज्ञान के असामञ्जस्य के कारण व्यक्ति कहीं भी सुखानुभूति नहीं कर सकता है—अत: इनके सामञ्जस्य की परिणिति ही आनन्दमार्ग का प्रथम सोपान है। इन तीनों में अभेद स्थिति प्राप्त होते ही समत्वभाव की स्वत: ही जागृति हो जायेगी और यही समत्वभाव साधक को साधना-पथ प्रशस्त करता हुआ आनन्द की अनुभूति करा सकेगा। मनुष्य स्वयं काममय है, वह अपनी कामनाओं के अनुसार संकल्पशील होता है और उसी के अनुसार कर्म करता है और वैसी ही फलाप्ति करता है।[3] अत: यह आवश्यक है कि सद्ज्ञान से प्रेरित होकर मानव-सद्काव्यशील होकर सद्कर्म में प्रवृत्त हो अपनी कामनाओं को कर्म और ज्ञान से सम्पृक्त करे। मर्यादित संयम और संयमशील स्थिति की मर्यादा ही मानव को कर्मयोगी बनाने में सहायक सिद्ध होती है। ज्ञान और कर्म की प्रवृत्तियों के क्षेत्र में जाज्वल्यमान एवं विशुद्ध आलोक में किये गये कार्य मानवता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कामायनी के मनु को भी इसी मार्ग के लिए दिशाबोध मिलता है:—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।[4]

इसी मार्ग का अनुसरण करता हुआ मनु अपनी साधना दिशा की ओर प्रवृत होता हुआ आगे बढ़ता रहता है। साँसारिक वाह्य-विषयों से हटकर वह अन्तर्मुखी विकास में रत हो जाता है—उसका चैतन्य अपने आप में परम-शिव के दर्शन करता

---

१. यस्तु सर्वाणी भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। —यजुर्वेद

२. छायावाद और वैदिक दर्शन पृ० स० २१४

३. कामस्य एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवतितत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते (वृह० उ० ४।४५)

४. कामायनी—कामसर्ग पृ० ८३

है। उस समय इच्छा क्रिया, ज्ञान और जागृति आदि सभी उस परम शिव में लय हो जाते हैं।

स्वप्न स्वाप जागरण भष्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनादमें
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।[1]

परम-शिव के दर्शन के समय पर जड़ और चेतन की भेद स्थिति समाप्त हो गई। सभी जगह समरसता का साम्राज्य छागया। एक अनुपम व अद्‌भुत चैतन्य का महालोक चारों ओर बिखर गया—जहां चैतन्य में केवल अनन्त, अखण्ड आनन्दानुभुति का आस्वादन होने लगा। मनु पूर्णता की ओर पहुँच गये जहां किसी प्रकार की अनुभूति थी तो सिर्फ आनन्द की अपितु वे स्वयं आनन्द मय होगयेः—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।[2]

यही पूर्णता अभेद स्थिति का पर्याय है, यही अद्वैत है, जहां द्विविधा समाप्त हो जाती है, जिज्ञासा के अनुतरित प्रश्न अपना समाधान पा लेते हैं, न वहां ज्ञान का पृथक् अस्तित्व रहता है और न क्रिया की सत्ता ही, केवल सामञ्जस्य रहता है:—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विड़म्बना जीवन की।[3]

उस पूर्ण आनन्द के रस में मग्न होने के पश्चात् सांसारिक दुःखों की स्थिति का कोई अस्तित्व नहीं रह पाता है, वहां सुख-दुःख में किसी प्रकार की भेद स्थिति ही नहीं है—और यही आनन्दवाद की मुख्य-विचार-धारा है:—

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है,

---

१. यथोपरि—रहस्यसर्ग पृ० २८१
२. ,, —आनन्द पृ० ३०२
३. ,, — ,, पृ० २८०

जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।[१]

प्रसादजी की चिन्तन धारा पर वैदिक-दर्शन, शैव-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, के अतिरिक्त अन्य दर्शनों की विचारधारा का प्रभाव भी उनके साहित्य में लक्षित होता है। जैसे दुःखवाद[२], करुणा[३], विकासवाद, क्षणिकवाद[४], परिवर्तनवाद[५], परमाणु-वाद[६], शक्ति स्पर्धावाद[७], भौतिकवाद[८], शून्यवाद, बुद्धिवाद आदि।

---

१. यथोपरि—आनन्द पृ० २६६

२. वे सब डूबे, डूबा उनका विभव
बन गया पारावार
उमड़ रहा है देव सुखों पर—
दुःख जलधि का नाद अपार।

३. गोधूली के राग पटल में स्नेहांचल फहराती है
× × × × × ×
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।
—अजात शत्रु पृ० स० ३०

४. जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घन माला में—
सौदामिनी संधि सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में।

५. विश्व एक बंधन विहीन परिवर्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि तारे ये सब जो हैं;
रूप बदलते रहते, वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती। —कामायनी।

६. वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किए,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिए। —कामायनी

७. स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें,
संसृति का कल्याण करें, शुभ मार्ग बतावें।

८. सुख केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीकृत हुआ इतना;
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।

प्रसादजी के पात्रों पर भी दर्शन का प्रभाव है। कवि ने जिन प्रतीक-पत्रों की सर्जना की है वे भारतीय-दर्शन शास्त्र की परम्परा से सम्पृक्त हैं एवं विचारधाराओं के प्रतीक हैं। कामायनी का 'मनु' पात्र मनुतेजानातीतिमनु ज्ञानवान" है। इसी प्रकार श्रद्धा, इडा, व अन्य प्रतीक पात्र भी प्रतीकात्मक ही हैं।

विश्व-बन्धुत्व

'नेह नाना अस्ति किंचन' के अनुसार इस संसार में अन्य कोई है ही नहीं—इसी प्रकार की विचारधारा से प्रभावित होकर प्रसादजी ने सम्पूर्ण-विश्व को आत्ममय माना है। विश्व के सुख-दुखों को आत्मसात करता हुआ कवि अपने सृजन में बंधन हीन जग की कल्पना जीता हुआ कहता है:—

तोड़कर बाधा-बन्धन भेद,
भूल जा अहमिति का यह स्वार्थ।[१]

इसी प्रकार कामायनी के कर्म सर्ग में श्रद्धा मनु से कहती है:—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो
सबको सुखी बनाओ।[२]

विश्वात्मा के उत्थान के संदर्भ में प्रसादजी ने अपने नाटकों में भी अनेक स्वर दिये हैं—

जय हो उसकी, जिसने अपना विश्व रूप विस्तार किया।
आकर्षण का प्रेम नाम से सब में सरल प्रचार किया।[३]

'जनमेंजय के नागयज्ञ' का आस्तिक विश्वबन्धुत्व के संदर्भ में कहता है:—"काँटों में फूल खिले, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेलें! विश्व मात्र एक कुसुम स्तवक सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग गूँज उठे। विश्व भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय।"[४]

प्रसादजी के अन्य नाटकों व कहानियों में भी कवि का मानवतावादी दृष्टि-

---

१. "हंस पड़ा गगन वह शून्य लोक"
२. (कानन कुसुम)
३. कामायनी पृ० सं० १४०
४. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० १२२ (नेपथ्य-गान)

कोण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, उनका सद्पात्र मानवतावादी है, समस्त विश्व के कल्याण की कामना करता है। प्रसाद मानव ही उसे मानते हैं—जो मानव के हित हो:—

दुःखी जनों के दुःख को निवारि के
सुखी कर धर्म महा प्रचारि के
अतिथ्य सेवारत मोद को भरे
मनुष्य सत्कर्म यज्ञ को करे।

प्रसाद समस्त मानवता को सुखी एवं व्याधि-विहीन देखना चाहते हैं। स्कन्द गुप्त नाटक का पात्र धातुसेन के द्वारा यही कहलाता हैं—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु
सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुःख माप्नुयात्।[1]

वैदिक दर्शन और गीता के अनुसार प्रसाद के कवि ने विश्वबंधुत्व एवं मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए मानव-पीड़ा को आत्मपीड़ा के रूप में अनुभूत किया है। कामायनी महाकाव्य मानवतावाद एवं अहिंसा का संदेश प्रसारित करने वाला प्रधान दूत है। जीवन मात्र पर करुणा दिखाने का तो कण-कण में संकल्प व्याप्त है। ओ३म भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा के अनुसार मानवतावाद की पोषक वृत्तियों को कवि ने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर महत्व दिया है। कामायनी कृति के श्रद्धा सर्ग में प्रसादजी ने सम्पूर्ण मानवता को विजयिनी बनाने का आव्हान किया है:—

समन्वय उसका करे समस्त
विजयनी मानवता हो जाये।[2]

प्रसाद : प्रकृति प्रेमी

प्रसाद जी प्रकृति के अनन्य प्रेमी रहे हैं। उनकी साहित्य-साधना का प्रसव ही प्रकृति की रमणीय गोद से हुआ है। श्री रामनाथ सुमन ने इस संदर्भ में लिखा हैं:—'यह भी ध्यान देने की बात है कि 'प्रसाद' का प्रारंभिक काव्य जो कुछ है, उसका बिकास प्रकृति को लेकर ही हुआ। परन्तु वह प्रकृति में निमग्न नहीं है; प्रकृति को लेकर उसने अपनी स्वतंत्र रचना करली है। प्रकृति उसका साधन है।

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं०११८
२. कामायनी श्रद्धा सर्ग पृ० सं० ६७

इस प्रकृति में मानव-जीवन का सुख-दुःख प्रकाशित और प्रतिबिम्बित है । वह मनुष्य की भाँति वियोग में रोती है, जलती है, हँसती है और प्रियतम के आगमन पर नूतन परिधान धारण करतीं है ।"[१] प्रसाद जी ने प्रकृति का मानव सापेक्ष्य चित्र चित्रित किया हैं । प्रसादजी की कोई ऐसी कृति नहीं है—जिसमें प्रकृति का उदात्त वर्णन नहीं किया गया हो—अथवा उनकी कोई ऐसी रचना नहीं है—जिसमें प्रकृति उनके साथ हास-विलास या अश्रु कण न ढुलका सकी हो । प्रसाद जी ने प्रकृति के माध्यम से अपने अन्तर्मन की समस्त भावनाओं को शब्दों में उतार दिया है । प्रकृति के विविध-चित्र प्रसाद के सृजन में मिलेंगे । प्रसाद छायावादी कवि रहे है—अतः प्रकृति से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाना सहज बात थी । प्रसाद के कवि ने प्रकृति के शृंगार-मय विलासमय एवं भयंकरता के स्वरूप के भी दर्शन किये । सौम्य एव विद्रूप, शृंगारमय एवं वीभत्समय, जड़ एवं चैतन्यमय आदि अनेक चित्रों को अपने आप में उतारने के लिए सफल हुए हैं । डा० केदारनाथ यतीन्द्र ने लिखा है—"जबकि प्रसादजी प्रकृति के भव्य और भयंकर, निर्माणकारी और विनाशकारी, सूक्ष्म और विशाल सभी क्षेत्रों के कवि हैं वस्तुतः प्रकृति प्रसाद साहित्य की निजी संस्कृति है, लगता है जैसे उनका सारा साहित्य इसी प्रकृति संस्कृति में ढलकर निकला हो ।"[२] कामायनी में प्रातःकाल का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है :—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई ।[३]

आशा सर्ग में ही पृथ्वी का वर्णन करते हुए कवि इतना सजीव हो उठा है—जिसकी कल्पना करना ही सहज नहीं है । प्रलय के पश्चात् अपार सिन्धु-जल के मध्य से पृथ्वी-दर्शन होने पर कवि कहता है :—

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये तनिक ऐंठी सी ।[४]

---

१. कवि प्रसाद की काव्य-साधना— पृ० सं० ५६
२. कामायनी दिग्दर्शन पृ० सं० १८४
३. कामायनी—आशासर्ग पृ० सं० ३१
४. कामायनी आशा सर्ग पृ० सं० ३२

प्रकृति के भयंकर चित्र उतारने में भी प्रसादजी सिद्ध हस्त थे। कामायनी के चिन्ता सर्ग में प्रकृति की भयंकरता को व्यक्त करते हुए कहा है :—

उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों-सी;
चली आ रही फेन उगलती,
फन फैलाये व्यालों सी
धंसती धरा, धधकती ज्वाला
ज्वाला मुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।[1]

नाटकों में भी प्रसादजी ने प्रकृति का चित्रण किया है—हर पात्र प्रकृति का उपासक है। कई नाटक तो प्रकृति-चित्रण से ही आरम्भ किये गये हैं। एक घूँट का आरम्भ भी इसी प्रकार हुआ है :—"अरुणाचल आश्रम का एक सघन कुञ्ज। श्रीफल, बट, आम, कदम्ब और मौलश्री के बड़े-बड़े वृक्षों की झुरमुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है। इधर समीर के झौंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिला कर जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं ………।"

प्रसादजी की अनेक कहानियाँ प्रकृति-वर्णन से ही आरम्भ हुई हैं।[2] प्रकृति के उपादान उनके प्रतीकात्मक पात्र हैं, उनके पात्र प्रकृति के समुपासक हैं और एकांत में अपनी समस्त वेदना या उल्लास प्रकृति के समक्ष व्यक्त कर देते हैं। कवि प्रसाद अनेक स्थलों की यात्रा करके आये थे—तभी इतनी सफला के साथ प्रकृति को व्यक्त कर सके।

भारतीय संस्कृति के समुपासक

हमारे अतीत की गौरवमय आदर्श भावनाओं एवं परम्परित व्यवहार वृत्तियों के सम्यग् दर्शन का नाम ही संस्कृति है। सम् उपसर्ग 'कृ' 'डुकृञ्' धातु से संस्कृति शब्द बना है-जिसका शाब्दिक अर्थ संस्कारवान या परिष्कृत है। डा० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार "सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए।[3]

---

१. कामायनी चिन्ता सर्ग पृ० सं० १५–१६
२. एक घूँट पृ० सं० ६
३. भारतीय संस्कृति का विकास पृ. सं.

श्री रामधारीसिंह दिनकर की मान्यता है कि-"यह तरीका जमा होकर उस समाज में छाया रहता है-जिसमें हम जन्म लेते हैं।[1] डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार" संस्कृति वर्तमान अनुभूतियों एवं पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों से निर्मित किसी समुदाय के दृष्टिकोण में निर्मित है।[2] श्री परशुराम पाण्डेय ने संस्कृति के संदर्भ में कहा है:—'संस्कृति एक आन्तरिक वस्तु है, एक भाव है, जो स्थूल नहीं अपितु सूक्ष्म है। संस्कृति के निर्माण का प्रश्न है—उसमें सभ्यता की देखा-देखी नहीं होती[3] संस्कृति वही है जिसमें समस्त मानवता के कल्याण की संस्कारजन्य भावनाओं का समावेश हो। प्रत्येक कवि व लेखक संस्कृति से प्रभावित रहता है, संस्कृति में ही जन्म लेता है, पलता है, जीता है और उसी संस्कृति की विचारधाराओं में अपने आप को लय कर देता है। प्रसादजी भी संस्कृति निष्ठ व्यक्ति रहे, उन्होंने काव्य और कला निबन्ध में कहा है:—'यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं है, क्योंकि इसका उपयोग तो मानव समाज में, प्रारम्भिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मन्दिर गिरजा और मस्जिद-विहीन प्रांतों में अन्तः प्रतिष्ठित होकर सौंदर्य बोध की बाह्य-सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है।[4] प्रसाद जी मानवीय संस्कृति के समुपासक रहे, उन्होंने भारतीय एवं योरोपीय संस्कृति के प्रमुख तत्वों की तुलना में भारतीय संस्कृति को ही पूर्ण माना है। डा० देवीप्रसाद गुप्त ने प्रसादजी की सांस्कृतिक विचारधारा के संदर्भ में कहा है-"प्रसादजी ने भारतीय संस्कृति के दैवीय और मानवीय रूपों की प्रतिष्ठा कहते हुए मानवीय संस्कृति को श्रेष्ठ बताया है। भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों तत्वों और आदर्शों का सम्यक् निरुपण करके दोनों की तुलना में भारतीय संस्कृति को पूर्ण एव महान् सिद्ध किया है।[5] प्रसादजी ने वैदिक संस्कृति से आरम्भ करते हुए आर्य-संस्कृति तक को परम श्रद्धा से देखते हुए उसके विशिष्ट तत्वों का अपने सृजन में विशद् निरुपण किया है। भारतीय संस्कृति सदा से ही समन्वयवादी रही है, करुणा-प्रेम और मानवतावाद की संरक्षिका रही है। भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं:—

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—पृ. सं. ६५३
२. हिन्दू संस्कृति अंक (कल्याण) पृ. सं. ७०
३. संस्कृति-संस्कृति-सरोज-पृ. सं. १०१ (खण्ड ४)
४. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—पृ. सं. २८
५. आधुनिक प्रतिनिधि हिन्दी महाकाव्य पृ. सं. २२२

(क) षोड़ष संस्कार
(ख) वर्णाश्रम धर्म
(ग) नारी-महत्ता
(घ) विश्व-बन्धुत्व
(ङ) समन्वयवाद
(च) चतुर्वर्ग का महत्व
(छ) उपासना पद्धति
(ज) राष्ट्र-प्रेम
(झ) यम नियमों की व्यवस्था ।
(ञ) अहिंसावाद एवं मानव-कल्याण की कामना ।

भारतीय-मानव-संस्कृति से भिन्न वैदिक-संस्कृति में कुछ अन्य विशेषतायें हैं । अनन्त ऐश्वर्य के प्रति मोह, विलासिता, कला-प्रेम व आत्मवाद की बाहुल्यता आदि वैदिक संस्कृति के मुख्य आधार कहे जा सकते हैं ।

प्रसाद-साहित्य में हमें वैदिक-संस्कृति एवं भारतीय-मानव-संस्कृति-दोनों ही का प्राचीन व अर्वाचीन स्वरूप देखने को मिलता है । वैदिक संस्कृति के कर्मकाण्ड का स्वरूप हमें कामायनी में मिलता है— जैसे:—

जलने लगा निरन्तर उनका
अग्नि होत्र सागर के तीर;
मनु ने तप में जीवन अपना
किया समर्पण होकर धीर ।
सजग हुई फिर से सुर-संस्कृति
देख यजन की वर माया,
उन पर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया ! [१]

मनु अग्नि होत्र से बचे हुए अन्न को एकान्त में रख कर आते थे—जिसे अन्य-प्राणी ग्रहण करते थे ।

अग्नि होत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे,

---

१. कामायनी-आशासर्ग पृ० सं० ३६

होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।[१]

'जनमेजय का नाग यज्ञ' नाटक में भी यज्ञ-विधान आदि का चित्रण मिलता है किन्तु वह वैदिक-विधान न होकर ब्राह्मण-विधान मात्र रह जाता है।

प्रसाद-साहित्य में षोडष संस्कारों में से पाणिग्रहण संस्कार, गर्भाधान संस्कार, जन्म-संस्कार आदि का चित्रण हुआ है। वर्ण व्यवस्था का वर्णन भी हमें प्रसाद-साहित्य में उपलब्ध होता है। कामायनी के स्वप्न-सर्ग में वर्ग-व्यवस्था के संदर्भ में कहा गया है:—

अपने वर्ग बनाकर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ।
उनकी मीलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।[२]

नाटकों में वर्णाश्रम व्यवस्था को अधिक महत्व दिया गया है। आश्रम-व्यवस्था एवं वहाँ के शान्तिमय वातावरण के संदर्भ में आस्तिक कहता है:—"भाई, यह भगवान बादरायण का आश्रम है, देखा, यहाँ की लता बल्लारियों में, पशु-पक्षियों में, तापस-बालकों में परस्पर कितना स्नेह है? ये सब हिलते-डुलते और चलते-फिरते हुए भी मानों गले से लगे हुए हैं। वहाँ के तृण को भी एक शान्ति का आश्वासन पुचकार रहा है। स्नेह का दुलार, स्वार्थ-त्याग का प्यार, सर्वत्र बिखर रहा है।"[३]

ब्राह्मण-संस्कृति के सदर्भ में वेदव्यास कहते हैं "सरस्वती और यमुना के तट पर शुद्ध और समीप ले जाने वाले उपनिषद् और आरण्यक सम्वाद हो रहे हैं। इन्हीं महात्मा-ब्राह्मणों की विशुद्ध ज्ञान धारा से यह पृथ्वी अनन्तकाल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी; लोक में कल्याण और शांति का प्रचार होगा।[४]

नारी-महत्ता के प्रतिपादन एवं उसकी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिए प्रसादजी ने अपने साहित्य में सर्वाधिक महत्व दिया है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" के अनुसार कवि ने नारी को सदैव श्रद्धा के दृष्टिकोण से देखा है। कामायनी में कवि ने श्रद्धा के संदर्भ में कहा है:—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो!
विश्वास रजत नग-पग में,

---

१. यथोपरि पृ० सं ४०
२. कामायनी स्वप्न सर्ग पृ० सं० १८६।
३. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० २०८।
४. यथोपरि पृ० सं० १२२।

पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।[1]

नारी-जीवन की व्याख्या करते हुए कवि ने कहा है:—

नारी जीवन का चित्र यही
क्या ? विकल रंग भर देती हो !
अस्फुट रेखा की सीमा में
आकार कला का देती हो ।[2]

प्रसादजी के साहित्य में नारी मंगलदात्री एवं आदर्शनिष्ठामयी पावनी तथा ममतामयी मूर्ति के रूप में अभिव्यंजित हुई है । प्रसादजी ने नारी को पुरुष के समकक्ष उच्च सत्ता प्रदान की है । कामायनी के 'इड़ा' सर्ग में नारी के अधिकार को स्थापित करते हुए कवि कहता है:—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में,
कुछ सत्ता है नारी को ।
समरसता सम्बन्ध बनीं,
अधिकार और अधिकारी की ।[3]

प्रसादजी के नारी-चित्रण पर उनके पारिवारिक जीवन एवं तत्कालीन चेतना का प्रभाव पड़ा था, इसके अतिरिक्त वैदिक-साहित्य में नारी महत्ता का प्रभाव भी रहा—यही कारण है कि प्रसाद के कवि ने नारी को कल्याणमयी और मंगल मूर्ति के रूप में देखा । कामायनी के दर्शन सर्ग में मनु श्रद्धा के प्रति अपने भाव व्यक्त करते हैं:—

हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय में हो रहती ।[4]

कामायनी की श्रद्धा कवि की महान चरित्रशीला आदर्शमयी नायिका है—जिसमें कवि ने भारतीय नारी को प्रतिष्ठापित किया है । कामायनी की श्रद्धा नारी-चेतना की प्रधान संरक्षिका के रूप में समय-समय पर नारी-जगत् को एक नव-स्फूर्त

---

१. कामायनी-लज्जा सर्ग पृ० सं० ११४ ।
२. यथोपरि पृ० सं० ११३ ।
३. कामायनी इडा सर्ग पृ० सं० १६२ ।
४. कामायनी दर्शन सर्ग पृ० सं २५५ ।

प्रेरणा देती रहेगी। प्रसादजी के नाटकों, कहानियों एवं उपन्यासों में अधिकांशत: नारी-पात्र आदर्श पात्र हैं, कुछ दुर्बल मानसिक स्थितियों में और कुछ सौतिया डाह में जी रही नारियों के चरित्र हैं किन्तु हर दुर्बल पात्र को प्रसादजी ने आदर्श-पथ की ओर प्रशस्त किया है। नाटकों के स्त्री-पात्र तो इतने आदर्शमय हैं जो भारतीय-नारी जगत् को त्याग, ममता, विश्वबन्धुत्व भावना, पातिव्रत्य प्रभृति के उपदेश देने लगते हैं और साथ ही प्रसादजी के उदात्त व्यक्तित्व को व्यक्त कर देते हैं। प्रसादजी के नारी-पात्र राष्ट्र-भक्त, समाज सेवी, प्रबुद्ध एवं संयतशील, प्रेममय, त्यागशील, ममतामय, सहनशील हैं जो नारी-पात्रों के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ध्रुवस्वामिनी की कोमा एक ऐसी आदर्शनायिका है जो पति के दुराचरण को भी प्रसन्नता के साथ जीने के लिए संकल्पशील हैं।[1] वही कोमा अपने पति के लिए पथ प्रदर्शिका भी है।[2] कोमा नारी-सुरक्षा के लिए संघर्षशील भी है।[3] ध्रुवस्वामिनी अपने प्रणयी चन्द्रगुप्त को महान उत्सर्ग के लिए मना करती है क्योंकि वह उसे निजी स्वार्थ के हित संघर्ष में नहीं उलझाना चाहती।[4] मंदाकिनी स्त्रियों की स्थिति को व्यक्त करते हुए कहती है—"स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है।[5] कोमा अपने दुराचारी पति के शव के साथ स्वयं सती होना चाहती है।[6] प्रसाद के स्त्री-पात्र अपने पतियों को सदा सतर्क करते रहे हैं और अन्याय से बचने के लिए निर्देश देते रहे हैं। 'विशाख' की महारानी नरदेव को अन्याय से दूर रहने के लिए सचेत करती है।[7] विशाख की चन्द्रलेखा महान क्षमाशील है।[8] स्कन्दगुप्त की रामा स्वामिभक्तिनी और अपने पति सर्वनाग को सद्धर्म की शिक्षा देने के लिए प्रयत्नशील है।[9] कमला राष्ट्र प्रेम के हित अपने पुत्र भटार्क से ही घृणा करने लगती है।[10] जय-माला अपने पति के प्रति क्षमाशील बन जाती है।[11] देवसेना आदर्श स्त्री और

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ४२।
२. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ४३।
३. यथोपरि पृ० सं० ४३।
४. यथोपरि पृ० सं० ४८।
५. यथोपरि पृ० सं० ५५।
६. यथोपरि पृ० सं० ५५।
७. विशाख पृ० सं० ७३।
८. यथोपरि पृ० सं० ९१।
९. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ५९।
१०. यथोपरि पृ० सं० ६९।
११. यथोपरि पृ० सं० ६८।

प्रेम-परायणा के रूप में उभर कर आती है ।[१] विजया अपनी ही आत्मवेदना से त्रस्त होकर प्रायश्चित के क्षणों में आत्महत्या कर लेती है ।[२] अजात शत्रु की वासवी महान क्षमाशीला और संयता है जो छलना को क्षमा कर देती है ।[3] इसी वासवी के उदात्त चरित्र पर मुग्ध होकर सम्राट बिम्बसार कहता है—वासवी ! तुम मानवी हो कि देवी !"[४] इसी प्रकार राज्यश्री अपने आचरण के प्रति सजग है, अपने धर्म के प्रति सतर्क है । वह देवगुप्त के मोहजाल में भी अपने आप को खंडित नहीं कर पाती है ।[५] चन्द्रगुप्त की मालविका आदर्श प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई पात्रा है ।[६] कंकाल, तितली व इरावती उपन्यास के स्त्री पात्र भी आधुनिकता का बोध लिए हुए भी आदर्श पात्र हैं । प्रसादजी की कहानियों में भी स्त्री पात्र आदर्श की प्रतिमायें हैं ।

नारी-महत्ता और उसके आदर्श को प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रसादजी ने भारतीय संस्कृति की अन्तर्धारा में नारी-चित्र को चित्रित किया है ।

प्रसादजी का कवि पूर्ण राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत रहा है । सम-सामयिक वातावरण स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष की चरम-सीमा पर पहुँचा हुआ था किन्तु हमें हमारा स्वराज्य न मिल सका था—उस समय प्रसादजी ने अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति को महत्व देते हुए राष्ट्रीय गौरव के नव स्वर प्रदान किये हैं । शर्वनाग जैसा पात्र भी इतनी बड़ी बात कह बैठता है - आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिये । हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें ।[७] इसी प्रकार देवसेना राष्ट्र के लिए भीख मांगना भी स्वीकार करते हुए कहती है :—
"मैं अपने लिए नहीं मांगती देव ! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरवलम्ब हैं । किसी के पास टूटी हुई तलवार बची है तो किसी के जीर्ण वस्त्रखंड ।"[८] भटार्क जैसा घृणितपात्र भी राष्ट्र के लिए सम्पूर्ण धन

---

१. यथोपरि पृ० सं० १४८ ।
२. यथोपरि पृ० सं० १३८ ।
३. अजातशत्रु पृ सं० ८८ ।
४. यथोपरि पृ० सं० १४४ ।
५. राज्यश्री पृ० सं० १३८ ।
६. चन्द्रगुप्त पृ ०सं० १८६ ।
७. स्कन्द गुप्त पृ० सं० १०६—१०७
८. „ १३४

समर्पित कर देता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी के पात्र राष्ट्रीय संदर्भ से सम्पृक्त हैं।

अजातशत्रु नाटक में प्रसादजी की अहिंसावादिता पूर्ण रूपेण मुखर होकर आई है। गौतम की प्रेरणा से बिम्बसार का अनासक्त होकर जीवन व्यतीत करना और अजातशत्रु जैसे क्रूर स्वभावी व्यक्तित्व का शान्ति समर्थक बनना अहिंसावाद का द्योतक है। पद्मावती के द्वारा अपने भाई कुणीक को रोकना अहिंसा का पाठ पढ़ाना आदि अहिंसा के परिचायक हैं। हर्षवर्धन और राज्यश्री भी बौद्ध बन गये थे और उन्होंने भी अहिंसा-मार्ग ही अपना लिया था। शांतिदेव राज्यश्री से कहता है कि "मेरे वध की आज्ञा दीजिये, ओह ! प्राण जल रहे हैं।" यह सुनकर अपने पति के हत्यारे के लिए भी वह अपने भाई से यही कहती है—"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया हैं भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई।"[2]

हर्ष पुलकेशिन से संधि कामना करता हुआ कहता है:—"परन्तु अब मैं युद्ध न करूँगा; व्यर्थ इतने प्राणों का नाश न होने दूँगा। चालुक्य ! मैं सधि का प्रार्थी हूँ।"[3] अशोक की चिन्ता कविता भी अहिंसा मार्ग की प्रतीक है।

'विशाख' नाटक का नरदेव भी अपने कर्मों का प्रायश्चित करता हुआ कहता है:—'हाय हाय ! मैंने क्या किया ? एक पिशाच ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी। मैंने सोचा था कि नदी को अपने बाहुबल से सन्तरण कर जाऊँगा पर मैं स्वयं बह गया।[4]

प्रसादजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे सभी दिशाओं में प्रगति के नये प्रतीक स्थापित करते हुए आगे बढते गये। धर्म से समाज तक, इतिहास से संस्कृति तक बाह्य से अन्तर्जगत तक उन्होंने सफल यात्रायें की और हर पड़ाव पर एक नयी अनुभूति को जन्म देते हुए साहित्य का गौरव बढ़ाया।

कुछ लोग उन्हें भारतेन्दु का अवतार मानते हैं।

कुछ लोग उन्हें महान दार्शनिक बताते हैं।

अन्य लोग उन्हें सांस्कृतिक साहित्यकार कहते हैं।

प्रसादजी हिन्दी साहित्य के लिए सूर्य बन कर आये और अनेक विधाओं के सफल सुगन्धित कमल खिला गये जिनकी महक से जन-जन आल्हादित होता रहेगा।

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १३६
२. राज्य श्री पृ० सं० ८०
३. यथोपरि पृ० सं० ६४
४. विशाख पृ० स० ८६

सृजन के आधार

सृजन के मूलभूत आधार

काव्य-सृजन का मूल भूत हेतु प्रतिभा हैं। प्रतिभा अभिनव-कल्पना को निस्यूत करती हुई साहित्य का निर्माण करती है। प्रतिभा प्रत्येक मानव में होती हैं, हर व्यक्ति प्रतिभावान होता है किन्तु हर प्रतिभावान व्यक्तित्व सृजनशील नहीं होता हैं; इस संसार में कुछ ही ऐसे उदात्त व्यक्तित्व होते हैं जो प्रतिभा का सदुपयोग करते हैं अथवा प्रतिभा इतनी उर्वरा होती है जो नव-सृजन के लिए दिशायें खोल देती हैं। इस संसार में मानव-जन्म लेना ही दुर्लभ हैं और मानव होकर विद्यावान होना दुर्लभ है, विद्यावान होने पर भी कवित्व को प्राप्त करना कठिन है और कवित्व प्राप्त कर लेने पर शक्ति को प्राप्त करना नितान्त कठिन है। यहाँ शक्ति से अभिप्राय शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति से नहीं है प्रत्युत् कल्पना शक्ति से सम्बन्ध है। कवि कहलाना और कीर्ति प्राप्त करना आज के युग में सभी को अभीष्ट लगता है किन्तु कवित्व का सामर्थ्य प्राप्त करना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। कीर्ति के साथ अर्थ, व्यवहार, मंगल कामना व कान्ता सम्मित उपदेश आदि भी हैं जो केवल शब्द-योजना मात्र से सम्भव नहीं है। आचार्य मम्मट ने कीर्ति, व्यवहारादि को काव्य-प्रयोजन स्वीकारा है।[1] आचार्य भामह ने काव्यालङ्कार में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को काव्य प्रयोजन माना है।[2] काव्यालङ्कार सूत्रकार आचार्य वामन ने भामह के मत को तनिक

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मित तयोपदेश शयुजे।

—मम्मट कृत– काव्य प्रकाश पृ० सं० १० तृतीय संस्करण, ज्ञानमंडल लिमिटेड़ वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

२. धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम्।

भामहकृत—काव्यालङ्कार १,२।

विशदीकरण के साथ स्वीकारते हुए यही कहा हैं कि 'कीर्ति और प्रीति ये दो ही मुख्य प्रयोजन हैं. इन्होने आचार्य भामह द्वारा निर्दिष्ट काम व मोक्ष को नहीं स्वीकारा है अपितु कीर्ति व प्रीति की विशद विवेचना प्रस्तुत की है ।[1] आचार्य विश्वेश्वर ने काव्य-प्रयोजन के संदर्भ में कहा है :—' भामह के अनुसार कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थ चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है ।" भामह ने काव्य प्रयोजन के संदर्भ में विशदीकरण के साथ लिखा है :—'उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता हैं और जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तक तक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते हैं ।

इसलिए प्रलय पर्यन्त स्थिर रखने वाली कीर्ति के चाहने वाले कवि को, उसके उपयोगी समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करके उत्तम रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि बुरे काव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का भाजन होता है जिस प्रकार कुपुत्र से पिता की निन्दा होती है । कु कवि बनने की अपेक्षा तो अ कवि होना अच्छा है क्योंकि अ कवित्व से न तो अधर्म होता है और न व्याधि या दण्ड का भागी ही होना पडता है परन्तु कु कवित्व को विद्वान लोग साक्षात मृत्यु भी कहते हैं ।" वक्रोक्तिकार आचार्य कुन्तक ने चतुष्टय फल प्राप्ति ही प्रयोजन सिद्ध किया है ।[2] काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भरतमुनि ने कीर्ति को ही काव्य

---

१. प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशसः सरणि विदुः ।
अकीर्तिवर्तिनां त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ।
कीर्ति स्वर्गफलामाहुरा संसारं विपश्चितः ।
अकीर्तिन्तु निरालोक नरकोद्देशदूतिकाम् ।।
तस्मात् कीर्तिमुपा दातुमकीर्तिञ्च व्यपोहितुम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाध कविपुङ्गवैः ।।
—'काव्यालङ्कारसूत्र'—वामनकृत—१।१।५

२. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्य वन्धोऽभिजातानां हृदयाल्हादकारक ।
व्यवहारपरिस्पन्द सौन्दर्यं व्यवहारिभि- ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ।
चतु वर्गफलास्वाद मप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्त श्चमत्कारो वितन्य ते ।
—वक्रोक्ति जीवित—प्रथम उन्मेष, ३–५ कारिका ।

प्रयोजन माना है ।[१] अन्य आचार्यों ने आचार्य मम्मट के मत का प्रतिपादन किया है ।

काव्य हेतु

काव्य का हेतु क्या है ? इस संदर्भ में आचार्यों के विभिन्न मत हैं । चन्द्रालोककार 'जयदेव' ने काव्य का मुख्य हेतु प्रतिभा को स्वीकार किया है किन्तु वह प्रतिभा श्रुत एवं अभ्यास के सहित होनी चाहिये । श्रुताभ्यास रहित प्रतिभा की स्थिति वैसी ही है –जैसे बीजमाला की मृत्तिका व अम्बु के अभाव में स्थिति ।[२] आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में कविता का हेतु निर्दिष्ट करते हुए कहा है—

"शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञ शिक्षया भ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।[३]

अर्थात् कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभा रूप—शक्ति, लोक (व्यवहार) शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और काव्य (की रचना शैली तथा आलोचना पद्धति) को जानने वाले (गुरु) की शिक्षा के अनुसार (काव्य-निर्माण का) अभ्यास, ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से) उस काव्य के विकास के कारण हैं ।

आचार्य विश्वेश्वर ने उस कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है :—"यहाँ ग्रन्थकार ने (१) शक्ति (२) लोक-व्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (३) काव्य की रचना-शैली और उसके गुण-दोषों के जानने वाले विद्वानों की शिक्षा के अनुसार इन तीनों की समष्टि को काव्य निर्माण की योग्यता प्राप्त करने का कारण माना गया है ।"[४] कविता का बीजत्व प्रतिभा है,

---

१. उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेश जननं ध्रृति-क्रीड़ा-सुखादिकृत ।
दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद भविष्यति ।। भरत मुनिकृत—'नाट्यशास्त्र' अ० १ श्लो० ११३–११५

२. प्रतिभाश्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति
हेतुर्मृदम्बुसम्बधा बीजमाला लतामिव । —चन्द्रालोक—

३. काव्य प्रकाश—१।३।

४. काव्यप्रकाश की विश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका पृ० सं० १७—ज्ञानमण्डल—बाराणसी द्वारा प्रकाशित ।

इसके अभाव में सृजन का होना असम्भव है, यह प्रतिभा भी इतिहास, छन्द, अलंकार तथा महाकवियों के काव्याध्ययन से ही पल्लवित होती है, अतः प्रतिभा के लिए यह आवश्यक हैं कि वह शास्त्राध्ययन से सम्पृक्त हो। आचार्य वामन ने लोक, विद्या और प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य-रचना का साधन बताया है।[1] आचार्य वामन ने लोक, वृत्त को काव्य-साधन माना हैं।[2] विद्या की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य वामन ने शब्द, स्मृति, अभिधान, कोश, छन्द, कला, कामशास्त्र, दण्ड नीति आदि को सम्मिलित किया है।[3] प्रकीर्ण के अन्तर्गत वृद्ध सेवा को अंगीकृत किया है।[4] आचार्य भामह ने वामन के काव्य हेतु की तरह ही कहा है।[5]

भारतीय आचार्यों की दृष्टि में काव्य-हेतु मानने में कोई महत्वपूर्ण विरोधाभास नहीं है। प्रायः सभी आचार्य प्रतिभा को काव्य-सृजन का मुख्य साधन स्वीकार करते हैं। प्रतिभा के साथ लोक-शास्त्र का ज्ञान होना सभी स्वीकार करते हैं। लोकशास्त्र के अध्ययन के अभाव में कवि को सृजन करने की प्रक्रिया में स्वतः ही अनेक कठिनाईयों को प्राप्त करना स्वाभाविक है। विद्या-विरुद्ध, प्रसिद्धि-विरुद्ध, अथवा इतिहास-विरुद्ध केवल कल्पना से साहित्य साहित्य नहीं कहला सकता है।

अतः प्रत्येक साहित्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी प्रतिभा का समुचित प्रयोग करने से पूर्व प्राचीन शास्त्रों, इतिहास व अन्य काव्यों का अध्ययन करे ताकि उसकी रचना समाज के लिए महत्वपूर्ण हो सके और वह स्वयं इतिहास में उपहास का पात्र न बन सके। मैं इन तीनों तत्वों के अतिरिक्त देशाटन और वातावरण को भी काव्य हेतु का अंग मानता हूं। देशाटन से कवि-प्रतिभा को ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है और प्रकृति के माध्यम से वह नवीन कल्पनायें प्रसूत कर साहित्य में अपना महत्वपूर्ण

---

१. "लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि"—काव्यलंकारसूत्र–१-३-१।

२. "लोकवृत्त लोकः।"—काव्यलंकारसूत्र-१-३-२।

३ शब्द स्मृत्यभिधानकोश-छन्दोविचिति-कला-कामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः। काव्यलंकारसूत्र–१-३-३।

४. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानवमधानञ्च प्रकीर्णम्।—काव्यालंकारसूत्र–१-३-११।

५. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥—काव्यलंकार–१-६-१०।

योगदान देने में समर्थ होता है। इसी प्रकार वातावरण कवि को सृजन के क्षेत्र में बहुत कुछ देता है। प्रायः साहित्यकारों की सृजन-प्रक्रिया में देशकाल ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

श्री जयशंकरप्रसाद अध्ययन के प्रति सर्वाधिक आग्रहशील रहे हैं। उन्होंने सृजन से पूर्व अनेक शास्त्रों तथा परम्पराओं का गहन अध्ययन किया है-जिसमें उन्हें ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठों का ज्ञान हो सका। प्रसादजी की अनेक रचनाओं का आधार संस्कृत ग्रंथ ही हैं-उन्होंने इन ग्रन्थों से मूल प्रतिपाद्य विषय उठाकर कल्पना के माध्यम से हिन्दी-साहित्य को अनेक काव्य, नाटक व कहानियां प्रदान की हैं। प्रसादजी की यह विशेषता कही जा सकती है कि अपने प्रतिपाद्य विषय के लिए उन्हें जहाँ से जितनी सामग्री प्राप्त हो सकती थी-उसके लिए वे हर क्षण प्रयत्नशील रहे और तत्सम्बन्धित् जानकारी प्राप्त करने के लिए वैदिक-ग्रंथों से लेकर शिलालेखों तक की ज्ञान-यात्रा की, इतिहास के पृष्ठों में उन पंक्तियों को खोज निकाला और फिर बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित कर उन्होंने अपने सृजन का मुख्य आधार बनाया।

प्रसाद जी ने अपनी अनेक कृतियों की भूमिका या प्राक्कथन में स्पष्टतः इस बात को स्वीकारा है कि उन्होंने किन-किन ग्रंथों का अध्ययन किया और उनसे वे कहां तक सहमत हुए? यदि उन्हें किसी एक ग्रंथ में कोई सूत्र मिला तो उन्होंने दूसरे ग्रंथ से दूसरा सूत्र खोज निकाला। यही कारण है कि हम प्रसादजी को भारतीय सस्कृति का संरक्षक एवं भारतीय-दर्शन का समुपासक मानते हैं और उनके सृजन में भारतीय गौरव के पृष्ठों को देखते हैं तथा उनका हर पात्र एक निष्ठा के साथ हमारे समक्ष एक नव-संदेश दता हुआ आता है।

प्रसादजी की महान् रचना कामायनी महाकाव्य है-इस काव्य की कथा को संयोजित करने के लिए प्रसादजी ने अनेक भारतीय ग्रंथो का अवलोकन किया तथा गहन अध्ययन के पश्चात् इस अभिनव सृष्टि को जन्म दिया।-कामायनीकार प्रसाद ने कामायनी की भूमिका में यह स्वीकारा है कि इस रचना के लिए उसने अनेक संस्कृत ग्रंथों में से आधार लिए हैं। प्रसाद ने 'कामायनी' के आमुख में लिखा है—"आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल से मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की जन श्रुति दृढ़ता से मानी गई है इसीलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक

पुरुष ही मानना उचित है। प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है.........जल प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। "मनवे वै प्रातः" इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय में मिलता है, देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नए युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु हुए। राम कृष्ण और बुद्ध उन्हीं के वंशज हैं। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें श्रद्धादेव कहा गया है, "श्रद्धादेवो वै मनुः" (का० १ प्र० १) भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

'ततो मनु : श्रादेव : संज्ञायमास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दसपुत्रान् स आत्मवान।"[1]

आमुख में प्रसाद जी ने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

"यदावै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धन् मनुते"—निरुक्त की व्याख्या का निर्देश किया है। 'छांदोग्य—उपनिषत् में श्रद्धा व मनु की भाव मूलक व्याख्या की ओर संकेत किया है।

'इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम' (१–३१–११ ऋग्वेद) सरस्वती साधयन्ती धियं न इड़ा देवी भारती विश्वतूर्तिः तिस्रो देवीः स्वधयावहि रेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।"—(ऋग्वेद—२—३—८)

इस प्रकार प्रसादजी ने ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण को आधार मानकर कामायनी का सृजन किया है—वे स्वयं इस संदर्भ में कहते हैं—यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक—अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का समन्वय क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। "श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।" (ऋग्वेद १०–१५१–४) इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा-सृष्टि हुई है। हां 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं कहीं थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं

---

१. कामायनी—१४ वाँ संस्करण आमुख पृष्ठ संख्या– ३ व ४

छोड़ सका हूं।"[1] कामायनी की रचना के लिए प्रसादजी ने अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया है। शतपथ ब्राह्मण के 'मन वै वै प्रात:' का उल्लेख कर मनु पात्र को जन्म दिया। कामायनी के सृजन के निमित्त शतपथ ब्राह्मण, छाँदोग्योपनिषद् निरूक्त, ऋग्वेद, एवं पुराण ग्रंथों का आधार लिया है। भूमिका में प्रसाद जी ने कथा के आधार के लिए मुख्य इन सूत्रों को माना हैं :—

"मनवे वै प्रात:"
"श्रद्धादेवो वै मनुः"
"ततो मनुः श्रादेव संज्ञायामास भारत।"
"श्रद्धायां जनयामास दस पुत्रान् स आत्मवान।"
"यदावै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धम् मनुते।"
"काम गोत्र जा श्रद्धानामर्षिका।"
"मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे; यदनु कृत्येभाः प्रजा यजन्ते।"
"अपीपरं वैत्वा वृक्षे नावं प्रतिवध्नीष्व, त तु त्वा या गिरां सन्तमुदकमन्तश्चैत्सीद यावद् यावदुदकं समवायात्-तावत् तावदन्व ब सर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्व ब ससर्प। तदप्येमदुत्तरस्य गिरेर्मनोख स पणामिति।"
"किलाताकुली इति हासुर ब्रह्मा वासतुः। तौ होचतः श्रद्धादेवो वै मनु;—आवै नु वेदा विति। तौ हागत्यो च तु:—मनो! वाज याब स्वे ति।"
"ता ह उवाच 'का असि" इति।" तव दुहिता इति। कथं भगवति ? मम दुहिता इति।"

इडा के संदर्भ में—

"इडाम कृण्वन् मनुषस्य शासनीम्"
"सरस्वती साधयन्ती धियं न इड़ा देवी भारती विश्वतूर्तिः तिस्रो देवीः स्वधया वर्हि रेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।"
"आनो यज्ञं भारती तूय मेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपशः सदन्तु॥"
"गो भू वाचस्त्विडा इला"
"तद्व देवानां आग आस"
"तं रुद्रोऽभ्यावत्य विव्याध।"
"श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।"

---

१. कामायनी की भूमिका

कामायनी की कथा के मौलिक सूत्र हमें प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं— अतः प्रसादजी ने भारतीय ग्रंथों का गहन अध्ययन करने के पश्चात् ही कामायनी का सृजन किया है। कामायनी की कथा को ६ भागों में इस प्रकार विभक्त कर लेते हैं (१) जलप्लावन (२) मनु और श्रद्धा (३) गार्हस्थ्य जीवन (४) मनु-इडा का मिलन (५) सारस्वत प्रदेश का वर्णन और (६) मनु की कैलाश यात्रा, शिव ताण्डव व त्रिपुर-दाह आदि।

१. जल प्लावन :—

कामायनी का आरम्भ जल-प्लावन के पश्चात् मनु सृष्टि से है। जल-प्लावन का वर्णन हमें प्राचीन भारतीय ग्रंथ—'शतपथ ब्राह्मण, जैमनीय ब्राह्मण, वृहदारण्यकोपनिषद्, नारदपुराण, मत्स्यपुराण, भागवत्पुराण, भविष्यपुराण, अग्निपुराण, महापुराण, विष्णुपुराण, महाभारत एवं 'काल सप्ततिका' आदि में मिलता है। बेबीलोनिया के 'अत्रहसिस, गिलगमेश' यहूदियों के अन्दावस्ता, पारसी के 'वेंदीदाद' आदि में भी जल-संतरण के दृश्य मिलते हैं। प्रसादजी ने इन्हीं ग्रंथों में से अनेक का अध्ययन करने के पश्चात् जलप्लावन का चित्र उतारा है। जलप्लावन का विस्तृत वर्णन 'शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।[1] नौका का हिमगिरि में पहुँचने का वर्णन भी शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।[2]

२. मनु और श्रद्धा :—

मनु का वर्णन वेदों में भी हुआ है। श्रद्धा का उल्लेख भी मिलता है। पुराणों में अनेक मनुओं का उल्लेख हुआ है। प्रसादजी ने वैवस्वत मनु को ही ऐतिहासिक मनु माना है। श्रद्धा के संदर्भ में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। वेदों में 'श्रद्धा दुहितातपसः' कहा गया है।[3] 'सूर्यस्य दुहिता' यह शब्द यजुर्वेद में भी व्यवहरित हुआ है।[4] श्रद्धादेवो प्रथमजाऋतस्य'[5] श्रद्धा कामस्य मातरम्'[6] आदि तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है। इस प्रकार हमें श्रद्धा के संदर्भ में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण—(आठवाँ अध्याय)
२. यथोपरि ८।१।३
३. ऋग्वेद।६।१।६
४. यजुर्वेद १६।४
५. तैत्तरीय ब्राह्मण ३।१२।१—२
६. यथोपरि २।८।८।८

३. गार्हस्थ्य जीवन :—

श्री मद्भागवत में मनु की पत्नी श्रद्धा कही गई है जिससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मनु और श्रद्धा का मिलन हुआ और इनसे सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

भागवत के इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि मनु ने श्रद्धा से दश पुत्रों की उत्पत्ति की लेकिन प्रसादजी ने श्रद्धा से उत्पन्न एक ही पुत्र का उल्लेख किया हैं। भागवत के अनुसार—

"ततो मनुः श्रद्धादेव संज्ञयामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् सः आत्मवान।"[१]

कामायनी का जो नामकरण किया है—उसका उल्लेख भी पुराणों में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में भी इस प्रकार उल्लेख मिलता है :—"कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका तथा चानुक्रम्यते। श्रद्धया श्रद्धा कामायनी श्राद्ध मानुष्दु भत्विति।" इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा और मनु के गार्हस्थ्यजीवन का उल्लेख वेदों, पुराणों और ब्राह्मणो में मिलता है।

मनु और इडा का मिलन

स्कन्द पुराण व अन्य पुराणों में इड़ा को मनु पुत्री कहा गया है। इड़ा की उत्पत्ति मैत्रावरूण नामक यज्ञ से हुई है। ऋग्वेद में भी इडा का उल्लेख मिलता है।[२] ऋग्वेद में इड़ा को मानवों की शासकाध्यक्षा [३] राष्ट्र स्वामिनी[४] कहा गया है। अथर्ववेद में भी प्रजा को सुख देने वाली कहा गया है[५] शतपथ ब्राह्मण में भी इडा का उल्लेख मिलता है।[६]

सारस्वत प्रदेश का वर्णन

ऋग्वेद, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, आदि अनेक पुराणों में सरस्वती नदी का उल्लेख मिलता है। पुराणों में इडा वृत्त वर्ष का उल्लेख भी प्राप्त होता है। मार्कण्डेय पुराण व लिंगपुराण में भी सरस्वती नदी का उल्लेख मिलता हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में मनु और इडा के मिलन की घटना का उल्लेख मिलता है, सारस्वत नगर और वहाँ

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण।६।१।११
२. ऋग्वेद—२।३।८
३. यथोपरि १।३१।११
४. यथोपरि ५।४१।१६
५. अथर्ववेद—५।३।७
६. शतपथब्राह्मण—१।८।१।७-२६

इडा-मनु का मिलन तथा दैवी-प्रकोप आदि शतपथ ब्राह्मण के आधार पर कल्पित किये गये हैं।

मनु की कैलाश यात्रा व त्रिपुर दाह आदि

मनु की कैलाशयात्रा व त्रिपुर दाह आदि भी पुराणों एवं ब्राह्मण ग्रंथों पर ही आधारित है। श्रीमद्‌भागवतपुराण, शिवपुराण, स्कन्दपुराण, मत्स्यपुराण, लिंगपुराण, आदि में त्रिपुर कथा का विशद् उल्लेख मिलता है। महाभारत में भी इसका उल्लेख उपलब्ध होता है।[१] शैवागमों में त्रिपुर का वृत्तान्त विशिष्ट रूप से प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवत में त्रिपुरदाह के संदर्भ में मिलता है :—

प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ।
तेऽसुराह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन् विमोहिताः।
तद् विज्ञाय महायोगी रसपालनिदं जगौ।
स्वयं विशोकः शोकार्तान् स्मरन् दैवगतिं च ताम्।[२]

× × × × ×

ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमान शतसङ्कुलाः।[३]

इसके अतिरिक्त लिंगपुराण[४] शिवपुराण[५] मत्स्यपुराण[६] एवं ब्राह्मण ग्रंथों में त्रिपुर सम्बन्धी कथा मिलती है। महाभारत के कर्ण पर्व में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है।[७] तंत्रालोक, त्रिपुरा रहस्य आदि शैवागमों में भी त्रिपुरदाह की कथा मिलती है। प्रसादजी शैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञादर्शन से प्रभावित थे और कामायनी में इसी का निर्वाह हुआ है। सर्व दर्शन संग्रह में कहा गया है :—"तथा च प्रयोग :—अयमात्मा परमेश्वरो भवितुमर्हति। ज्ञान क्रियाशक्तिमत्वात्। यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावतीश्वरः प्रसिद्धेश्वर वद्राजवद्वा। आत्मा च विश्वज्ञाता कर्ता च। तस्मादीश्वरोऽयम् इति।[८] ज्ञान और क्रिया शक्ति के सदर्भ में कहा गया है :—

---

१. महाभारत—कर्णपर्व—३३-३४
२. श्रीमद्भागवत पुराण ७।१०।६२-६४
३. श्रीमद्भागवत पुराण ७।१०।६८
४. लिंग पुराण अध्याय-७१
५. शिव पुराण युद्ध खंड ५।१-१०
६. मत्स्य पुराण—१२६-४०
७. महाभारत क० प० अ० ३३
८. सर्व दर्शन संग्रह पृ० सं० ३५६

सर्वेषामिद भूतानां प्रतिष्ठा जीव दाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्[1]

"चैतन्यमात्मा"[2] जो शिव-सूत्रों में आया है वह भी ज्ञान का ही पर्याय माना गया है। ईश्वर की इच्छा से ही संसार की उत्पत्ति होती है।[3] शिवोऽहम् की स्थिति का आभास होता है। यह दर्शन पूर्णतः अद्वैतवादी है। प्रसादजी ने कामायनी के रहस्य सर्ग में कहा है :—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके,
यह बिड़म्बना है जीवन की।[4]

प्रसादजी का आनन्दवाद उनकी एक अस्तित्वमयी विचारधारा है—जिसमें मंगल निनाद है।

प्रसादजी ने सृजन के लिए अनेक आधारों का अन्वेषण किया है और इन आधारों के हेतु वैदिकग्रंथों, पुराणों, एवं संस्कृतग्रंथों, का गहन अध्ययन किया है। मध्य-युगीन, मुगलकालीन व अंग्रेज-युगीन इतिहास के गहन अध्ययन के उपरांत प्रसादजी ने सृजन को जन्म दिया है। उनकी कुछ ही ऐसी कृतियाँ कहीं जा सकती है जिनका कोई आधार न होकर केवल कल्पना प्रसूत हो, शेष सभी रचनायें किसी न किसी ग्रंथ के आधार पर कल्पना के माध्यम से मौलिक कृति के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। यजुर्वेद' सामवेद, ऋग्वेद अथर्ववेद, ऐतरेय संहिता, शतपथ ब्राह्मण, मांडुक्योपनिषद्, तैत्तरियोपनिषद्, जैमनीय ब्राह्मण, श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्दपुराण, मत्स्यपुराण, लिंगपुराण, भविष्यत्पुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि का प्रसादजी ने गहन अध्ययन किया था।रायायण, महाभारत, गीता आदि से उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया। नारद-स्मृति, मनुस्मृति, पाराशरस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति ग्रंथों एवं तंत्रालोक, प्रत्यभिज्ञादर्शन, योगवाशिष्ठ, आदि ग्रंथों से धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की। राजतरंगिणी, देवीचन्द्रगुप्त, मुद्राराक्षस, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, उत्तररामचरित, स्वप्नवासवदत्ता, हर्षचरित, कादम्बरी, ऋतुसंहार, मालतीमाधव, कथासरित्सागर, नाट्यदर्पण, काव्य मीमांसा, शृंगारप्रकाश, चाणक्यनीति,

---

१. यथोपरि पृ० सं० ३६१
२. यथोपरि पृ० सं० ३६३
३. यथोपरि पृ० सं० ३६५
४. कामायमी—पृ० सं० २७४

शुक्रनीति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि का गहन अध्ययन उनके सृजन में प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है। प्रसादजी ने केवल संस्कृत ग्रंथों का ही अध्ययन नहीं किया था अपितु बौद्ध एवं जैनग्रंथों का भी गहन अध्ययन किया था। उनके अनेक नाटकों एवं कहानियों तथा कविताओं में उनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार प्रसादजी ने अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों का भी विशद अध्ययन किया और इनसे अपने सृजन के निमित्त महत्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की। प्रसादजी ने इतिहास का विशद् एवं गम्भीर अध्ययन किया—जिसके परिणामस्वरूप अनेक कृतियों का निर्माण किया और हिन्दी-साहित्य को महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्रदान की। हम उन प्रमुख ग्रंथों की यहाँ चर्चा कर लेना चाहते हैं जिनका पूर्ण प्रभाव प्रसादजी के साहित्य में परिलक्षित है। राजतरंगिणी का प्रभाव प्रसादजी पर अत्यधिक पड़ा और इसके स्वरूप उन्होंने 'विशाख' नाटक की रचना की। 'विशाख' के कथानक का मूल आधार ही 'राजतरं-गिणी है। राजतरगिणी काश्मीरनिवासी कल्हणकृत ऐतिहासिक महाकाव्य है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'राजतरंगिणी' भारतीय इतिहास शास्त्र का प्रथम मौलिक ऐतिहासिक ग्रंथ है—जिसके आधार पर हमें प्राचीन भारतवर्ष की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक वातावरण का विशद् परिचय प्राप्त होता है।

राजतरंगिणी:—

कल्हणकृत राजतरंगिणी ८ तरंगों में विभक्त है और इनमें ७८२६ श्लोक हैं। काव्य होते हुए भी यह चरित्र काव्यों से भिन्न है। इसी महाकाव्य से प्रसादजी ने आधार लेकर विशाख की रचना की। विशाख इस नाटक का प्रधान नायक है। इसमें राजा नरदेव की कथा का चित्रण है। राजतरंगिणी में नरदेव राजा का उल्लेख है।[1] राजा के नगर में ही सुश्रवा नाम का नाग निवास किया करता था।[2] प्रसादजी के विशाख का उल्लेख भी राजतरंगिणी में हुआ है।[3] प्रसादजी ने नाटक का आरम्भ विशाख के स्वागत से किया है। वह किसी उद्यान में विश्राम कर रहा था कि उसे दो कन्यायें कच्छ-गुच्छ की फलियाँ खाती हुई दिखाई दीं। उन्हें देखकर विशाख कहता है—"आप कौन हैं? क्या कृपा करके बतावेंगी कि आपका दुःख किस

---

१. किनरापरनामाऽथ किनरैर्गीतविक्रमः।
विभीषणस्य पुत्रोऽभून्नरनामा नराधिपः। रा० त० १/१९७

२. तत्र कस्मिन्किलोद्याने स्वच्छस्वादुजलाञ्चितम्।
आसीत्सुश्रवसो नाम्नो नागस्य वसतिः सरः। रा० त० १/२०३

३. कदाचित्तस्य दूराध्वक्लान्तो मध्यन्दिने युवा।
छायार्थी तत्सरः कच्छं विशाखाख्योऽविशद् द्विजः। रा० त० १/२०४

प्रकार बाँटा जा सकता है ? सौन्दर्य में सुर-सुन्दरियों को भी लज्जित करने वाली आप लोग क्यों दुःखी हैं ? और ये फलियाँ आप क्यों एकत्र कर रही हैं ?"[1] राज-तरंगिणी में भी दोनों कन्याओं का फलियाँ खाने का वर्णन मिलता है।[2] इसी महा-काव्य में विशाख उनसे परिचय पूछता है ।[3] प्रसादजी ने अपने नाटक के स्त्री पात्र चन्द्रलेखा,[4] इरावती,[5] व रमणी[6] नाम राजरंगिणी से यथावत् लिये हैं। प्रसादजी ने नरदेव को काश्मीर का राजा कहा है, कल्हणने भी उसे काश्मीर-नरेश ही कहा है। सुश्रवा को नागसरदार कहा है—राजतरंगिणी में भी उसे नागाधिराज कहा है।[7] सत्यशील को कानीर का बौद्ध बिहार-महन्त कहा गया है, राजतरंगिणी में कल्हण ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।

"किन्नर ग्राम स्थित एक बिहार में रहने वाले श्रमण ने योग बल द्वारा उसकी प्रियाका का हरण कर लिया ।[8] प्रसादजी ने अपने विशाख नाटक में इसी किन्नर ग्राम में रहने वाले मठाधीश द्वारा चन्द्रलेखा का अपहरण बताया है।[9] विशाख नाटक में प्रसादजी ने राजा नरदेव द्वारा बौद्ध-बिहार का उन्मूलन कराया है[10] यह भी कल्हण की राजतरंगिणी से ही लिया गया है।[11] प्रसादजी ने इस नाटक में प्रेमानन्द, महापिंगल व तरला ये पात्र काल्पनिक हैं, शेष सभी पात्र राजतरङ्गिणी

---

१. विशाख—प्रथम अंक पृ० सं० १३ ।
२. भुञ्जाने कच्छगुच्छानां शिम्बीरम्बुलोचने ।
ते पुनर्दृष्टिवानग्रे किंचिद्व्यापारितेक्षणः । रा० त० १-२११
३. कल्याणिनीभ्यां कतमा पुण्या जातिः परिष्कृता ।
कुत्र वा क्लान्त मेताद्दृग्विरसं येन भुज्यते । रा० त० १/२१६
४. पित्रा विद्याधरेन्द्राय प्रदातुं परिकल्पिता ।
............................चन्द्रलेखायवीयसी । रा० त० १/२१८
५. इरावत्यहमेषा............................ रा० त० १/२१८
६. स्वसा सुश्रवसो नागी रमण्याख्याऽद्रिगह्वरात् । रा० त० १/२६३
७. राजतरंगिणी—१/२१७ पृ० सं० २६४ ।
८. विहारे निवसन्नेकः किंनर ग्रामवर्तिनि ।
तस्य योगबलात्कोऽपि श्रमणोऽपाहरत्प्रियाम् । रा० त० प्र० तं०—१९९ पृ० सं० २५९ ।
९. विशाख प्रथम अंक पृ० सं० २० ।
१०. विशाख प्रथम अंक पृ० सं० ४१ ।
११. राजतरंगिणी—प्रथम तरंग, २०० पृ० सं० २५९ ।

के हैं। बौद्ध-बिहारों में मायावी कृत्यों का उल्लेख कल्हण ने भी किया है।[1] नरदेव एक उदात्त चरित्र का नायक था किन्तु शनैः शनैः विलासी व दुराचारी होता चला—यह दृश्य भी हमें राजतरंगिणी में मिलता है।[2] विशाख-चन्द्रलेखा का परिणय[3] चन्द्रलेखा का अपने पति के प्रति अगाध प्रेम और पतिव्रत्य[4] चन्द्रलेखा का अकेली सौधाग्र पर खड़े रहना[5] अश्व का आकर धान्य चरना[6] स्वयं चन्द्रलेखा का आकर अश्व को हटाना[7] और उस समय राजा नरदेव के मन में द्विजबधु चन्द्रलेखा के प्रति हृदय में विकार उत्पन्न होना[8] आदि राजतरंगिणी में उल्लिखित हैं। राजा नरदेव ने चन्द्रलेखा से प्रणय याचना की।[9] चन्द्रलेखा का अपहरण[10] सुश्रवा का क्रोध[11] और उसका नगर पर आक्रमण[12] अग्नि-प्रज्वलन व नगर दाह[13] आदि का उल्लेख भी राजतरंगिणी में मिलता है। प्रसादजी ने इन सभी का उल्लेख अपने विशाख नाटक में किया है और इन्हीं सूत्रों के आधार पर 'विशाख' के कथानक को योजनावद्ध रूप दे पाये हैं। प्रसादजी ने कुछ मौलिक कल्पनायें भी की हैं तथा इन कथा-सूत्रों को रूपान्तर से अभिव्यक्त किया है। प्रसादजी ने सुश्रवा की बहिन रमणी को भी इस आक्रमण में सम्मिल किया है। कल्हण ने भी इसका उल्लेख

---

१. यथोपरि—प्रथम तरंग १६६ पृ० सं० २५६।
२. यथोपरि—प्रथम तरंग १६८ पृ० सं० २५८।
३. यथोपरि—प्रथय तरंग २४२ पृ० सं० २७३।
४. यथोपरि—प्रथम तरंग २४४ पृ० सं० २७४।
५. यथोपरि—प्रथम तरंग २४६ पृ० सं० २७४।
६. यथोपरि—प्रथम तरंग २४६ पृ० सं० २७४।
७. यथोपरि—प्रथम तरग २४७ पृ० सं० २७४।
८. तस्मिनकाले नरो राजा चारैस्तां चारूलोचनाम्।
श्रुत्वा द्विजवधूं तस्थौ प्रागेवाङ्कुरित स्मरः।
तस्यधावन्तमुन्मत्तमन्तः करण वारणम्।
बलान्नियमितुं नासीदपवाद्भयाङ्कुशः। रा० त० प्र० त०—२५०-२५१ पृ० सं० २७५-२७६।
९. सर्वोपायैरसाध्यां च विप्रस्तत्पतिरप्यसौ।
तेनाऽयाच्यत लुब्धेन रागान्धानां कुतस्त्रपा। रा० त० प्र० त०—२५५ पृ० सं० २७६।
१०. राजतरंगिणी—प्र० त० २५६ पृ० सं० २७७।
११. यथोपरि—प्र० त० २५७ पृ० सं० २७७।
१२. यथोपरि—प्र० त० २५८ पृ० सं० २७७।
१३. यथोपरि—प्र० त० २६०-२६१-२६२ पृ० सं० २७७-२७८।

किया है।[१] राजा नरदेव के पुत्र के बचने का उल्लेख भी मिलता है।[२] राजतरंगिणी में राजा नर व चन्द्रलेखा का आख्यान प्रथम तरंग में श्लोक संख्या १९७ से २८२ तक है।

प्रसादजी ने 'बभ्रूवाहन' नामक चम्पू की रचना की है—जिसके संदर्भ में कल्हण ने राजतरंगिणी में उल्लेख किया है।[३] यद्यपि इस चम्पू का मूलस्रोत महाभारत है किन्तु प्रसादजी ने राजतरंगिणी से प्रेरणा लेकर इस चम्पू का प्रणयन किया। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त में मातृगुप्त की कल्पना भी राजतरंगिणी पर ही आधारित है।[४] राजतरंगिणी में मातृगुप्त का वर्णन द्वितीय तरंग में श्लोक संख्या १२९ से ३२३ तक मिलता है। प्रसादजी ने भी मातृगुप्त को राजा व कवि सिद्ध किया है—इसी प्रकार का उल्लेख कल्हण ने भी किया है। प्रसादजी ने निश्चय ही स्कन्दगुप्त में मातृगुप्त का उल्लेख राजतरंगिणी से प्रभावित होकर किया है। श्री रघुनाथसिंह ने राजतरंगिणी की टीका में मातृगुप्त के संदर्भ में विस्तृत रूप से उल्लेख किया है।[५] मातृगुप्त का कवि होना एवं काश्मीर नरेश होना तथा हूणों से संघर्ष करने

---

१. स्वसा सुश्रवसो नागी रमण्याख्याऽद्रिगह्वरात्।
साहायकायाश्मराशीन्समादाय तदाऽऽययौ। रा त प्र.त.—२६३ पृ सं. २७६।

२. एकस्तु तनयस्तस्य वैचित्र्यात्कर्मणां गतेः।
स्वधात्र्या विजयक्षेत्रं नीतः प्राणैर्न तत्यजे। रा. त प्र त.–२७५ पृ. सं. २८४।

३. मणिपुरपुरे पार्थं निहतं समजीवयत्।
फणिकन्याप्रभावेन सर्वाश्चर्यनिधिर्विधिः। रा त. द्वि. त. ९४ पृ. सं. ४१७।

४. नानादिगन्तराख्यातं गुणवत्सुलभं नृपम्।
तं कविर्मातृगुप्ताख्यः सर्वास्थानस्थ यासदत्। रा० त० १२९ पृ० सं० ४६७।

५. "कुछ विद्वान लोग मातृगुप्त को कवि कालिदास मानते हैं। इन्हीं विद्वानों ने यह भी माना है कि जिस विक्रमादित्य की सभा में नवरत्नों का होना कहा जाता है वह छठी शताब्दि का विक्रमादित्य हर्ष था। डाक्टर भाउदाजी का तर्क है कि कालिदास और मातृगुप्त का शाब्दिक अर्थ एक ही है। काली का अर्थ माता होता है, दास का अर्थ गुप्त होता है। इस प्रकार कालिदास ही मातृगुप्त है। कल्हण ने राजतरंगिणी में कालीदास का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। प्राकृत काव्य 'सेतु-बन्ध' जो प्रवरसेन के अनुरोध पर कालिदास ने लिखा था—उसका भी उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार मिलाया गया कि प्रवरसेन द्वितीय का उत्तराधिकारी मातृगुप्त दिखाया गया है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा' में मातृगुप्त की कविताओं का उल्लेख किया है। श्री वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में भी मातृगुप्त के पदों का उल्लेख मिलता है। एक मातृगुप्त का उल्लेख अलंकार एवं नाट्य शास्त्र के प्रणेता के रूप में मिलता है।
डा० श्री हूयरन्ले का मत है कि पूर्व कथा विक्रमादित्य के सम्बन्ध में जो कही जाती है वह राजा यशोवर्धन पर लगती है जो वास्तव में हूण विजेता था। प्रोफेसर पाठक भी इस मत का समर्थन करते हैं। कालीदास कृत रघुवंश में रघु के विजय का वर्णन हूणों के सम्बन्ध में है जो कश्मीर में रहते थे—क्योंकि कालिदास उसी संदर्भ में केसर का वर्णन करता है जो केवल भारत में कश्मीर में ही होता है। सम्राट समुद्रगुप्त ने मातृगुप्त का उल्लेख किया है:—
मातृगुप्तो जयति यः कविराजो न केवलम्।
काश्मीरराजोऽप्यभवत् सरस्वती प्रसादतः।"–रा. त टीका पृ. सं. ४६७-४६८।

की स्थितियों का चित्रण प्रसादजी ने स्कन्दगुप्त में किया है—जो राजतरंगिणी के आधार पर है। प्रसादजी ने 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक मे नाग जाति का वर्णन किया है, कल्हण ने भी नाग जाति का साम्राज्य सिद्ध किया है। परीक्षित को तक्षक द्वारा डसा जाना राजतरंगिणी की द्वितीय तरंग में उल्लिखित है।[1] यद्यपि स्कन्दगुप्त का उल्लेख राजतरगिणी में भी मिलता है[2] किन्तु गुप्तवंशीय स्कन्द और काश्मीर नरेश स्कन्दगुप्त पृथक् पृथक् हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रसादजी ने राजतरं-गिणी का गहन अध्ययन किया और इससे अपने सृजन के निमित्त महत्वपूर्ण सामग्री ग्रहण की।

देवीचन्द्र गुप्त

प्रसादजी के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का मुख्य आधार 'देवीचन्द्र गुप्त' ही है। देवीचन्द्र गुप्त संस्कृत कवि विशाख का नाटक है—जो पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। कुछ अंश विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। विशाखदत्त की प्रसिद्ध कृति का नाम 'मुद्राराक्षस' नाटक है। इन दोनों के नायक का नाम चन्द्रगुप्त ही है। प्रसादजी ने ध्रुवस्वामिनी नाटक की भूमिका में उल्लेख किया है:—"विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के कुछ अंश 'शृंगार प्रकाश' और नाट्यदर्पण से सन् १६२३ की ऐतिहासिक पत्रिकाओं में उद्धृत हुए। तब चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) के जीवन के सम्बन्ध में जो नई बातें प्रकाश में आयीं उनसे इतिहासों के विद्वानों में अच्छी हलचल मच गई।[3] "प्रसादजी ने इसी सूचना में विशाख के देवी चन्द्रगुप्त का एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[4] प्रसादजी ने इस श्लोक के आधार पर ही ध्रुवस्वामिनी का सृजन किया है। ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त से आसुरी विवाह और पुनः चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न आदि देवीचन्द्र गुप्त में वर्णित है। विशाख ने ध्रुवदेवी का उल्लेख किया है। किन्तु प्रसादजी ने ध्रुवदेवी के स्थान पर ध्रुवस्वामिनी का उल्लेख किया है।

---

१. रा० त० द्वि० त०—पृ० सं० ४१८।

२. सर्वरत्नजय स्कन्दगुप्त शब्दाङ्किताभिधा:।
आसन विहार चैत्यादिकृत्येस्तत्सचिवा वरा:। रा० त०/३८०/पृ० सं० ५६८।

३. ध्रुवस्वामिनी भूमिका—(सूचना)

४. रम्यां चारतिकारिणी च करुणाशोकेन नीता दशाम्
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला।
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरिते नानेव पुंसः सतो
लज्जा कोपविषाद भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते।

नारद स्मृति

प्रसादजी ने नारद स्मृति के अनेक अंशों का अध्ययन किया है। ध्रुव स्वामिनी में पुनर्लग्न व्यवस्था के निमित्त अपनी (सूचना) में इस प्रकार उल्लेख किया है :—

'अपत्यार्थम् स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्र वीजिनो नराः ;
क्षेत्रं बीज वते देयं नाबीजी क्षत्रमर्हति।[1]

महाभारत

'महाभारत' से अनेक कवियों ने प्रेरणा प्राप्त कर के नूतन काव्य लिखने और संस्कृत-हिन्दी साहित्य में अनेक उपलब्धियाँ प्रदान कीं। अनेक आख्यान पद्य व गद्य वद्ध किये गये। प्रसादजी ने भी महाभारत का गहन अध्ययन करने के पश्चात् अनेक आख्यानों पर कई कृतियों का सृजन किया। प्रसादजी ने महाभारत से आधार लेकर जिन कृतियों का निर्माण किया—उनमें ये हैं—'कुरुक्षेत्र', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'भरत' 'श्रीकृष्ण-जयन्ती' सज्जन' 'वन-मिलन' व बभ्रूवाहन। महाभारत के आरण्यक पर्व से 'सज्जन' नाटक का कथानक लिया गया है। दुर्योधन के साथ कर्ण,[2] शकुनि आदि सभी अरण्य में गये थे। गन्धर्वों द्वारा ये सभी रोके गये।[3] दुर्योधन का क्रुद्ध होना[2] दुर्योधन व चित्रसेन के मध्य युद्ध[4] चित्रसेन का आक्रमण[6] कौरवों का भागना[7] आदि सभी घटनाओं का उल्लेख महाभारत में हुआ है। कर्ण का युद्ध स्थल से भागना[8] दुर्योधन का युद्ध में स्थिर रहना[9] दुर्योधन का युद्ध में लड़ते हुए गन्धर्वों द्वारा पकड़े जाना[10] सम्पूर्ण सेना का पाण्डवो की शरण में जाकर कहना कि—'हे पाण्डवो ! प्रियदर्शी महाबलवान धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधन को गन्धर्व पकड़े लिए जाते हैं, आप लोग दौड़िये।[11] राजा युधिष्ठर अपने भाईयों से दुर्योधनादि को

---

१. ध्रुवस्वामिनी (सूचना)
२. महाभारत—आरण्यक पर्व –२२६।३
३. ,, ,, २२६।१८
४. ,, ,, २३०।२
५. ,, ,, २३०।६
६. ,, ,, २३०।२२
७. ,, ,, २३०।२४
८ ,, ,, २३०।३१
६. ,, ,, २३१।२
१०. ,, ,, २३१।७
११. ,, ,, २३२।११

गंधर्वों से मुक्त कराने के लिए युद्ध का आदेश देते हैं।[1] यहीं युधिष्ठर अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:—

"यदा तु कश्चिज्जातीनां वाह्य : प्रार्थयते कुलम्।
न मर्षयन्ति तत्सन्तो बाह्येनाभिप्रमर्षणम्॥[2]

इसी के 'सन्त' शब्द के आधार पर प्रसादजी ने अपने नाटक का नामकरण 'सज्जन' किया। पाण्डवों और गंधर्वों के मध्य युद्ध[3] चित्रसेन द्वारा अपना वास्तविक रूप प्रकट करना[4] दुर्योधनादिक को मुक्त करना[5] आदि सभी घटनायें महाभारत से ली गई हैं।

महाभारत के आरण्यक–पर्व के इस कथानक को प्रसादजी ने यथावत् अपने 'सज्जन' नाटक में ग्रथित किया है। प्रसादजी द्वारा इस नाटक में यह सिद्ध किया गया है कि सज्जन सज्जन ही रहते हैं, उनका मुख्य धर्म तो दुष्टों पर भी दया करना है।

इस लघुनाटक में जिन ऐतिहासिक स्थानों—द्वैत सरोवर,[6] हस्तिनापुर[7] द्वैत वन का उल्लेख हुआ है, वे सभी महाभारत में मिलते हैं। 'कुरुक्षेत्र' का कथानक भी पौराणिक ही है। महाभारत से बहुत कुछ आधार लिया गया है। अर्जुन का सुभद्रा से विवाह करना[8] पाण्डवों को बनवास देना[9] आदि अनेक घटनायें महाभारत से ली गई हैं।

प्रसादजी का 'वभ्रू-वाहन' भी महाभारत के आख्यान पर ही आधारित है। इसके प्रमुख पात्र वभ्रूवाहन[10] अर्जुन[11] व चित्रांगदा[12] महाभारतीय पात्र हैं। सम्पूर्ण कथा-

---

१. महाभारत—आरण्यक पर्व—२३२।१२
२. ,, ,, २३२।३
३. ,, ,, २३४।१
४. ,, ,, २३५।३–४
५. ,, ,, २३५।
६. ,, ,, २२९–१३
७. ,, ,, २३६।३
८. ,, ,, २२८।२९
९. महाभारत—आदिपर्व २२१।९
१०. ,, सभापर्व - ५६।१।७५।२–२४
११. ,, अश्वमैधिक पर्व।७९।१
१२. ,, आदिपर्व।३।२०
१३. ,, वनपर्व— २४५।२४

नक महाभारत के आख्यान पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक भी महाभारत के आख्यान पर ही आधारित है 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक की भूमिका में प्रसादजी ने उल्लेख किया है :—"जहाँ तक हो सका है, उसके आख्यान भाग में भारतकाल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, और इन कल्पित चार पात्रों में मूल घटनाओं का सम्बन्ध-सूत्र जोडने का ही काम लिया गया है। इनमें से वास्तव में दो-एक का तो केवल नाम ही कल्पित है, जैसे दामिनी। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत के इतिहास में बहुत कुछ अस्तित्व है। .... तात्पर्य यह है कि इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है—जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो।"[1] नाटक में जनमेजय[2] वासुकि[3] तक्षक[4] वेद[5] आस्तीक[6] काश्यप[7] उत्तंक[8] च्यवन[9] जरत्कारु[10] वेदव्यास[11] सोमश्रवा[12] सरमा[13] वपुष्टमा[14] शौनक[15], चण्डभार्गव[16] आदि सभी पात्र महाभारत के ऐतिहासिक पात्र हैं।

'जनमेजय के नागयज्ञ' का कथानक महाभारत के आदिपर्व, वनपर्व, एवं शान्तिपर्व से लिया गया है। जिन स्थानों का वर्णन किया गया है वे सभी ऐतिहासिक

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ—(भूमिका) पृ० सं० ४
२. महाभारत आदिपर्व ४४।६
३. यथोपरि आदिपर्व १४।३
४. ,, ,, ४२।३४
५. ,, ,, ३।८४
६. ,, ,, १५।३
७. ,, ,, ४१।३३
८. ,, ,, ३।८४
९. ,, ,, ६।१
१०. ,, ,, ६।१–२
११. ,, ,, ५३।७
१२. ,, ,, ३।१३
१३. ,, ,, ३।१
१४. ,, ,, ४४।८
१५. ,, ,, ४।१०
१६. ,, वनपर्व ५३।५

हैं। जैसे—हस्तिनापुर[1] कुरुक्षेत्र[2] तक्षशिला[3] आदि। कुरुक्षेत्र काव्य में भी पौराणिक आख्यान है। महाभारत से अनेक अंश व पात्र लिये गये हैं। दुर्योधन[4] शकुनि[5] दु:शासन[6] व सुभद्रा[7] आदि पात्र महाभारत से लिये गये हैं। अर्जुन का सुभद्रा के साथ विवाह, पाण्डवों को वनवास आदि अनेक स्रोत महाभारत से लिये गये हैं। 'भरत' शीर्षक वाली कविता का मुख्य आधार भी महाभारत का आदिपर्व ही हैं।[8] इसी प्रकार 'वन-मिलन' कविता का आधार भी महाभारत ही है। प्रसादजी ने अपने सृजन के संदर्भ में महाभारत से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

पुराणों से स्त्रोत

प्रसादजी ने सम्भवत: सभी प्रमुख पुराणों का अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी कृतियों की भूमिकाओं में अनेक पुराणों का उल्लेख किया है। भविष्य पुराण[9] हरिवंश पुराण[10] श्रीमद्भागवत पुराण,[11] शिवपुराण[12] मत्स्यपुराण[13] मार्कण्डेय पुराण[14] अग्नि पुराण[15] आदि अनेक पुराणों से आख्यान अथवा प्रेरक-बिन्दु ग्रहण की हैं। इन पुराणों में श्रीमद्भागवत का प्रभाव प्रसादजी की काव्य-साधना पर अधिक पड़ा है। करुणालय नाटक, उर्वशीचम्पू, कुरुक्षेत्र काव्य, ब्रह्मर्षि कथा, श्रीकृष्ण जयन्ती कविता आदि अनेक कृतियाँ श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर लिखी गई हैं। कामायनी का प्रलय-चित्र, मनु एवं श्रद्धा का मिलन, आदि अनेक

---

१. महाभारत (वनपर्व) २४५।२४
२. ,, (आदिपर्व) ३–३०
३. ,, (युद्धपर्व)
४. ,, (सभापर्व) ५५।२१
५. ,, (,,) ५६।१
६. ,, (आदिपर्व) १९८।५१
७ ,, (,,) २२१।६
८. ,, (,,)
९. जयमेजय का नागयज्ञ (भूमिका) पृ० सं० २
१०. ध्रुवस्वामिनी (भूमिका) पृ० सं० २
११. श्रीमद्भागवत पुराण—(ब्रह्मर्षि कविता)
१२. शिवपुराण (पंचायत कहानी पर प्रभाव)
१३. कामायनी पर प्रभाव
१४. यथोपरि
१५. वैदेशिक नीति का चित्रण

तथ्य श्रीमद्भागवत से ग्रहण किये गये हैं। कुरुक्षेत्र काव्य के पात्र कृष्ण,[१] कंस,[२] बलराम,[३] जयद्रथ,[४] शिशुपाल,[५] अर्जुन,[६] युधिष्ठिर[७] आदि सभी पात्र श्रीमद्भागवत पुराण से ग्रहण किये गये हैं।

'करुणालय' का मुख्य आधार भी श्रीमद्भागवत पुराण ही है। राजा हरिश्चन्द्र की कथा भागवत के नवमस्कन्ध के सप्तम अध्याय से ली गई है। इसमें हरिश्चन्द्र को अयोध्या का राजा कहा गया है। हरिश्चन्द्र,[८] रोहित,[९] वशिष्ठ,[१०] विश्वामित्र,[११] व शुनः शेप[१२] आदि सभी पौराणिक पात्र हैं। हरिश्चन्द्र को पुत्र की प्राप्ति वरुण की कृपा से हुई उसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—'तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः।[१३] रोहित का अरण्य में जाना[१४] अजीगर्त[१५] से शुनःशेप को खरीदना[१६] तथा नरमेध यज्ञ में देवताओं की स्तुति,[१७] विश्वामित्र का उपदेश देना[१८] इन्द्र का प्रसन्न होना[१९] आदि सभी घटनायें भागवत से ली गई हैं।

'उर्वशी' का कथानक भी श्रीमद्भागवत पुराण से ही लिया गया है। पुराण के नवमस्कन्ध के १४ वें व १५ वें अध्याय से इस चम्पू के आख्यान का मूल उठाया

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण १०।८।२४
२. यथोपरि १०।८।२७
३. ,, १०।४४।३३
४. ,, १०।५०।४२
५. ,, १०।७४।३०
६. ,, १०।७४।१६
७. ,, १।१४।३०
८. श्रीमद्भागवत पुराण नवमस्कन्ध (सप्तम अध्याय) श्लो० सं० ७।
९. यथोपरि श्लोक सं० ९।
१०. ,, ,, ,, ७।
११. ,, ,, ,, ७।
१२. ,, ,, ,, २१।
१३. ,, ,, ,, ९।
१४. ,, ,, ,, १८।
१५. ,, ,, ,, २०।
१६. ,, ,, ,, २०।
१७. ,, ,, ,, २२।
१८. ,, ,, ,, २५।
१९. ,, ,, ,, २३।

गया है। चैत्ररथ वन में पुरुखा और उर्वशी के विहार का चित्रण किया गया है।[१] पुरुखा भी एतिहासिक पात्र है।[२] उर्वशी[३] व इला[४] का उल्लेख भी है। उर्वशी के कथानक का मूल आधार भागवत के २७ वें श्लोक से लिया गया है।[५] ब्रह्मर्षि की कथा की आधार भी श्रीमद्भागवत पुराण ही है।

ब्राह्मण ग्रंथ

प्रसादजी ने अनेक ब्राह्मण ग्रंथों का भी अध्ययन किया है और उनसे आधार लेकर अपने सृजन में वैशिट्य लाने का प्रयास किया है। कामायनी की भूमिका में कवि ने 'शतपथ ब्राह्मण' का अनेक बार उल्लेख किया है। कामायनी के सृजन में 'शतपथ ब्राह्मण' का प्रमुख योगदान है। प्रसादजी ने शतपथ ब्राह्मण से इस प्रकार उद्धृत किया है:—

"मनवे वै प्रातः (आठवाँ अध्याय)[६]
"मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे; यदनु कृत्येभाः प्रजा यजन्ते।[७] (५-१)
"तद्ध देवानां आग आस"[८] (७-४)
"तं रूद्रोऽभ्यावत्य विव्याध।[९] (७-४)

'ऐतरेय ब्राह्मण' व तैत्तरीय ब्राह्मण ग्रंथों का भी प्रसादजी ने गहन अध्ययन किया जिसका प्रभाव उनके निबन्धों में स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

आरण्यक एवं उपनिषद्

प्रसादजी ने उपनिषद् ग्रंथों का गहन अध्ययन किया—जिनका प्रभाव उनके

---

१. श्रीद्भागवत पुराण नवमस्कन्ध चौंदहवा अध्याय श्लो० सं० २४।
२. यथोपरि श्लो० सं० १५।
३. " " " ४५।
४. " " " १५।
५. ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते।
उर्वश्या उरणौ जह्नुर्न्यस्तौ राजनि जायया॥
निशम्या क्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः।
हवास्मयहं कुनाथेन न पुंसा वीरमानिना॥

श्रीमद्भागवत—९/१४/२७-२८

६. कामायनी (भूमिका) पृ० सं० ४।
७. यथोपरि पृ० सं० ५।
८. " पृ० सं० ७।
९. " पृ० सं० ७।

सृजन में स्पष्ट है। कामायनी में 'यदा वै श्रद्धाति अथ मनुते नाऽश्रद्धधन मनुते' छांदोग्य उपनिषद् से उद्धृत करते हुए श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या ग्रहण की है।[१] इसी प्रकार अपने निबन्धों में 'नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' मुण्डकोपनिषद् से ग्रहण किया है।[२] "नैषा तर्केण मतिरपनेया" कठोपनिषद् से ग्रहण किया गया है।[३] केनोपनिषद् से भी उन्होंने काव्य कला तथा अन्य निबन्ध उद्धृत किये हैं।[४] मैत्रायणी उपनिषद्[५] का भी प्रसादजी ने अपने निबन्धों में उल्लेख किया है। आरण्यक ग्रंथों में 'बृहदारण्यक' को प्रसादजी ने सर्वोपरि महत्व दिया है, और अपने निबन्धों में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। यथा—

अयमात्मा वाङ्मय: मनोमय: प्राणमयः।[६]

मूर्त और अमूर्त के सम्बन्ध में प्रसादजी ने काव्य और कला नामक निबन्ध में बृहदारण्यक से इस प्रकार उल्लेख किया है—"द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च (बृहदारण्यक २-३)[७] मूर्त और अमूर्त के रूप के संदर्भ में भी बृहदारण्यक से लेखक ने उल्लेख किया है।[८]

अन्य ग्रन्थ

'शिवसूत्रविमर्शिनी' से 'काव्य कला के संदर्भ में उल्लेख किया गया है' — कलयति स्व स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कलाव्यापार:।[९] रहस्यवाद के संदर्भ में आगमवादियों का मत भी स्पष्ट किया है—"आनन्दोच्छलिता शक्तिः

---

१. यथोपरि पृ० सं० ७।

२. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध।

३. यथोपरि

४. केनोषितं पतति प्रेषितं मन:
केन प्राण: प्रथम: प्रैत युक्त:।
केनोषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षु: श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।

५ काव्यकला तथा अन्य निबन्ध।

६. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ३७

७ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ३४

८. स आदित्य: कस्मिन प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु: प्रतिष्ठामिति रूपेस्विवि चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठानीति हृदये इति हो वाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये रूपाणि प्रतिष्ठितानि।

९. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ४३

सृजयात्मानमात्मना"[1] इसी प्रकार निगम का उल्लेख करते हुए कहा है "आनन्दा द्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।।[2] क्षेमराज के एक प्राचीन उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए अद्वैतवाद पर विचार किया है,[3] इसी प्रकार उत्पल,[4] अष्टावक्रगीता,[5] शंकरीमानसपूजा,[6] सौंदर्यलहरी,[7] गौड़पाद,[8] माँडूक्यकारिका,[9] नरपतिजय चर्चा[10] आदि से उल्लेख करते हुए रहस्यवाद को पूर्णरूपेण स्पष्ट किया है। प्रसादजी ने अनेक शैव ग्रन्थों का अध्ययन किया था—जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव कामायनी कृति में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

संस्कृत महाकवियों का प्रभाव:—

प्रसादजी पर संस्कृत-साहित्य का गहन प्रभाव रहा है, उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और अपने सृजन के लिए प्रेरणायें प्राप्त की। प्रसादजी के सृजन में संस्कृत-साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी शैली भी संस्कृत कवियों से अनुप्रेरित है और शब्दों में तो वे संस्कृत के ऋणी ही हैं। कालिदास, विशाख, शूद्रक, बाण, हर्ष, कौटिल्य, भवभूति आदि से कवि ने बहुत कुछ ग्रहण किया है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक से प्रेरणा लेकर 'भरत' व 'वन-मिलन' आदि कवितायें लिखी गई हैं। 'भरत' कविता अभिज्ञान शाकुन्तलम् के सप्तक अंक से प्रेरणा लेकर लिखी गई है।[11] कलावती की शिक्षा'[12] नामक कहानी में श्याम सुन्दर कहता है—स्त्रीणामाद्य प्रणय वचनं' कालिदास ने भी इसे नहीं छोड़ा था।"[13] विभ्रमोहि

---

१. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध (रहस्यवाद) पृ० सं० ५५
२. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध (रहस्यवाद) पृ० सं० ५५
३. यथोपरि
४. भक्तिलक्ष्मी समृद्धानां किमन्यदुपयाचितम् (का० क० त० नि० पृ० सं० ५६)
५. श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् (,,)
६. आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रासमाधिस्थितिः। का क०अ०नि०पृ०सं० ५७।
७. सपर्या पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।"
८. दुःखं सर्वमनुस्मृत्य काम भोगान्निवर्तयेत् ।।
९. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ६०
१०. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ६२
११. अभिज्ञान शकुन्तल नाटकम् पृ० सं० ४८०।
१२. प्रतिध्वनि पृ० सं० ५६।
१३. कलावती की शिक्षा—प्रतिध्वनि पृ० सं० ५६।

प्रियेषु"[1] आदि पर मेघदूत का प्रभाव है। प्रसादजी कालिदास से प्रभावित रहे हैं' उनके 'रघुवंश' महाकाव्य से वरतन्तु और कौत्स का चित्रण अपने 'जनमेजयकानागयज्ञ' नाटक में वेद और उत्तक के मध्य किया है। राजा हर्ष का सर्वस्व त्याग रघु के समान है, इसी प्रकार रघुवंश से लव-कुश का चित्र भी उपस्थित किया है। ऋतुसंहार से प्रकृति-चित्रण में सहयोग लिया है। 'उर्वशी' चम्पू के लिए 'विक्रमोर्वशीय' से आधार लिया है। 'उर्वशी' चम्पू के लिए 'शतपथ ब्राह्मण', 'बृहद्देवता', वेदार्थ-दीपिका, मत्स्य-पुराण' विष्णु पुराण' पद्म पुराण' और हरिवंश पुराण से कथा स्रोत लिए गये हैं। 'कथा सरित्सागर' में भी 'उर्वशी-पुरूरवा' की कथा मिलती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के लिए विशाख का मुद्राराक्षस महत्वपूर्ण आधार बना। मुद्राराक्षस के अनेक पात्र 'चन्द्रगुप्त' में यथावत हैं। वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' का प्रभाव भी प्रसादजी की रचनाओं में मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनेक सूत्र उनके नाटकों में दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत साहित्य का प्रभाव तो उनके काव्य, नाटक व कहानियों में सर्वत्र व्याप्त हैं। 'चक्रवती का स्तम्भ' नामक कथा में धर्मरक्षित कहता है— "संयोगाः विप्रयोगान्ताः"[2] देवदासी की पद्मा गाती है—"नाम समेतं वृतसंकेतं वादयते मृदु वेणुम्'[3] 'अजातशत्रु' नाटक मे धातुसेन कहता है :—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ।।[4]

इसी नाटक में मातृगुप्त कहता है :—न त्वेवाहं जातु नासौ न त्व ने मे ।।[5] गीता के कुछ श्लोक या खण्डपदों का प्रयोग प्रसाद के पात्रों ने किया है।

प्रतीकात्मक रचना के लिए प्रसादजी ने प्रबोध चन्द्रोदय से प्रेरणा ग्रहण की है।

प्रबोध चन्दोदय

श्रीकृष्ण मिश्र रचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक संस्कृत नाट्य-साहित्य की प्रतीकात्मक रचना है; इसका अनुकरण अनेक साहित्यकारों ने किया है। इसी प्रकार की रचना 'जीवानन्द नाटक है।' प्रबोध चन्द्रोदय में वृत्तियों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक पात्र योजना को जन्म दिया गया हैं। विवेक–(प्रधान नायक), मन—(संकलपरूप) प्रबोधोदय (उपनिषद् उत्पन्न पुरुष-पुत्र, पुरुष (उपनिषद् पति)

---

१. यथोपरि पृ० सं० ५७।
२. प्रतिध्वनि –पृ० सं० ६१।
३. आकाशदीप पृ० सं० ११४।
४. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ११८।
५. यथोपरि पृ० सं० ३७।

मति (विवेक स्त्री) श्रद्धा (शान्तिमाता करुणा (शान्ति-सखी) उपनिषद् (वेदान्त-विद्या) शान्ति (विवेक भगिनी) आदि

सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं। इसी का अनुकरण करते हुए प्रसादजी ने 'कामना' नाटक की रचना की है। कामना नाटक में, सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्ति-देव दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर, कामना, लीला, लालसा, करुणा, प्रमदा, बनलक्ष्मी, महत्वाकांक्षा आदि पात्रों का नाम करण किया गया है जो वृत्तियों के परिचायक हैं। अन्तर्वृत्तियों के युद्ध का वर्णन 'प्रबोध चन्द्रोदय' में भी हुआ है और कामना में भी। लालसा कहती है :—"आज विलास सेनापति होकर आक्रमण करने गये हैं, तो विनोद, तुम्हीं मेरे पट मंडप में चलो। मैं अकेली कैसे रहूंगी।"[1] इसी प्रकार क्रूर भी अपनी अन्तर्वृत्ति का परिचय देते हुए कहता है :- प्रमदा के प्रचार से विलास के परिणामस्वरूप रोग भी उत्पन्न होंगे। इधर अधिकारों को लेकर झगड़े भी होंगे, मार-पीट भी होगी। तो फिर मैं औषधि और शस्त्र-चिकित्सा के द्वारा अधिक से अधिक सोना ले सकूंगा।"[2] इस प्रकार प्रत्येक पात्र अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल अपने उद्गार व्यक्त करता हुआ कर्म में रत है और उसी के अनुसार परिणाम भी भोगता है प्रसादजी ने दम्भ पात्र की कल्पना की है प्रबोधचन्द्रोदय में भी दम्भ पात्र का चित्रण है।[3] महामोह[4] विलास है, कामक्रोध[5] क्रूर है, विवेक[6] यथावत है, तृष्णा[7] लालसा है, श्रद्धा कामना है. करुणा[8] यथावत है, मिथ्यादृष्टि[9] महत्वाकांक्षा है, सन्तोष[10] यथावत है।

इसी प्रकार कामायनी में मनु (मन)[11] श्रद्धा (श्रद्धा)[12] आनन्द

---

१. कामना पृ० सं० १०२।
२. यथोपरि पृ० सं० ६०।
३. प्रबोधचन्द्रोदय पृ० सं० ५२
४. यथोपरि पृ० सं० ८४।
५ यथोपरि पृ० सं० २६।
६. यथोपरि पृ० सं० १५१।
७. यथोपरि पृ० सं० ८२।
८. यथोपरि पृ० सं० १००।
६. यथोपरि पृ०सं० ८६।
१०. यथोपरि पृ० सं० १५६।
११. प्रबोधचन्द्रोदय पृ० सं० २०१।
१२. ,, ,, १७४।

(प्रबोधोद)[1] इड़ा[2] (रति आदि के प्रतीक प्रबोधचन्दोदय का प्रभाव स्पष्ट करता है।

प्रसादजी ने अपनी कृतियों, भूमिकाओं तथा लेखों के मध्य जिन कृतियों का उल्लेख किया है—उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—'शतपथ ब्राह्मण[3] हरिवंश[4] ऐतरेय ब्राह्मण[5] महाभारत[6] देवी चन्द्रगुप्त[7] नारद स्मृति[8] पाराशर स्मृति[9] कौटिल्य का अर्थशास्त्र[10] मुक्तक (राजशेखर)[11] मुद्राराक्षस[12] छांदोग्य उपनिषद[13] ऋग्वेद[14] श्रीमद्भगवद्गीता[15] वेदान्त ग्रंथपञ्चदशी[16] वृहदारण्यक[17] मयमतम्[18] शिल्परत्न[19] काव्यादर्श[20] अभिनव भारती[21] नाट्यशास्त्र[22] भरतसूत्र[23] रामायण[24]

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय पृ० सं० २३८।
२. ,, ,, ५०।
३. जनमेजय का नागयज्ञ (भूमिका) पृ० सं० १
४. ,, (,,) ,, २
५. ,, (,,) ,, २
६. ,, (,,) ,, ३
७. ध्रुवस्वामिनी (,,)
८. यथोपरि (,,)
९. ,, (,,)
१० ,, (,,)
११. ,, (,,)
१२. ,, (,,)
१३. कामायनी (,,) पृ० सं० ५
१४. यथोपरि (,,) ,, ६–७
१५ स्कन्दगुप्त नाटक ,, ३७
१६. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध ,, ३०
१७. यथोपरि ,, ३४
१८. ,,
१९. ,,
२०. ,,
२१. ,, पृ० सं० ९३, ९५
२२. ,, ,, ९७
२३. ,, ,, ९७
२४. ,, ,, ८७

कात्यायनश्रौतसूत्र[1] पृथ्वी सूक्त[2] अमरकोष[3] विक्रमोर्वशीय[4] मृच्छकटिक[5] मालविकाग्निमित्र[6] वक्रोक्तिजीवित[7] श्वेताश्वतरोपनिषद[8] अष्टावक्रगीता[9] शांकरीमानसपूजा[10] सौंदर्यलहरी[11] माण्डूक्यकारिका[12] नरपतिजयचर्चा[13] साहित्यदर्पण[14] काव्यालंकार[15] काव्यप्रकाश[16] शृंगारतिलक[17] ध्वन्यालोक[18] शिवसूत्र[19] उज्ज्वल नीलमणि[20] सर्वदर्शनसंग्रह[21] तत्व प्रकाश[22] शिव सूत्र विमर्शिनी[23] मुण्डकोपनिषद[24] कठोपनिषद[25] तैत्तरीयोपनिषद[26] केनोपनिषद[27] रघुवंश[28] आदि अनेक कृतियों का

---

१. यथोपरि पृ० सं० ८७
२. ,, ,, ८६
३. ,, ,, ९१
४. ,, ,, ९८
५. ,, ,, ९९
६. ,, ,, १००
७. ,, ,, १२४
८. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ५४
९. यथोपरि ,, ,, ५५
१०. ,, ,, ,, ५७
११. ,, ,, ,, ५८
१२. ,, ,, ,, ६०
१३. ,, ,, ,, ६२
१४. ,, ,, ,, ७७
१५. ,, ,, ,, ७४
१६. ,, ,, ,, ७३
१७. ,, ,, ,, ७३
१८. ,, ,, ,, ३०—७५
१९. ,, ,, ,, ५६
२०. ,, ,, ,, ५७
२१. ,, ,, ,, ५७
२२. ,, ,, ,, ५८
२३. ,, ,, ,,
२४. ,, ,, ,, ५३
२५. ,, ,, ,, ५३
२६. ,, ,, ,, ५२
२७. ,, ,, ,, ५३
२८. ,, ,, ,, ११४

उल्लेख किया है । नारोपा, कण्डपा व शबरपा आदि कृतियों का उल्लेख भी किया हैं ।[1] इसके अतिरिक्त प्रसाद-साहित्य में हर्ष चरित, शृंगाररूपक, कथा सरित्सागर, गाथासप्तशती, प्रबन्धकोश, सुभाषितावलि, कुमारसंभव, मेघदूत अभिज्ञान शाकुन्तल, पराक्रम बाहुचरित्र, जल्हणकृत 'सूक्तिमुक्तावलि. राजतरंगिणी, हेमचन्द्र अभिधान, हरितमान, स्वप्नवासवदत्ता, चूलवंश, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, विष्णु पुराण, कामन्दकीय नीतिशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् शिव दृष्टि, तंत्रसार, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, तंत्रालोक, लिंगधारण चन्द्रिका, कठोपनिषद्, अथर्ववेद, निरुक्त, मैत्रायणी उपनिषद्, कालकाचार्य की कथा, धम्मपद अट्ठकथा, वद्धकी जानक कणेवर जातक, संयुक्त निकाय, दीर्घ-निकाय, आवश्यक सूत्र, विनय-पिटक, दिव्यावदान, महावंश, त्रिकांडशेष, जैन व बौद्ध कथायें, कोसम के मूर्तिलेख, इन्दौर के ताम्रपत्र, भिटारी के लेख, जूनागढ़ के लेख, भावोदाजी के लेख, म.म. हरप्रसाद शास्त्री के लेख, वंशखंड़ों का ताम्रपत्र, ह्वेनसांग का भ्रमण वृत्तान्त, डायोडोरेस सिल्यूकस जस्टनस, हूंढि, मैक्समूलर, टाड और विसेंटस्मिथ आदि की कृतियों व इतिहासों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

प्रसादजी को सहजभाव से जो ग्रंथ मिल सके उनका गहन अध्ययन किया और उनसे आधार लेकर सृजन प्रक्रिया को आरम्भ किया । प्रसादजी ने पुस्तकों के अतिरिक्त शिलालेखों, ताम्रपत्रों और मुद्राओं का भी गहन अध्ययन तथा विश्लेषण किया था । पुरगुप्त की माता का नाम अनन्त देवी रखने का आधार प्राचीन अभिलेख ही है । जैसा की प्रमाण मिलता है :—

"महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्त-देव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्री पुरगुप्तस्य—।"[2]

शर्वनाग का विषयपति होना भी ताम्रपत्र के अभिलेख से लिया गया है :—
"विषयपति शर्वनागस्य अन्तर्वेदां भोगाभिवृद्धये वर्तमाने ।"[3]

गोविन्दगुप्त का अन्तर्विद्रोह, पर्णदत्त का राज्याध्यक्ष होना, ध्रुवस्वामिनी के संदर्भ में ज्ञान, आदि अनेक तथ्य शिलालेखों से लिये गये हैं । अपनी कृतियों की भूमिकाओं में प्रसादजी ने अनेक शिलालेखों और मुद्राओं के अध्ययन का संकेत दिया है ।

राज्यश्री के प्राक्कथन में बाँसखेडा के शिलालेख का संकेत करते हुए लिखा है : —"स्वहस्तोममहाराजाधिराज श्री हर्षस्य ।[4]

---

१. यथोपरि पृ० सं० ५९—६०
२. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन—पृ० सं० ७४
३. इन्दौर ताम्रपत्र
४. राज्यश्री पृ० सं० ७

'अजातशत्रु' चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी नाटकों के लिए प्रसादजी ने अनेक शिलालेखों, ताम्रपत्रों, व मुद्राओं का अध्ययन किया और उसके पश्चात् समय निर्धारण करते हुए कथावस्तु का सामञ्जस्य बिठाते हुए सृजन क्रिया में रत हो सके।

अनेक संस्कृत कवियों का उल्लेख तो उन्होंने अपने साहित्य व प्राक्कथनों में किया है। कालिदास, विशाख, बाणभट्ट, व हर्ष का तो अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार अनेक बौद्ध ग्रंथों का भी कवि ने गहन अध्ययन किया है। इस कठिन साधना का परिणाम ही है कि—प्रसादजी आज हिन्दी-साहित्याकाश के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं।

सृजन की दीर्घ-यात्रा

सृजन की दीर्घ-यात्रा

श्री जयशंकरप्रसाद प्रतिभा के बहुसम्पन्न धनी थे। आधुनिक युग में वाद-विवाद ग्रस्त वातावरण में जीते हुए पश्चिम के अंधानुकरण से मुक्त रह कर साहित्य-साधना में तल्लीन रहे। प्रसाद की प्रतिभा का विकास साहित्य की अनेक विधाओं में हुआ। प्रसाद की समस्त साहित्य-साधना का मूल आधार भारतीय संस्कृति एवं मानवीय दृष्टिकोण रहा है। प्रसाद ने काव्य, नाटक, कहानी, गद्य-गीत, उपन्यास एवं निबन्ध आदि सभी विषयों पर अपनी सशक्त लेखिनी उठाकर समर्थ रचनायें प्रदान की हैं। प्रसाद की यही सबसे बड़ी विशेषता रही है कि वे जिस विधा की ओर प्रवृत्त हुए उसी में अपूर्व सफलता प्राप्त की।

श्री प्रसादजी ने अपने जीवन के अल्प समय में सृजन की बहुत बड़ी यात्रा की। यदि वे पूर्णायु भोगते तो हिन्दी साहित्य को और अधिक समर्थ रचनायें प्रदान करते-इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। प्रसाद बाल्यकाल से ही सृजन की दिशा में प्रवृत्त हो गये थे, शनैः शनैः सृजन के उत्तुंग-शृंग पर जा बैठे—जहाँ से उन्होंने सम्पूर्ण संसार के समस्त रहस्यों को देखा। सृजन का श्रीगणेश कविता से हुआ—इसी का परिणाम रहा कि प्रसाद की गद्य-शैली भी काव्यमयी ही रही। नाटक, उपन्यास, कहानी व निबन्ध आदि सभी विधायें काव्य-शैली से प्रभावित रही हैं, नाटकों में तो प्रसाद ने गद्य-गीतों को जन्म देकर अपने सामर्थ्य व प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे दिया है।

प्रसाद का सृजन इतना प्रचुर है कि उसका परिचय प्रस्तुत करने के लिए हमें 'काव्य व गद्य' दो भागों में उसे विभक्त करना होगा।

काव्य

प्रसाद सबसे पहले कवि हैं, उसके पश्चात् नाटककार, कहानीकार, उपन्यास-कार एव निबन्ध लेखक हैं। प्रसाद के काव्य का प्रारम्भ बृजभाषा से हुआ। भारतेन्दु युगीन प्रभाव से कवि मुक्त नहीं रह सका। कुछ समीक्षक तो 'प्रसाद' को भारतेन्दु का अवतार ही मानते हैं, उनकी मान्यता है कि प्रसाद भारतेन्दु के अधूरे कार्य को

पूर्ण करने के लिए ही साहित्य में अवतरित हुए हैं। प्रसाद का कवि प्रकृति प्रेमी, भावुक, मानव, एवं दार्शनिक है। प्रसाद कवि होने से पूर्व एक उदारचेता व विचार-शील मानव है—जिसके मन में विश्वबंधुत्व की भावना है, प्रेम का असीम समुद्र लहरा रहा है, करुणा के सहस्रों स्रोत झर रहे हैं, आँसू में समस्त संसार की पीड़ा समाहित है और वाणी में भारतीय संस्कृति की अमर ऋचायें हैं—जो सत्यं शिवं सौंदर्यम् का सन्देश प्रसारित कर रही हैं। प्रसाद ने कविता से लेकर महाकाव्य तक का प्रणयन किया है। विन्दु से लेकर विस्तार तक की अनन्त यात्रा की है।

चित्राधार

'चित्राधार' कवि प्रसाद की किशोरावस्था में लिखी हुई स्वतन्त्र कविताओं का संकलन है। यह संकलन पाँच भागों में विभक्त है। इस संकलन का प्रथम भाग द्विवेदी युगीन साहित्यिक प्रवृत्ति का परिचायक है—जो यह सिद्ध करता है कि प्रसाद का कवि प्रारम्भ में द्विवेदी युग से प्रभावित रहा है। प्रथम भाग में 'उर्वशी' प्रेम-राज्य, अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन प्रभृति कवितायें हैं—जो प्रबन्धात्मक शैली में रचनाबद्ध हैं। द्वितीय एवं तृतीय भाग एकांकी तथा पौराणिक कथाओं से आपूरित है। चतुर्थ भाग में संध्यातारा चन्द्रोदय आदि प्रकृति-प्रेम की स्वतन्त्र-रचनायें हैं। ये कवितायें कवि प्रसाद के प्रकृति की रमणीयता के प्रति सहज प्रेम को अभिव्यक्त करती हैं। चित्राधार में संग्रहीत रचनायें पद्य व गद्यात्मक हैं। इस संकलन की कवितायें विविध छंदों में लिखी हुई हैं तथा बृज भाषा का प्रयोग किया गया है। ये कवितायें तत्कालीन साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित को चुकी हैं। 'इन्दु' पत्रिका में सर्वाधिक रचनायें प्रकाशित हुई हैं। कवि प्रसाद का काव्य-सृजन का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व पं० श्रीधर पाठक का ऋणी है; चित्राधार की कवितायें उनके प्रभाव से ओत-प्रोत हैं।

कानन-कुसुम

'कानन-कुसुम' का प्रकाशन कवि के जीवन-काल में क्रमशः संवत् १९७०, १९७१ और १९८६ में तीन बार हुआ। ये तीनों संस्करण ही एक-दूसरे से अधिक परिमार्जित स्वरूप व अन्तर लिए हुए पाठकों के समक्ष आए। प्रथम प्रकाशन में कुछ रचनायें बृजभाषा की थीं किन्तु १९८६ के सस्करण में खड़ी बोली की रचनाओं को प्रधानता दी गई। इस संकलन में प्रकृतिपरक कवितायें व वर्णनात्मक कविताएँ है। प्रकृति की अन्तर्मुखी वृत्तियों का प्रकाशन करता हुआ प्रसाद का कवि कहता है:—

यह शून्यता वन की घनी, बेजोड़ पूरी शान्ति से।
करुणा-कलित कैसी कला कमनीय कोमल कान्ति से।[1]

---

1. कानन कुसुम, एकान्त, में पृ० सं० ५३।

इस संकलन में प्रकृति-प्रेम की उत्कृष्ट रचनायें हैं, भक्ति-विषयक तथा सम-सामयिक रचनाओं का भी समावेश है। यद्यपि इस संकलन में भी द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता का प्रभाव है किन्तु कवि की रहस्यवादी भावनाओं का भी दर्शन हमें यहाँ होता है प्रसाद ने कानन-कुसुम के समर्पण में लिखा है—"प्रियतम ! जो उद्यानसे चुन-चुनकर हार बनाकर पहनते हैं, उन्हें कानन-कुसुम क्या आनन्द देंगें ? यह तुम्हारे लिए है। इनमें रंगीन और सादे, सुगन्ध वाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए सभी तरह के कुसुम हैं। असंयत भाव से एकत्र किये हुए हैं। भला ऐसी वस्तु को तुम न ग्रहण करोगे तो कौन करेगा ?—तुम्हारा 'प्रसाद' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'मधु-मुकुल' के समर्पण से यह समर्पण साम्यता रखता है।

झरना

'झरना' का सर्व प्रथम प्रकाशन संवत् १९७५ में हुआ। उस समय इस संकलन में केवल २५ कविताएँ थी। दूसरे संस्करण में ३५ तथा तृतीय संस्करण के इस संकलन में ५५ कवितायें संकलित कर दी गई थीं। कवि ने सर्व प्रथम मुक्तता के साथ इतिवृत्तात्मकता का परित्याग कर प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। इस संकलन के प्रकाशक ने अपना वक्तव्य लिखते हुए कहा है:—"जिस शैली की कविता को हिन्दी में आज दिन छायावाद का नाम मिल रहा है, उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था।"[1] इस संकलन में अनेक उच्चकोटि की रचनायें संकलित हैं। प्रायः सभी कवितायें छायावादी प्रवृत्ति की मान्यताओं को लिए हुए हैं। झरना में प्रसाद के कवि की प्रौढ़ता झलकती है। इस संकलन में 'मिलन-प्रार्थना' 'किरण' अर्चना, बिखरा हुआ प्रेम, कब ?" बालू की बेला, प्रत्याशा, असंतोष, अनुनय, प्रियतम, निवेदन, स्वप्नलोक, दर्शन, परिचय, मिलने की कसौटी, आदि अनेक शीर्षक वाली कवितायें संकलित हैं। 'किरण कविता मे कवि की छायावादी-प्रवृत्ति प्रतीकात्मक-ध्वनि को व्यक्त करती है:—

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
    रंगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण, सरसिज, किंजल्क समान,
    उड़ती हो परमाणु पराग।

---

१. झरना कृति के निवेदन से उद्धरित।

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल—
वेदना दूती-सी तुम कौन ?

अज्ञात संसार की विकल-वेदना दूति सी बन कर किरण कवि को समस्त अनुभूतियों का अवदान कर रही है। इसी प्रकार अन्य कवितायें भी प्रतीकात्मक हैं। 'पावस-प्रभात' शीर्षक वाली कविता में कवि ने प्रकृति के माध्यम से मानवीकरण की अभिव्यंजना प्रस्तुत की है:—

रजनी के रञ्जक उपकरण बिखर गये,
घूंघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा कुछ हँस पड़ी;
लगा टहलने प्राची प्रांगण में तभी।

'झरना' संकलन की कविताओं में प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता एवं ध्वन्यात्मकता का समावेश है। शृंगार की अभिव्यक्ति उद्दाम वासनात्मक न होकर मधुर एवं सहज भावाभिव्यक्ति को लिए हुए है। भाषा में शब्दों का प्रयोग भी भावानुकूल है।

लहर

'लहर' का प्रकाशन संवत् १९९० में हुआ। यह कृति प्रबन्धात्मक रचना न होकर कवि प्रसाद की फुटकर रचनाओं का संकलन है। इस संग्रह में प्रेम व यौवन के उद्वेग पर लिखी भाव-कविताओं की प्रधानता है। इस संग्रह को हम केवल शृंगारिक अथवा प्रेम की रचनायें कह कर सामान्य कृति नहीं कह सकते हैं; अपितु प्राकृतिक-सौंदर्य एवं दार्शनिक-भावों का विवेचन होने के कारण कृति में गाम्भीर्य स्वतः ही उद्भाषित हुआ है। प्रसाद की कृतियों पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव है—यह इस ग्रंथ से सिद्ध हो जाता है। इस संकलन में 'अशोक की चिन्ता' जगती की मंगलमयी उषा बन 'अरी वरुणा की शान्त कछार' आदि ऐसी कवितायें है जो बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का परिस्फुटन करती हैं। प्रकृति प्रेम का चितेरा तो कवि है ही लेकिन इस संकलन की कविताओं में 'रहस्यवाद' के दर्शन भी होते हैं—

तुम हो कौन और मैं क्या हूं ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो !

रामनाथ सुमन ने 'लहर' काव्य-संकलन के संदर्भ में लिखा है:—'बहु भावमय जीवन का एक अच्छा प्रतिबिम्ब हम 'लहर' में देखते हैं। इसमें विलास की स्मृतियाँ

हैं, दो दिन प्रेम की गोद में बिता लेने की आकांक्षा है, रूप एवं वैभव के चित्र हैं, जागरण की पुकार है, नियन्त्रण की प्रवृत्ति है, और आनन्द का उल्लास है।[1] 'लहर' संकलन कवि के मानस में हिलोर ले रहे प्रीति-तत्वों का मधुर-विवेचन है, प्रकृति-प्रेम का उदात्त व रमणीय चित्रांकन है एवं दार्शनिक विचारधाराओं का पर्यालोचन है। रहस्यवादी विचारधाराओं की ओर प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति का परिचय हमें यहाँ मिल जाता है।

प्रेम राज्य

'प्रेम-राज्य' प्रबन्धात्मक एक लम्बी रचना है—जिसके आख्यान का आधार पूर्णतः ऐतिहासिक है। इसका प्रकाशन 'चित्राधार' के द्वितीय संस्करण में हुआ था। सम्पूर्ण कथानक दो भागों में विभक्त है, प्रथम-भाग में युद्ध का वर्णन है तो दूसरे भाग में चन्द्रकेतु और ललिता के प्रणय और परिणय की कथा आबद्ध है। विजय नगर के नरेश सूर्यकेतु और अहमद नगर के बहमनी वंश के सुल्तान के मध्य युद्ध का वर्णन किया गया है। विजय नगर का नरेश अपने ही सेनापति के विश्वासघात के कारण समराङ्गण में वीर गति को प्राप्त होता है। नरेश का पुत्र चन्द्रकेतु जो युद्ध से पूर्व ही हिमालय के तराई क्षेत्र में चला गया था—वह सेनापति की मृत्यु के पश्चात् अपने घर पहुँच पाता है। यही चन्द्रकेतु सेनापति की पुत्री ललिता से प्रणय करता है। उन दोनों के प्रेम राज्य की सुन्दर कल्पना इस प्रकार है:—

वह किशोर नव चन्द्रकेतु ललिताहु किशोरी।
तन्मय लखत परस्पर इकटक अद्भुत जोरी।
लखे नवल यह प्रेम राज्य अति हुए आनन्दित
चमकि उठ्यो नवचारु, चन्द्र तारागण वन्दित।

यद्यपि इस कृति में भी प्रकृति-प्रेम का प्रदर्शन मुक्त रूप से हुआ है किन्तु दार्शनिक भावों की भी सफल अभिव्यक्ति हुई है। शैव-दर्शन का आभास यहीं से मिलना आरम्भ होता है। कृति में बृजभाषा के शब्दों का प्रयोग अधिकतर हुआ है। एक स्थान पर भारत-गौरव-गीत भी प्रस्तुत किया है जो राष्ट्र-प्रेम का परिचायक है।

वन-मिलन

महा कवि कालिदास के बहुचर्चित नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से प्रेरणा लेकर प्रसाद ने 'वन-मिलन' की रचना की है। 'वन-मिलन' रचना का आधार पौराणिक आख्यानों से प्रेरित होता हुआ भी काल्पनिक है, कवि ने 'वन-मिलन' का आरम्भ

---

१. कवि प्रसाद की काव्य साधना पृ० सं० ९४

वहाँ से किया है—जहाँ महाकवि कालिदास ने अपने नाटक शाकुन्तल की समाप्ति की है। शकुन्तला दुष्यन्त के राज प्रासाद में चली गई थी लेकिन उसकी अभिन्न बाल-सखियाँ उसके प्रेम के कारण उससे मिलने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हैं। उन सखियों को यह विश्वास है कि उनकी अभिन्न सखी शकुन्तला दुष्यन्त के राज प्रासाद में पहुँच-कर राज-सुख भोगने में इतनी डूब गई है कि हम-लोगों का तनिक भी ध्यान नहीं दे पा रही है। जो कोई भी नगर जाता था वह लौटकर शकुन्तला का समाचार नहीं दे पाता है। बहुत दिनों के पश्चात मालव ऋषि द्वारा समाचार मिल पाता है। महा-राज दुष्यन्त शकुन्तला और भरत के साथ कण्व के आश्रम में आते हैं। उस समय सम्पूर्ण आश्रम एवं वनवासियों के मध्य आनन्द की हिलोर उठ जाती है और चारों ओर का वातावरण उल्लास मय हो जाता है। इस प्रबन्धात्मक कृति में कवि ने प्रकृति का रमणीय चित्र उतारा है। वनवासियों के सहज-सौंदर्य का प्रस्तुतीकरण मनोरम शैली में प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण कृति रोला छन्द में लिखी हुई है। वन-मिलन' कृति का आरम्भ ही प्रकृति-वर्णन से हुआ है:—

अरुण-विभा, विलसित-हिम-श्रृंग मुकुटधर छाजत।
मालिनि मन्द प्रवाह सुखद–सुहुकुल–विराजत।
तरुगण रात्रि बसहु–मरकत–हारावलि लाजे।
साचहु भूधर नृपति समान हिमालय राजे।

पैशोला की प्रतिध्वनि

प्रस्तुत कविता कविवर प्रसादजी के गौरवमय अतीत के प्रति गहन निष्ठा की सूचक है। कवि ने भारतीय संस्कृति के गौरवमय स्वर्णिम चित्रों को देखा है; वह उस युग में पहुँच कर उनकी आत्मा से अपना तादात्म्य स्थापित करता है। परतंत्रता से आबद्ध भारत को देख कर कवि के मानस में कड़वाहट बिखर जाती है उस समय वह इतिहास के पृष्ठ उलटने लगता है—वहाँ उसे भारतीय वीरता की गौरवमय गाथायें मिलती हैं। सब कुछ वैसा ही है लेकिन उस वीरता का कहीं संकेत नहीं मिलता। इसी क्रम में उदयपुर व चित्तौड़ की घाटियों में कवि का मन श्रद्धा के साथ शौर्य-सुमन चुनने के लिए दौड़ पड़ता हैं—लेकिन वहाँ उसे उन घाटियों की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती है, वीरों के आख्यान सुनने को मिलते हैं,—उनके शौर्य-संस्कारों के गीत सुनने को मिलते हैं लेकिन वे शूर-वीर नहीं मिल पाते हैं, वहाँ की पुण्यस्थली कवि से प्रश्न करने लगती है। कविता में प्रकृति-प्रेम के सजीव चित्र भी उपस्थित किये गये हैं। कविता वीर रस से ओत-प्रोत एव अतुकांतशैली में आबद्ध है।

पिछोला झील के सौंदर्य को व्यक्त करते हुए कहा हैं:—

कालिमा बिखरती है, संध्या के कलंक-सी,
दुन्दुभि-मृदंग-तूर्य शान्त स्तब्ध मौन हैं।

शेरसिंह का शस्त्र समर्पण

अतुकांत शैली में लिखी गई यह कविता 'लहर' संकलन में प्रकाशित हुई है। इस कविता में कवि का राष्ट्र-प्रेम उभर कर आया है। सिक्खों का अंग्रेजों के साथ एक लम्बा युद्ध चला। पंजाब के राजा रणजीत सिंह ने अंग्रेजों को शिकस्त दी किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी रानी और उत्तराधिकारी परास्त हुए। शेरसिंह ने विवशताओं के मध्य अपने शस्त्रों का समर्पण किया। यद्यपि सिक्ख युद्ध में वीरोचित कर्म करने के अभ्यासी हैं अपने प्राणों को निछावर कर बलि-वेदी पर शहीद होने वाले हैं किन्तु विवशताओं ने शेरसिंह को झुका दिया था। सिक्खों की वीरता के संदर्भ में कहा गया है :—

"उजे स्थित रक्त और उमंग भरा मन था
जिन युवकों के मणिबन्धों में अबन्ध बल
इतना भरा था
जो उलटता शताब्धियों को।

इस कविता में राष्ट्र-प्रेम एवं उद्बोधन के स्वर हैं। पंजाब के वीरों की गौरव-गाथा हैं। यह कविता भी इतिवृत्तात्मकता से युक्त है। इसमें वीर रस की अनुपम अभिव्यक्ति हुई है। कवि ने देश-द्रोहियों की ओर सचेत करते हुए कहा है कि वीरों को उनके कारण विवशताओं के मध्य अपमान के कडवे घूंट पीने होते हैं, अपनी कुल-मर्यादा को भंग करते हुए अपमानित होना पड़ता है।

शिल्प-सौंदर्य

यह एक लम्बी कविता है—जिसमें भारतीय सांस्कृतिक-निधि के संरक्षण-महत्व को प्रतिपादित किया गया है। आर्यावर्त के अतीत काल के शिल्प-सौंदर्य को सुरक्षित रखने की भावना मुख्य लक्ष्य है। प्रसाद ने इस भावना को आख्यान से सम्पृक्त कर कविता को सजीव बना दिया है। भरतपुर का जाट नरेश सूरजमल स्थापत्यकला के सौंदर्य की सुरक्षा के लिए उस समय चिन्तातुर और करुणार्द्र हो उठता है—जब आक्रामक आलमगीर सोनी मन्दिर के भव्य कलात्मक छज्जे को भग्न करने लगा। भारतवर्ष में स्थापत्य कला के अनुपम प्रतीक थे लिन्तु धर्मान्धता के कारण अनेक खंडहरों में परिवर्तित कर दिये गये। सोनी मंदिर के भग्न करने के समय जाट-नरेश सूरजमल का अन्तर्मन यही कहता है :—

लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के
साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाए वे गए।

'शिल्प-सौंदर्य' नामक यह कविता अतुकांत शैली में लिखी हुई है। भाषा का सहज प्रवाह अबाध गति से संचरणशील रहा है।

भरत

इस कविता का प्रकाशन 'कानन-कुसुम' में हुआ है। इसकी कथा का आख्यान महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' से प्रेरित है। यद्यपि कवि ने कल्पना का सर्वाधिक आश्रय लिया है फिर भी मूल विन्दु महाभारत का आख्यान ही है। भरत के लिए कवि कविता है:

जिसने अपने बलशाली भुजदण्ड से
भारत का साम्राज्य प्रथम स्थापित किया।

इस कविता में कण्व कन्या के तनय 'भरत' की बाल-लीलाओं का मनोरम चित्रण किया गया है। मरीचि के आश्रम में पुरूवंशी भरत क्षत्रियोचित कर्म के लिए प्रतिक्षण प्रेरित हैं। प्रसादजी का प्रकृति-प्रेम इस कविता में भी सहज-भाव से उभरकर आया है। कविता की भाषा सहज एवं सरल है।

प्रलय की छाया

यह कविता मनोवैज्ञानिक भावों की अभिव्यंजना लिए हुए है। नारी-मन के अन्तर्द्वन्द्व का सफल-चित्रण हो पाया है। इस कविता में रानी कमलावती - जो अपने पति के पराजित हो जाने पर अल्लाउद्दीन की विलास-भोग्या बन कर अपना जीवन व्यतीत कर रही है—का अन्तर्मन पीड़ित होकर क्रन्दन कर बैठता है। उसका अन्तर्मन पश्चात्ताप की धधकती आग में जलता हुआ यही कहता है:—

पद्मिनी जली थी स्वयं
किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।

यह कविता कलात्मक दृष्टिकोण से प्रसादजी की सभी कविताओं में अपना शीर्षस्थ स्थान रखती है।

अयोध्या का उद्धार

यह जयशंकरप्रसाद की एक लघुकाय सामान्य कृति है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सम्वत् १६६७ में हुआ इसके आख्यान का आधार महाकवि कालिदास रचित 'रघुवंश' महाकाव्य है। रघुवंश महाकाव्य के १६वें सर्ग से कथा-सूत्र लेकर कवि ने कल्पना के माध्यम से इस कृति का निर्माण किया है। कुश और लव को क्रमशः कुशावती और श्रीवस्ती नगर मिल गये थे और वे वहाँ जाकर शासन करने लग गये थे। एक दिन रात्रि के समय कुश को स्वप्न में एक सुन्दरी ने आकर कहा—"मैं अयोध्या की राज्यश्री हूं और अयोध्या को नागवंशीय कुमुद ने अपने अधिकार में कर लिया है—अतः तुम उठो, और अयोध्या का उद्धार करो।" कुश उस रमणी के

शब्दों पर विश्वास करता हुआ अयोध्या पहुँचता हैं और युद्ध के मैदान में कुमुद को पराजित करता है। उसके पश्चात् कुमुदनी से विवाह कर कुश लौट आता है। यह कृति वर्णनात्मक शैली प्रधान है।

प्रेम–पथिक

'प्रेम-पथिक' कवि का खण्ड काव्य है। यह प्रेम-कथा पर आधारित है। सर्व प्रथम इसकी रचना बृजभाषा में हुई—उस समय इस कृति में केवल १३६ पंक्तियां ही थीं लेकिन कालान्तर में उसे परिष्कृत किया गया और खड़ी बोली में लिखे गये इस खण्ड काव्य में २७० पंक्तियाँ हैं। इसमें प्रारम्भ में किशोर और चमेली नामक पात्रों की कल्पना की गई थी किन्तु बाद में ये नाम भी हटा लिए गये। प्रेम-पथ पर चलने वालों के लिए प्रेम की विवेचना इस प्रकार की गई है—

> पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।
> घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए॥
> प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
> तब तुम प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे।

कवि प्रसाद ने इस कृति को लिखने के लिए पाश्चात्य शैली का अनुकरण किया। अतुकान्त शैली में लिखा हुआ यह काव्य रूढि-विद्रोहिता का परिचायक है। यद्यपि इस कृति में प्रेम के स्वरूप एवं उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है किन्तु कवि ने अपने 'प्रेम' का किसी संकुचित दायरे में न रखते हुए उसे विराट तत्व से सम्पृक्त कर दिया। अपने हृदय के प्रेम को विश्वबन्धुत्व का रूप देते हुए मानव-प्रेम की ओर अभिसंज्ञित किया-यही नहीं अपितु उसे अन्त में ईश्वरीय प्रेम से सम्पृक्त कर शिवमय एव सौंदर्यमय भावनाओं का व्यक्तीकरण किया गया है। कृति में भाषा प्रवाहमय, माधुर्ययुक्त एवं संगीतात्मकता से अन्वित है।

महाराणा का महत्व

> सच्चा साधक है सपूत निज देश का,
> मुक्त–पवन में पला हुआ वह वीर है।

यह एक विदेशी के द्वारा 'महाराणा-प्रताप' के चरित्र के बारे में कहलाया गया है। प्रसाद ने महाराणा प्रताप के महान आदर्शों और नैतिकता के संदर्भ में इस काव्य की रचना की है। इस कृति में भारतीय वीरों के संघर्ष और उनके उदात्त चरित्रों की उदारता के साथ अभिव्यंजना की गई है। 'महाराणा का महत्व' कथा काव्य है—जिसका प्रकाशन 'चित्राधार' में हुआ है किन्तु सन् १९२८ में इस कृति का स्वतन्त्र रूप से प्रकाशन किया गया। यह काव्य अतुकांत शैली व अरिल्ल छंद में लिखा हुआ है। कथा का आधार अरावली घाटी के युद्ध के समय महाराणा प्रताप

के सैनिकों द्वारा बन्दी बनाई गई महिला को उसके पति के पास सम्मान के सहित पहुँचाने की घटना है। सैनिक बेगम को बन्दी बनाकर महाराणा के पास ले आते हैं लेकिन उदारचेता प्रताप इस कृत्य से प्रसन्न नहीं होते हैं और न ही इसे प्रतिशोध की अग्नि शान्त करने का साधन मानते हैं, अपितु भारतीय संस्कृति के आदर्श सूत्रों के अनुसार पश्चात्ताप व्यक्त करते हुए बेगम को सम्मान के साथ नवाब के पास लौटाने की व्यवस्था करते हैं। बेगम मन ही मन महाराणा की कीर्ति का गान कर बैठती है। प्रसाद के कवि ने विदेशी द्वारा भारतीय-चरित्र की महत्ता का प्रतिपादन कराया है।

प्रसाद प्रकृति के अनन्य उपासक रहे हैं। इस कृति में भी उन्होंने प्रकृति-चित्रण अवसर खोज ही लिए। इस कृति के द्वितीय एवं तृतीय भाग में कवि ने यथेष्ट रूप से प्रकृति का चित्रण किया है। प्रबल वेग का चित्रांकन करते हैं:—

प्रबल-प्रभंजन वेगपूर्ण था चल रहा।
हरे-हरे द्रुम-दल को खूब लथेड़ता।।

आंसू

'आंसू' प्रसाद का बहुचर्चित काव्य है। प्रसाद ने प्रायः अपनी कृतियों के हर नये संस्करण में किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन व परिवर्धन किया है। प्रसाद की यह प्रवृत्ति उनके साहित्य-सौष्ठव के लिए बहुत ही उपयोगी रही है। 'आँसू' काव्य के संस्करणों में भी परिवर्तन होता रहा है। 'आँसू' काव्य के १५ वें संस्करण में—जो सं० २०२६ में हुआ है उसके प्रारम्भ में प्रकाशक ने अपना वक्तव्य दिया है:—"आँसू के इस दूसरे संस्करण में, छन्दों का क्रम कुछ बदल दिया गया है। कुछ छन्द और भी जोड़ दिये गये—जो पहिले सस्करण के बाद लिखे गये थे।" 'आँसू' प्रसाद का गीति काव्य है—इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ था। प्रथम प्रकाशन के समय इसमें केवल २५२ पंक्तियाँ ही थीं लेकिन जब इसका दूसरा संस्करण सन् १९३२ में हुआ तब इसमें ३८० पंक्तियाँ कर दी गई। यह कवि की प्रौढ़ावस्था में लिखा गया काव्य है—इसमें आत्माभिव्यंजनात्मक विरह की अभिव्यक्ति हुई है। 'आँसू' काव्य के संदर्भ में सुशीला भारती ने लिखा है—'इसमें स्वानुभूति का प्रकाशन, संगीतात्मकता, आवेग, तीव्रता, भाव-प्रवणता, विह्वलता तथा मार्मिकता अत्यधिक है। यह मुक्तक काव्य होते हुए भी इसमें एक सूत्रता है। यह कवि के जीवन की निकटतम अभिव्यक्ति है। साथ ही श्रेष्ठतम विरह-काव्य भी। मानव हृदय की आकांक्षाएं चरम विकास पर हैं। इसमें कवि ने निस्संकोच भाव से जीवन का वैभव दिखाया है। उसके विरह में आँसू भी बहाये हैं। और अन्त में जीवन के द्वन्द्वों पर विजय पाई है। वह अभाव को जीवन का एक कठोर सत्य समझता हुआ आगे बढ़ता है और इसीलिए वह

जीवन में सुख-दु:ख के द्वन्द्वों को भी आवश्यक समझता है।"[1]

'आँसू' लौकिक प्रेम की रचना है लेकिन इसे रहस्यवादी विचार धारा से सम्पृक्त कर दिया गया है। हृदय की पीड़ा स्मृतियों में ढ़लकर अश्रु बनकर बिखर पड़ी हैं: –

जो घनी भूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आंसू बन कर
वह आज बरसने आई।

'आँसू' कवि प्रसाद के जीवन की उत्कृष्ट रचना है। कवि ने अपने जीवन में ही सम्पूर्ण मानवता के सुख-दु:ख और उनके मिलन विरह की मधुर-तिक्त अनुभूतियों को तथा समस्त विसंगतियों व पीड़ा को जीने का उपक्रम किया है अपितु यों कहना चाहिये कि प्रसाद ने अपने अन्तराल की समस्त उद्वेलित भावनाओं को 'आँसू' के माध्यम से व्यक्त कर दिया है। कवि ने अपने जीवन में पत्नी का दीर्घ शोक प्राप्त किया—अतः पत्नी शोक से पीड़ित विलाप का मुखर होना स्वाभाविक था। कवि के मानस में वेदना रागिनी बजा कर कवि के मन को बहला रही है। पीड़ा को पाकर कौन सुखी होगा? किन्तु कवि का अन्तर्मन पीड़ा को पाकर समस्त सुख को एक अन्य ही दृष्टि से देखने लगता है:—

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा?
वह एक अबोध अकिञ्चन
बेसुध चैतन्य हमारा।
अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस काव्य के संदर्भ में लिखा है:–"आँसू प्रसादजी की पूर्व रचनाओं से बहुत आगे है। उसमें चित्राधार की सी हल्की, चमत्कार-चंचल दृष्टि नहीं है, न प्रेम-पथिक का सा 'रोमांटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है। वह अधिक गहरी चीज है। 'आँसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आँसू' में कवि नि:संकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में

---

१. कामायनी इतिहास और रूपक पृ० सं० ३२, द्वितीय संस्करण मिलिन्द प्रकाशन हैदराबाद।

आँसू बहाता और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट रूपकों और उपमानों में प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है, वही आँसू बन कर निकलती है।[1]

कवि प्रसाद यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस संसार में वेदना को कण्ठ से कौन लगा सकता है? इस जग में करूण कथायें सुनने के लिए भला किसे अवकाश है?

बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ;
अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएँ।

मानव-मन इस भौतिकी जगत में प्रतिक्षण नई-नई उलझनों में उलझता रहता है। वह सांसारिक जीवन जीता हुआ आशा-निराशा के क्षण जीता रहता है, मिलन-विरह के गीत गाता रहता है। जब मिलन की आशा किरण उसे अपने सन्निकट दिखाई देती है तो वह कहता है—"चेतन लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा, संध्या हो सर्ग प्रलय की, विच्छेद फिर मिलन होगा।" लेकिन निराशा के क्षणों में उसका मन सहज भाव से कह बैठता है:—

नाविक! इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आया?

वह अपने मन से कह बैठता है—नाविक! मुझे इस विजय क्षेत्र में क्यों ले आया? जहाँ सुख-दुःख की अनुभूति ही नहीं है। कवि ने मानव-जीवन की सकल विसंगतियों का पर्यालोचन करने के पश्चात् भी मानवीय दुःख से विकल नहीं है अपितु मानवीय सुख के प्रति निष्ठावान है। कवि सुख-दुख दोनों की ही अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। वह सुख दुख को मन और आँख की खेल मिचौनी मानता है।

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह-मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगें
है खेल आँख का मन का।

'आँसू' गीति काव्य परम्परा में अपना उत्कृष्ट स्थान रखता है। इस काव्य का प्रत्येक पद अपने आप में पूर्णता रखता है। काव्य की भाषा लयात्मक, मार्मिकता एवं तीव्रता लिए हुए है।

---

१. जयशंकर प्रसाद पृ० सं० ५८—लेखक नन्ददुलारे वाजपेयी।

मकरन्द-बिन्दु

'मकरन्द-बिन्दु' चित्राधार का अन्तिम भाग है—इसमें विभिन्न विषयक कविताओं का संकलन है। कवि की भक्ति-विषयक एवं प्रेम विषयक रचनाओं का इसमें बाहुल्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि कवि प्रसाद ने भी उस परम्परा का अनुसरण किया था—जिसके अन्तर्गत उनके पूर्ववर्ती कवि रहे हैं। अपने आराध्य देव के प्रति कवि ने भक्ति-विषयक भावनाओं को व्यक्त किया है किन्तु यह स्पष्ट है कि प्रसाद के कवि ने उस परम्परा को सम्बल प्रदान नहीं किया अपितु वे यहां भी प्रकृति के अनन्य उपासक बने रहे हैं।

पराग

'पराग' संकलन प्रसादजी के प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है। इसमें प्रकृति विषयक अनेक कविताओं का संग्रह है। प्रकृति-चित्रण में छायावादी प्रवृत्ति के दर्शन हमें मिलते हैं। प्रेम विषयक रचनायें भी इसमें संकलित हैं—उनमें छायावाद की स्पष्ट झलक हमें मिलती है:—

प्रिय जब ही तुम जाहुगे, कछुक यहाँ से दूरि।
आंखिन में भरि जायगो, तब चरनन की धूरि।
तुम अपनी ही मूर्ति को, मलिन करहु ने फेरि।
इन पुतरिन में आपने चरनन की रज गेरि।

प्रकृति-प्रेम के अतिरिक्त भक्ति मूलक रचनायें भी इसमें संकलित हैं। इस संकलन की कविताओं में अधिकांशतः बृजभाषा का ही प्रयोग हुआ है।

श्रीकृष्ण जयन्ती

प्रसादजी की यह कविता अपना पृथक् ही स्थान रखती है। अतुकांत शैली में लिखी इस कविता का सर्वप्रथम प्रकाशन 'इन्दु' पत्रिका में हुआ था। इस कविता में कवि ने बताया है कि यह समस्त संसार निविड़ अन्धकार से व्याप्त है। इस अन्धकार को दूर करने के लिए श्री कृष्ण की प्रतीक्षा की जा रही है। गोपाल के आने के पश्चात् इस निविड़ अन्धकार के मध्य दिव्य आलोक चारों ओर फैल जायेगा और स्वतः ही यह अन्धकार दूर हो जायेगा। प्रकृति उस परम पुरुषोत्तम की प्रतीक्षा में है।

श्री कृष्ण के आने पर मानव-जाति का कल्याण हो सकेगा, प्रकृति प्रमुदित होकर नृत्य करने लगेगी और चारों ओर हर्ष का वातावरण रहेगा। मानव जाति नाना कर्म-बंधनों से मुक्त होकर अलौकिक लोक की प्राप्ति कर सकेगी।

यह कविता प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई है।

चित्रकूट

प्रसादजी की संवत् १९६६ से १९७४ तक की कविताओं का संकलन 'कानन-कुसुम' शीर्षक से प्रकाशित हुआ—उसमें 'चित्रकूट' नामक आख्यानात्मक कविता का प्रकाशन भी हुआ था। यह कविता रामायण कालीन आख्यान पर आधारित है। इस सकलन में कविता के रूप में रहते हुए भी चित्रकूट' का अपना पृथक अस्तित्व है।

यह कविता अतुकांत शैली में लिखी गई है तथा आख्यानात्मक होते हुए भी इस कविता में कवि की नूतन उद्भावनाओं का सकेत देने में सहायक है। यद्यपि यह बृजभाषा में लिखी हुई है किन्तु परम्परा से हटकर अभिनव कल्पना एवं नूतन प्रतीकात्मक प्रयोग-एक श्रेष्ठ देन है।

इस कथानक के लिए कवि ने बाल्मीकि कृत 'रामायण' और तुलसीकृत 'रामचरित मानस' को आधार बनाया है। 'रामायण' के अयोध्याकांड से राम-भरत के मिलन एवं उससे पूर्व की सम्भावनाओं, आशंकाओं तथा वातावरण को सफलता के साथ चित्रित किया है।

चित्रकूट पर्वत के आश्रम में रघुनन्दन एवं वैदेही शिला पर आसीन हुए परस्पर आशंकाजन्य कुतुहल भरे प्रश्न करते हुए संलाप कर रहे होते हैं—उसी समय लक्ष्मण आकर सूचित करते हैं कि भरत ससैन्यदल चित्रकूट की ओर आ रहे हैं। लक्ष्मण आक्रोश व्यक्त करते हुए भरत से सघर्ष करने को उद्यत हो जाते हैं किन्तु राम लक्ष्मण का क्रोध शान्त करते हुए भ्रांति को तोड़ देने का आग्रह करते हैं। भरत आते हैं और हर्षाश्रुओं के साथ राम से गले मिलते हैं।

बिछुडे हुए भाई-आपस में गले मिलकर करुणार्द्र हो उठते हैं।

इस कविता में प्रसादजी ने अभिनव कल्पना के साथ 'नारी-चरित्र' को भी उदात्त रूप से उठाया है तथा यह सिद्ध करना चाहा है कि नारी के सभी सुख उसके पति के साथ रहते हैं। वह अपने पति के साथ रहते हुए सभी दुःखों को भूल जाती है।

अशोक की चिन्ता

श्री जयशंकरप्रसाद ने प्राचीन भारत विशेषत: बौद्धकालीन संस्कृति एवं इतिहास को अपनी कृतियों में स्थान दिया है। 'अशोक की चिन्ता' नामक कविता भी तत्कालीन ऐतिहासिक घटना को लेकर रची गई है। इसका प्रकाशन 'लहर' नामक कृति के अन्तर्गत हुआ है। सुप्रसिद्ध कलिंग-विजय ने अशोक के महत्वाकांक्षी हृदय में एक परिवर्तन कर दिया था—वह परिवर्तन अहिंसात्मक था। समरांगण के भयानक एवं बीभत्स तथा करुणापूर्ण दृश्यों ने अशोक के रक्त-पिपासु हृदय को

करूणा से आपूरित कर दिया और वह अशोक महान मानवतावादी के रूप में अवतरित हुआ। कवि ने कलिंग-विजय को 'महादम्भ का दानव' व 'महाभीषण रव' का नाम दिया। प्रस्तुत कविता में संसार की नश्वरता, एवं अहं को क्षणभंगुर कह कर अहिंसा के माध्यम से हृदय-परिवर्तन की घटना को अंकित किया है। यही अशोक की चिन्ता है:—

है ऊँचा आज मगध-शिर—
पतदल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर
क्यों गूँज रहो है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग ?

महाकवि प्रसाद का विजयी अशोक संसार की क्षणभंगुरता को समझते हुए यथार्थ के दर्शन कर लेता है। अशोक का मानव-मन संसार की पीड़ित मानवता को आत्मसात् करता हुआ यथार्थ को अभिव्यक्त करता है:—

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति-पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करूणा की तरंग।
जलता है यह जीवन-पतंग।

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' कविता इतिवृत्तात्मक आधार पर लिखी गई रचना है। इस कविता का आख्यान महाभारत एवं अन्य संस्कृत ग्रंथों से लिया गया है। श्रीकृष्ण की शैशवावस्था से आरम्भ कर कुरुक्षेत्र तक मुख्य-मुख्य घटनाओं का अंकन किया गया है। महाभारत के समय समरांगण में पार्थ के मन में जिन दैन्य भावों का उदय होता है—उनका निराकरण करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं—

कर्म जो निर्दिष्ट है, हो धीर करना चाहिये,
पर न फल पर कर्म के, कुछ ध्यान रखना चाहिये।

इस कविता पर श्रीमद्भगवद्गीता का भी प्रभाव है।[1] इसके अतिरिक्ति श्रीमद्भागवत की प्रमुख लीलाओं को भी इस कविता में चित्रित किया गया है जैसे—श्री-

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

श्रीमद्भगवद्गीता—

कृष्ण का वंशीवट के नीचे वेणु बजाना, यमुना के कूल पर कादम्ब वृक्षों के कमनीय-कुंजों में लीला करना, धेनु चराना, सुभद्रा-परिणय, शिशुपाल-वध, कंस-वध' राजसूय-यज्ञ में प्रस्थान, पांडवों का समय-समय पर साथ देना आदि। इस आख्यानात्मक कविता का 'कानन-कुसुम' में प्रकाशन हुआ। कविता सहज एवं सरल भाषा में आबद्ध है।

कामायनी

'कामायनी' महाकवि जयशंकर प्रसाद का महाकाव्य हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय रचना है। आधुनिक युग में इतनी समर्थ और सशक्त कोई दूसरी कृति नहीं है। छायावादी काव्य-धारा का यही एकमात्र प्रबन्ध-काव्य है। इसके कथानक का आधार अनेक ग्रंथों से लिया गया है। इसकी कथा का आधार मुख्यतः पुराण-ग्रंथ हैं। विष्णु-पुराण, 'ब्रह्म-पुराण' अग्नि-पुराण, श्रीमद्भागवत-पुराण, मत्स्य-पुराण, भविष्य-पुराण, पद्म-पुराण, स्कन्द-पुराण, वायु-पुराण, महाभारत, मार्कण्डेय-ब्रह्म-पुराण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, शतपथ-ब्राह्मण, तैत्तरीय ब्राह्मण, एतरेय ब्राह्मण, लिंग-पुराण, शिव-महिम्न स्तोत्र, शिव-पुराण, लिंग-पुराण तंत्रालोक व त्रिपुरा रहस्य आदि सभी ग्रंथों का कवि ने गहन अध्ययन किया और उसके पश्चात् इस महाकाव्य का सृजन किया। कामायनी में सर्गों के नाम इस प्रकार हैं—'चिन्ता' 'आशा' 'श्रद्धा' 'काम' 'वासना' 'लज्जा' 'कर्म' 'ईर्ष्या' 'इड़ा' 'स्वप्न' 'संघर्ष' 'निर्वेद' 'दर्शन' 'रहस्य' और आनन्द। इन १५ सर्गों वाले महाकाव्य में प्रसाद ने सृष्टि के रहस्य से आरम्भ करके मानव जीवन की समस्त वृत्तियों का प्रकाशन करते हुए उसे अनन्त-पथ की यात्रा की ओर ले जाकर आनन्द से तादात्म्य स्थापित कराया है। 'सुशीला भारती' ने कामायनी के संदर्भ में लिखा है:—'कामायनी प्रसाद की प्रौढ़ एवं श्रेष्ठ कृति है। जिसमें जीवन-सत्य और कला दोनों का अभूतपूर्व सामञ्जस्य है। चित्राधार से कामायनी तक की साहित्यिक यात्रा मानो प्रसाद की स्वतः की जीवन-यात्रा है। विवेक और प्रेम के छोरों से बंधा हुआ स्वानुभव मानसिक विकास के उस धरातल पर जा पहुँचा है, जहाँ से कवि मानव-मात्र को आनन्द प्राप्ति का अमर-संदेश दे रहा है।[1] महाकवि प्रसाद ने कामायनी में समस्त विश्व को जीने का विश्वास प्राप्त किया है, वह पीड़ाओं के आलिंगन के साथ सहज भाव से आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त हो जाता है:—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;

---

१. कामायनी—इतिहास और रूपक पृ० सं० ३२ द्वितीय संस्करण।

यही दुःख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कामायनी' के संदर्भ में उल्लेख किया है:—"किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत में प्रसादजी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है 'कामायनी'। इसमें उन्होंने अपने प्रिय 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमति की भूमिका बन कर की है। यह 'आनन्दवाद' बल्लभाचार्य के 'काय' या आनन्द के ढग का न होकर, तांत्रिकों और योगियों की अंतर्भूमि पद्धति पर है। प्राचीन जल-प्लावन के उपरांत मनु द्वारा मानवी सृष्टि के पुनर्विधान का आख्यान लेकर इस प्रबन्ध काव्य की रचना हुई है। काव्य का आधार है मनु का पहले श्रद्धा को फिर इड़ा को पत्नी रूप में ग्रहण करना तथा इड़ा को बंदिनी या सर्वथा अधीन बनाने का प्रयत्न करने पर देवताओं का उन पर कोप करना। 'रूपक' की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति है और इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मृदुता, प्रेम और करुणा का प्रवर्तन करने वाली और सच्चे आनन्द तक पहुँचने वाली चित्रित किया है। इड़ा या बुद्धि अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व्यवस्थाओं में प्रवृत्त करती हुई कर्मों में उलझाने वाली चित्रित की गई है।"[१] कामायनी के श्रद्धा सर्ग में श्रद्धा मनु को देख कर प्रश्न करती है—जो शून्यता को तोड़ कर उसे चैतन्य की ओर लेजाने का मंत्र-मुखर करता है—

कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर
तरङ्गों से फैंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक।[२]

कामायनी का प्रसाद केवल दार्शनिक विचार-धाराओं को लेकर ही नहीं बढ़ा है, साथ ही प्रतीकात्मक पात्र-योजना होने पर भी सरसता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आ पाया है। उसका मनु प्रकृति की रमणीयता में श्रद्धा को पाकर चैतन्य की स्थिति का बोध करता हुआ उसके अनिर्वचनीय शृंगार का रसास्वादन करता है। प्रसाद का शृंगार वस्तुतः नवीन दृष्टि एवं अनुपम उपमानों के साथ व्यक्त होता है। प्रसाद की श्रद्धा के सौंदर्य के प्रति दृष्टि देखिये—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल
२. कामायनी—श्रद्धा सर्ग-१

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग ॥[१]॥

कामायनी में क्या नहीं है ? जीवन के आरम्भ से लेकर अनन्त यात्रा तक का इतिहास है, अन्तर्मन के रहस्यों का प्रकाशन है, प्रकृति की दुरूह ग्रंथियों का विशद प्रस्फुटन है। कामायनी का प्रत्येक पद निगूढ़ता, सूक्ष्मता तथा अनुभूति से पूर्ण है। पं० इलाचन्द जोशी के शब्दों में—'हिन्दी में महाकाव्यों तथा खण्ड काव्यों की कमी नहीं है, पर एक तुलसीदासजी की रामायण को छोड़ कर और किसी भी ऐसे काव्य को हम विश्व-साहित्य के पारखियों के आगे पेश नहीं कर सकते थे जिसके सम्बन्ध में हम गर्व के साथ यह दावा कर सकते थे कि उसमें भी इस 'विश्व-कुहर' के इन्द्रजाल का मायावी पर कला की अन्तर्विदारिणी तथा मर्मभेदिनी क्षुरिका से आर-पार चीर डाला गया है, अथवा उसमें निखिल को उद्भासित करने वाले अमर-आलोक का निरञ्जनाभास अपूर्व निपुणता के साथ अभिव्यंजित हुआ है। कामायनी की रचना मानवात्मा की उस चिरन्तर पुकार को लेकर हुई है जो मानव मन में आदिकाल से जड़ीभूत अन्ध-तमिस्रपुञ्ज का विदारण कर जीवन के नव-नव वैचित्र्यपूर्ण आलोक पंथों से होते हुए अन्त में चिर-अमर आनन्दाभास के अन्वेषण की आकांक्षा से व्याकुल है।[२] कवि ने कामायनी में जीवन सत्य के दर्शन किये हैं। जीवन के कटु सत्य से परिचित होने पर भी उसमें निराशा के भाव जन्म नहीं ले सके अपितु वह विजय की आकांक्षा में उत्कण्ठित होता हुआ यही कहता है:—

डरो मत अरे अमृत-संतान !
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि।
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आयेगी सकल समृद्धि।

कवि सम्पूर्ण मानवता को आश्वस्त करता हुआ विकास-पथ की ओर अग्रसर होता है। मानवता को विजयिनी बनाता हुआ आगे बढ़ता है लेकिन इस मंगलमय कामना की अपूर्ति भी हमें प्रसाद-साहित्य में देखने को मिलती है।

जीवन निशीथ के अन्धकार !
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार।
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार।
यौवन मधुवन की कालिंदी वह रही चूम कर सब दिगन्त।

---

१. वही कामायनी—श्रद्धा सर्ग–७
२. काव्य कलना—गंगाप्रसाद पांडेय पृ० सं० ७६, प्रकाशक छात्रहितकारी पुस्तकमाला

मन शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त।
कुहुकिन अपलक दृग के अंजन हँसती तुझमें सुन्दर छलना।
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव कलना।
इस चिर-प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार।
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

कामायनी में जीवन दर्शन के संदर्भ में डा० देवीप्रसाद गुप्त लिखते हैं—"कामायनी' वर्तमान युग की सर्वोत्कृष्ट कृति है। प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकृति का निर्माण किसी न किसी सद्प्रेरणा का परिणाम होता है। महाकाव्यों का निर्माण तो निश्चय ही महती सृजन-प्रेरणा के परिणाम स्वरूप होता है। 'कामायनी' की काव्य-कला और जीवन-दर्शन के ही महत् रूप को देखकर यह स्पष्ट आभास होता है कि इस काव्य की रचना किसी बलवती सृजन-प्रेरणा का ही परिणाम है। 'कामायनी' के आमुख में कवि द्वारा किये गये संकेतों से यह प्रतीत होता है कि कामायनी की सृजन-प्रेरणा के मूल में प्रसादजी की प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रति अनन्य निष्ठा और प्राचीन इतिहास के प्रति प्रेम का भाव निहित है। यही नहीं, कामायनी की रचना अन्य अनेक युगीन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप भी हुई है। 'कामायनी' का कवि एक व्यापक जीवन-दर्शन से प्रभावित था। भारतीय साहित्य संस्कृति, इतिहास एवं दर्शन के अध्ययन द्वारा उसने जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण स्थिर किया है, वह था आनन्दवाद।"[1]

कामायनी का सर्वाधिक प्रधान लक्ष्य मानवता को अतिबुद्धिवादिता के दुष्चक्रों एवं वैज्ञानिकता की विद्रूपता से बचाने का सद्प्रयास किया गया है संत्रस्त मानव-चेतना को सुख-दुःख की पीड़ामय घाटियों से ऊपर की ओर जहाँ केवल आनन्द है—वहाँ लेजाने के लिए आग्रह शील है। कामायनी का प्रतीक पात्र मनु श्रद्धा को त्याग कर इड़ा के सन्निकट चला जाता है किन्तु वहाँ देव प्रकोप के कारण वह शापमय जीवन जीने के लिए विवश हो उठता है। श्रद्धा का पुनः मिलन होता है और वह अन्त में इस संसार की समस्त यातनाओं से विलग होकर कैलाश की ओर चल पड़ती है। कविवर प्रसादजी ने यहाँ कामायनी कृति में शैव-दर्शन के सिद्धान्तों की पुष्टि की है—और वे मानव-मन को एक अज्ञात लोक की ओर ले जाने के लिए आग्रहशील हो उठते हैं। जीव, जगत एवं ब्रह्म के संदर्भ में विशद् विवेचना करते हुए वे आनन्द लोक की ओर चल पड़ते हैं—जहाँ समस्त पीड़ायें आनन्द में परिवर्तित हो उठती हैं।

---

१. आधुनिक हिन्दी महाकाव्य पृ० सं० २१८ पंचशील प्रकाशन जयपुर प्रथम संस्करण

जहां क्षणभंगुरता की स्थितियों का अवसान हो जाता है और मानव-मन साधनामय होकर जीने का सहज-क्रम प्राप्त करता है। उस शान्त प्रदेश के लिए कवि श्रद्धा के मुख से कहलाता है:—

बोली, 'हम जहाँ चलें हैं
वह है जगती का पावन—
साधना-प्रदेश किसी का
शीतल अति शांत-तपोवन।

प्रसादजी का वह संसार ऐसा है—जहाँ न कोई श्राप से विदग्ध है और न कोई पापाचरण से व्यथित ही। जहाँ समानता है और समरसता की स्वानुभूति है:—

शापित न यहाँ है कोई
तापित न पापी यहाँ हैं,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि यहाँ है।

इस संसार में मानवता अपने ही सुख व दुःखों से आपूरित है, अपने ही कर्मों और विचारधाराओं से संत्रस्त है। यहाँ आकर मन संसार की विसंगतियों को तोड़ता हुआ विराट सत्य के दर्शन से आप्यायित हो उठता है:—

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु-मंगल,
यह सत्य सतत चिर-सुन्दर।

अद्वैतवाद की विचारधारा में जीता हुआ कवि दार्शनिक उलझन को सहज में सुलझाता हुआ जीव और ब्रह्म की सहज-स्थिति को व्यक्त कर देता है—

अपना ही अणु अणु कण-कण
द्वयता ही तो विस्मृति है

मानव मन का अहं ही सभी विसगतियों का मूल है। 'यह मेरा है'—यही ममत्व उसके दुःखों का कारण है और यही वृत्तियाँ उसे इस क्षण भंगुर संसार में दुखान्त अनुभूतियाँ झेलने को जन्म देती हैं, यदि वह विराट चैतन्य से सम्पृक्त होकर संकीर्ण दायरे तोड़ दे तो यह संसार उसके लिए पीड़ा जन्य नहीं है अन्यथा—

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं हूं'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

कामायनी मानवीय-चेतना के विकास की कथा है। मानव-सृष्टि-प्रक्रिया का एक अनुपम इतिहास है। ऐहिक-स्थितियों से भिन्न मानव को एवं नव-दिशा देने का सफल प्रयास है।

डा० नगेन्द्र ने कामायनी के संदर्भ में लिखा है:—"कामायनी का महाकाव्य असंदिग्ध है। परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था, अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र—दोनों में से किसी एक के भी लक्षणों का पूर्ण निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्तत्व कामायनी में स्पष्टत: विद्यमान हैं—केवल एक ही त्रुटि है: वह है कार्य-व्यापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप कथा में वांछित भौतिक विस्तार नहीं आ सका। क्योंकि कामायनी का वस्तु-विकास बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है, वह मानव-चेतना से विकास की कथा है जो मनु के जीवन-विकास के माध्यम से कही गई है, अतः साधारणीकरण के लिए यहाँ कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है जिनके द्वारा मनु मानव-चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य, ऐहिक जीवन प्रधान महाकाव्य की कोटि में कामायनी नहीं आती हैं। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है, मानव-चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक तत्व जो सामान्यत: महाकाव्य में बाधक होता है, यहाँ साधक बन कर आया है, इसलिए प्रगीत तत्व भी यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अद्भुत उपलब्धि है। इसी रूप में यह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के समन्वय के कारण-कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण है।"[1]

यद्यपि प्रसादजी ने परम्परा के प्रति विद्रोह करते हुए कामायनी महाकाव्य का सृजन किया है किन्तु शास्त्रीय-परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया है, यह बात अवश्य है कि उन्होंने शास्त्रीय-परम्परा को भी एक अभिनव दृष्टि से सम्पृक्त किया है। इति-वृत्तात्मका की स्थिति से हट कर प्रतीकात्मक पद्धति का अनुसरण किया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि उन्होंने शास्त्रीय परम्पराओं के प्रति विद्रोह किया हो अपितु प्रसादजी ने रूढ़िबद्धता को तोड़ने की सफल चेष्टा की है। शास्त्रीय-परम्पराओं के अनुसार कामायनी एक सफल महाकाव्य है।

महाकाव्य के सिद्धान्तों के संदर्भ में पौर्वात्य एवं पाश्चात्यों के विभिन्न मत-

---

१. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ—कामायनी का महाकाव्यत्व पृ.सं. २४५
—राधाकृष्ण प्रकाशन—छात्र संस्करण १९६६

मतान्तर हैं। भारतीय प्राचीन आचार्यों के अनुसार महाकाव्य की परिभाषा बंधी हुई है आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है :

"छन्दोवद्धपदं पद्यम'[1]

भामह, दण्डी, रूद्रट, हेमचन्द्र व विश्वनाथ आदि आचार्यों ने महाकाव्य की विषद् परिभाषायें की हैं।

महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिये।

नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण होना चाहिये।

महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक होनी चाहिये।

महाकाव्य का नायक उदात्त-गुणों से अन्वित होना चाहिये।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में महाकाव्य का लक्षण लिखते हुए विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिये, आरम्भ में मंगलाचरण होना चाहिये, कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होनी चाहिये तथा उदात्त नायक की परिकल्पना की जानी चाहिये। प्रकृति चित्रण में नगर, समुद्र, पर्वत, चन्द्रसूर्योदय, उद्यान वर्णनादिक होने चाहिये। रस निर्वहण व अलंकारों का चित्रण भी होना चाहिये।[2]

---

१. साहित्यदर्पण ६।३१४

२. सर्गबन्धो महाकाव्यं उच्यते तस्य लक्षणम् ।।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्जफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णव शैलस्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनैः ।
उद्यान सलिल-क्रीडा मधुपान रतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मंत्रदूत-प्रयाणानि नायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव-निरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसंधिभि :
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति ।।
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद् विदः ।।
— दण्डी, काव्यादर्श परि० १, १४, २०,

काव्यालंकार कार ने भी दण्डी के काव्य लक्षण के अनुसार ही अपने काव्य लक्षण को व्यक्त किया है। इसके अनुसार काव्य सर्गवद्ध होना चाहिये। पांच संधियों के समावेश को भी आवश्यक माना है, तथा चतुर्वर्ग की सिद्धि के हित साधनों के समावेश का संकेत भी दिया है।[१]

आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षण के संदर्भ में विशद् विवेचना करते हुए कहा है कि सर्गवद्ध महाकाव्य का नायक सद्वंशोत्पन्न तथा धीरोदात्त होना चाहिये तथा शृंगार, वीर व शांत रस में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिये। आठ सर्ग से कम नहीं होने चाहिये। पूर्व सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा का संकेत होना भी आवश्यक कहा गया हैं। प्रकृति-चित्रण को विश्वनाथ ने भी आवश्यक माना है। सर्गों के नामकरण का उल्लेख भी किया गया है तथा वृत्तियों के समावेश का भी संकेत दिया गया है।[२]

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च तत्।
अग्राम्य शब्दमर्थ्यं च मालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूत प्रयाणानि नायका स्युदयञ्च यत्।
पंचभि: सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येय मृद्धियत्।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूय: सार्थोपदेशकृत।
युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलै: पृथक
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥—काव्यालंकार, परि० १-१९-२२

२ सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर:।
सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्त-गुणान्वित:।
एक वंशभवा भूपा कुलजा बह्वोऽपि वा।
शृंगार-वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रसा: इष्यते।
अगानि सर्वेऽपि रसा: सर्वे नाटक-संधय:।
इतिहासोद्भूवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गा: स्युतेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौनमस्क्रिया शीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एक वृत्तमयै: पद्यै रव सानेन्य – वृत्तकै:।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह॥
नाना वृत्तमय: क्वापि सर्ग: कश्चन दृश्यते।
सर्गान्तेभाविसर्गस्य कथाया: सूचनं भवेत्।
संध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्त वासरा:।
प्रातर्मध्यान्ह मृगया शैलर्तु वन सागरा:।
संभोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा:।
रण प्रयाणोपमयममन्त्र— पुत्रोदयादय:।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाना नायकेतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्ग नाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुन: सर्गा भवन्त्याख्यान— संज्ञका:॥ – साहित्यदर्पण ६—३१५।२५

संस्कृत के आचार्य प्रायः इसी प्रकार महाकाव्य के लक्षण मानते हैं यदि किसी प्रकार का अन्तर है तो केवल इतना कि कुछ न्यूनता या आधिक्य का समावेश हैं, खंडन नहीं।

आधुनिक साहित्य विवेचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन सभी लक्षणों का तीन ही लक्षणों में समावेश कर लिया हैं।[1]

बाबू गुलाबराय के अनुसार महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार होगी — "महाकाव्य वह विषयप्रधान काव्य है जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्‌घाटन किया जाता है।

डा० नगेन्द्र ने महाकाव्य के लक्षण के संदर्भ में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहा है कि—"मैं महाकाव्य के उन्हीं मूल तत्वों को लेकर चलूँगा जो देशकाल सापेक्ष नहीं है, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। ये मूल तत्व हैं :—

(१) उदात्त कथानक।
(२) उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य।
(३) उदात्त चरित्र।
(४) उदात्त भाव और उदात्त शैली अर्थात् औदात्त ही महाकाव्य का प्राण है।"

इन सभी काव्य लक्षणों की ओर विचार करते हुए हम 'कामायनी' महाकाव्य की समीक्षा करने लगें तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'कामायनी'; महाकाव्य शास्त्रीय परम्परा से पूर्णतः आवद्ध हैं।

कामायनी सर्गवद्ध महाकाव्य है। १५ सर्गों में विभक्त कथानक ऐतिहासिक है तथा नायक भी उदात्त चरित्र से युक्त है। सर्गों के नामकरण में भी नवीनता का समावेश है। कामायनी रचना का उद्देश्य भी उदात्त है—जो सम्पूर्ण विश्व की

---

१. महाकाव्य के तीन प्रमुख लक्षण माने जा सकते हैं। प्रथम रचना का प्रबन्धात्मक या सर्गवद्ध होना। द्वितीय उसकी शैली का गाम्भीर्य और तृतीय उसमें वर्णित विषय की व्यापकता और महत्व। इनके अतिरिक्त भी अन्य उपनियम हो सकते हैं, किन्तु मैं उनका समावेश इन्हीं तीन लक्षणों में करना चाहूंगा।" —'आधुनिक-साहित्य-पृ० सं० १०६ व १०७'

मानवता को विजयिनी बनाने के लिए संकल्पशील है। डा० नगेन्द्र की मान्यता के अनुसार कामायनी कृति में उदात्तता परिपाक अवस्था में लक्षित होती है अतः यह एक सफल महाकाव्य कहा जा सकता हैं। संतप्त मानवता को आनन्द की दिशा में ले जाने का महान कार्य प्रसादजी ने किया है। प्रसादजी ने विश्वबन्धुत्व व भेद-भाव-समाप्ति की ओर संकेत करते हुए सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में रखते हुए समता-वाद को स्पष्ट किया है। मनु कहते हैं :—

मनु ने कुछ मुसक्याकर
कैलाश ओर दिखलाया;
बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।[1]

यहां आकर अद्वैत की भावना जन्म ले लेती है तथा द्वेषादि सभी भाव विस्मृत कर एकात्मवाद की स्थिति को स्पष्ट करते हुए मनु से कहलाते हैं :—

हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ कमी नहीं है।[2]

कामायनी में प्रमुखतया शान्त रस है, सहायक रसों में शृंगार, वात्सल्य, करुण भयानक, बीभत्स एवं वीरादि हैं। 'निर्वेद' सर्ग ही शान्त रस के प्रतिपादन के निमित्त सृजित हुआ है। यथा :—

विश्व कि जिसमें दुःख की आंधी
पीड़ा की लहरी उठती,
जिसमें जीवन मरण बना था
बुद बुद की माया नचती।[3]

वात्सल्य रस का चित्रण भी प्रसादजी ने सफलता के साथ किया है, श्रद्धा कहती है :—

झूले पर उसे झुलाऊँगी,
दुलरा कर लूँगी बदन चूम;
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।[4]

---

१. कामायनी—आनन्दसर्ग पृ० सं० २९५
२. आनन्द सर्ग—पृ० सं० ८७
३. निर्वेद सर्ग (कामायनी) पृ० सं० २३१
४. ईर्ष्या " " १६०

वियोग शृंगार[1] वीभत्स[2] भयानक[3] व करुण[4] रस का सक्षमता के साथ सहज निर्वाह हुआ है। कामायनी में अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष व रूपकादिक अलंकारों का स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है। महाकाव्य में ताटंक, रूपमाला व पादाकुलक छन्दों का प्रयोग हुआ है, प्रसादजी ने नवीन छंदों को भी जन्म दिया है। भाषा आलंकारिक व सस्कृत निष्ठ हैं, कहीं कहीं दोषों का भी समावेश हो गया है किन्तु वे अखरते नहीं हैं।

कामायनी हिन्दी महाकाव्य-परम्परा में अपना सर्वोच्च स्थान रखती है।

गीति-काव्य:—

श्री जयशंकरप्रसाद नेस्वतंत्र रूप से गीत भी लिखे किन्तु उनके नाटकों में भी गीति-काव्य का सृजन हुआ है। उन गीतों में कवि ने अपनी समस्त अनुभूतियों को उतारना चाहा है, निसर्गत: ये गीत भाषाभिव्यंजना की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के उत्कृष्ट गीन कहे जायेंगें। 'चन्द्रगुप्त' 'स्कन्दगुप्त' ध्रुवस्वामिनी, विशाख, 'राज्यश्री' और कामना आदि रूपकों में यथोचित स्थानों पर पात्रों के माध्यम से अपने हृदय को कलात्मक रूप से सहज व्यक्त किया है। प्रसादजी में गीत-लिखने की उर्वरा प्रतिभा थी— और इसी प्रतिभा के माध्यम से 'आँसू' व 'लहर' में भाव-प्रवणता का समावेश हुआ है। नाट्य-गीत होते हुए भी उनके काव्यत्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आ पाई है, क्योंकि प्रसादजी नाटककार होने से पूर्व कवि रहे हैं। नाट्य-गीत विविध-विषयक हैं, कहीं भक्ति की मधुर रागिनी है तो कहीं प्रणय का सुमधुर निनाद, कहीं संयोग और वियोग की भाव स्थिति तो कहीं चिन्तन के अनुपम व गहन चित्रों की चित्रस्थिति, कहीं प्रतीक-गीतों की सृजन-स्थिति तो कहीं करुणा का अजस्र प्रवाह, कहीं पीड़ा के ढुलकते अश्रुकण तो कहीं राष्ट्रीय एवं उपदेशात्मक स्वर! प्रसादजी ने विशाख में समस्त-संसार की कल्याण भावना को चाहते हुए 'सर्वे सुखिन: सन्तु' की परिकल्पना की है।[5] इसी प्रकार राज्यश्री के भरत-वाक्य में सम्पूर्ण मानवता की सुख शान्ति

---

१. स्वप्न (कामायनी) पृ० सं० १७८
२. कर्म ,, ,, ११६
३. स्वप्न ,, ,, १८५
४. चिन्ता ,, ,, १५
५. दीन दुखी न रहे कोई,
सुखी हों सब लोग।
देश समृद्धि प्रपूरित हो—जनता नीरोग।
कूट-नीति टूटे जगमें—सबमें सहयोग।
भूप-प्रजा समदर्शी हो—तज कर सब ढोंग। विशाख पृ० सं० ८८।

एवं प्रेमशील व्यवहार के लिए कामना करते हैं।[१] सौन्दर्याभिव्यक्ति का मनोरम गीत चन्द्रगुप्त में सुवासिनी ने गाया है।[२] प्रसादजी के गीतों में सौन्दर्य व भावप्रवणता का चिन्तन के साथ अपूर्व सामञ्जस्य है। प्रणय, यौवन उन्माद, व सौंन्दर्य के गीत प्रसादजी ने नाटकों में सफलता के साथ चित्रित किये हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक में कोमा अपने हृदय का अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत करते हुए कहती है।[३] यौवन का समागम चंचलता लिए हुए है, इसके मधु-रस का आस्वादनकरना ही सुखकर है। यह चाहे पागलपन की मौसम ही हो किन्तुप्रणय करने के सजीव क्षण हैं। इन यौवन के दिनों में मन स्वत: ही सौन्दर्य-कामना के लिए आग्रहशील हो उठता है और इस प्रणय की कसक में एक अजीब से सुख की अनुभूति होने लगती है। 'विशाख' में चन्द्रलेखा वृक्षों के नीचे.विश्राम करती हुई इस सुख के संदर्भ में कहती है कि सखि ! सुख किसे कहते हैं।[१] जीवन के वसन्तमय दिवस

---

१. करूणा कादम्बिनी वरसे—
दु:ख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम-प्रचार रहे जगतीतल दयादान दरसे।
मिटे कलह शुभ शांति प्रकट हो अचर और चर से।
राज्यश्री—पृ० सं० ८२।

२. तुम कनक-किरन के अन्तराल में
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रसकन ढ़रते,
हे लाज भरे सौंदर्य ! बतादो
मौन बने रहते क्यों ?
अधरों के मधुर-कगारों में
कल-कल-ध्वनि गुंजारों में,
मधु-सरिता-सी यह हंसी तरल
अपनी पीते रहते हो क्यों ?—चन्द्रगुप्त नाटक (सुवासिनी)

३. यौवन तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूंट भर पी लूं, जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बन कर कब तू छली समाया।
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पलभर रुकने वाले ! कह तू पथिक ! कहाँ से आया।
—ध्रुवस्वामिनी—पृ० ३७

व्यतीत होते जा रहे हैं, उम्र ढलान की ओर लुढ़कती जारही है, यौवन अपनी सीमा की ओर बढ़ रहा है, फिर भी चन्द्रलेखा का मन मानवीय-प्रवृत्तियों के विश्लेषण में सुख का अन्वेषण करने के लिए आतुर है। वह निश्वास के साथ अपने भाव व्यक्त करते हुए कह रही है—यह उम्र दुःख सहते-सहते व्यतीत हो जायगी और जीवन सुख के क्या दर्शन भी नहीं हो पायेंगे। यह संसार अत्यन्त निर्मम है, यहाँ कठोर हृदय वाले रहते हैं। दूसरी ओर इसी विशाख नाटक में वैभवपूर्ण जीवन जीते हुए नृपतियों के विलास का सम्यक चित्रण हुआ है। राज-प्रसाद में नर्तकियाँ उन्माद भरे मधुर गीत गाकर यौवन की सरसता के भाव अभिव्यंजित करती हुई कहती हैं— आज यौवन पुष्प खिल उठा है मधु-मकरन्द पीकर उन्मत हो जा![2] सम्पूर्ण प्रकृति ही यौवन को पाकर विलसित हो उठती है, झरने मधुर निनाद करने लगते हैं, पुष्प मकरन्द ढुलकाने लगते हैं पवन भी उन्मत्त हो उठता है। प्रेम किसे उन्मत्त नहीं बना देता है? विशाख का एक साधु विरक्त भाव को जीता हुआ भी आसक्ति की बात करता है—'उसे प्रेम के प्रभाव ने पागल बना दिया है, सब को ममत्व मोह का आसव पिला दिया है। प्रणय के दोनों पहलुओं पर कवि ने सफल भावाभिव्यक्ति की है, प्रसाद के स्त्री पात्र पीड़ा के प्रतीक हैं। कभी शृंगार के संयोग पक्ष की मादकता व आनन्द स्थिति तो कभी विरह की मर्मान्तिक पीड़ा इन गीतों में उभर कर आई है। मन्दाकिनी जो प्रणय-पीर से व्यथित हुई गूंगी वेदना को लेकर जी रही है, उसे अपने कर्तव्य पालन के लिए हजारों कसक जीने को विवश होना पड़ा है। वह अपनी भावनाओं को बहलाते हुए कहती है 'यह कसक अरे मेरे आँसू सहजा!'[3] वह अपने प्रेम की नीरव-गाथा सुनने के लिए आग्रहशील है,

---

१. सखी री! सुख किसको हैं कहतें?
बीत रहा है जीवन सारा केवल दुःख ही सहते।
करुणा, कान्त कल्पना है बस, दया न पड़ी दिखाई।
निर्दय जगत, कठोर हृदय, है और कहीं चल रहते।
—विशाख पृ० सं०—१३

२. आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला!
शीतल-निभृत-प्रभात में, बैठ हृदय के कुञ्ज,
कोकिल-कलरव कर रहा, बरसाता सुख-पुंज। —विशाख पृ० सं० २६

३. यह कसक अरे आँसू सहजा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कहजा।
करुणा बन दुखिया वसुधापर
शीतलता फैलाता बहजा। —मन्दाकिनी।—ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० २१

अपनी पीड़ा के लिए करुणा-याचना चाहती है। स्कन्दगुप्त में नर्तकियाँ यौवन के बीते दिनों की स्मृतियों के संदर्भ में कहती हैं—कोकिल ! उन तारों को न खेंचो जिनसे नस-नस में उन्माद की सिहरन दौड़ जाये।[1] कोकिल के प्रति रूप में प्रेम की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उससे संकल्प न तोड़ने का आग्रह कर रही हैं।[2]

प्रसादजी ने अपने नाट्य-गीतों में प्रकृति-चित्रण और उसका मानवीकरण, अमूर्त से मूर्त की कल्पना, अव्यक्त से व्यक्त की ओर संचेतना का आग्रह, किया है। प्रसादजी स्वभावतः प्रकृति-प्रेमी रहे हैं, उन्होंने प्रकृति के माध्यम से जीवन की सुन्दर व अन्तर्मुखी व्याख्या की है। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों और भावनाओं का प्रकाशन प्रकृति के माध्यम से किया गया है, जीव, जगत् और ब्रह्म की सत्ता का विशद विवेचन भी प्रकृति के मधुर अंगों में देखा है। प्रसादजी ने नाट्य-गीतों में प्रकृति के माध्यम से सौन्दर्य, यौवन, उन्माद विलास एवं आध्यात्मिक वृत्तियों का व्यक्तिकरण हुआ है। ध्रुवस्वामिनी नाटिका में नर्तकियाँ प्रकृति में यौवन-वसन्त के दृश्य देखती हुई गाती हैं—अस्ताचल के शिखर पर संध्या-सुन्दरी की अलकें लहरने लगी हैं, चारों ओर मादक धारा का प्रवाह बहने लगा है।[3] स्कन्दगुप्त के गीतों में प्रकृति के आभ्यन्तर अपने प्रियतम को खोजने की जिज्ञासा के सहज दर्शन होते हैं। देवसेना शून्य-जगत में

---

१ न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिचे हुए वीन-तार कोकिल,
करुण रागिनी तड़फ उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल,
—स्कन्दगुप्त पृ० सं० १९

२. न खोज पागल मधुर प्रेम को,
न तोड़ना और के नेम को,
बचा विरह के क्षेत्र को
कुचाल अपनी सुधार कोकिल !

३. अस्ताचल पर युवती संध्या की खुली अलक घुंघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है।
भरली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली है।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
—ध्रुवस्वामिनी पृ० ४०-४१

अपने प्रिय को पाने की लालसा से कहती है ।[1] प्रसादजी ने प्रकृति को अपने में आत्म-सात करते हुए प्रत्येक अणु-अणु को जीवन्त दृष्टि से देखा है ।

प्रसादजी का राष्ट्र-प्रेम उनके नाटकों में स्फूर्त-चेतना तथा उद्घोष के साथ उभर कर आया है । सम-सामयिक राष्ट्रीय-आन्दोलनों और स्थितियों का प्रसादजी पर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित है । प्रसादजी ने एक ओर सैनिकों को उद्बोधन दिया तथा दूसरी ओर देश की दयनीय दशा के प्रति अपने भगवान से करूण-स्वर में निवेदन भी करता है । भक्तिकालीन कवियों की तरह ईश्वर पर निर्भर नहीं रहना चाहता है, अपितु कर्मजयी भावनाओं से ओत-प्रोत होकर एक नई दिशा प्रदान करता है । भाग्य-भरोसे जीने वाले युवक कभी प्रगतिशील नहीं हो सकते हैं और न वे राष्ट्र के हित-चिन्तक ही । युवकों के दैन्य के प्रति ईश से अनुरोध करता हुआ कवि कहता है कि देश की दुर्दशा पर विचार कीजिये ।[2]

ध्रुवस्वामिनी नाटिका में कर्तव्यशील युवकों के प्रति मन्दाकिनी का उद्घोष-स्वर ! रण-वाहिनी के स्फूर्त यौवन और संकल्प में स्वयं क्रान्ति संचरण करती हैं । नाना विपदाओं से संत्रस्त पथ पर भी पथिक अपने संकल्प के जीवट पर हर क्षण

---

१. शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर-प्रकाश ।
हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौनसा तुझमें,
मचलता है बता क्या दूँ, छिपा तुझसे न कुछ मुझ में ।
—स्कन्दगुप्त पृ० सं०—१३३

२. देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे ।
हारते ही रहे हैं न है कुछ अब
दाँव पर आपको न हारोगे ।
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर
दीन हो दैव को पुकारोगे ।
सो रहे तुम न भाग्य सोता है
आप बिगड़ी तुम्हीं संवारोगे ।
दीन जीवन बिता रहे अब तक
क्या हुए जा रहे विचारोगे ।
—स्कन्दगुप्त-१४०

प्रगतिशील रहता है।[१] कवि को अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धावान और उसके गौरवमय स्वर्णिम अतीत के प्रति निष्ठावान तथा स्वाभिमानी हैं। 'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के अनुसार कवि प्रसाद को भी अपना राष्ट्र विश्व में अनुपम लगा है। अपने भारत के अतीत पृष्ठों को दोहराता हुआ प्रकृति नटी के द्वारा अभिनन्दन की सूचना देता है। यह राष्ट्र विश्व को तिमिर-पथ से हटाकर आलोक की किरणें बांटने वाला है, इसके मानस में प्रेम, दया, शान्ति, करूणा व धर्म हिलोरे लेता रहा है। मानवता को कल्याणकारी नव-सदेश देने में समर्थ यह राष्ट्र किसके लिए अभिनन्दनीय नहीं है? स्वातंत्र्य आंदोलन की अन्तश्चेतना को जागृत करता हुआ कवि यही कहता है हम उसी आर्य-परम्परा के वंशज हैं, हम में वैसे ही साहस और शक्ति के विद्युत्कण है:—हम उसी अभिमान के सदर्भ में जी कर उन सूत्रों को दोह-

---

१. पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बे मेल चलें।
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे।
तब भी गिरिपथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चलें।
—मन्दाकिनी। —ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ३४

हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हंस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार,
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
× × × ×
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर-घूम।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं।
× × × ×
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान,
वही है शान्ति, वहीं है शक्ति वही हम दिव्य आर्य-सन्तान।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।।
—स्कन्दगुप्त — १४४–१४५

रायें ।[1] युवकों की टोली को एवं स्फूर्त संचेतना का उद्‌घोष-गीत प्रसादजी का सदैव अमर रहेगा—हिमाद्रि तुंग श्रृंग से"—बढ़े चलो ! बढ़े चलो ।

प्रसादजी के नाटकों में भक्ति विषयक गीत भी हैं । भक्ति के विविध रूप इन नाटकों में देखने को मिलते हैं । भक्ति की प्रार्थना से लेकर साधना के पथ तक विस्तार हमें दिखाई देता है । प्रसाद-गीति-साहित्य में नवधा-भक्ति के रूप लक्षित होते हैं । सत्रस्त व्यथा का स्वर भगवान को ही एकमात्र रक्षक मानता हुआ प्रार्थना करने लगता है । 'स्कन्दगुप्त' नाटक में मानवता के प्रति अनाचारों से पीड़ित होकर यही स्वर उद्भासित हुआ है—हे प्रभो ! इस संसार पर जो पीड़ा का भार बढ़ गया है—उसे हल्का करने के लिए आप कब अवतार लेंगे ? गीता का मुख्य-सूत्र 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति तदा' के अनुसार प्रसाद का कवि भी अपने प्रभु से मानवता के उद्धार के लिए प्रार्थना करता है । सम्पूर्ण दायित्व ईश्वरपर ही छोड़ कर स्वयं निश्चित होना चाहता है[2] संत्रस्त जनता का ईश्वर के प्रति विश्वास में भ्रांति का

---

१. हिमाद्रि तुंग-श्रृंग से
प्रवुद्ध – शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अमर्त्य-वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोचलो,
प्रशस्त पुण्यपंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो ।
असख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण-दिव्य-दाहसी
सपूत-मातृ-भूमिके
रूको न शूर-साहसी
अराती-सैन्य-सिन्धु में सुवाडवाग्नि से जलो ।
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो ।

२. उतारोगे अब कब भू-भार ।
बार-बार क्यों कह रक्खा था लूंगा मैं अवतार,
उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार,
× × × ×
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण-प्रचार,
पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार,
सावधान हो अब तुम जानों मैं तो चुका पुकार ।

—स्कन्दगुप्त । ३८

जन्म लेना सहज है—इस पर भी प्रसादजी का ध्यान गया है।[1] प्रसाद का भक्ति-विषयक-कितना नाट्य-गीतों में तीव्रता, अन्तर्द्वन्द्व, एवं विश्वास के सूत्र लिए हुए हैं। वे विश्वास को ही सत्ता स्वीकारने लगते हैं। श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' अथवा यादृशी भावना तादृशी सिद्धिर्भवति'—के अनुसार प्रसादजी का कवि भी उस 'अस्ति' में आस्थावान है। वह अपने जगन्नियन्ता की महत्ता को प्रतिपादित करता हुआ स्कन्दगुप्त नाटक में कहता है—यदि प्रभु के प्रति हमारी गहन निष्ठा और आत्मिक विश्वास रहेगा तो निश्चय ही हम आनन्दित जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकेंगे। उस सत्ता में विश्वास रखने पर सभी विपदायें स्वतः ही निर्मूल हो जाती हैं।[2] जीवन-मृत्यु के अन्तर्द्वन्द्व में भ्रमित होते हुए मुक्ति-भावना को जन्म देता है।[3]

प्रसादजी के गीतों में एक नई प्रेरणा और उपदेशात्मक प्रवृत्ति के दर्शन भी

---

१. हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो ?
हमारे दीन के सम्बल कहां हो ?
नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या ?
सुना केवल यहा हो या वहां हो !

—स्कन्दगुप्त । ३६

२. पालना बने प्रलय की लहरें।
शीतल हो ज्वाला की आँधी
करुणा के घन फहरें।
दया दुलार करे. पल भर की—
विपदा पास न ठहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य तो—
सुख का केतन फहरे।

—स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६१–६२

३. भावनिधि में लहरियाँ उठती तभी
भूल कर भी जब स्मरण होता कभी।
मधुर मुरली फूंक दी तुमने भला
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।

× × ×

कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह
यह समस्या हल न होगी क्या कभी

—स्कन्दगुप्त पृ० सं० १०८

होते हैं। विशाख के अनेक गीत केवल उपदेशात्मक ही हैं। 'विशाख' का एक पात्र अपने शिष्य के लिए आदर्श-पथ प्रस्तुत कर रहा है :—'संसार के आनन्द में ही आनन्द है, केवल व्यष्टि-आनन्द से कोई सुखी नहीं है, समष्टि के सुख:दु:खों की अनुभूति में आत्मानुभूति है और आत्मानुभूति ही जगदानुभूति है। अहं का परित्यागकर समष्टि के सुख की कल्पना में जी।'[१] इसी प्रकार इस संसार के विषमताओं भरे वातावरण में संत्रस्त न होना और न किसी दूसरे को ही पीड़ित करना, सत्यपक्ष का समर्थन करते हुए कर्तव्य-मार्ग पर दृढ़ता के साथ बढ़ना ही श्रेयस्कर है।[२]

प्रसादजी के कवि ने सामाजिक-रूढ़ियों के विरोध में भी अपने स्वर उद्घोषित किये हैं। सहजस्वर में—चाँदी-सोने के गहनों की मोहान्धता का चित्रण कर दिया है।[3] प्रसादजी ने ईश्वरत्व सम्बन्धी मान्यताओं के संदर्भ में मानवतावाद को ही सर्वोच्च स्थान दिया है जिसके हृदय में करुणा का सागर छलकता हो—वही पूर्वकाम और ईश्वर है।[४]

---

१. मना आनन्द मत. कोई दु:खी है।
सुखी संसार है तो तू सुखी है।
न कर तू गर्व औरों को दबाकर
कठिनता से दबाकर तू दुखी है। —विशाख पृ० सं० ३५

२. घबराना मत इस विचित्र संसार से।
औरों को आतंक न हो अविचार से।
कभी न हो आनन्द कोश में, पूर्ण हो।
कहीं न चालों में (ड़ कोई चूर्ण हो।
सीधी राह पकड़ कर सीधे चले चलो।
छले न जाओ, औरों को भी मत छलो।
निर्बल भी हो, सत्य पक्ष मत छोड़ना।
शुचिता से इस कुहुक जाल को तोड़ना। —विशाख—पृ० सं० ३८

३. लगादो गहने का बाजार।
कुछ है चिंता नहीं और क्या, मिले नहीं आहार।
नाक छेद लो, कान छेदलो, किसको अस्वीकार।
सोना चांदी, उनमें डालो, तब हो पूरा प्यार।
—विशाख पृ० सं० ४१

४. नर हो या किन्नर कोई हो निर्बल या बलवान,
किन्तु कोश करुणा का जिसका हो पूरा दे दान।
मान लूं क्यों न उसे भगवान। —विशाख-६३

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी के नाट्य-गीत साहित्यिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखने योग्य हैं। इन गीतों में बाह्य एव अन्तर्मन के भावों की अभिव्यंजना सफलता के साथ हुई है। एक ऐसी लयात्मकता है—जो सहज भावनाओं का स्वत: ही व्यक्तीकरण करने में समर्थ है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं भाषा में दुरुहता उत्पन्न कर देता हैं किन्तु कवि निसर्गतः भाषा क्षेत्र में संस्कृत के प्रति आग्रहशील रहा है—

नाटक

हिन्दी-साहित्य में नाटक लिखने की प्रवृत्ति का शुभारम्भ भारतेन्दु से ही हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाट्य विद्या को जीवन प्रदान किया और उनकी मंडली ने अनेक नाटक लिख कर इस परम्परा को आगे बढ़ाया किन्तु प्रसादजी ने हिन्दी नाट्य परम्परा में एक स्फूर्त चेतना को जन्म देते हुए क्रान्तिकारी सफलता प्राप्त की। हिन्दी नाट्य साहित्य से प्रसादजी के नाटकों को अलग कर दिया जावे तो आकाश से चन्द्रमा को निकाल देने पर नक्षत्र-जाल मात्र रह जाता हैं उसी तरह की स्थिति हिन्दी वाङ्मय की हो जाये। प्रसादजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व विचारधारा प्रधान नाटक लिखे। उनके नाटक हमारे गौरवमय अतीत के पुनर्जागरण के प्रतीक हैं. भारतीय संस्कृति के चिन्ह हैं तथा आदर्शनिष्ठ हैं, साथ ही आधुनिक वातावरण में व्याप्त विसंगतियों और समस्याओं के संदर्भ में दिशा-बोधक हैं। अपने नाटकों में लेखक ने उदात्त चरित्रशील पात्रों की कल्पना से नैतिक दर्शन को अभिव्यक्त किया है। उनके द्वारा लिखा नाट्य-साहित्य इस प्रकार है :—

सज्जन

यह एक पौराणिक नाटक है, इसके कथानक का मुख्य आधार महाभारत हैं। पाँच दृश्यों में घटना प्रधान कथानक को क्रमबद्ध रूप दिया गया है। युधिष्ठर के द्वैतवन में चले जाने के पश्चात् दुर्योधन उन्मादित होकर वन में हर्षोत्सव मनाने जाता है वहाँ उसे चित्रसेन सतर्क करता है किन्तु अहं में मदमाता सुयोधन उसकी उपेक्षा करता है—जिसका परिणाम युद्ध होता है—इस युद्ध का वृत्तान्त धर्मराज को विदित होता है तो वे अपने बांधवों को मुक्त कराने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं।

यह नाटक भारतेन्दु-नाट्यशैली से प्रभावित है। संस्कृत नाट्य-परम्परा के अनुसार शास्त्रीय-सिद्धान्तों का परिपालन किया गया है। नान्दी से नाटक प्रारम्भ होता है और भरत-वाक्य के साथ समाप्त होता हैं। नाटक में गीतों का प्रयोग भी

किया गया है। नान्दी का स्वरूप प्राचीन परिपाटी का ही परिचायक है।[1]

कल्याणी-परिणय

'कल्याणी-परिणय' प्रसादजी ने एक स्वतंत्र नाट्य-कृति के रूप में सृजित की थी किन्तु कालान्तर में इसे 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चतुर्थाङ्क में समाविष्ट कर लिया गया। इसमें भी प्रसादजी ने भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्पराओं का पूर्ण निर्वाह किया है। नान्दी से प्रारम्भ करके भरत-वाक्य के साथ इस नाटक का समापन किया गया है। गीतों का प्रयोग भी अनेक-स्थलों पर किया गया है। यह नाटक ऐतिहासिक है किन्तु कल्याणी पात्र की कल्पना सर्वथा काल्पनिक है। कल्याणी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रणय-प्रस्ताव कौटिल्य की कूटनीतिक नीति का एक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। शेष कथा मौर्यकालीन ऐतिहासिक है। जब सैल्यूकस चन्द्रगुप्त से समरांगण में पराजित हो जाता है तो वह अपनी पुत्री केलिफोनिया का विवाह चन्द्रगुप्त से कर देता है। नौ दृश्यों में इस कथानक को ग्रथित किया गया है।

इसका प्रकाशन चित्राधार के प्रथम संस्करण में हुआ था।

कामना

'कामना' प्रसाद की एक लघु नाटिका है—जो सर्वथा काल्पनिक आधार पर रची हुई है। प्रसादजी के मानस में 'प्रतीकवाद' की स्थापना प्रारम्भ से ही रही है। श्री कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' की प्रेरणा लेकर प्रसादजी ने प्रतीकात्मक पद्धति पर 'कामना' का सृजन किया। प्रतीकात्मक शैली पर लिखी जाने के कारण यह नाटिका बहुचर्चित रही। कामायनी के प्रलय-कल्पना और आनन्द-वाद की प्रस्तावना हमें इस नाटिका में मिल जाती है। कामना को सन्तोष से मिलाना सुखान्त-स्थिति का सम्यक् चित्रण कहा जा सकता है। इसमें—कामना, सन्तोष, विलास, लालसा, लीला, विनोद और विवेक आदि पात्रों की कल्पना प्रतीकात्मक है। नाटक के कथानक का आरम्भ सामुद्रिक फूल द्वीप से होता है—वहाँ की रानी कामना है। एक

---

१. अजय किरातहिं देखि चकित हुए के निज मन में।
पूजन लाग्यो करन सुमन चुनि सुन्दर घन में।।
लखि किरात के गले सोह कुसुमन की माला।
अर्जुन तब करि जोरि कह्यो अस कौन दयाला।।
गुन गहत जौ न शठता किये सो क्षमहु नाथ वितरहु विजय।
हमि प्रमुदित पूजित विजय, सो जब शंकर जय जयति जय।।
—'सज्जन' चित्राधार पृ० सं० ९९

विदेशी युवक विलास वहाँ पहुँचता है और अपनी भोगवादी नीति का विस्तार करता हुआ विलासी प्रवृत्तियों के माध्यम से कामना को अपने अधिकार में करना चाहता है—किन्तु कामना उसे चाहते हुए भी उसके साथ परिणय-सूत्रों में नहीं बंधती है। विलास की आधुनिकता और विलासी प्रवृत्तियों का संतोष तीव्र विरोध करता है। एक ओर विलास लालसा के साथ भोगवाद में डूबा रहता है और दूसरी ओर संतोष उसकी प्रतिक्रिया में संकल्पशील है। भूकम्प के एक आवेग में विलास, लालसा आदि नष्ट हो जाते हैं और कामना सन्तोष के साथ सम्मृक्त हो जाती है। इन प्रतीकों के माध्यम से प्रसादजी ने भोगवाद और सन्तुष्टि के मध्य सफल अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित किया है।

स्कन्दगुप्त

'भारती-भंडार' द्वारा 'स्कन्दगुप्त' का प्रथम प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ। स्कन्दगुप्त ऐतिहासिक कथा के आधार पर लिखा हुआ नाटक है—इसमें गुप्त कालीन समापनकाल का घटना-चक्र निबद्ध किया गया है। इसके कथानक के लिए प्रसादजी ने अनेक ताम्र व शिलालेखों से सामग्री ग्रहण की है। इसके अतिरिक्त कल्हण की राजतरंगिणी, देवी चन्द्रगुप्त, वासवदत्ता आदि ग्रंथों से प्रेरणा सूत्र ग्रहण किये हैं। गुप्त वंश का पुष्यमित्रों से राज्य-संघर्ष चला था यह एक ऐतिहासिक घटना है—और इसी संदर्भ में अनेक शिलालेख भी उपलब्ध होते हैं। प्रकाशक ने कृति के आरम्भ में 'निवेदन' के अन्तर्गत उल्लेख किया है:—"गुप्तकाल (२७५ ई० ५४० ई० तक) अतीत भारत के उत्कर्ष का मध्यान्ह है। उस समय आर्य-साम्राज्य मध्य एशिया से जावा-सुमात्रा तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी संस्कृति का झंडा फहरा रहा था। इसी गुप्त वंश का सबसे उज्जवल नक्षत्र था—स्कन्दगुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहले ही साम्राज्य के भीतरी षडयन्त्र उठ खड़े हुए थे। साथ ही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छागया था और गुप्त सिंहासन डांवाडोल हो चला था। ऐसी दुरवस्था में लाखों विपत्तियाँ सहते हुए भी जिस लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कन्दगुप्त ने इस स्थिति से आर्य साम्राज्य की रक्षा की थी - पढ़ कर नस में बिजली दौड़ जाती है।[1]

अन्य नाटकों की अपेक्षा स्कन्दगुप्त का कथानक सर्वथा भिन्न है। इसके कथानक को योजनाबद्ध करने के लिए प्रसादजी ने अनेक ग्रंथों और इतिहास तथा शिलालेखों से सहारा लिया है। इसी कारण से इसका कथानक अनेक धाराओं को लेकर आगे बढ़ा है। डा० जगदीश प्रसाद जोशी ने इसके कथानक के संदर्भ में कहा है—"ऐसा

---

१. स्कन्दगुप्त (निवेदन)

प्रतीत होता है कि प्रसाद ने अपने नाटक की घटनाओं के लिए जायसवाल' की 'इम्पीरियल हिस्ट्री आफ इण्डिया का भी उपयोग किया है। कालीदास सम्बन्धी मान्यताओं के लिए सभवत: प्रसाद ने भाओदाजी एव महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के लेखों का भी उपयोग किया हो ।[1] नाटक का आरम्भ उज्जयिनी में गुप्त साम्राज्य के स्कन्धावार से होता है। पाँच अंकों में सम्पूर्ण कथानक विभक्त है। नाटक में अनेक समस्यायें और धारायें उपस्थित की गई हैं। स्कन्दगुप्त, पर्णदत्त के संवाद से अधिकार शासन की व्याख्या की गई है।[2] स्कन्दगुप्त कहते हैं—'**अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? (ठहरकर) ऊँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।**"—स्कन्दगुप्त इस नाटक में एक सैनिक के रूप में ही अपने कर्तव्य का पालन करता है, शासक होकर भी सैनिक—रूप को ही पसन्द करता है। कुसुमपुर के राज-मंदिर में सम्राट कुमारगुप्त और उनके परिषद् में राज्य-उत्तराधिकारी के संदर्भ में चर्चा करते हैं। स्कन्दगुप्त राज्य सिंहासन का उत्तराधिकारी रहा है किन्तु पुरगुप्त को सिंहासन दिया जाना ही नाटक की कथा का केन्द्र बिन्दु है। अनन्त देवी जो कुमारगुप्त की छोटी रानी और पुरगुप्त की माता है—उसके हृदय में राज्य-सत्ता को प्राप्त करने की तीव्र लालसा है—जो अपने पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बिठाने के लिए षड़यन्त्र को जन्म देती है - वह प्रपंचबुद्धि, शर्वनाग आदि के सहयोग से अपने कुचक्र में किसी सीमा तक सफल हो भी जाती है। मगध-सम्राट अपनी पत्नी अनन्त देवी के षड़यन्त्र में सम्मिलित हो जाता है। इसी कारण से धर्मपरायण रानीदेवकी और युवराज स्कन्दगुप्त के प्रति भी उनका उतना स्नेह नहीं रह पाया था। कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरांत भटार्क पुरगुप्त को सम्राट घोषित कर देता है, अनेक-हत्यायें और आत्महत्यायें होती हैं। एक के पश्चात् एक षड़यन्त्र का आरम्भ होता रहता है। देवकी के वध के लिए असफल षड़यन्त्र किया जाता है।

देवसेना स्कन्दगुप्त से प्रणय करती है और उसका निस्वार्थ प्रणय भी आदर्श चरित्र के रूप में पाठकों के सामने आया है। युद्ध और राष्ट्र—विप्लव और उसके लिए पुन: सैनिकों को प्रोत्साहन देना आदि राष्ट्र-प्रेम को उजागर करने में सफल हुए है। स्कन्दगुप्त, कुमारगुप्त, गोविन्दगुप्त. पर्णदत्त, चक्रपालित, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, मातृगुप्त प्रपंचबुद्धि, शर्वनाग, कुमारदास, भटार्क, खिंगिल आदि पुरुष पात्र हैं और स्त्री पात्रों में देवकी, अनन्तदेवी, जयमाला, देवसेना, विजया, रामा आदि हैं। इनमें से

---

१. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक-विवेचन पृ० सं० १५६

२. स्कन्दगुप्त—प्रथम अंक पृ० सं० ६

अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी के सभी पात्र आदर्शवादी हैं, जो पात्र आदर्श से परे हैं उन्हें अन्त में प्रायश्चित के क्षण जिलाते हुए प्रसादजी आदर्शोन्मुखी बना देते हैं। स्कन्दगुप्त में प्रसादजी ने अपनी विचार धाराओं को पात्रों के माध्यम से कहलाकर स्वयं को अभिव्यक्त किया है। शासन-व्यवस्था विलास में डूबे रहने अथवा स्वयं को सार्वभौम मानने से नहीं हो सकती अपितु कर्तव्य भावना को सर्वोपरि मानने से ही सम्भव है। प्रसादजी के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यंजना सफलता के साथ हुई है।

स्कन्दगुप्त के गीत भी भाव-प्रवणता के साथ-साथ चिन्तन के नये सूत्र लिए हुए हैं। भाषा में संस्कृतगर्भित शब्दों का समावेश प्रसादजी की सहज शैली का प्रभाव हैं। स्कन्दगुप्त निस्सन्देह चारित्रिक एवं अधिकार और कर्तव्य के अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने वाला नाटक है।

राज्यश्री

प्रसादजी ने ऐतिहासिक घटनाओं की भूमिका में अतीत का गौरव एवं भारतीय संस्कृति की आदर्श निष्ठा के सूत्र अपने साहित्य के माध्यम से दिये हैं। 'राज्यश्री' नाटक ऐतिहासिक सत्य होते हुए भी जीवन पर अपनी आदर्शनिष्ठ मुद्रा अंकित करता है। चार अंकों में विभक्त इस नाटक में इतिहास-विख्यात हर्षवर्धन के जीवन के उदात्त कथानक का प्रस्तुतीकरण हुआ है स्थानीश्वर के सम्राट राज्यवर्धन के पश्चात् हर्षवर्धन की युद्ध-यात्रा और चालुक्य-नरेश पुलकेशिन के साथ रक्त पिपाशु-युद्ध-यात्रा को समाप्त कर मैत्री-भावना को व्यक्त करना तथा बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर जीवन को साधनामय बनाना, तथा राज्यश्री के जीवन की मर्मान्तिक व्यथा को कथानक में ग्रथित किया गया है। इस नाटक की कथा के स्रोत हर्षचरित, वाणभट्ट की कादम्बरी, बांसखेडा के शिलालेख एवं चीनी यात्री सुएनच्वांग की भारत-यात्रा के लेख हैं। महाकवि कालिदास कृत 'रघुवंश' महाकाव्य का पंचम सर्ग भी इस नाटक का आधार रहा होगा। कवि कालिदास ने रघु के द्वारा दान दिया जाना और फिर अनाशक्त भावना से शासन-व्यवस्था संभाले रहना-चित्रित किया है—ठीक इसी प्रकार हर्ष को भी अन्तिम दिनों में अनासक्त बताया गया है। प्रसादजी ने नाटक के मुख पृष्ठ पर हर्षचरित की एक पद्य-पंक्ति का उल्लेख किया है।[1] स्वयं प्रसादजी ने नाटक के प्राक्कथन में उल्लेख किया है:—'राज्यश्री और हर्षवर्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का आधार हर्षवर्धन के राजकवि वाण का बनाया हुआ 'हर्ष-चरित्र' और सुएनच्वांग का वर्णन है। हर्षचरित का वर्णन अपूर्ण है, अनुमान होता है कि ग्रंथ की पूरी प्रति उपलब्ध नही या उस कवि की रचना कादम्बरी की भाँति अधूरी

---

१. निपेतुरेकस्यां तस्यां शरा इव लक्ष्यभुवि भूभुजां सर्वेषां दृष्टयः।

ही रही । कुछ विशेष घटनाओं का वर्णन चीनी यात्री ने किया है ।"[१]

इस नाटक में हर्ष और पुलकेशिन के युद्ध का चित्रण भी किया गया है—जो केवल एक परीक्षामात्र था—यहीं से हर्ष का हृदय-परिवर्तन हुआ था। इस घटना पर बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' ऐतिहासिक महाकाव्य का प्रभाव है। बिल्हण ने चालुक्य-नरेशों की प्रशस्ति में ही यह काव्य लिखा है। प्रसादजी निसर्गत: बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की पुन: प्रतिष्ठा के लिए प्रारम्भ से ही आग्रहशील रहे हैं—इस नाटक में भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन हुआ है। इसका मुख्य कारण ह्वेनसाँग की कृति का प्रभाव भी है जिसके आधार पर राज्यश्री की रचना हुई है और फिर ऐतिहासिक सत्य भी है कि हर्ष अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बौद्ध हो गये थे।

'राज्यश्री' में हर्ष एवं राज्यश्री के चरित्र का प्रकाशन ही मुख्य है। राज्यश्री को आदर्श नारी के रूप में व्यक्त करना प्रसादजी का मुख्य लक्ष्य रहा है। प्रसादजी ने भारतीय इतिहास की आदर्श निष्ठ स्त्री-पात्रों की अभिव्यक्ति और उनके उदात्त-चरित्र के प्रकाशन का संकल्प सा ही ले लिया था— उस आदर्श परम्परा में राज्यश्री भी आती है, जो आर्य-संस्कृति की गौरवमय प्रतीक है। राज्यश्री एक आदर्शनिष्ठ नारी थी जिसने समस्त वैभव का परित्याग करते हुए अपना वैधव्य-जीवन अनासक्ति-भाव से व्यतीत किया। राज्यश्री भारतीय पतिपरायण स्त्री, आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व जीने वाली उदारचेता, कोमल हृदय, क्षमाग्राहिणी एवं त्यागमय जीवन जीने वाली सात्विक प्रकृति की साधिका के रूप में अपना स्थायी प्रभाव छोड़ने में समर्थ सिद्ध हुई है। वह प्रतिदिन भिक्षुओं को दान दिया करती थी—उसने शाँतिभिक्षु के मानस में उन्माद की विकृति देख कर उससे कहा था— **तुम संयत करो अपने मन को भिक्षु ! श्लाघा और आकांक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड़ चुके हो। यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूँ; निश्चिंत उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूं।**[२] उसने अपने धर्म को ही प्राणों से प्रिय माना। वह देवगुप्त की महत्वाकांक्षाओं को ठुकराती हुई संघर्षों के मध्य जीवन जीने के लिए संकल्पशील है।[३] वह अहिंसा-पथ की साधिका है, युद्ध की विभीषिका और प्राण हिंसा से बचने के लिए हर्ष से आग्रह करती है।[४] वह शांति-पथ की साधिका है।[५] राज्यश्री और हर्ष

---

१. राज्यश्री पृ० सं० ५
२. राज्यश्री—पृ० सं० ५ (राज्यश्री)
३. यथोपरि पृ० सं० ४३
४. यथोपरि पृ० सं० ७१
५. यथोपरि पृ० सं० „

को आदर्श पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है—जिनके हृदय से हिंसा और प्रति-हिंसा के भाव सदा के लिए लुप्त हो गये हैं, जो अनासक्त होकर जीवन जीने के लिए संकल्पशील हैं।

नाटक में हर्षवर्धन, नरेन्द्रगुप्त, राज्यवर्धन, ह्वेनसांग, (सुएनच्वांग) शांतिदेव, राज्यश्री, आदि सभी पात्र ऐतिहासिक हैं विकटघोष एवं सुरमा पात्र काल्पनिक हैं। विकटघोष और सुरमा ये दोनों ही पात्र ऐसे हैं—जो पाठकों के सामने नये प्रश्न उपस्थित करते हैं, प्रसादजी ने उनकी असद् प्रवृत्तियों को सात्विक विचारों की ओर मोड़ दिया है, उन्हें बौद्ध-धर्म की दीक्षा-दिलाकर नाटककार ने आदर्शनिष्ठा और नैतिकता के संदेश का प्रसार किया है।

राज्यश्री एक सफल ऐतिहासिक एवं चरित्र-प्रधान नाटिका है।

अजातशत्रु

'अजातशत्रु' नाटक अन्तर्द्वन्द्व प्रधान है इसके लिए प्रसादजी ने अनेक स्थानों से आधार लिये हैं। बौद्ध कथाओं से प्रसादजी ने गौतम पात्र की कल्पना की है; 'सहस्र रजनी चरित', 'कथासरित्सागर' विष्णुपुराण,' वृहत्कथामंजरी' 'स्वप्नवासवदत्ता प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'रत्नावली' हर्षचरित' 'प्रियदर्शिका' 'स्वप्नवासवदत्ता' 'मेघदूत' आदि से उदयन, प्रसेनजित व वासवदत्ता की कथा को लिया है। इस नाटक के आधार-स्रोत के निमित्त बौद्ध जातक कथाओं से प्रसादजी ने गूढ गवेषणा की है। यह भारत का आरम्भिक इतिहास काल माना जाता है, तत्कालीन वातावरण का प्रमाणिक इतिहास किसी एक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है, अनेक बिन्दुओं को जोड़कर इतिहास की सामग्री एकत्रित की गई है। प्रसादजी ने नाटक के आरम्भ में 'कथा–प्रसंग' नाम से इतिहास के सूत्रों की विशद समीक्षा की है और अपनी गहन गवेषणा के माध्यम से कथा व पात्र योजना की साधना के संदर्भ में सकेत किया है। इस नाटक में अनेक कथायें हैं जो पृथक् होते हुए भी एक-दूसरे से सम्पृक्त हैं।

१. मगध राज्य की स्थिति और अन्तर्विद्रोह।
२. कौशाम्बी की राजनीति और अन्तर्विद्रोह।
३. कोशल का अन्तर्विद्रोह।

इन तीनों राज्यों के अतिरिक्त गौतम व देवदत्त का धार्मिक–वैमनस्य।

प्रसादजी ने इन कथा सूत्रों के माध्यम से तत्कालीन वातावरण और राजनैतिक, धार्मिक व सामाजिक स्थितियों को व्यक्त किया है; उनसे यह सिद्ध होता है कि उस समय निम्नांकित प्रवृत्तियाँ थीं:—

१. स्त्रियों का राजनीति में सक्रिय योगदान।
२. युवराजों का विद्रोह।

३. धार्मिक-वैमनस्यता ।
४. विलासी राजाओं का शासन ।
५. बहुपत्नीवाद-प्रथा ।
६. साहसिक-समस्या ।
७ अहिंसावाद का प्रचार ।
८ साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति आदि ।

ये नाटक ऐतिहासिक प्रधान हैं । श्रावस्ती, मगध, कौशल, कौशाम्बी, व काशी, आदि सभी इतिहास प्रसिद्ध नगर हैं । बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, प्रसेनजित, गौतम, सारिपुत्र, पद्मावती, वासवदत्ता, मागन्धी, देवदत्त आदि सभी ऐतिहासिक पात्र हैं । वासवी का उल्लेख भी बौद्ध कथाओं में मिलता है । 'अजातशत्रु' के संदर्भ में प्रसादजी ने लिखा है कि—वैशाली (वृजि) की राजकुमारी से उत्पन्न उन्हीं का पुत्र था । इसका वर्णन भी बौद्धों की प्राचीन कथाओं में बहुत मिलता है ।[1] मागन्धी के संदर्भ में उल्लेख किया है :—"मागन्धी, जिसके उकसाने से पद्मावती पर उदयन बहुत असन्तुष्ट हुए थे, ब्राह्मण-कन्याथी-जिसको उसके पिता गौतम से व्याहना चाहते थे और गौतम ने उसका तिरस्कार किया था ।[2] अजातशत्रु अपनी माँ छलना के द्वारा प्रेरित होकर पितृ-राज्य की कामना करता है और प्रारम्भ से ही दुर्दान्त क्रूर प्रकृति का व्यक्तित्व होता हैं । राजा बनने प अपनी विमाता वासवी और पिता बिम्बसार को बन्दी बना लेता है तथा काशी पर आक्रमण करके उसे हस्तगत कर लेता है । उसका आरम्भ ही कुचक्रों व षड़यन्त्रों की भूमिकाओं से होता है । मल्लिका के सदुपदेश से वह कौशल पर आक्रमण नहीं कर पाता है, अन्त में बन्दी होता है और अहिंसावादी मार्ग स्वीकारता है ।

कोशल का राजा प्रसेनजित भी अपने ही पुत्र विरुद्धक द्वारा विद्रोह किये जाने पर उसे युवराज पद से च्युत कर देता है, तथा बन्धुल की हत्या के षड़यन्त्र का भागीदार होता है किन्तु प्रन्त में मल्लिका से क्षमायाचना करता हुआ प्रायश्चित करता है ।

कौशाम्बी नरेश उदयन का चरित्र विरोधाभासपूर्ण है, वह एक ओर गौतम के ज्ञान से प्रभावित है तथा दूसरी ओर मागन्धी के षड़यन्त्र में फंसा हुआ विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है ।

---

१. अजात शत्रु —'कथा प्रसंग' पृ० सं० ६
२. यथोपरि „ पृ० सं० १६

प्रसेनजित वासवी का भाई है और उदयन वासवी की पुत्री पद्मावती का पति है—इस तरह ये तीनों राज्य एक-दूसरे से सम्पृक्त हैं। प्रसादजी ने अपने प्रत्येक नाटक में आदर्श पात्रों की स्थापना की है– इस नाटक में भी उनके पात्र उदात्त चरित्रशील हैं। पद्मावती अपने भाई कुणीक को रोकते हुए कहती है—"मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु जगत् में क्या कम हैं ?"[१] बिम्बसार जीवन की क्षणभंगुरता के संदर्भ में कह रहा है– "आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है।"[२] गौतम सम्पूर्ण विश्व में करुणा का स्रोत बहा देना चाहते हैं—"कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्वभर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणि मात्र में समदृष्टि रखती है।[३] गृहस्थ के यथार्थ को बिम्बसार अपने इन शब्दों में व्यक्त करता है— "संसारी का त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।[४]

प्रसादजी ने इस नाटक में अनेक समस्याओं का चित्रण किया है तथा मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का सफलता के साथ विश्लेषण किया है। अहिंसावाद और मानव कल्याण के निमित्त नूतन सृष्टि की कल्पना की है। तत्कालीन बौद्ध प्रभाव और उसके विरोध को व्यक्त किया गया है। अजातशत्रु नाटक प्रसाद के नाटकों में अपना मौलिक स्थान रखता है।

एक घूँट

श्री जयशंकर प्रसाद का 'एक घूंट' लघुनाटक है। इसका कथानक कवि-कल्पना प्रसूत है। इस नाटक में कुंज, रसाल, आनन्द, मुकुल, झाड़वाला और उसकी स्त्री, वनलता, प्रेमलता एवं चंदुला आदि सभी पात्र काल्पनिक हैं। अरुणाचल पहाड़ी के निकट शस्य-श्यामला कानन में कुछ लोगों ने मिलकर स्वास्थ्य निवास बसा लिया है। जिसका नाम अरुणाचल आश्रम है। जहाँ स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य की दीक्षा दी जाती है। आश्रम में अनेक छोटे-मोटे परिवार हैं—जो अपना निराला जीवन जी रहे हैं।

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० २४
२. यथोपरि पृ० सं० २७
३. यथोपरि पृ० सं० २९
४ यथोपरि पृ० सं० ३५

कुंज आश्रम का मंत्री है—जो उत्साही, सदा प्रसन्नचित्त एवं निर्भीक व्यक्तित्व वाला पुरुष है। चंदुला इस नाटक का विदूषक है। आनन्द स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक है—जो आश्रम का अतिथि बन कर आश्रम में ठहरा हुआ है। आनन्द जीवन की व्याख्या करते हुए कहता है "विश्व चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है। जीवन का लक्ष्य सौंदर्य हैं; क्योंकि आनन्दमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है—स्वास्थ्य—अपने आतमभाव में, निर्विशेष रूप से रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह मूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी।"[1] आनन्द को सभी सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। सम्पूर्ण नाटक में आनन्द की व्याख्यान माला बिखरी रहती है। वह सर्वत्र मुक्तता का संदेश प्रसारित करता रहता है। वह बंधन में न बधकर मुक्त जीवन जीने के लिए संकल्पशील है लेकिन अंत में प्रेमलता के साथ वह बन्धन में बंधकर जीने के लिए विवश हो जाता है। वही आनन्द प्रेमलता से कहता है:—मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित संदेश में सत्य का कितना अंश था? उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया हो।[2]

'रसाल' इस नाटक में एक भावुक कवि हैं—जो व्यावहारिक जीवन में प्रेम की महत्ता को न समझता हुआ प्रकृति से सामग्री जुटाने में व्यस्त है। रसाल की पत्नी का नाम वनलता है, वनलता अपने पति की भावुकता से नितान्त अप्रसन्न है। वह अपने पति की समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने में तत्पर है। वह अपने पति के लिए सम्बोधन प्रयुक्त करती है:—'छोटी-छोटी कल्पनाओं के उपासक! सुकुमार सूक्तियों के संचालक!"[3] हृदय और मस्तिष्क के अन्तर्द्वन्द्व को नाटककार ने इस नाटक में सफलता के साथ अभिव्यंजित किया है। मस्तिष्क हृदय को जीत कर निर्मोह की मुक्तावस्था में जीना चाहता है किन्तु प्रसादजी ने यह सिद्ध करवा दिया कि हृदय ही प्रधान तत्व है। वनलता के द्वारा प्रसादजी कहलाते हैं कि—"हाँ यही तो देखना है कि क्या होता है? होगा कुछ अवश्य। देखूँ तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय!"[4] आनन्द मस्तिष्क का प्रतीक है और प्रेमलता हृदय की। इन दोनों के मध्य अन्तर्द्वन्द्व चलता है और अन्त में हृदय की विजय होती है। रसाल भी जो मस्तिष्क की कल्पनाओं में जीता रहता था—वह भी वास्तविकता को

---

१. एक घूंट पृ० सं० २०
२. यथोपरि पृ० सं० ५८
३. एक घूंट—पृ० सं० १२
४. यथोपरि पृ० सं २८

समझता हुआ अपनी भूल सुधार लेता है । प्रसादजी ने 'झाड़ूवाले' पात्र की कल्पना करके नाटक को प्राणवान बना दिया है । 'झाड़ूवाला' शिक्षित किन्तु साधारण स्थिति का मनुष्य है -- जो अपनी स्त्री की प्रेरणा से 'अरुणाचल-आश्रम' में रहने लग गया है । उसकी स्त्री के हृदय में स्वाभाविक कामनायें है किन्तु पूर्ति का कोई साधन नहीं । झाड़ूवाले का तर्क भी मुखर हो सका है-' आपने प्लेटो को पुकारा, मैंने पतञ्जलि को बुलाया । आपने एक प्रमाण कह कर अपनी बातों का समर्थन किया और मैंने भी एक बड़े आदमी का नाम ले लिया । उन्होंने इन बातों को जिस रूप में समझा था वैसी मेरी और आपकी परिस्थिति नहीं है, समय नहीं, हृदय नहीं, फिर मुझे तो अपनी स्त्री को समझाना है और आपको अपन पति का हृदय समझना है ।[1] सभी पात्र 'एक घूँट' के लिए विकल हैं । वनलता कहती है—"विश्व भर से निचोड़ कर यदि ड़ाल सकती तेरे सूखे गले में एक घूँट !"[2] रसाल कवि ने अपनी कविता का नाम 'एक घूँट' रखा ।[3] चंदुला की खोपड़ी पर भी 'एक घूँट' का विज्ञापन है ।[4] प्रेमलता भी आनन्द को शर्बत की एक घूँट पिलाना चाहती है ।[5] आनन्द स्वयं एक घूँट से चकित हो उठते हैं ।[6]

इस नाटक में समाज की दयनीय-स्थिति का चित्रण भी हुआ है । मुख्यतः हृदय को समझने की ओर संकेत किया गया है । भाषा अन्य नाटकों की अपेक्षा सरल व सहज है, गीतों का यथासंभव प्रयोग किया गया है किन्तु नाटक का कथानक बौद्धिक उलझनों के मध्य इस प्रकार उलझा दिया गया है कि सामान्य पाठक के हृदय में नीरसता का समावेश हो जाना स्वाभाविक है । प्रसादजी प्रतीकात्मक शैली को सर्वाधिक महत्व देते हैं, यह नाटक उनकी काव्य-शैली से प्रभावित है ।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त मौर्यकालीन ऐतिहासिक नाटक है । यह चार अंकों में विभक्त है और ४४ दृश्य हैं । प्रथम अक में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की भेंट दाण्डायन के आश्रम में होती है । दूसरा अक सिकन्दर के आहत होने पर समाप्त हो जाता है । चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण, पर्वतेश्वर की हत्या, सिल्यूकस की पराजय, कार्नोलिया व चन्द्रगुप्त का विवाह, चाणक्य की कुटिल राजनीति आदि इस नाटक में हैं । इस

---

१. यथोपरि पृ० सं० ४८
२. ,, ,, ,, ११
३. ,, ,, ,, १४
४. ,, ,, ,, ३६
५. ,, ,, ,, ५६
६. ,, ,, ,, ५७

कथा बिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य अवान्तर कथायें भी हैं। अलका और सिंहरण, चन्द्रगुप्त व कल्याणी तथा कल्याणी व पर्वतेश्वर की कथाओं ने नाटक को विस्तृत कर दिया है किन्तु यह भी सत्य है कि इन अन्तर्कथाओं से कथा में सरसता व कुतूहल का समावेश भी हो गया। सिन्धु तट से मगध और मगध से सिंधु तट तक कथा घूमती रहती है। पाटलीपुत्र, गोंधार, पंचनद, तक्षशिला, वितस्ता, चद्रभागा, विपाशा-तट आदि सभी स्थान ऐतिहासिक हैं। सिकंदर, सिल्यूकस, कार्नोनिया, (केलिफोर्निया) चाणक्य, पर्वतेश्वर, राक्षस, सिंहरण, नंद आदि पात्र भी ऐतिहासिक हैं। 'चद्रगुप्त' नाटक के लिए आधार स्रोत 'मुद्राराक्षस' नाटक जायसवाल के लेख व अन्य शिलालेख आदि हैं। नाटक का आरम्भ तक्षशिलाधीश का यवनो की मित्रता के लिए वाल्हीक तक जाने से आरम्भ होता है। सिकन्दर का आना और मालव क्षुद्रकों के युद्ध में घायल होना; और पुनः आपस में संधि होना। सिकन्दर का लौट जाना, चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण, सिल्यूकस का आक्रमण और पराजय तथा केलिफोर्निया का चन्द्रगुप्त से विवाह होना, पर्वतेश्वर की हत्या, आदि क्रमवद्ध रूप से सुनियोजित किये गये हैं। महानन्द की सभा का चित्रण, चाणक्य का निकाला जाना, सुवासिनी पर व्यंग्य करना। अलका का बन्दी होना, चाणक्य को छुड़ाना, महानन्द का विनाश, राक्षस को अधीन करना आदि अनेक कथा सूत्र हैं। नाटक में पात्र आवश्यकता से अधिक संख्या में हैं और अपने आपको व्यक्त करने के निमित्त स्वगत भाषणों का अधिकतर प्रयोग हुआ है संवाद भी अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं।

इस नाटक का मुख्य नायक चन्द्रगुप्त है किन्तु मुख्यनायक का निर्देशक चाणक्य है। चन्द्रगुप्त सम्राट बना-इसीलिए हम उसे मुख्य नायक मान रहे हैं अन्यथा चाणक्य ही इस नाटक का मुख्य नायक है। चाणक्य की बुद्धि के अनुसार चलने वाला वह एक यन्त्रवत् पुरुष है। चाणक्य के अभाव में वह केवल सामान्य प्रणयी सा लगता है। राक्षस की राजभक्ति और चाणक्य की कुटिल नीति के दाव-पेच सफलता के साथ व्यक्त किये गये हैं। चाणक्य राष्ट्र के निर्माता के रूप में सफल व्यक्तित्व लेकर पाठकों के समक्ष आता है। चन्द्रगुप्त नाटक को स्वतंत्रता आन्दोलन के संदर्भ में देखें तो साम्य सा प्रतीक होता है। तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों के चित्रण के साथ राष्ट्रीय समस्या को सफलता के साथ चित्रित किया गया है। चन्द्रगुप्त नाटक प्रसाद के सफल नाटकों में से एक है।

जनमेजय का नागयज्ञ

'जनमेजयकानागयज्ञ' प्रसादजी का पौराणिक नाटक है। इस नाटक के कथा-नक का आधार 'महाभारत' हरिवंशपुराण' शतपथब्राह्मण' व 'ऐतरेय ब्राह्मण' से

लिया गया है। आर्य व नाग जाति के मध्य वर्षों से चली आ रही शत्रुता को मैत्री-भाव में परिवर्तित करने एवं भयंकर प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त करने का मुख्य लक्ष्य है। भारतीय प्राचीन इतिहास में 'अश्वमेध-यज्ञ' की परम्परा रही है, और अनेक राजाओं ने इस यज्ञ को किया तथा इसके निमित्त अनेक युद्ध हुए, भीषण नर-संहार हुआ। पाण्डुपुत्र परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने भी अश्वमेध यज्ञ किया किन्तु इस यज्ञ से पूर्व उसने एक और यज्ञ किया—वह था नागयज्ञ। यज्ञों का परिणाम अत्यन्त भयंकर सिद्ध हुआ और कुछ समय के लिए यह परम्परा बंद हो गई। प्रसादजी ने 'जनमेजय' का नागयज्ञ की भूमिका में लिखा है:—'क्षत्रिय सम्राट जनमेजय ने अपने राजदण्ड के बल से एक प्राचीन प्रथा बहुत दिनों के लिये बन्द कर दी इसमें काश्यप पुरोहित का भी बहुत कुछ हाथ था। इसका प्रमाण भी मिलता है। आस्तीक पर्व के पचासवें अध्याय से इस घटना का एक सूत्र मिलता है कि काश्यप यदि चाहते तो परीक्षित को तक्षक न मार सकता और जनमेजय को एक लकड़िहारे की साक्षी से इसका प्रमाण दिलाया गया था।"[1]

नाटक में अनेक कथायें मूल कथानक के साथ चलती हैं। जरत्कारू की स्त्री याने वासुकि की बहिन मनसा का कुकुरवंशीय यादवी सरमा का विवाद। महामुनि वेद व उनकी पत्नी दामिनी की कथा, दामिनी का उत्तंक पर मुग्ध होना, जनमेजय द्वारा भद्रक का आहत होना। तक्षक, वासुकि के साथ आर्यों का युद्ध, एवं काश्यपादि ब्राह्मणों का षड़यन्त्र आदि अनेक घटनायें इस नाटक को एक सूत्र में बांधती हैं। नाटक के पुरुष पात्रों में इन्द्रप्रस्थ का सम्राट जनमेजय, नागों का राजा तक्षक, नाग सरदार वासुकि, मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त काश्यप, वेद, उत्तंक, आस्तीक, सोमश्रवा, च्यवन, वेदव्यास, त्रिविक्रम, माणवक, जरत्कारू, चण्डभार्गव, तुरकाषवेय, अश्वसेन, भद्रक व शौनकादिक हैं। स्त्री पात्रों में जनमेजय की रानी वपुष्टमा, मनसा, सरमा, मणिमाला, दामिनी व शीला आदि हैं।

नाटक का आरम्भ एक कानन के मध्य मनसा और सरमा के संवाद से होता है। मनसा कहती है—"क्यों? क्या तुमने यही समझ रक्खा था कि नाग जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है? क्या इस विश्व के रंगमंच पर नागों ने कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया? क्या उसका अतीत भी उनके वर्तमान की भाँति अन्धकारपूर्ण था? सरमा! ऐसा न समझो, आर्यों के सदृश उनका भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।"[2] इस नाग जाति की कन्या ने अहं की तीव्र धारा

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ—भूमिका
२. प्रथम अंक; प्रथम दृश्य

में बहते हुए आर्यों के साथ अनेक युद्ध कराये। नाटक का हर प्रमुख पात्र प्रतिशोध की ज्वाला में धधकता हुआ योजनाबद्ध कार्य करता दिखाई देता है।

प्रसादजी ने नाटक में ब्राह्मण-संस्कृति के दोनों ही पक्षों का चित्रण सफलता के साथ किया है। एक ओर वेदव्यास, तुरकासवेय, व सोमश्रवा जैसे शान्त उदात्त चरित्र, सहनशील, व करुणा वलयित है और दूसरी ओर काश्यप जैसे ब्राह्मण हैं—जो विनाश की कल्पना में हर क्षण जीते रहते हैं।

काश्यप के द्वारा प्रसादजी ने ब्राह्मण-संस्कृति में व्याप्त दुर्भावना की ओर संकेत करते हुए कहलाया है—"अच्छा बाबा ! हम सब कुछ हैं, तुम लोग कुछ नहीं हो। यदि दक्षिणा मिलती तब तो चन्दन चर्चित कलेवर लेकर सब लोग मलय मन्थर गति से घर जाते और मेरी ही बड़ाई करते ! किन्तु अब व्यवस्था ही पलट गई।" एक ओर ब्राह्मण-संस्कृति और आर्य क्षत्रियों के मध्य अन्तर्विरोध का जन्म तथा दूसरी ओर नागजाति का आतंक का चित्रण किया गया है। नागजाति की कन्या मणिमाला का सम्बंध आर्य-नरेश के वंश में हो जाता है और इस प्रकार आर्य व नाग जाति के मध्य चला आ रहा संघर्ष समाप्त हो जाता है। उत्तंक और आस्तीक दो ऐसे पात्र हैं—जो विरोधी भावनाओं में जी रहे हैं। उतंक प्रतिशोध की आग में जलता हुआ सम्पूर्ण नागजाति को अग्नि कुंड में स्वाहा कर देना चाहता है किंतु आस्तीक जन-कल्याण की भावना से, शाँति के निमित्त इन दोनों जातियों में एकता स्थापित करने के लिए संकलपशील है।

नाटक में गीतों का समावेश भी हुआ है। भाषा सजीव व परिष्कृत है। जनमेजय का 'नागयज्ञ' प्रसादजी का एक सफल सोद्देश्य पौराणिक नाटक है।

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसादजी का लघु-नाटक है। इसमें तीन ही अंक हैं। नाटक का आरम्भ पर्वतीय प्रदेश के सघन वन के एक शिविर से प्रारम्भ होता है। शिविर के एक कोने से ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश होता है। स्कन्दगुप्त की तरह इस नाटक में भी ध्रुवस्वामिनी अपनी मर्मान्तिक व्यथा—जो कथानक का मुख्य आधार है—प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करती है :—**"सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर ! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को उसके चरणों में लोटना ही चाहिये न !"**[1] इसका कथानक भी समस्या मूलक है। रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी का शक्ति के बल पर विवाह अपने

---

१. **ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० १४**

साथ कर लिया था। यह राक्षस विवाह था। चन्द्रगुप्त वीर, साहसी, कर्तव्यनिष्ठ एवं चरित्र प्रधान नायक है और रामदत्त क्लीब एवं चरित्र-हीन खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—इन दोनों के मध्य की कड़ी है ध्रुवस्वामिनी। इसके जीवन में अंतर्द्वन्द्वों की भयावह स्थिति है। यह चन्द्रगुप्त से प्रणय करती है, उसकी वाग्दत्ता है, किन्तु रामगुप्त के साथ उसका विवाह हुआ है, उसके साथ रहने की अग्नि के सामने प्रतिज्ञा की है किन्तु वही रामगुप्त अपनी सहधर्मिणी को शकराज के पास उपहार स्वरूप भेज देता है। अत मे शकराज और रामगुप्त का अंत होता है, ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त के साथ विवाह कर लेती है—यह परिषद् का आदेश है। रामगुप्त के सामने ही परिषद् ने अपना निर्णय देते हुए रामगुप्त को क्लीब की संज्ञा दी। नाटक में नारी-समस्या, राष्ट्र-समस्या, विवाह-समस्या आदि अनेक प्रश्न उठाये गये हैं और इनके संदर्भ में प्रसादजी ने अपनी मान्यता व व्यवस्था प्रस्थापित की है। आधुनिक प्रश्नों के संदर्भ में ध्रुवस्वामिनी का सृजन बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रसादजी ने 'ध्रुवस्वामिनी' में जिस व्यवस्था को जन्म दिया है उसके संदर्भ में स्वयं ने उल्लेख किया है:—

'यह ठीक है कि हमारे आचार और धर्मशास्त्र की व्यावहारिकता की परम्परा विच्छिन्न सी है। आगे जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझकर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते हैं, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घकाल व्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षणात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं, इसीलिए ड़ेढ़ हजार वर्ष पहले यह होना अस्वाभाविक नहीं। क्या होना चाहिये और कैसा, यह तो व्यवस्थापक विचार करें किन्तु इतिहास के आधार पर जो कुछ हो चुका है या जिस घटना के घटित होने की सम्भावना है, उसी को लेकर इस नाटक की कथावस्तु का विकास किया गया है।"[१]

ध्रुवस्वामिनी नाटक के कथानक का मुख्य आधार विशाख कृत 'देवी चन्द्रगुप्त' है। इसके अतिरिक्त श्रृंगार प्रकाश' 'नाट्य दर्पण' 'मुद्रा राक्षस', 'पराशर स्मृति' 'नारद-स्मृति' राजशेखर कृत 'मुक्तक' व प्रयाग के शिलालेखों से भी सामग्री एकत्रित की गई है। श्री जायसवाल, राखलदासबनर्जी, प्रोफेसर अल्तेकर, भण्डारकर आदि विद्वानों के लेखों के अध्ययन की बात भी प्रसादजी ने नाटक की भूमिका में

---

१. ध्रुवस्वामिनी नाटिका—(सूचना)

स्वीकार किया है। 'अबुहसनअली' के 'वर्कमारिसवाली' से तुलना का जिक्र भी किया गया है।

विशाखदत्त ने ध्रुवस्वामिनी के चरित्र और उसकी मर्मान्तिक पीड़ा के संदर्भ में लिखा है :—

रम्यांचारतिकारणी च करुणा शोकेन नीता दशाम्
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला।
पत्युः क्लीव जनोचितेन चरितेनानेव पुंसः सतो
लज्जा कोपविषाद भीत्यरतिभिः क्षेत्रो कृता ताम्यते।

विशाख ने अपने 'देवी चन्द्रगुप्त' में ध्रुवस्वामिनी का नाम ध्रुवदेवी रखा है किन्तु प्रसादजी ने राजशेखर के मुक्तक से प्रेरणा लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाम रखा है। नारी-समस्या के संदर्भ मे प्रसादजी ने इस कथानक को ग्रथित किया है। सामाजिक-व्यवस्था के प्रश्न को लेकर नारद और पराशर आदि स्मृतियों का संदर्भ देते हुए ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न की व्यवस्था को शास्त्रीय-व्यवस्था का स्वरूप दिया है। यदि पति क्लीब हो और अपनी पत्नी के प्रति उपेक्षावृत्ति व्यवहार रखता हो तो उस स्त्री के लिए पुनर्लग्न की व्यवस्था को जन्म दिया गया है। इसी व्यवस्था को प्रसादजी ने सुधारात्मक दृष्टिकोण से ध्रुवस्वामिनी नाटक में प्रतिपादित किया है। एक मर्मान्तक पीड़ा के प्रति नव-व्यवस्था देकर प्रसादजी ने आदर्श के साथ नाटक की समाप्ति की हैं।

नाटक में गीतों का प्रयोग भी किया गया है। रामगुप्त, चन्द्रगुप्त, शिखर-स्वामी, शकराज आदि प्रमुख पुरुष पात्र हैं और स्त्री पात्रों में प्रमुख ध्रुवस्वामिनी, मन्दाकिनी, कोमा आदि हैं।

करुणालय

यह गीति नाट्य है। इसकी कथा पौराणिक है। भागवत के नवम स्कन्ध के सप्तम अध्याय से इस नाटक की कथा का आधार लिया गया। हरिश्चन्द्र, रोहित, विश्वामित्र, शुनःशेष आदि सभी पात्र पौराणिक हैं। राजा हरिश्चन्द्र वरुण को अपने पुत्र रोहित की बलि देकर प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु भय के कारण रोहित कानन की ओर प्रलायन कर जाता है। हरिश्चन्द्र शुनःशेष नाम के बालक को बलि के लिए क्रय कर लेता है। बलि के समय अजीगर्त, सुव्रता विश्वामित्र आदि सभी उपस्थित हो जाते हैं। सुव्रता शुनःशेष को विश्वामित्र का पुत्र बतलाती है—विश्वामित्र भी उसे पहचान जाते हैं और बलि-कर्म पूरा नहीं हो पाता है। 'अहिंसा-वाद' का समर्थन स्पष्ट रूप से हुआ है। यह लघु नाटक केवल पाँच दृश्यों में विभक्त है। गद्य-पद्य दोनों ही समान रूप से हैं।

चम्पू काव्य

बभ्रूवाहन

यह एक पौराणिक उपाख्यान के आधार पर लिखा हुआ चम्पू काव्य है। इसकी कथा का मुख्य आधार 'महाभारत' से लिया गया है। चित्रांगदा नामकी राजकुमारी उद्यान में एक अन्य स्त्री के साथ संलाप कर रही थी कि इसी मध्य पौरवंश का राजकुमार अर्जुन वहाँ उपस्थित हुआ। उसकी सहसा उपस्थिति से राजकुमारी क्रोधित हुई किन्तु उसे अपने राजमहल में ले गई और अतिथि-सत्कार किया। चित्रांगदा के पिता ने अर्जुन के साथ उसका विवाह कर दिया—जिससे बभ्रूवाहन की उत्पत्ति हुई। अर्जुन चला गया और चित्रांगदा उसका पालन पोषण करती रही।

कालाँतर में पाण्डवों ने अश्वमेध नामक यज्ञ किया। बभ्रूवाहन ने अश्वमेध यज्ञ के अश्व को रोकने के लिए अनुमति चाही। माता की आज्ञा पाकर उसने उस अश्व को आगे बढ़ने से रोक दिया। उसी समय सेना के साथ अर्जुन वहाँ आ पहुंचा। दोनों में द्वन्द्व युद्ध हुआ और दोनों ही उस युद्ध में आहत हो गये। यद्यपि अर्जुन ने अपने पुत्र को पहिचान लिया था किन्तु वह अपनी संतान में कायरता का समावेश नहीं चाहता था।

अंत में दोनों ही को चित्रांगदा अपने रथ में राजभवन ले गई।

इसमें पद्य-गद्य दोनों ही हैं। इसे चित्राधार में संकलित कर दिया गया।

उर्वशी

यह चम्पू वृजभाषा में लिखा हुआ है। राजा पुरूखा व उर्वशी के प्रणय उपाख्यान को चित्रित किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण, पुराण ग्रंथ' व विक्रमोर्वशीय से प्रसादजी ने प्रेरणा लेकर इस चम्पू की रचना की है। 'कथा सरित्सागर' में भी पुरुखा व उर्वशी का आख्यान मिलता है। यह एक ऐतिहासिक चम्पू है जिसे छः भागों में विभाजित किया गया है।

राजा पुरखाँ का मृगया खेलने जाना, रमणी का सहसा क्रन्दन, पुरुखा के द्वारा उर्वशी का दर्शन व मिलन। गंधर्व युवक द्वारा उर्वशी को माला पहिनाना व पुरुखा का क्रोधित होकर युवक को आहत कर देना, उर्वशी द्वारा गंधर्व-युवक की सेवा करना व गंधर्व युवक एवं उर्वशी का चले जाना आदि घटनाओं का निरुपण किया गया है। प्रसादजी ने पौराणिक उपाख्यान में अपनी कल्पना से इस चम्पू को प्रभावशील बनाया है। चम्पू साहित्य में आधुनिक काल का श्रेष्ठ चम्पू हैं।

कहानी

प्रसादजी महाकवि तो थे ही किन्तु उन्होंने गद्य की हर विधा में अपनी कलम को

दौड़ाया और हिन्दी-साहित्य में सृजन के नव द्वार खोलने में समर्थ हुए। प्रसादजी ने कथा-विधा में भी क्रान्तिकारी कदम बढ़ाया और सफलता के शिखर पर जा पहुँचे। प्रसाद के कहानीकार ने कथा-विधा में भी अपनी आदर्शवादिता और संस्कृति-परायणता को किसी सीमा तक नहीं छोड़ा और यही कारण है कि सामान्य से सामान्य पात्र का चरित्र भी पाठक को मुग्ध किये बिना नहीं रह पाता है। प्रसादजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक कहानियाँ लिखीं। प्रतीकात्मक, पत्रात्मक, व छायावाद परक शैली में भी कहानियों को जन्म दिया। कुछ कहानियाँ तो लघु कथायें हैं किन्तु वे भी अपनी अमिट छाप छोड़ने में समर्थ हैं। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के वातावरण को प्रस्तुत किया है। अनेक कहानियों में यथार्थवादिता की स्पष्ट झलक मिलती है। यद्यपि प्रसादजी सदैव आदर्शवादी रहे हैं किन्तु उनकी कहानियों में यथार्थ के दर्शन भी खुल कर होते हैं। प्रकृति प्रेमी प्रसादजी ने कहानियों में भी प्रकृति-चित्रण जीभर कर किया है। इनकी समस्त कहानियाँ पाँच संकलनों में संकलित की गई हैं—प्रतिध्वनि, छाया, आकाशदीप, आंधी और इन्द्रजाल।

छाया

'छाया' प्रसादजी की कहानियों का संकलन है। इसमें सभी प्रकार की कहानियों का समावेश किया गया है। ऐतिहासिक, प्रणय सम्बन्धित, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं इस संकलन में जिन ग्यारह कहानियों का समावेश किया गया है — उनके नाम इस प्रकार हैं:—'तानसेन' 'शरणागत' 'सिकन्दर की शपथ' 'चित्तौर उद्धार' 'अशोक' 'जहाँनारा' 'गुलाम' 'चन्दा' रसिया बालम' 'मदन-मृणालिनी' 'ग्राम' कहानियाँ संकलित हैं। इस संकलन में अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। कुछ मौर्य कालीन आधार पर और कुछ मध्यकालीन ऐतिहासिकता के आधार पर लिखी हुई हैं।

अशोक:—

अशोक मौर्य कालीन सम्राट था। उसने अपने जीवन में अनेक विवाह किये थे। उसकी पाँचवी पत्नी का नाम तिष्यरक्षिता था जो अशोक के युवा सुन्दर पुत्र कुणाल पर मुग्ध हो गई थी। वह उससे प्रणय करना चाहती थी किन्तु कुणाल उसे जननी की पावन मूर्ति ही मानता था। अपने प्रेम में असफल होकर तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्या और क्रोध के वशीभूत होकर कुमार से प्रतिशोध लिया। उसने षड़यन्त्र किया। कुणाल साम्राज्य से बाहर चला गया। अशोक को जब इस षड़यन्त्र का ज्ञान हुआ तो वह अपनी पत्नी पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसे कठोर दण्ड दिया। दूसरी ओर बीता शोक की कथा को भी प्रदर्शित किया गया है।

चित्तौड़ का उद्धार

इस कहानीं में सिसोदिया वंश और हम्मीर के विक्रम का चित्रण किया गया है। चित्तौड़ जालोर के मालदेव के हाथ में चला गया था—हम्मीर ने शत्रुओं से चित्तौड़ को लेने के लिए जी जान लगा दिया और अंत में शत्रुओं के हाथ से चित्तौड़ उद्धार करा ही लिया। राजपूती गौरव की गाथा और उनकी अमिट शान का चित्रण किया गया है।

तानसेन

संगीत की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए सम्भवतः प्रसादजी ने यह कथा लिखी। इस कथा का मुख्य आधार मुगलकालीन इतिहास है। इतिहास-विख्यात तानसेन की कला का गौरव गाया है प्रसाद ने इस कथा में ऐतिहासिकता के साथ कल्पना की दौड़ की है।

जहाँनारा

एक शाहजादी के त्याग व आदर्शनिष्ठ भावना की प्रतीक 'जहाँनारा' कहानी है। इतिहास विख्यात औरंगजेब जो क्रूर स्वाभावी और पत्थर-हृदय था उसे द्रवीभूत करना सहज कर्म नहीं था किन्तु जहाँनारा के आदर्श-चरित्र के कारण वह भी द्रवीभूत हो गया। जहाँनारा औरंगजेब की बहिन थी।

गुलाम

'गुलाम' कहानी ऐतिहासिक कथा है—जिसका मुख्य आधार मध्यकालीन भारतीय इतिहास है। गुलाम प्रथा को उठाते हुए प्रसाद ने भारतीय जनमानस के हृदय में स्वतंत्रता का स्फूत संदेश देने का प्रयास किया है। 'पराधीन सपने हूँ सुख नाहीं' के अनुसार गुलाम की जिन्दगी क्या हो सकती है? मानव को परतंत्रता की बेड़ियाँ काट कर स्वतंत्रता के लिए संघर्षशील होना चाहिये।

शरणागत

'शरणागत' कहानी १८५७ की क्रान्ति-कथा का अंग है। सैनिक विद्रोह की ओर संकेत किया गया है। कथा के पात्र काल्पनिक हैं।

इसी प्रकार 'सिकन्दर की शपथ' भी ऐतिहासिक कथा है। 'मदन-मृणालिनी' व 'रसिया बालम' प्रेम प्रधान कहानियाँ हैं। ग्राम कहानी सामान्य जन जीवन के चरित्र को प्रस्तुत करने वाली यथार्थवाद से ओतप्रोत कथा है। 'चन्दा' कहानी भी प्रेम प्रधान है।

इन कहानियों के माध्यम से प्रसादजी ने ऐतिहासिकता को व्यक्त किया है तथा आदर्श पात्रों का चरित्रांकन किया है। ऐतिहासिकता के कारण कहानियों में सरसता

का प्रवाह कहीं कहीं विश्रृंखल हो गया है। मुगल कालीन ऐतिहासिक कथाओं में वातावरण का प्रस्तुतीकरण सहज व यथार्थ रूप से अभिव्यक्त हुआ है। 'जहाँनारा' कहानी इन सभी कथाओं में अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है। ऐतिहासिक होते हुए भी कर्तव्य भावना को व्यक्त करने में जहाँनारा का उदात्त चरित्र सफल हुआ है। ये कहानियाँ न अधिक लम्बी हैं और न लघु कथायें ही – छोटे-छोटे भागों मे विभक्त इन कथाओं में प्रसादजी ने अपने उद्देश्यों को सफलता के साथ चित्रित किया है।

प्रतिध्वनि

प्रसादजी की आरम्भिक कहानियों का संग्रह 'प्रतिध्वनि' है। प्रकाशकीय में प्रकाशक ने इन कथाओं के संदर्भ में संकेत देते हुए लिखा है—"श्री प्रसादजी की सर्वप्रथम कहानियों का संग्रह 'प्रतिध्वनि' में है। हिन्दी की नवीन युग की कहानियों का सूत्रपात इन्हीं रचनाओं से हुआ था। अपने समय के साहित्य को पीछे रख कर प्रसादजी ने इसमें नई कला, नई अनुभूति और नवीन युग के नवीन दृष्टिकोण को मूर्त किया था। क्रमशः अपनी महान प्रतिभा से वे अपने साहित्य और उससे भी अधिक अपनी मातृ भाषा को अधिक से अधिक ऊँचे स्तर पर ले गये परन्तु 'प्रतिध्वनि' का महत्व कभी भी कम नहीं होगा क्योंकि हम लोग अपने नये साहित्य के प्रथम प्रभात की उष्ण, स्निग्ध, और कोमल किरणों का आनन्द इसके द्वारा आज भी पा सकेंगें।"[1] इस संकलन में 'प्रसाद' गूदड़ सांई' 'गूदड़ी में लाल' 'अघोरी का मोह' 'पाप की पराजय' 'सहयोग' 'पत्थर की पुकार' 'उस पार का योगी' 'करुणा की विजय' 'खंडहर की लिपि' 'कलावती की शिक्षा' 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' दुखिया, प्रतिभा व प्रलय शीर्षक वाली कहानियाँ संगृहीत हैं।

प्रसादजी ने कहानियाँ युगीन वातावरण के अनुसार लिखना आरम्भ किया था। इनसे पूर्व जो कहानियाँ लिखी जा रही थीं वे सभी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रही थीं। प्रसादजी कहानियों में आधुनिक समस्याओं को उठाने लगे, पात्रों के माध्यम से मनोव्यथा को व्यक्त करने लगे तथा मनोवैज्ञानिकता के आधार पर मानसिक स्थितियों को अभिव्यक्त करने लगे। यह बात अवश्य है कि प्रसादजी कवि होने के कारण अपनी कहानियों में काव्यमयी शैली को ही अपनाया। शैलीगत विशेषता तो प्रसादजी में आरम्भ से ही रही थी; कविताओं की तरह कहानियों में भी प्रसादजी ने प्रतीकात्मकता तथा संस्कृत के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया।

प्रसाद

'प्रसादजी' शीर्षक कहानी में प्रसादजी ने मंदिर का दिव्य वातावरण प्रस्तुत

---

१. प्रतिध्वनि (प्रकाशकीय)

किया है। भगवान के मदिर में चन्दन व अगरू धूम का वातावरण बना हुआ है। स्वर्ण श्रृंगार और रजत के नैवेद्य पात्र हैं; भगवान के चरणों में स्वर्ण मुद्रायें बिखरी हुई हैं—उसी भीड़ में सरला नाम की पात्रा हाथ में फूल लिए हुए भगवान के मदिर में गई। वह वहाँ स्वर्ण-रजत की अपार राशि देखकर ठिठक गई किन्तु अपने फूलों को भगवान के चढ़ाने के लिए पुजारी को दे ही दिये। सभी लोग चले गये लेकिन वह प्रसाद की लालसा में वहीं खड़ी रही। वह अपने आप से ही कहने लगी—'प्रसाद की आशा ने शुभ कामना के बदले की लिप्सा ने मुझे छोटा बनाकर अभी तक रोक रक्खा। सब दर्शक चले गये, मैं खड़ी हूँ, किस लिए। अपने उन्हीं अर्पण किये हुए दो चार फूल लौटा लेने के लिए, तो चलूँ।"[१] पुजारी का ध्यान सरला की ओर गया और उसने सरला द्वारा लाई हुई माला देव के कण्ठ में पहनाई। सरला सहसा प्रसन्न हो उठी।

गूदड़साँई

'गूदड़साँई' भी प्रसादजी की लघु कथा है। गूदड़साँई आठ वर्षीय मोहन के पास बैठकर बतियाता तथा उसके द्वारा दिया हुआ भोजन खाया करता—उससे उसे अक्षय तृप्ति का अनुभव होता। एक दिन मोहन के पिता ने देख लिया—तो मोहन को डांटा। एक दिन साँई का गूदड़ एक अन्य लड़का छीन कर भागा तो सांई भी उसके पीछे दौड़ने लगा चौराहे तक पहुँचते-पहुंचते वह ठोकर खाकर गिर पड़ा। इसी मध्य मोहन का पिता आ पहुंचा और उसने सांई को अपने हाथों से उठाया तथा लड़के को पीटने लगा। सांई ने उसे बचाया तो मोहन के पिता ने पूछा—"तब चीथड़े के लिए दौड़ते क्यों थे?"[२] सांई ने उत्तर दिया - "बाबा मेरे पास दूसरी कौन वस्तु हैं जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान को प्रसन्न करता, इस चीथडे को लेकर भागते हैं भगवान और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूं।[३]—मोहन का पिता सांई से प्रभावित हो कर कहता हैं—"तुम निरे गूदड़ नहीं गूदड़ी के लाल हो।"[४]

गूदड़ो में लाल

यह कहानी एक दरिद्र वृद्धा के जीवन की है–जिसका अतीत सम्पन्नता में व्यतीत हुआ किन्तु काल की विचित्र गति! दुर्दैव के कारण वह दरिद्रतापूर्ण दिन व्यतीत कर

---

१. "प्रसाद"—प्रतिध्वनि पृ० सं० ११
२. गूदड़ सांई "प्रतिध्वनि पृ० सं० १३
३. यथोपरि ,, १४
४. ,, ,, ,,

रही थी। वह किसी की दया पर जीना नहीं चाहती अपितु स्वाभिमान के साथ श्रम के सम्बल पर जीने के लिए कर्तव्यशील बनी रही। अपनी अशक्त अवस्था में भी वह नौकरानी बनी रही और जब उसके सेठ ने उसे घर बैठे पेंशन देनी चाही तो वह पीड़ित हो उठी किन्तु ईश्वर ने उसके स्वाभिमान की रक्षा की—वह दूसरे ही दिन इस संसार से विदा हो गई। मानव दरिद्रता में भी स्वाभिमान से जी सकता हैं बशर्ते वह धैर्यवान और संकल्पशील हो।

अघोरी का मोह

ललित और किशोर दो मित्र होते हैं; एक सम्पन्न और दूसरा दरिद्र। ललित सर्वसुख सम्पन्न होते हुए भी दुःखी है, वह अपनी वेदना किशोर को सुनाकर अपने आपको हलका महसूस करने लगता है। गंगा नदी में वे नाव से घूमते हैं—वहीं ललित अनासक्त हो उठता है। कालान्तर में लोग उसे अघोरी कहने लगते हैं, किशोर भी अपनी पत्नी व बच्चे को लेकर एक दिन गंगा पार घूमने जाता है, अघोरी को रोटी दी जाती है, वह अघोरी किशोर के बच्चे को गोद में उठा लेता है किन्तु किशोर उसे डांट देता है तो उसकी आँखें सजल हो उठती हैं। किशोर अतीत की स्मृतियों को कुरेदता हुआ आ जाता है किन्तु उसकी पत्नी यही सोचती है कि 'हमारे बच्चे को देखकर अघोरी को मोह हो गया।[1]

पाप की पराजय

"सौन्दर्य उपासना की ही वस्तु है, उपभोग की नहीं"[2]—ये शब्द इस कथा के नायक घनश्याम के हैं जो आखेटक है, सम्पन्न हैं। उसकी पत्नी की मृत्यु होने पर वह समाज को भला-बुरा कहता हुआ जंगल की ओर चला जाता है—वहाँ केतकी वन की रानी क्लांत सी लेटी हुई थी। वह घनश्याम को भीषण अकाल के सदर्भ में संकेत देती हुई अपने रूप का व्यापार करना चाहती है। घनश्याम की अस्वीकृति पर वह कहती है कि "उस दिन तो एक भीलिनी के रूप पर मरते थे, आज क्या हुआ?"—देवी! मेरा साहस नहीं हैं, वह पाप का वेग था।

"छिः पाप के लिए साहस था और पुण्य के लिए नहीं?"[3]

घनश्याम दौड़कर शहर की ओर गया—तथा उन भूखे व्यक्तियों की सेवा करता हुआ प्रायश्चित करने लगा। कहानी प्रतीकात्मक शैली में लिखी हुई है किन्तु

---

१. अघोरी का मोह पृ० सं० २६
२. पाप की पराजय " २८
३. " " ३३

प्रकृति-चित्रण विस्तृत हो गया है। सामाजिक व मानसिक विसंगतियों का खासा विवेचन हो सका है।

सहयोग

पति अपनी पत्नी को दासी बनाकर रखना चाहे और उससे प्रेम की भी अपेक्षा करे —एक उन्मुक्त नायिका जैसे। यह विरोधाभास ही कहा जायेगा। मोहन नामक पात्र दिल्ली से विवाह करके घर लौटा तो अपनी पत्नी मनोरमा को दासी बनाकर रखना चाहा। शनैः शनैः मनोरमा ने अपने आपको मोहन की इच्छा के अनुसार ढाल लिया लेकिन मोहन की यह इच्छा आन्तरिक नहीं थी। एक दिन मेले से लौटने के पश्चात् वह घर आया तो उसे अपनी पत्नी का व्यवहार ऐसा लगा कि वह इस घर में अतिथि है और मनोरमा दासी। उसने अपनी भूल को सुधारा। पति-पत्नी के सहयोग से सुखी गृहस्थ का निर्माण हो गया।

पत्थर की पुकार

नवल और विमल दो मित्र आपस में बात-चीत कर रहे हैं। विमल का कहना है कि 'अतीत और करुण का जो अंश साहित्य में हो वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"[1] विमल व्यंग करता है और फिर एक ऐसे मोहल्ले में जा पहुंचता है जहाँ अनगढ़ी पत्थर की शिला को अपनी करुण कहानी सुनाता हैं। इस संसार में अनेक दरिद्र व पीड़ित व्यक्ति विवश जिन्दगी जी रहे हैं; लेकिन उनके दुःखी हृदय में नीरव क्रन्दन को कोई नहीं सुन पाता है। अमीर लोग करुणा का काल्पनिक आनन्द लेते हैं जबकि दरिद्र करुणा को यथार्थ रूप में जीते हैं।

उस पार का योगी

यह भी प्रतीकात्मक कथा हैं।

इसमें नन्दलाल, नलिनी और लहरी आदि पात्र हैं।

आलोक एवं अन्धकार के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित किया गया है। प्रकृति चित्रण प्रचुर मात्रा में हुआ है।

करुणा की विजय

प्रसादजी ने 'प्रतिध्वनि' की अधिकांश कहानियाँ प्रतीकात्मक शैली में लिखी और इनके माध्यम से मानवीय वृत्तियों एवं अन्तर्वृत्तियों का सम्यक् विशदीकरण किया। इस कथा में भी करुणा और दरिद्रता के संघर्ष की कथा कही गई है। मोहन दरिद्र है किन्तु वह अन्त तक स्वाभिमान नहीं छोड़ सका और करुणा उस पर साभिमान अश्रुओं की वर्षा करने लगी।

---

१. पत्थर की पुकार पृ० सं० ४१

खंडहर की लिपि

एक युवक उदास चित्त हुआ एक सुरम्य कानन में घूम रहा था। आगे बढ़ने पर उसे खंडहर दिखाई दिया—जिस पर अस्पष्ट अक्षरों में कुछ लिखा हुआ था—जिसे वह नहीं पढ़ सका—लेकिन, उसी समय उसे स्वप्न आया और उसने देखा कि कोई दासी स्वामिनी का संदेश लेकर आई है किन्तु युवक स्वामिनी को अविश्वासिनी की सज्ञा देता है। वह वहाँ नहीं पहुँचपाता है। स्वामिनी अपने आपको निर्दोष मानती हैं। युवक ने स्वप्न मे चौंक कर कहा—मैं आऊँगी आँख न खोलने पर भी उसने उस जीर्ण दालान की लिपि पढ़ली—"निष्ठुर ! अन्त को तुम नहीं आये।" कथा पुनर्जन्म की स्मृतियो की ओर सकेत करती है।

कलावती की शिक्षा

श्यामसुन्दर उपन्यास पाठक है, उसकी पत्नी कलावती है—जो उसे बार-बार टोकती है किन्तु पाठक को यह सब कुछ अच्छा नहीं लगता हैं। कलावती अपनी चीनी की पुतली को समझाने लगी—और कृतज्ञ होना दासत्व है, चतुरों ने अपना कार्य साधन करने का अस्त्र इसे बनाया है। इसीलिए इनकी ऐसी प्रशंसा की है कि लोग इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, किन्तु है यह दासत्व।"[1]—कलावती अपनी पुतली को समझा चुकी और पाठक अपना उपन्यास पूरा कर चुका—फिर दोनों ही कटुता को भुलाकर सामान्य जीवन जीने लग जाते हैं। दाम्पत्य-जीवन के व्यतिरेक को चित्रित किया है।

चक्रवर्ती का स्तम्भ

सरला ने वृद्ध से स्तम्भ की ओर संकेत करते हुए पूछा—'वह किसने बनाया ?'[2] वृद्ध ने कहा—'अशोक ने इसे बनवाया था। इस पर शील और धर्म की आज्ञा खुदी है चक्रवर्ती ने यह नही विचार किया कि ये आज्ञायें कब तक मानी जायेंगी। धर्मोन्मत्त लोगों ने उस स्थान को ध्वस्त कर डाला।"—सरला वहीं बैठ जाती है और विधर्मी उसे पकड़ कर ले जाते हैं,—चक्रवर्ती का स्तम्भ अपने सामने यह दृश्य न देख सका और खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़ा।

दुःखिया

दुःखिया अपने गरीब पाप की इकलौती लड़की है वह घास का गठ्ठर राजा के घोड़ों के लिए देकर आती है और उससे अपना व अपने बूढे पिता का गुजारा

---

१. कलावती की शिक्षा—प्रतिध्वनि पृ० सं० ५७

२. चक्रवर्ती का स्तम्भ " " ५९

चलाती है। राजकुमार उसी के खेत के पास आहत होकर गिर जाता है, वह उसकी सेवा करती है—इसके बदले और बूढ़े पिता की सेवा के फलस्वरूप राजकुमार उसे दो रुपये देता है। घुड़शाला का अधिकारी उसे डांटता है किन्तु वह राजकुमार की सेवा के दृश्य में अपने दुःख को भुलाती हुई लौट आती है।

प्रतिमा

मूर्ति की दिव्यता व कान्ति स्वर्णरत्न जटित आभूषणों से नहीं आ सकती है अपितु निश्छल व आत्मीय निष्ठा से पत्थर में प्राण फूंके जा सकते हैं। कुंजनाथ सर्व सम्पन्न होते हुए भी अपने मंदिर की मूर्ति में सजीवता नहीं पा सका लेकिन रजनी भग्न मन्दिर की नग्न देव प्रतिमा में भी सहज सौंदर्य और प्राणवन्त का दर्शन कर सकी। निश्छल आत्मीयता ने उसकी साधना को सफल बना दिया।

प्रलय

पुरुष और प्रकृति के संलाप से कथा का आरम्भ किया गया है। प्रकृति अपने हठ के कारण सारस्वत तथ्य को भी नहीं मानती है किन्तु प्रलयस्थिति में वह पुरुष का कण्ठालिंगन करती हुई उसमें अपने आपको आत्मसात कर लेना चाहती है।

आकाशदीप

प्रसादजी की श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह 'आकाशदीप' है। इस संकलन का नाम संग्रह की प्रथम कहानी 'आकाशद्वीप' के नाम पर रखा गया है। इस संकलन में 'आकाशदीप' ममता 'स्वर्ग के खंडहर में' सुनहला साँप, हिमालय का पथिक 'भिखारिन' प्रतिध्वनि 'कला' 'देवदासी' समुद्र-सन्तरण,' 'वैरागी', बनजारा', 'चूडीवाली', अपराधी, प्रणय चिह्न, रूप की छाया, ज्योतिष्मती, रमला, एवं 'बिसाती' नामक कहानियां संग्रहित हैं। इस संकलन के आरम्भ में प्रकाशकीय में महत्वपूर्ण टिप्पणी प्रस्तुत की गई है :—"प्रसादजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने जिन आख्यायिकाओं की उद्भावना की हैं; उनमें जो रस और मर्म है, वह केवल वहिर्जगत् से ही सम्बद्ध नहीं अपितु हृदय की उन छिपी हुई भावनाओं पर प्रकाश डालता है जिनका बोध आप को भी यदा-कदा हुआ करता है। ऐसी रहस्यमयी वृत्तियों को प्रस्फुटित करना, उन पर प्रकाश डालना ही छायावाद का काम है।"[1] प्रसादजी ने इस संकलन की कहानियों में निस्सन्देह नवीनता को जन्म दिया है और अन्तर्मन की रहस्यात्मक वृत्तियों का प्रस्फुटन करते हुए आदर्श पात्रों के माध्यम से उदात्त चरित्र की परिकल्पना को व्यक्त किया है तथा नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना की है।

'आकाशदीप' की चम्पा कहती है—"बुद्धगुप्त! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है,

---

१. आकाशदीप (प्रकाशकीय)

सब जल तरल है, सब पवन शीतल हैं। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है।"[१] इसी प्रकार 'ममता-कहानी की आदर्शपात्रा ममता अपने पिता से कहती हैं - "तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिताजी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिताजी! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?" [२] ममता के त्याग, कर्तव्य भावना, व अनासक्ति भाव को सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है। एक विधवा स्त्री आजीवन कष्टों में जीवन यापन करती हुई भी भारतीय संस्कृति के आदर्श मूल्यों को नही ठुकरा सकी। इस कथा में लेखक ने एक गम्भीर व्यंग्य भी किया है। महान् व्यक्तियों के नाम के पीछे कर्त्तव्यशील पात्र तिरोहित हो जाते हैं। ममता की समाधि पर अष्टकोण मंदिर बना किन्तु उस पर लगे शिलालेख में अंकित किया गया था—"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगनचुम्बी मंदिर बनाया।' पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।"[३]

'स्वर्ग के खंडहर में' कहानी आख्यानात्मक होते हुए भी प्रतीकात्मक है और छायावादी प्रवृत्ति को द्योतित करने में सहायक सिद्ध हुई है। प्रसादजी की कथाओं की एक विशेषता है कि वे उपसंहार में एक तीक्ष्ण अनुभूति की मुद्रा अंकित करने में सफल सिद्ध होती हैं। 'स्वर्ग के खंडहर मे' नायिका मीना प्रणय जीवन के अनेक आरोह व अवरोहों के पश्चात् भी एक भटकी हुई आत्मा की तरह ही रह जाती है, उसके मन में कर्तव्य-भावना व उदात्त प्रणय के भाव हैं, वह अपना भिक्षुणी वेश और संघ छोड़ कर चल देती है अपने कर्तव्य को निभाने। कथा के अन्त में सेनापति उसे विगत का स्मरण दिलाता है तो वह यही कहती है:—मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। मुझे किसी टूटी डाल पर अन्धकार बिता लेने दो! इस रजनी विश्राम का मूल्य अन्तिम तान सुना कर जाऊँगी।'[४]

'सुनहला साँप' का नायक चन्द्रदेव अपने मित्र देवकुमार व अपने अनुचर रामू के साथ पहाड़ी क्षेत्र में घूमने के लिए जाता है, वहाँ नेरा नाम की एक पहाड़ी स्त्री 'सुनहले साँप' पकड़ती है। चन्द्र 'नेरा के सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो उठता है, किन्तु रामू स्वयं नेरा को चाहने लगता है और वह उसके साथ ही चला जाता है। चन्द्र

---

१. आकाशदीप (कहानी) पृ० सं० १८
२. ममता (,,) ,, २४
३. ,, (,,) ,, ३०
४. स्वर्ग के खंडहर में (,,) ,, ५४

को अपने रामू पर अत्यधिक विश्वास था किन्तु उसे अन्त में यही कहना होता है कि —"सच तो, क्या मैं अपने को भी पहचान सका ?"[१] प्रसादजी के नारी पात्र हमेशा ही उदात्त चरित्र के रहे हैं । इस कहानी की नायिका नेरा भी अपने रामू के लिए प्राण-उत्सर्ग को तत्पर हो जाती है । जब चन्द्रदेव रामू के लिए पिस्तौल निकालता है तो नेरा रामू के सामने आकर यही कहती है:—"बाबूजी यह मेरे लिए शराब लेने आया था, जो उस बोतल में धरी है ।[२]

'हिमालय का पथिक' कहानी में एक पथिक संसार के दृश्य अदृश्य स्थानों में भ्रमण करने के लिए प्रयत्नशील है । वह अपनी यात्रा के दौरान हिमालय की तलहटी में बसे एक परिवार के घर ठहरता है—जहाँ केवल दो ही प्राणी हैं, एक वृद्ध और दूसरी किन्नरी नाम की युवती — जिसने कुछ नहीं देखा है । उसके मन में भी ससार देखने की तीव्र लालसा है । किन्नरी और पथिक एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं । उनके प्रणय-व्यापार को देखकर वृद्ध क्रोधित हो उठता है वह युवक को डाँटते हुए कहता है:—"पथिक ! तुमने देवता का निर्माल्य दूषित करना चाहा—तुम्हारा दण्ड क्या है ?[३] लेकिन पथिक यही उत्तर देता है कि—मैंने देवता के निर्माल्य को और भी पवित्र बनाया है । उसे प्रेम के गंधजल से सुरभित कर दिया है । उसे तुम देवता को अर्पण कर सकते हो ।"[४] किन्नरी उस पथिक के लिए अपने बाबा से कहती है— बाबा ! क्या वह देवता नहीं है ?"[५]

'भिखारिन' कहानी में प्रसादजी ने सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों का विशद विवेचन किया है । जाह्नवी के तट पर निर्मल व निर्मल की माँ है, वहीं एक भिखारिन खड़ी हुई गा रही है" सुने री निर्धन के धन राम ! सुनेरी[६] निर्मल अपनी मां से भिखारिन को घर में नौकरानी रखने के लिए आग्रह करता है किन्तु माँ जाति का विवाद खड़ा कर देती है तो वह किशोर मर्मान्तिक वाक्य कहता है—"माँ ! दरिद्रों की तो एक ही जाति होती है ।"[७] फिर एक बार निर्मल अपनी भाभी के साथ गंगा स्नान करने के लिए आता हैं और वही भिखारिन 'बाबूजी कुछ मिलेगा' कहती हुई

---

१. सुनहला सांप (कहानी) आकाशदीप पृ० सं० ६४
२. यथोपरि पृ० सं० ६३
३. हिमालय का पथिक (आकाशदीप—पृ० सं० ७२
४. यथोपरि
५. ,,
६. भिखारिन (आकाशदीप —पृ० सं० ७६
७. यथोपरि

चली आती है । निर्मल उसे देने लिए फिर आग्रह करता है किन्तु भाभी उससे उपहास भरे शब्दों में कहती है:—तुम्हारे लिए टहलनी रखवा दूंगी' तो निर्मल अपने उदात्त हृदय से यही दोहराता है—"मैं तो इससे व्याह करने को भी प्रस्तुत हो जाऊँगा ।[1] भिखारिन निर्मल और उसकी भाभी को देखकर दोनों के विवाह की बात कहती है । भाभी चिढ़ जाती है तो निर्मल सहज स्वर में कहता है -"भाभी ! उस पर क्रोध न करो । वह क्या जाने, उसकी दृष्टि में सब अमीर और सुखी लोग विवाहित हैं ।"[2] बालक रामू अपनी जेब से पैसे निकाल कर भिखारिन को दे देता हैं । प्रसादजी ने इस कहानी में मानव-मन की स्थितियों और विचार धाराओं पर प्रकाश डाला है ।

'प्रतिध्वनि' कहानी के आरम्भ में प्रसादजी ने कहा है—"मनुष्य की चिता जल जाती है, और बुझ भी जाती है, परन्तु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला, संभव है, उसके बाद भी धक् धक् करती हुई जला करे ।"[3] दरिद्रता, पागलपन, वैधव्यादि दुःख पाप के प्रतिफल हैं किन्तु कह कर किसी को मर्माहत करना श्रेयस्कर नहीं है जब तारा विधवा होती है तो उसकी ननद यही कहती है—'अरे मैयारे किसका पाप किसे खा गया रे ।"[4] तारा तो विधवा होकर भी सम्पन्न थी किन्तु उसकी ननद नितांत दरिद्रतावस्था में जी रही थी— 'वह अपनी पुत्री श्यामा का भी विवाह नहीं कर सकी । श्यामा निस्सहाय अवस्था में भटकने लगी और उसकी सम्पत्ति शनैः शनैः नीलाम होने लगी । एक दिन तारा श्यामा की बाड़ी से कुछ कैरियाँ तोड़ने लगी तो उसने कहा—"और तोड़ लो भाभी, कल तो यह नीलाम ही होगा ।"[5] उसके शब्द सुन कर तारा के मन में प्रतिध्वनि होने लगी 'किसका पाप किसको खा गया रे ।"[6] उसी क्षण उसकी भावनायें बदल गईं । तारा ने वह बाड़ी खरीदली और श्यामा पागल हो गई । तारा का उत्तराधिकारी प्रकाश बना— जो विलासी था—वह भी यक्ष्मा से पीड़ित होकर अन्तिम श्वासें गिनने लगा था किन्तु उसकी कामुक दृष्टियाँ श्यामा पर जा पड़ीं । प्रसादजी ने इस कहानी में सिद्ध किया है कि अन्तर्ज्वालायें मनुष्य को हमेशा जलाती हुई विनाश की ओर ले जाती हैं । 'कला' कहानी प्रतीकात्मक शैली में लिखी हुई है । इसमें तीन पात्र हैं, कला, रूपनाथ और रसनाथ; ये तीनों ही एक ही विद्यालय

---

१. यथोपरि पृ० सं० ८१
२. ,,
३. प्रतिध्वनि (आकाशदीप पृ० सं० ८५)
४. यथोपरि
५. ,, पृ० सं ८७
६. ,, ,, ,, ८७

में अध्ययन करते हैं, रूप और रस दोनों ही कला के उपासक हैं, कला के चले जाने के बाद उसके प्रणय में विकल होकर साधनारत हो जाते हैं। रूपनाथ चित्रकार बनता है जो कला की आकृति और उसके सौंदर्य को उतारता रहता है किन्तु रसनाथ कला की अन्तरात्मा के अव्यक्त स्वरूप और संगीत को ध्वनित करने में तन्मय रहता है। रसनाथ साहित्यकार का प्रतीक है और रूपनाथ चित्रकार का। चित्रकार मूर्त कल्पना के पश्चात् भी अपने आप को असफल मानता हुआ यही कहता है कि – 'मैं असफल हूं। मैं इस भाव को रूप न दे सकूँगा।"[1] रसनाथ कहता है—"मेरी भूल ही तेरा रहस्य है, इसीलिए कितनी ही कल्पनाओं में तुझे खोजता हूँ, देखता हूँ, हे मेरे चिर सुंदर!"[2] रसनाथ सफल होता है।

'देवदास' कहानी पत्रात्मक शैली में लिखी हुई है। अशोक नामक पात्र अपने मित्र रमेश को पत्र लिख कर अपनी कथा सुनाता है। सात पत्रों में वह अपने जीवन की समस्त वेदना को व्यक्त कर देता है। अशोक स्वयं को उपेक्षित मानता हुआ दक्षिण में चला जाता है और वहाँ हिन्दी-प्रचार कार्यालय में कार्य करने लग जाता है। प्रथम पत्र में वह अपनी व्यवस्था का संकेत करता है। दूसरे पत्र में दक्षिण की स्थापत्य कला का सकेत करता हुआ लिखता है:—'ऊँचा गोपुरम् सुदृढ़ प्राचीर, चौड़ी परिक्रमायें और विशाल सभा-मण्डप भारतीय स्थापत्य कला के चूडान्त निदर्शन है। है। यह देव मन्दिर हृदय पर भी गम्भीर प्रभाव डालता है।[3]

अशोक मन्दिर के निकट अपनी दुकान लगाकर किताबें बेचता रहता है। वहीं उसे चिदम्बरम् नाम का व्यक्ति आत्मीयता के साथ उसका सहयोग देने वाला मिल जाता है। मदिरों में देवबालायें नृत्य करती हैं—उनमें से एक पद्मा है जो अशोक के पास हिन्दी सीखने आया करती है। वह शनैः शनैः पद्मा की ओर आकर्षित होता जाता है, रामस्वामी भी उसे चाहता है। रामस्वामी जब उसे अपने साथ ले जाना चाहता है तब वह कहती है:—'मदिर में दर्शन करने वालों का मनोरंजन करना मेरा कर्त्तव्य है, मैं देवदासी हूँ, कहाँ जाऊँ, मैं देवता के लिए उत्सर्ग कर दी गई हूँ।"[4] रामस्वामी एक निर्मम विलसी पात्र है; वह उसे अपने साथ ले जाना चाहता है किन्तु वह यही कहती है कि 'देवता का निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है।[5] अशोक

---

१. कला—आकाशदीप पृ० सं० १०१
२. ,, ,, ,, ,, १०१
३. देवदासी ,, ,, ,, १०७
४. देवदासी (आकाशदीप पृ० सं० ११२)
५. यथोपरि ,, ,, ,, ११५

भी पद्‌मा को चाहता है किन्तु पद्‌मा न अशोक को ही मिलती है और न रामस्वामी को ही—वह अर्ध स्वप्नावस्था में जड़वत् मंदिर में पड़ी रहती है। अशोक पत्थर के मंदिर का पुजारी बना हुआ अपने प्रेम को व्यक्त नहीं कर सका। प्रसादजी ने इस कहानी में नारी-समस्या को भी उठाया है तथा देवदासियों की दशा का चित्रांकन किया है।

समुद्र संतरण

एक राजकुमार और धीवर बाला की प्रणय कथा है। प्रसादजी ने इसमें सौंदर्य की व्याख्या की है तथा वैभव और सौंदर्य के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से समझाया है। राजकुमार अपना सम्पूर्ण वैभव छोड़कर धीवर बाला के पास पहुँच जाता है, लहरों में संतरण करते राजकुमार से वह पूछती है—आओगे ?"

"कहाँ ले चलोगी ?"

"पृथ्वी से दूर जल राज्य में, जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं सीधा आत्म-विश्वास है; वैभव नहीं सरल सौंदर्य है।[1]

वैरागी

कहानी में एक वैरागी और दूसरा पात्र एक स्त्री है जो आश्रय चाहती है, वैरागी उसे आश्रय देता है, कुटी में रखना चाहता है किन्तु वह कुटी में नहीं आती है अपितु यही कहती है:—'इस कुटी का मोह तुमसे नहीं छूटा। मैं उसमें समभागी होने का भय तुम्हारे लिए न उत्पन्न करूँगी"[2]

वैरागी विकल हो उठा—उसने स्त्री से कहा—"मुझे कोई पुकारता है, तुम इस कुटी को देखना"[3] वह कभी लौट कर नहीं आया और वह स्त्री उसके आने की हमेशा प्रतीक्षा करती रही।

बनजारा

बनजारा कहानी की मुख्य पात्र है—मोनी-जो जंगल के रमणीय स्थान में रहती है तथा प्याज-मेवे को इकट्ठा करके बनजारों को लदा देती थी। मोनी के जीवन का अन्तर्द्वन्द्व सफलता के साथ व्यक्त किया है। वह व्यापार के संदर्भ में कहती है—"अब मैं समझती हूँ कि सब लोग न तो व्यापार कर सकते हैं और न तो सब

---

१. समुद्र संतरण (आकाशदीप पृ० सं० १३१)
२. वैरागी ,, ,, ,, १३८
३. यथोपरि

वस्तु बाजार में बेची जा सकती है ।[1] इस कहानी में प्रसादजी ने प्राकृतिक धन की सुरक्षा की ओर संकेत किया है ।

चूड़ीवाली

कहानी में गृहस्थ सुख की दीक्षा दी गई है । चूड़ीवाली जिसका नाम विलासिनी है वह मूल रूप में वेश्या है किन्तु उसके मन में कुलवधु बनने की तीव्र लालसा है, वह नगर के प्रतिष्ठित जमींदार के प्रति आकृष्ट हो उसे अपने मोह-जाल में फंसा कर उसका सर्वस्व नष्ट करा देती है । 'सरकार' पत्नी की मृत्यु और सम्पत्ति के विदा होने पर शहर छोड़ कर चल देते हैं । विलासिनी की आकांक्षा अधूरी ही रह जाती है । वह गृहस्थ सुख की लालसा में श्रमजीवी व परोपकार के कार्य में लग जाती है । अन्त में वह सरकार को पुन: प्राप्त करती है तो कहती है :— इन चार वर्षों में मुझे विश्वास हो गया है कि कुलवधू होने में जो महत्व है वह सेवा का है न कि विलास का ।'[2] सरकार कहते हैं —'सेवा ही नहीं चूड़ीवाली ! उसमें विलास का अनन्त यौवन है क्योंकि केवल स्त्री पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं है । बाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य' जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है; इसीलिए वह प्रेय भी है और श्रेय भी ।"[3]

अपराधी

कथा में राजकुमार एक वन मालिन के सौंदर्य को देख कर मुग्ध हो उठता है तथा उसे उस क्षेत्र की वन-पालिका बना दिया जाता है । एक दिन वही राजकुमार उसके द्वार खटखटाता है और आश्रय के लिए याचना करता है । वन-पालिका उसे अपनी कुटी में आश्रय देती है । वह उस निशा में उसका हाथ पकड़ लेता है तो वन-पालिका चौंक उठती है तो राजकुमार यही उत्तर देता है 'अपराधी हूं सुन्दरी !"[4] अन्धकार में हंसने लगता है । कालान्तर में वह, वनपालिका एक बच्चे के साथ उस वन मे रहने लगती है । राजकुमार राजा बन जाता है और उसका युवराज उसी वन में आखेट के लिए आता है । वन-पालिका का पुत्र तीर चला कर कुरंग को बेध करना चाहता है किन्तु वह तीर राजकुमार के लग जाता है । किशोर को पकड़ कर बुरी तरह

---

१. बनजारा (आकाशदीप पृ० सं० १४८

२. चूड़ीवाली— आकाशदीप पृ० सं० १६१

३. यथोपरि ,,

४. अपराधी ,, ,, १६६

पीटा जाता है; उसकी मृत्यु हो जाती है; वन-पालिका अपने राजा के लिए पुष्पमाला बना कर लाती है; उस समय मृत किशोर के लिए राजा पूछता है तो वह उत्तर देती है "अपराधी है,"[१] यही शब्द एक दिन राजा ने कहे थे।

प्रणय चिन्ह

प्रणय में विफल होकर युवक एकान्त में चला गया। अनासक्त भाव से जीता हुआ अपने अतीत को भुलाने का प्रयास करने लगा। प्रकृति के सुरम्य वातावरण में जीता हुआ भी उसे एकान्त घुटन और पीड़ा देने लगा। वह झरने के साथ साथ लौट आया और मरुस्थल में अचेत होकर गिर पड़ा। वहीं एक अन्य यात्री उसे मिला जो एकान्त में जा रहा था। वह उससे कहता है—"सब सुख था—एक दुःख, पर वह बड़ा भयानक दुःख था। अपने सुख को मैं किसी से प्रकट नहीं कर सकता था, इससे बड़ा कष्ट था।"[२] वह आगन्तुक यात्री को लौटा देता है और अपनी प्रियतमा के पास 'प्रणय-चिन्ह' का सदेश भिजवाता है। प्रणयी युवक, यात्री और प्रियतमा—तीनों ही अपनी स्थिति मे पीड़ित हैं, वे एक नये संसार में जाना चाहते हैं।

एकान्त से भीड़ और भीड़ से एकान्त में जाने की इच्छा का व्यक्तीकरण सफलता के साथ हुआ है। प्रणयी मिल जाते हैं।

रूप की छाया

शैलनाथ नाम के युवक को कुछ स्त्रियाँ अपने साथ ले जाती हैं—वह भी असहाय था। सरला उसके जीवन में अनेक आश्चर्यजनक प्रश्न पैदा करती है और उसे अपना पति (खोया हुआ) मानने लगती है किन्तु शैलनाथ उसके लिए तैयार नहीं होता है, यद्यपि सरला अत्यन्त रूपवती थी किन्तु शैलनाथ फिर भी यही कहता है—"मैं जाता हूं, सरला, तुम्हें रूप की छाया ने भ्रान्त कर दिया है। अभागों को सुख भी दुःख ही देता है। मुझे और कहीं आश्रय खोजना होगा।"[३]

ज्योतिष्मती

एक बालिका अंधेरी रात्रि में बीहड़ जंगल में कुछ खोजते हुए चली जा रही है—उसे एक साहसिक मिलता है—वह उससे कहती है "पिताजी के लिए ज्योतिष्मती चाहिये।" वे दोनों चल पड़े और ज्योतिष्मती को उन्होंने पा लिया। साहसिक वेग के साथ तलवार हाथ में लिए आगे बढ़ना चाहता है—तभी बालिका उसे

---

१. अपराधी आकाशदीप पृ०सं० १७३
२. प्रणय चिन्ह ,, ,, १७६
३. रूप की छाया ,, ,, १६४

रोकते हुए कहती है :—"सुनो, सुनो, जिसने चन्द्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारों पहर कभी बिना पलक लगे प्रिय की निश्छल चिन्ता में न बिताये हों उसे ज्योतिष्मती न छूनी चाहिये।"[1] लेकिन साहसिक न रुक सका और उसकी छाया से ही वह मुरझा गई – सहसा बालिका छटपटा उठी।

रमला

एक युवक एकान्त में रहता था रमला झील के किनारे—उसका नाम साजन था। वह पशुवत् जीवन व्यतीत करता हुआ रमला को ही अपना आत्मीय समझता था। मानों उस निर्जन वातावरण में वही उसका सहचर हो, वह रमला से बतियाता रहता। रमला उसका सर्वस्व थी। "वही साजन की गृहिणी, थी, स्नेहमयी कभी-कभी वह उसे पुकार उठता, बड़े उल्लास से बुलाता रानी! प्रतिध्वनि होती ई ई ई ...।"[2] पास ही के गाँव में एक नटखट रमला नाम की लड़की रहती थी—जिसे गाँव के लड़कों ने पहाड़ के उस पार धकेल दिया था—वह साजन से आ मिली थी। साजन भी उसे रमला रानी समझ बैठा था किन्तु उसे अपनी झील पर ही लौटना पड़ा। रमला जमींदार के लड़के के साथ चली गई थी।

बिसाती

शीरी अपने प्रेमी के लिए विकल है—उसका प्रेमी बिसाती है—जो हिन्दुस्तान में फेरी लगता है। वह अपनी वेदना जुलेखा से कहती है और वह उसे आश्वस्त कर लौट जाती है। बिसाती वक्त से पहिले लौटकर नहीं आ सका और शीरी का विवाह एक धनी सरदार से हो गया। कालान्तर में वही बिसाती लौट कर आया और अपना सामान उसके यहाँ फैलाकर चला गया। सरदार ने शीरी से पूछा तो उसने उत्तर दिया—"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दोस्तान की ओर चला गया था। वह लौट कर आज सवेरे दिखलाई पड़ा पर जब वह पास आ गया और मैंने पकड़ना चाहा तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया।"[3]

सरदार ने कहा—फूल को बुलबुल की खोज ? आश्चर्य है ? "वह शीरी की अन्तर्वेदना को नहीं समझ सका था। उसे क्या मालूम बिसाती उसके मन में सारी स्मृतियाँ झकझोर गया है और शीरी पर एक बोझ उतार गया है। 'शीरी ने बोझ तो उतार लिया पर दाम नहीं दिया।"[4]

१.	ज्योतिष्मती	आकाशदीप पृ० सं०	२०१
२	रमला	" "	२०६
३.	बिसाती	" "	२२२
४.	यथोपरि	" "	२२२

कहानी प्रतीकात्मक शैली के अनुरूप लिखी गई है।

आंधी

यह कहानी संग्रह विभिन्न मनोवृत्तियों का परिचायक है तथा प्रसादजी के कथा लेखन की प्रगति का दिशा बोधक भी है। इस संकलन में मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, प्रेम प्रधान, आदर्शनिष्ठ, यथार्थवादी, तथा आदर्शमुखोन्वादी कहानियाँ हैं। इसमें केवल ग्यारह कहानियां संकलित हैं—

पुरस्कार, दासी, व्रत-भंग, आंधी, मधुवा, घीसू, ग्राम गीत, विजया, नीरा, बेड़ी तथा अमिट स्मृति कहानियां हैं।

प्रसादजी की पुरस्कार कहानी ऐतिहासिक है। इसमें श्रावस्ती, वाराणसी, मगध आदि नाम सभी इतिहास प्रसिद्ध हैं। राजा स्वयं हल जोतता है—यह संकेत सम्भवतः प्रसादजी की मौलिक कल्पना है। इसमे मधूलिका का चरित्र उदात्त रूप में व्यक्त किया गया है। मधूलिका का स्वाभिमान पाठक के मन को झंकृत कर जाता है, उसका राष्ट्र प्रेम चेतना का प्रतीक बन गया है। पुरस्कार कहानी साहित्य में इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि हर पाठक उससे परिचित है। मधुवा, आंधी, अमिट-स्मृति व बेड़ी कथायें भी बहुचर्चित कहानियों मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन कहानियों की भाषा भी परिमार्जित है और दुरुहता से भी बची हुई हैं।

इन्द्रजाल

इस संकलन में 'इन्द्र जाल', 'नूरी', 'गुण्डा', 'सलीम', 'भीख', 'देवरथ', 'सालवती', 'छोटा जादूगर', 'परिवर्तन', 'संदेह', 'चित्र-मन्दिर', 'चित्र वाले पत्थर', 'अनबोला', व 'विराम-चिन्ह' में चौदह कहानियाँ संकलित हैं। कलात्मक दृष्टिकोण से ये कहानियां काफी सशक्त और अन्तस्फूर्त हैं। 'गुण्डा', 'नूरी', 'सालवती' और 'देवरथ' नामक कहानियाँ इतिहास प्रधान हैं। अन्य कहानियां यथार्थवाद एवं मनोवैज्ञानिकता से ओत-प्रोत हैं। इन कहानियों में सम-सामयिक वातावरण, करुण दृश्य व मध्यमवर्गीय समाज की स्थिति का सफलता के साथ चित्रण हुआ हैं।

नूरी कहानी ऐतिहासिक है। शाहजादा याकूब और नूरी के प्रेम-प्रसग को चित्रित किया गया है। इसी प्रकार अन्य ऐतिहासिक कहानियों में तत्कालीन वातावरण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

'छोटा जादूगर' कहानी में लेखक ने बालक-मन की अन्तस्थितियों तथा मानसिक उद्वेलन का चित्र प्रस्तुत किया है। दारिद्रय अवस्था में जीता हुआ छोटा बालक अपने कर्तव्य को नहीं भूल पाता है, उसके मन में राष्ट्र-प्रेम कूट-कूट कर के भरा हुआ है। वह स्वयं भी अपने पिता की तरह आन्दोलन में भाग लेना चाहता है।

इन्द्र जाल की कहानियां प्रसादजी की कथा-शिल्प-सौन्दर्य की प्रतीक हैं और ये प्रसादजी को महान् कथाकार सिद्ध करने में सक्षम हैं।

उपन्यास

प्रसादजी ने अपनी सृजन यात्रा के मध्य तीन उपन्यास लिखे—तितली, कंकाल और इरावती। दुर्भाग्य से इरावती पूर्ण नहीं हो सका। 'तितली' आदर्श प्रधान 'कंकाल' यथार्थवादिता से पूर्ण और 'इरावती' ऐतिहासिक उपन्यास है। इन उपन्यासों में प्रसादजी ने जीवन की विविध समस्याओं को उठाया है। 'कंकाल' उपन्यास सामान्यजन-जीवन की भावनाओं के अधिक निकट हैं। नारी-जीवन की विषमताओं के संदर्भ में प्रसादजी ने क्रांतिकारी चरित्र उपस्थित किये हैं। कंकाल में विवाह-समस्या व प्रेम के संदर्भ में भी अच्छी विवेचना हुई है।

प्रसादजी आरम्भ से ही आदर्शनिष्ठ साहित्यकार रहे हैं, भारतीय संस्कृति के समुपासक अमर-भारती पुत्र कवि प्रसाद को आधुनिक युग की विसंगतियों एवं चरित्र हीन वातावरण रूचिकर नहीं था—अतः आधुनिकता पर स्थान-स्थान पर सशक्त प्रहार किये हैं। साथ ही आधुनिक युग की अनेक समस्याओं को उठा कर सामाजिक व धार्मिक रूढ़िवादिता के खोखलेपन को व्यक्त किया है और उसके प्रति विद्रोह का स्वर दिया है। मानव-मन की अन्तर्वृत्तियों के चित्रकार प्रसाद ने सफलता के साथ चरित्र उपस्थित किये और अपने युग में उपन्यास विद्या को एक अभिनव मार्ग प्रदान किया।

तितली

यह प्रसादजी का आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें इन्द्र देव और शैला की मुख्य कथा है अन्य सभी सम्बन्धित कथायें हैं। तितली व मधुवन की कथा समानान्तर स्थिति पर चलती है। उपन्यास में आधुनिक वातावरण को प्रस्तुत किया गया है। इसमें तितली, मधुवन, इन्द्र देव, शैला, श्यामलाल, अनवरी, मुकुन्दलाल, रामदीन, नन्दरानी, मलिया, रामनाथ, राजकुमारी, सुखदेव, मोहन आदि अनेक पात्र हैं और सभी की अपनी-अपनी समस्या है।

शैला पाश्चात्य सभ्यता में जन्म लेने के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति के प्रति हृदय से अनुरक्त है, उसे इन्द्रदेव के साथ आने पर परिवार से अपमानित होना पड़ता है किन्तु वह इसकी चिन्ता न करते हुए सेवा-सुश्रुषा में लगी रहती है। उसके अपूर्व त्याग, व शील को देख कर उसकी सास उसे बहू मानना स्वीकार कर लेती है। प्रसादजी ने नारी-पात्र के उदात्त चरित्र की सदा से ही कल्पना की है। शैला

से भी अधिक उदात्त चरित्र तितली का है—जो अपने पातिव्रत्य के संदर्भ में दृढ़ संकल्पशीला है। अपने पति मधुवन के कारावास में चले जाने पर भी वह उसे उसी शुद्ध प्रेम दृष्टि से देखती है और उसकी प्रतीक्षा में स्वावलम्बन जीवन यापन करती हुई कष्ट के दिन व्यतीत कर देती है। प्रसादजी ने तितली का आदर्श चरित्र प्रस्तुत किया है—जो प्रेरणीय है।

इसी प्रकार हीन-भावना रखने वाले वाले पात्रों का चरित्रांकन भी हुआ है। जो समाज के ठेकेदार बन कर समाज के साथ प्रवंचना करते रहते हैं। समाज की यथार्थ-स्थिति का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

प्रसादजी ने 'तितली' उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को उठाया तथा उन्हें आदर्शवाद की ओर प्रेरित किया।

कंकाल

'कंकाल' प्रसादजी का दूसरा उपन्यास है, मध्यम वर्ग के कथानक को लेकर इसे चार खण्ड़ों में विभाजित किया गया है। कथा में किशोरी और निरंजन दो मुख्य पात्र हैं तथा मंगल, विजय, श्रीचन्द्र, गोस्वामी आदि सहायक पात्र हैं। कंकाल उपन्यास धार्मिक रूढ़िवादिता एवं आडम्बर पूर्ण जीवन पर सफल प्रहार है। श्री नन्द दुलारे वाजपेयी ने इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा है:—'कंकाल प्रसादजी का सामाजिक उपन्यास है। उसका समाज आधुनिक, नागरिक और मध्य श्रेणी का है। थोड़े से अपवादों को छोड़कर जहाँ भिखारियों का जमघट छत पर से फैंकी हुई पत्तल के लिए कुत्तों से छीना-झपटी करता है, अथवा दूसरी ओर जहाँ कलाविद् विजय अपने चित्रों की कलात्मक चर्चा करता है, अधिकारी आजकल के मध्य वर्गीय समाज के नित्य प्रति के जीवन के चित्र आये हैं।[1]

'कंकाल' उपन्यास आधुनिक समाज की कुरीतियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। धार्मिक व सामाजिक अंध-परम्पराओं और दुर्व्यवस्थाओं पर तीक्ष्ण प्रहार करने में सक्षम सिद्ध हुआ है। प्रसादजी की शैली सदा ही प्रतीकात्मक रही है और उन्होने उपन्यासों में भी यत्र-तत्र इस शैली का सफलता के साथ निर्वाह किया है। मंगल का जुलुस समाज का वाह्य प्रतीक एवं विजय का ककाल मध्यवर्गीय समाज की रिक्तता एवं नग्नता का वास्तविक प्रतीक है।

कंकाल उपन्यास में भारत के प्रसिद्ध तीर्थ स्थलों का धार्मिक वातावरण प्रस्तुत किया गया है। वृन्दावन, मथुरा, काशी, हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थों का तथा उनकी आन्तरिक दुरव्यवस्था का चित्रण किया गया है किशोरी एवं निरजन शैशवा-

---

1. जयशंकरप्रसाद (नन्द दुलारे वाजपेयी) पृ० सं० १६

वस्था से ही एक दूसरे को प्रेम करते आये थे—किन्तु धार्मिक अंध परम्परा के वशीभूत अपने परिवार द्वारा निरंजन साधु के भेंट कर दिया जाता है—क्योंकि वह उन्हीं के आशीर्वाद से उत्पन्न हुआ था। निरंजन साधु तो बन गया था लेकिन हृदय में तो अतृप्त आकांक्षायें और अधरों पर तरल प्यास शेष थी। एक दिन कुम्भ के मेले में निरंजन किशोरी को देखकर मुग्ध हो उठता है और उसे अपने साथ लेकर साधु-शिविर से भाग खड़ा होता है। कालान्तर में इन दोनों से विजय नाम का पुत्र होता है।

इसी प्रकार से एक अन्य कथा भी कंकाल उपन्यास में समानान्तर स्तर पर चलती है। मंगल नाम का पात्र जो अपने आपका सिद्धांतवादी आदर्शनिष्ठ व समाज सेवी मानता है-वह वेश्यालयसे तारा नामक स्त्री को लेकर आता हैं और अपना गृहस्थ बसाता है किन्तु तारा के गर्भवती हो जाने के पश्चात् वह उसे छोड़ कर कहीं भाग जाता है। विजय व तारा एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। मंगल भी मुसलमान स्त्री से उत्पन्न लड़की से विवाह कर लेता है। इस प्रकार धार्मिक व सामाजिक विसंगतियों के संदर्भ में प्रसादजी ने पात्रों के माध्यम से सफल चित्र व्यंजित किये हैं। प्रसादजी का मुख्य उद्देश्य सुधार-वादी दृष्टिकोण रहा है। वैवाहिक-समस्या पर प्रसादजी ने अच्छी विवेचना की है। इस उपन्यास का प्रत्येक पात्र विवाह को गौण मानता है और प्रेम को प्रमुख। ये पात्र प्रेम के हित किसी भी प्रकार की सामाजिक स्वीकृति की अपेक्षा नहीं करते—इसका परिणाम यही रहा कि जारज संतानों की एक नई समस्या उत्पन्न हो गई।

शिवनारायण श्री वास्तव ने कंकाल के पात्रों के संदर्भ में उल्लेख किया है—"ककाल' की प्रायः सभी स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा प्रवंचित हैं और ये पुरुष भी ऐसे ही हैं जिन्होंने अपने चारों ओर सज्जनता का आवरण फैला रखा है।[1]

प्रेम, विवाह, पाप-पुण्य, जारज-संतान, अंध धार्मिकता, रूढिवादिता, मठाधीशों का व्यभिचार, व धर्मच्युत स्त्रियों के जीवन आदि पर विवेचना करते हुए सामाजिक—विसंगतियों पर तीक्ष्ण प्रहार हुआ है। मध्यवर्गीय समाज की चेतना के निमित्त यह सफल उपन्यास है।

इरावती

यह प्रसादजी का तृतीय उपन्यास है जो अधूरा ही रह गया। यह उपन्यास ऐतिहासिक है—इसमें शुंग वंश के उदय की कथा का उल्लेख है। मौर्य वंश के पतन तथा शुंग वंश के अभ्युदय को चित्रण करने के लिए ऐतिहासिक आधार लिया है। डा० प्रेमदत्त शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध में इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा है:—

---

१. हिन्दी उपन्यास—पृ० सं० १२०

"उपन्यास का वातावरण ऐतिहासिक दिखाई देता है। इसमें मौर्य कालीन राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है। 'इरावती' में मौर्यकालीन साम्राज्य की उस पतनोन्मुख शासन व्यवस्था को बताया गया है जो मौर्यों की आन्तरिक दुर्बलता के कारण नष्ट हो गयी है। धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध-धर्म और ब्राह्मण धर्म का चित्र प्रस्तुत किया गया है बौद्ध धर्म अपने पतन की चरम अवस्था व्यतीत कर रहा था। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों और बौद्धों में आपसी संघर्ष चल पड़े। उपन्यासकार ने इसी मौर्य साम्राज्य के पतन और शुंग वंश के प्रादुर्भाव को बतलाने का प्रयास किया है।[1]

इस उपन्यास का नामकरण इरावती नाम की पात्रा के आधार पर किया है। उपन्यास में इरावती एक देव दासी है; और इसी के नृत्य से इस उपन्यास का श्रीगणेश होता है इरावती इस उपन्यास की नायिका है। इस उपन्यास मे इरावती और अग्नि मित्र के प्रणय की कथा है—जिसमें अनेक आरोह—अवरोह है किन्तु काल की गति के कारण उपन्यास अधूरा रह गया; प्रसादजी सम्भवतः अग्निमित्र और इरावती का मिलन कराना ही श्रेयस्कर समझते।

अग्निमित्र मंदिर में नाचती हुई सुन्दरी इरावती को देखता है। वह उस पर मुग्ध हो जाता है किन्तु देवदासी को कुदृष्टि से देखना देव प्रतिमा का अपमान समझा जाता था—और हुआ भी ऐसा ही। वृहस्पतिमित्र को उसी अवसर पर 'शतधनुष' की मृत्यु का वृत्तान्त मिलता है। इरावती बौद्ध-बिहार में भिजवादी जाती है—वहाँ वह भिक्षुणी जीवन जीने के लिए विवश है किन्तु वह उसे रुचिकर नहीं है। वह वहाँ से भाग आती है। इस मुख्य कथा के साथ अनेक अन्तर्कथायें भी चलती हैं।

यदि इरावती पूर्ण हो जाता तो सफल ऐतिहासिक उपन्यासों में श्रेष्ठ उपन्यास गिना जाता।

निबन्ध

प्रसादजी ने निबन्ध भी लिखे और वे भी उच्चकोटि के–जिनका सम्बन्ध साहित्य और उसकी प्रमुख विचार धाराओं से सम्पृक्त हैं। ऐसे तो प्रसादजी ने अपनी कृतियों के आरम्भ में 'दो शब्द' अथवा निवेदन या प्राक्कथन में जो कुछ लिखा है—वह भी गवेषणात्मक निबन्ध ही है। प्रसादजी एक सफल अन्वेषक व जिज्ञासु व्यक्तित्व थे, उन्होंने भारतीय इतिहास की उन परम्पराओं और मान्यताओं को शास्त्रीय परम्परा से सम्पृक्त कर संस्कृति को गरिमामय बनाया है तथा चिन्तन धारा व्यक्त करते हुए मौलिक सूत्रों की स्थापना की है—जिनसे समस्त मानवता को नूतन दिशा बोध मिल

---

१. प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि पृ० सं० ११३

सके। कृतियों के आरम्भ में जिन निबन्धों का ग्रथन हुआ वे सभी गवेषणात्मक हैं; इन निबन्धों के लिए उन्होंने पर्याप्त अध्ययन किया और जहाँ-तहाँ से जो सूत्र प्राप्त हो सकते थे उन्हें एकत्र किया तथा उन्हें योजनाबद्ध रीति से प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त प्रसादजी ने स्वतंत्र निबन्ध भी लिखे—उनका प्रकाशन 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक से हुआ।

इस संकलन में 'काव्य और कला रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का प्रयोग', रंगमंच, आरम्भिक पाठ्यकाव्य,' तथा 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक निबन्ध हैं। इसका प्राक्कथन आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा हैं। श्री वाजपेयीजी ने प्राक्कथन के उपसंहार में लिखा है:—"अन्त में यह कहते हुए पुस्तक पाठकों के हाथ में रक्खी जा रही है कि यह अपने ढंग की अकेली रचना है, जो हिन्दी की अपनी मानी जाय और साहित्य के सुयोग्य विद्यार्थियों को स्नेह और विश्वास पूर्वक पढ़ने को दी जाय। निश्चय ही यह कहना मेरे लिए जितना सुखद है, आज उतना ही दुःख-प्रद भी।"[1]

प्रसादजी ने जो निबन्ध लिखे वे उस समय के वातावरण के लिए नितान्त महत्व-पूर्ण थे और आज भी उनकी उपादेयता है। अनेक ग्रंथों का अध्ययन व मनन करने के पश्चात् उन्होंने अपनी मान्यतायें प्रस्थापित की हैं। प्रसादजी की मान्यता रही कि आधुनिक आलोचक पश्चिम से प्रभावित होता जा रहा है - जिसका परिणाम भारतीय मान्यता में श्लथता आने लगी है। लेखक ने भारतीय आलोचकों के पश्चिम का अंधानुकरण व्यापार का उद्घाटन करते हुए लिखा है—"विज्ञ समालोचक भी हिन्दी की आलोचना करते-करते 'छायावाद' 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना कर के उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही है, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिन्दी कविता में अचेतनों में, जड़ों में, चेतनता का आरोप करना हिन्दी वालों ने अंग्रेजी से लिया है, क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिन्दी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है वह सब बाह्य वस्तु (Foreign Element) है। कही अंग्रेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज लव।' फिर क्या? कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम रूप का वर्णन देख कर उन्हें अंग्रेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है, उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त ग्रंथ पंचदशी में कहा है अयमात्मापरानन्दः पर प्रेमास्पद यतः।"[2]

प्रसादजी ने उन आलोचकों का ध्यान भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० २२
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ३०

करते हुए गवेषणा पर जोर दिया है। 'कला' के संदर्भ में भारतीय और पाश्चात्य-मतों की तुलना करते हुए हेगेल, अरस्तू प्लेटो, आदि के मतों का विवेचन किया है। लेखक ने अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को ही प्रधान माना है। 'रहस्यवाद' का आरम्भ प्रसादजी वैदिक-युग से मानते हुए मत देते हैं कि—' कामस्तदग्ने सम-वर्तताधिमनसोरेत: प्रथमं यदासीत् ।" आज का लव या इश्क काम का ही पर्याय है। प्राचीन साहित्य में रहस्यवाद को स्थान न दिये जाने का कारण आनन्दवाद था। प्रसादजी ने लिखा है कि—"रहस्यवाद के आनन्द पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है।"[1] इस संदर्भ में लेखक ने 'वृहदारण्यक' तैत्तिरीयोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, कठोपनिषद्, केनोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, अष्टावक्र गीता, शिवसूत्रविमर्शिनी, शांकरी, मानस-पूजा, सौंदर्य लहरी, माण्डूक्यकारिका, नरपति जयचर्चा, छांदोग्योपनिषद्, नारोपा, कण्हपा, शबरपा, आदि के मतों का उल्लेख करते हुए भारतीय रहस्यवाद की मान्यताओं का विशद् विवेचन किया है। तुलसीदास ने भी रहस्य-संकेत व्यक्त किया है—यथा—"असमानस मानस चख चाही" रसखान, देव, मीरा ने भी इस ओर संकेत किये हैं। अन्त में प्रसादजी ने कहा है कि "वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वा-भाविक विकास है। उसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें संदेह नहीं।"[2]

प्रसादजी नाटकों में कला का अनुकरण ही नहीं अपितु भारतीय आचार्यों के मतानुसार नाटकों में रस का होना आवश्यक मानते हैं। वे इस संदर्भ में कहते हैं—"सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बना कर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।"[3] 'नाटकों का आरम्भ' 'रंगमंच' आदि अन्य निबन्धों में भी प्रसादजी का भारतीय दृष्टिकोण ही रहा है। ये निबन्ध भारतीय मान्यताओं को पुन: प्रतिष्ठापित करने में सफल सिद्ध हुए हैं व प्रसादजी ने गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् अपनी मान्यता को व्यक्त किया है।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ सं. ४९
२. यथोपरि पृ सं. ६१
३. ,, पृ. सं. ८६

पात्र एवं आदर्शवाद

पात्र एवं आदर्शवाद

साहित्य साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति है। वह अपने जीवन की समस्त अनुभूतियों का अभिव्यक्तिकरण करता है। साहित्यकार के लिए वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही प्रेरणा के स्रोत होती हैं वह उन्हीं वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से साहित्य का निर्माण करता है। साथ ही वह अपने चिन्तन को साहित्य में जन्म देता है; उसका चिन्तन उपदेश के रूप में नहीं अवतरित होता है अपितु वह पात्रों के माध्यम से स्वयं को व्यक्त करता है। पात्रों के मध्य साहित्यकार स्वयं को स्थापित करता है, उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उन्हें अपनी भावनाओं के अनुसार ढालता रहता है। कालान्तर में पात्रों के चरित्र के माध्यम से साहित्यकार का अध्ययन किया जाता है। पात्रों के चरित्रांकन से पूर्व साहित्यकार का एक निश्चित उद्देश्य होता है, उसकी विचारधारा होती है, मानवीय-कल्याण का संकल्प होता हैं। केवल कल्पना में जीकर यदि वह काल्पनिक पात्र मनोरंजन के लिए प्रस्तुत करता है तो वह साहित्य चिरस्थायी नहीं होगा और न वह कला ही आनन्द प्रदान कर सकेगी। 'टालसटाय' ने उल्लेख किया है कि—"साहित्य का उद्देश्य बौद्धिक क्षेत्र में मानसिक क्षेत्र में उस सत्य की स्थापना करना है जिसका उद्देश्य मनुष्य मात्र में कल्याणकारी एकता को स्थापित करके भगवान की प्रेमपूर्ण बादशाहत को कायम करना है।" साहित्यकार का प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह अपने उदात्त पात्र खड़े करते समय यह याद रक्खे कि वे हमारे समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं तथा सामाजिकों के हित प्रेरणा-स्रोत बन सकते हैं। साहित्यकार के काल्पनिक पात्र ऐतिहासिक बन जाते हैं यदि वे अपने आप में सशक्त हैं तो। सशक्त पात्रों का चरित्रांकन उस कृति को अमर बना देता है तथा युग-युगों तक अपनी अमिट मुद्रा सामाजिकों के हृदय पर लगाये रहता है। काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी आदि अनेक विद्याओं में पात्रों की कल्पना की जाती है और उनके चरित्रांकन से विशदीकरण होता है तथा ये ही पात्र पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने में

सफल होते हैं। संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने पात्र-योजना के संदर्भ में विशद् रूप से विवेचन किया गया है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने नायक के संदर्भ में उल्लेख किया है:—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥[1]

दाता, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान्, लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त तेजस्वी, चतुर और सुशील पुरुष काव्यों में नायक होता है। संस्कृत साहित्य में वैभव सम्पन्न नायकों की परिकल्पना की है और ऐसे विलासी भी होते रहे हैं किन्तु उनके लिए भी मर्यादा स्थापित की गई है, कुछ आवश्यक धर्म निर्धारित किये गये हैं, किन्हीं गुणों का होना अनिवार्य माना गया है। वैभव सम्पन्न एवं विलासी नायकों के लिए भी त्यागी कुलीन, अनुरक्त व शीलवान होना आवश्यक कहा गया है। शीलवान पात्र ही नायक की श्रेणी में आ सकता है। संस्कृत साहित्य में आदर्शनिष्ठ पात्रों को ही नायकत्व के रूप में स्वीकारा गया है। यदि पात्र शील-वान नहीं है तो वह उदात्त पात्र अथवा उदात्त चरित्रवान् न कहलाकर अन्य सहायक पात्रों की गणना में ही आयेगा। आचार्य विश्वनाथ ने नायकों के अनेक भेद किये हैं। उनके अनुसार प्रमुख नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित व धीर प्रशान्त हैं।[2] धीरोदात्त वह नायक कहलाता है जो स्वयं अपनी प्रशंसा न करता हो, क्षमा-वान एवं अत्यन्त गम्भीर स्वभाव वाला हो व महासत्व अर्थात् शोकादिक से अपनी प्रकृति में किसी प्रकार का परिवर्तन न करने वाला हो, स्थिर-प्रकृति, विनम्रता से प्रच्छन्न गर्व रखने वाला, दृढ़व्रती तथा अपने संकल्प को पूर्ण करने वाला हो।[3] जैसे रामायण में राम और महाभारत में युधिष्ठरादि। धीरोद्धत वह नायक कहा जाता है जो मायावी, प्रचंड, चंचल, अभिमानी, वीर व आत्म प्रशंसा करने वाला हो।[4] 'वेणीसंहार नाटक' में भीमसेन धीरोद्धत नायक ही है। निश्चित, कोमल स्वभाव वाला नृत्य-गीतादि अनेक कलाओं में सदा अनुरक्त रहने वाला

---

१. साहित्य दर्पण पृ० सं० ६५ (तृतीय परिच्छेद)

२. धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीर प्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः। सा० द० तृतीय/३०,

३. अविकत्थनः क्षमावानति गम्भीरो महासत्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः। सा. द. ३/३२

४. मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः। सा० द०/३/३३

नायक धीर ललित नायक कहलाता है[1]—जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'वत्सराज'। त्यागी कृती इत्यादिक कहे हुए के समान नायक के सामान्य गुण रखने वाला ब्राह्मणादिक पात्र 'धीर-प्रशान्त' कहलाता है।[2] 'मालती माधव' नाटक का 'माधव' धीर प्रशान्त नायक कहा जाता है। इन चारों नायकों के भी चार-चार भेद कहे गये हैं। प्रत्येक के दक्षिण, धृष्ट अनुकूल व शठ भेद होते हैं। अनेक पत्नियों में समान अनुराग रखने वाला दक्षिण नायक कहलाता है[3]; जो अपराध करके भी निःशंङ्क रहे, झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित न हो वह धृष्ट नायक कहलाता है।[4] एक ही स्त्री में सदा आसक्त रहने वाला अनुकूल नायक कहलाता है।[5] वह नायक शठ कहलाता है जो अनुरक्त तो किसी अन्य में हो, परन्तु प्रकृत नायिका में भी बाहरी अनुराग दिखलाये और प्रच्छन्न रूप से उसका अप्रिय करे।[6] ये नायक भी उत्तम, मध्यम व अधम तीन प्रकार के होते हैं। कहा भी गया है:—

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ।
उक्ता नायक भेदाश्चत्वारिंशत्तथाष्टौच ।।[7]

इस प्रकार नायक के ४८ भेद कहे गये हैं। प्रमुख नायक के अतिरिक्त अन्य जो पात्र होते हैं उन्हें सहायक नायक कहा जा सकता है, इनके भी अनेक भेद होते हैं।

पीठमर्द

वह नायक कहलाता है जो नायक के बहुदूरव्यापी प्रसङ्ग प्राप्त चरित में पूर्वोक्त नायक के सामान्य गुणों से कुछ न्यून न्यून गुणों वाला नायक का सहायक हो। (रामायण में श्री राम के साथ सुग्रीव)[8]

---

१. निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् । सा० द० ३/३४
२. सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् । सा० द० ३/३४
३. एषु त्वनेकमहिला समरागो दक्षिणः कथितः । सा० द० ३/३५
४. कृतागाः अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्ट नायकः । सा० द० ३/३६
५. अनुकूल एकनिरतः । सा० द० ३/३७
६. शठोऽयमेकत्र बद्धभावोयः ।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति । सा० द० ३/३७
७. साहित्यदर्पण ३/३८
८. दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।
किंचिद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः । सा० द० ३/३९

कुछ व्यक्ति शृंगार-सहायक कहलाते हैं—उनमें स्वामिभक्त, बात-चीत तथा हँसी-मजाक करने में चतुर, माननी के मान को दूर कर सकने वाले और सच्चरित्र लोग विट, चेट, तथा विदूषक आदि। शृंगार रस में नायक के ये सहायक कहलाते हैं। माली, धोबी, गन्धी और तम्बोली भी सहायक पात्र कहलाते हैं। इनका भी सच्चरित्र होना आवश्यक माना गया है।[१] 'विट' की परिभाषा देते हुए दर्पणकार ने कहा है:—भोग-विलास में अपनी सम्पत्ति खो चुकने वाला, धूर्त, नृत्य-गीतादिक कलाओं के किसी एक अंश का ज्ञाता, वाराङ्गनाओं के स्वागत में प्रवीण, बात-चीत करने में चतुर, सदा मधुर बोलने वाला, गोष्ठी में समादृत पुरुष विट कहलाता हैं।[२] इसी प्रकार विदूषक की भी परिभाषा दी गई है:—किसी फूल अथवा वसन्तादिक पर जिसका नाम हो और जो अपनी क्रिया, देह, वेष, और भाषा आदि से हंसाने वाला हो, दूसरों को लड़ाने में प्रसन्न रहता हो और अपने मतलब का पूरा हो अर्थात् खाने-पीने की बात कभी न भूले वह पुरुष 'विदूषक' कहलाता है।[३] जब किसी काव्य में राजा नायक होता है तो उसकी राज्य-चिन्ता में कुछ सहायक पात्र होते हैं, उसकी अर्थ-चिन्ता में मंत्री आदि सहायक पात्र होते हैं।[४] अन्तःपुर में भी कुछ सहायक पात्र होते हैं। अन्तःपुर में बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ, अहीर, शकार, कुबड़े आदि राजा के सहायक होते हैं। मदान्ध, मूर्ख, अभिमानी, नीचकुलोत्पन्न, सम्पत्तिशाली, राजा की अविवाहिता स्त्री का भाई शकार कहलाता है।[५]

राजाओं के यहाँ दण्ड-नीति आदि में भी सहायक पात्र होते हैं। मित्र, राजकुमार, आटविक, (जंगलों में घूमनेवाली पासी, भील, आदि) अधीन राजा लोग तथा सैनिक आदि, दुष्टों का दमन करने में राजा के सहायक होते हैं।[६] धर्म के कार्यों में

---

१. शृङ्गारेऽस्य सहाया विट चेट विदूषकाद्याः स्युः।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभंजनाः शुद्धाः। सा० द० ३/४०

२. संभोगहीन सम्बद्धितस्तु धूर्त कलैक देशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्। सा० द० ३/४१

३. कुसुम वसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः। सा० द० ३/४२

४. मंत्री स्यादर्थानां चिन्तायाम्—सा० द० ३/४३

५. तद्वदवरोधे—
वामन षन्ढाकिरातम्लेच्छाभीराः शकार कुब्जाद्याः।
मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्य संयुक्तः
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः। सा० द० ३/४५

६. दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्त सैनिकाद्याश्च। सा० द० ।३।४३

ऋत्विग्, पुरोहित, ब्रह्मज्ञानी, वेदवेत्ता तपस्वी लोग राजा के सहायक होते हैं।[१] इनमें पीठमर्द उत्तम सहायक पात्र कहलाते हैं[२] और विट व विदूषक मध्यम पात्र कहलाते हैं तथा शकार, चेट, तमोली व गन्धी आदि अधम पात्र कहलाते हैं।[३] साहित्यदर्पण-कार ने दूत-पात्रों को भी तीन वर्गों में विभाजित किया है—उनके अनुसार 'निसृ-ष्टार्थ' 'मितार्थ' व 'सन्देशहारक' नामक तीन प्रकार के दूत होते हैं।[४] इनके लक्षण बताते हुए कहा हैं कि—जिसने भेजा है और जिसके पास भेजा है उन दोनों के अभि-प्राय को उहापोह कर के जो अपने आप उत्तर देने की क्षमता रखता हो तथा कार्य में सफलता प्राप्त करले—वह निसृष्टार्थ' नामक दूत कहलाता है। जो कम बोलने वाला हो किन्तु अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त करले—वह 'मितार्थ' नामक दूत कह-लाता है और जो संदेश को केवल यथावत् पहुँचा सके वह 'संदेशहारक' दूत कह-लाता है।[५]

नायकों में किन-किन सात्विक गुणों का समावेश होना चाहिये ? इस संदर्भ में दर्पणकार ने नायकों के सात्विक गुण इस प्रकार कहे हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित तथा उदारता ये आठ गुण होने चाहिए।[६]

शोभा के संदर्भ में कहा है कि—शूरता, चतुरता, सत्य, महान, उत्साह, अनु-रागिता, नीच में घृणा उच्च में स्पर्धा इन सब को उत्पन्न करने वाले अन्त: करण के धर्म को 'शोभा' कहा जाता है।[७]

---

१. ऋत्विकपुरोधस: स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे। सा० द० ३।४५
२. उत्तमा: पीठमर्दाद्या:।—सा०
३. मध्यौ विटविदूषकौ।
तथा शकार चेटाद्या: अधमा: परिकीर्तिता:।
४. साहित्यदर्पण—३।४७
५. उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृत:।
मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थक:।
यावद्भाषित संदेशहार: संदेशहारक:।
६. शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्वजा: पौरुषा: गुणा:॥
७. शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनु रागिता।
नीचे घृणाधिके स्पर्धा यत: शोभेति तां विदु:। सा० द० ३।५०–५१

धैर्य, व मुस्कराहट के साथ वचन कहना आदि को विलास कहा गया है ।[१] घबराहट के कारणों के उपस्थित होने पर भी नही घबराना 'माधुर्य' कहा गया है ।[२] भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि के उपस्थित होने पर भी निर्विकार रहने को गाम्भीर्य कहते हैं ।[३] महान से महान, विघ्न उपस्थित होने पर भी नही घबराना और अपने काम पर यथावत जमे रहना ही 'धैर्य' कहलाता हैं ।[४] अन्य के किये हुए आक्षेप और अपमानादि का प्राण जाने पर भी सहन न करना 'तेज' कहलाता है ।[५] वाणी, वेष और शृंगार की चेष्टाओं में मधुरता का नाम ललित है ।[६] प्रिय भाषण के सहित दान, और शत्रु, मित्र में समानता को औदार्य कहते हैं ।[७]

साहित्यदर्पणकार ने प्रतिनायक का लक्षण इस प्रकार कहा है :—

"धीरोद्धतः पाप कारी व्यसनी प्रतिनायकः ।[८]

अर्थात् धीरोद्धत, पापी और काम लक्षणों से उत्पन्न व्यसनों में फंसा हुआ पुरुष 'प्रतिनायक' कहा जाता है ।"

प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार नायक व सहायक पात्रो के संदर्भ में विशद् विवेचन किया हैं । नाट्य साहित्य के नायक के संदर्भ मे दर्पणकार ने कहा है कि—

"प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।[९]

अर्थात् प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान, कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता हैं ।

इस प्रकार दर्पणकार ने दिव्य व दिव्यादिव्य नाम से पात्रों को दो वर्गों में विभाजित किया है, अन्य आचार्य दिव्य, दिव्यादिव्य, व अदिव्य नाम से तीन प्रकार के पात्र स्वीकार करते हैं किन्तु नायकत्व के निमित्त दिव्य (देवतागण) व दिव्यादिव्य (पुरुषगण) ही अंगीकार करते हैं ।

---

१. साहित्यदर्पण ३।५२
२. यथोपरि ३।५२
३. ,, ३।५३
४. ,, ३।५३
५. ,, ३।५४
६. ,, ३।५५
७. ,, ३।५५
८. ,, ३।१३१
९. ,, ६।६

नायिका भेद

पुरुष पात्रों के साथ ही स्त्री-पात्रों पर भी संस्कृत-साहित्य के लाक्षणिकों ने विशद् रूप से विचार किया है। दर्पणकार ने दर्पण के तृतीय परिच्छेद में नायिका लक्षण व उनके वर्गीकरण को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है। श्री विश्वनाथ ने नायिका को तीन रूप में स्वीकृत किया है—१. स्वकीया, अन्या व साधारणी। इन नायिकाओं के निमित्त नायक के निर्दिष्ट गुणों का समावेश अपेक्षित कहा गया है।[1]

स्वकीया को स्वीया से भी संज्ञित किया गया है। विनय, सरलता आदि गुणों से संयुक्त, घर के कामों में तत्पर, पतिव्रता स्त्री 'स्वीया' कही जाती है। यह स्वीया भी 'मुग्धा' 'मध्या' और 'प्रगल्भा' तीन प्रकार की होती हैं। मुग्धा पांच प्रकार की होती है— १. प्रथमावतीर्णयौवना, २. प्रथमावतीर्णमदनविकारा, ३. रतिवामा, ४. मानमृदु, और ५. समधिकलज्जावती। मध्या के भी पांच भेद कहे गये हैं:— १. विचित्र सुरता, २. प्ररूढस्मरा, ३. प्ररूढयौवना, ४. ईषत्प्रगल्भवचना, और ५. मध्यम व्रीड़िता। प्रगल्भा के ६ भेद कहे गये हैं—१. स्मरान्धा, २. गाढतारुण्या, ३. समस्तरतकोविदा, ४. भावोन्नता ५. दरव्रीडा और ६ आक्रान्त नायिका।[2]

मध्या और प्रगल्भा को धीरा, अधीरा और धीराऽधीरा इन तीन भेदों में विभक्त किया गया है। मध्याधीरा क्रोध करने पर, प्रिय को सपरिहास वक्रोक्ति के द्वारा बिद्ध करती है एवं धीराधीरा रोदन से और अधीरा परुष भाषण से खिन्न करती है। मध्या की तरह प्रगल्भा भी धीरा, अधीरा और धीराधीरा इन तीन प्रकारों की होती है। प्रगल्भा नायिका यदि धीरा होती है तो वह अपने क्रोध के आकार को छिपा कर बाहरी बातों में बड़ा आदर सत्कार दिखाती है परन्तु सुरत में उदासीन रहती है। यदि प्रगल्भा धीराऽधीरा होती है तो वह नायक को व्यंग्य भरे वचनों से

---

१. अथ नायिका त्रिभेदा स्वाऽन्या साधारणी स्त्रीति।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता।। सा० द० ३/५६

२. विनयार्जवादियुक्ता ग्रहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।
सापि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति।
प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा।
मध्या विचित्र सुरता प्ररूढ़स्मर यौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीड़िता मता।।
स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका। सा० द० ३/६०

खेदित करती है।[1] अधीरा प्रगल्भा तर्जन भी करती है और ताड़न भी करती हैं—ये नायिकायें दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के मिल कर बारह भेद होते हैं—और मुग्धा एक ही प्रकार की होती है—इसलिए स्वकीया नायिका के तेरह भेद होते हैं। परकीया नायिका दो प्रकार की होती है, एक अन्य-विवाहिता दूसरी अविवाहिता (कन्या)[2]

इन परकीया नायिकाओं में एक कुलटा भी होती है। यात्रा आदिक मेले तमाशों की शौकीन निर्लज्जा कुलटा कहलाती है; इसे अन्योढा भी कहा जाता है।[3] अविवाहित सलज्जा नवयौवना 'कन्या' कहलाती है। वह अपने संरक्षकों से वशीभूत होने के कारण परकीया कहलाती है, अर्थात् अपने माता-पिता के अधीन होने से उसे परकीया कहा गया है।[4] सामान्य स्त्री के संदर्भ में विशद् रूप से विवेचन किया गया है। जो स्त्री धीरा, नृत्य गीतादि ६४ कलाओं में चतुर, जन सामान्य के लिए उपभोग्या हो वह सामान्य स्त्री वेश्या कहलाती है। वह निर्गुण पुरुषों से द्वेष नहीं करती है, और गुणवान व्यक्तियों के प्रति अनुरक्त नहीं होती है—अर्थात् सामान्य नायिका रागद्वेष के संदर्भ में तटस्थ होती है। उनकी अनुरागिता व्यक्ति के सौन्दर्य अथवा गुणों से सम्पृक्त नहीं रहती है अपितु धन से अनुरक्त रहती है। यह अनुरागिता भी आन्तरिक नहीं होती है अपितु बाह्य रूप से दिखावे मात्र की होती है। अच्छे प्रकार के स्वीकृत पुरुष भी, यदि धन हीन हो जायें तो उसे अपनी माता के द्वारा निकलवा देती हैं, स्वयं नहीं निकालती हैं, क्योंकि फिर धनागम होने पर उससे मेल

---

१. ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे।
प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा।
धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः।
प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपा कृतिस्तदा।
उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादराम्बहिः।
धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम्। सा० द० ३/६३

२. तर्जयेत्ताडयेदन्या प्रत्येक ता अपि द्विधा।
कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणय प्रति।
मध्या प्रगल्भयोर्भेदास्तद्वद् द्वादश कीर्तिताः।
मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीया भेदास्त्रयोदश।
परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढ़ा कन्यका तथा।— सा० द० ३/६४–६५

३. यात्रादि निरताऽन्योढ़ा कुलटा गलितत्रपा। सा० द० ३/६६

४. कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना। सा० द० ३/६७

करने की इच्छा रहती है। सामान्य स्त्री केवल धन को महत्व देती है उसके लिए व्यक्तित्व का कोई अस्तित्व महत्व नहीं रखता है।

चोर, पंडे, नपुंसक, मूर्खजन, अनायास ही धन प्राप्त करने वाले, ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि वेषधारी प्रच्छन्न कामुक पुरुष प्रायः इन सामान्य स्त्रियों के अर्थात् वेश्याओं के प्रिय होते हैं। यद्यपि वेश्यायें इन के प्रति अनुरक्त नहीं होती हैं, लेकिन कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि ये वेश्यायें भी काम-वासना के वशीभूत हो कर सत्य अनुराग के साथ अपने वल्लभों के प्रति अनुरक्त हो जाती हैं। ये चाहें रक्त हों अथवा विरक्त किन्तु इनमें रति दुर्लभ है।[1]

ये सभी नायिकायें (तेरह स्वीया, एक परकीया, एक कन्या और एक सामान्या) अवस्था भेद से फिर आठ-आठ प्रकार की होती हैं।

१. स्वाधीन भर्तृका, २. खण्डिता, ३. अभिसारिका, ४. कलहान्तरिता, ५. विप्रलब्धा, ६. प्रोषित भर्तृका, ७. वासकसज्जा और ८. विरहोत्कण्ठिता।[2]

स्वाधीन भर्तृका :

रति गुण से आकृष्ट वल्लभ जिस प्रिया का संग न छोडे-ऐसी विचित्र विलासों से युक्त नायिका 'स्वाधीन भर्तृका' कहलाती है। नायक हमेशा ही नायिका के प्रति अनुरक्त रहता है।[3]

---

१. धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्य नायिका।
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद् बहिः।
काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्।
मात्रा निष्कासयेदेषा पुनः संधानकाङ्क्षया।
तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिङ्गिनश्छिन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः॥
एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी।
रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम्॥ सा० द० ३/६७–७१

२. अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडस भेदिताः।
स्वाधीन भर्तृका तद्वत्खण्डिता द्याभिसारिका।
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषित भर्तृका।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा। सा० द० ३/७२–७३

३. कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्र विभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीन भर्तृका। सा० द० ३/७४

खण्डिता

जिस नायिका का प्रिय अन्य स्त्रियों के संसर्ग में रहता हो—तथा उन अन्य नायिकाओं के संसर्ग चिन्हों से युक्त हुआ नायिका के समीप जाय—वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे—वह नायिका खण्डिता नायिका कहलाती है।[1]

अभिसारिका

काम वासना के वशीभूत हो कर यदि नायिका किसी निश्चित संकेत-स्थान पर नायक को बुलाये अथवा स्वयं जाये—वह नायिका अभिसारिका कहलाती है। ऐसी नायिकायें स्वयं संकेत के माध्यम से अथवा दूती-जन के माध्यम से नायक को बुलाती हैं।[2]

अभिसारिकायें भी अनेक प्रकार की होती हैं, वे अपनी प्रकृति और वंश की परम्परा के अनुसार अनुसरण करती रहती हैं। इनके अनुसरण के मूल में काम-वासना ही मुख्यतः रहती है। इन अभिसारिकाओं में कुलीन अभिसारिका होती है—वह अपने आभूषण के शब्दों को बन्द कर के, दबे पैरो से चलेगी तथा लोक-लज्जा के भय से घूंघट निकाल कर चलेगी।[3]

यदि वेश्या अभिसरण करेगी तो विचित्र और उज्ज्वल वेष से नूपुर और कंकणों को झनकारती हुई आनन्द के साथ मुस्कराती हुई जायेगी। उसे लोक-लज्जा का भय नहीं रहता है। यदि दासी अभिसरण करेगी तो नशे से अटपटी बातें करती हुई विलास से प्रफुल्लनयन होगी और बहकी-बहकी चाल से अनुकरण करेगी![4]

ये अभिसारिकायें अपने अभिसार क्षेत्र इस प्रकार निश्चित करती हैं—खेत, बगीची, जीर्ण-शीर्ण मन्दिर, अपनी दूती अथवा सखी का गृह, वन का निर्जन प्रदेश,

---

१. पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोग चिन्हितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता। सा० द० ३/७५

२. अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका। सा० द० ३/७६

३. संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाभिसरेद्यदि। सा० द० ३/७७

४. विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याभिसरेद्यदि॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याभिसरेद्यदि। सा० द० ३।७९

शून्य स्थान याने जन शून्य एकान्त, श्मसान तथा नदी आदि का तट—ये स्थान अभिसारिकाओं के संकेत स्थान होते हैं ।[1]

कलहान्तरिता—

जो क्रोध के मारे, पहले तो प्रार्थना करते हुए अपने प्राणवल्लभ को निरस्त कर दे और फिर पछताये वह कलहान्तरिता नायिका कहलाती है ।[2]

विप्रलब्धा:—

संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न आये—वह नितान्त अपमान से दग्ध हुई नायिका विप्रलब्धा नायिका कहलाती है ।[3] इस प्रकार की नायिकायें प्रायः साहित्य में अधिक होती हैं ।

प्रोषितभर्तृका

अनेक कारणों से वशीभूत हुआ अथवा वृत्ति व जीविको पार्जन के निमित्त जिसका प्रिय परदेश चला जावे—उस प्रिय की कामपीडिता नायिका प्रोषित भर्तृका कहलाती है ।[4]

वासक सज्जा:—

सजाये हुए प्रासाद में सखी जिसे सुभूषित करती हो, प्रिय समागम का जिसे निश्चय हो, वह वासक सज्जा कहलाती है ।[5]

विरहोत्कण्ठिता:—

आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ सके वह उसके न आने से नायिका 'विरहोत्कण्ठिता' कहलाती है ।[6]

---

१. क्षेत्रं बाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम् ।
मालापञ्च श्मसानं च नद्यादीनां तटी तथा ।
एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने
स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ।

२. चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या ।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा । सा० द० ३।८२

३. प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता । सा० द० ३।८३

४. नानाकार्यं वशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।
सा मनोभव दुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृ का । सा द० ३।८४

५. कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि ।
सा तु वासक सज्जा स्याद्विदितप्रियसंगमा । सा०।द० -

६. आगन्तुं कृतचित्तोपि दैवान्नायाति चेत्प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा । सा०।द०।३।८६

इस प्रकार नायिकाओं के एक सौ अट्ठाईस भेद होते हैं। उत्तम मध्यम तथा अधम इन तीन प्रकारों को जोड़ देने हुए ३८४ भेद होते हैं।[1]
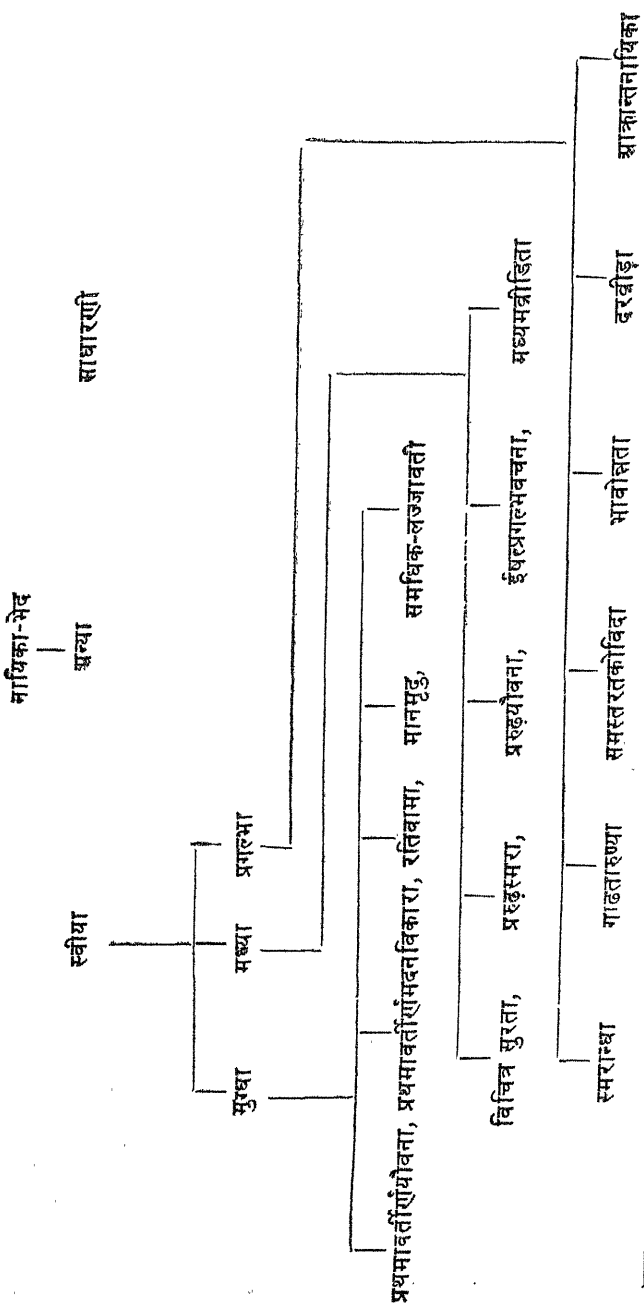
1. इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण।
चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदा:। सा० द०।३।८७

मध्या और प्रगल्भा के अन्य भेद:—
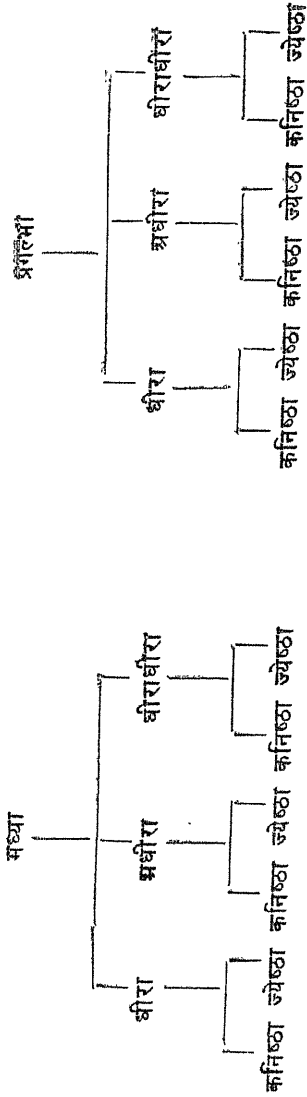
मुग्धा १, मध्या ६, और प्रगल्भा ६=१+६+६=१३ भेद

=१३+२=१५
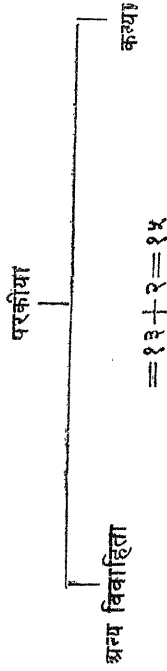
सामान्या—१ भेद। कुल १५+१=१६
स्वाधीन भर्तृका आदि भेद से १६×८=१२८
उत्तम, मध्यम और अधम भेद से १२८×३=३८४ भेद।
सूक्ष्म विचार दृष्टि से असंख्य भेद हो सकते हैं।

नायिकाओं के अलङ्कार

नायिकाओं के अङ्गज, अयत्नज, व प्रकृतिसिद्ध कुछ अलङ्कार होते है जिनकी संख्या २८ होती है। यौवन में इन अलंकारों का सहज रूप से उद्भव व विकास होता है—ये सत्वज कहलाते हैं। उन में हाव, भाव, हेला ये तीन अङ्गज कहलाते हैं। जन्म से निर्विकार चित्र में उद्बुद्धमात्र काम विकार भाव होता है भृकुटि नेत्रादि के व्यापार से सम्भोग विलास की अभिलाषा का व्यक्त होना हाव और मनोविकार की अति स्फुटता 'हेला' कहलाती हैं। इनका शरीर से सम्बन्ध होता है। शोभा कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ये सात अलङ्कार अयत्नज होते हैं। रूप, यौवन, लालित्य, सुख भोग आदि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता को शोभा कहते हैं स्मरविलास से बढ़ी हुई शोभा को ही कान्ति कहते हैं। इन दशाओं में रमणीय होने का नाम माधुर्य है। निर्भयता का नाम प्रगल्भता है। आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल मनोवृत्ति को धैर्य कहते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित, विभ्र म, ललित, मद, मोहायित, कुट्टमित विहृत, तपन, मौग्ध्य विक्षेप, कुतुहल, हसित, चकित, और केलि ये अठारह स्वभाव सिद्ध अलंकार हैं।[1] प्रियतम का अनुकरण लीला, नेत्रादि के व्यापार को विलास, कान्ति को बढ़ाने वाली वेश-रचना विच्छित्ति, अभिलषित वस्तु में अनादर दिखाना बिब्बोक, प्रिय वस्तु के मिलने पर मिश्रित भाव-प्रदर्शन, किल-किंचित, प्रिय प्रसग में कान खुजाने आदि की चेष्टा मोहायित, हर्ष में घबराहट के साथ अंग प्रदर्शन कुट्टमित, 'शीघ्रता व संभ्रम में आभूषणों का एक दूसरे स्थान पर धारण करना विभ्रम, अंगों की सुकुमारता ललित, सौभाग्य, यौवन आदि के घमड से उत्पन्न मनोविकार को मद, लज्जा के कारण कहने के समय की बात न कहना विहृत, प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं की तपन, परिचित वस्तु को भी प्रिय के आगे अनजानेपन से पूछना मौग्ध्य, वल्लभ के समीप भूषणों की आधी रचना और बिना कारण ही इधर-उधर देखना विक्षेप, रमणीय वस्तु को देखने के लिए

---

१. यौवने सत्वजास्तासामष्टविंशति संख्यकाः ।
अलंकारास्तत्र भाव हाव हेलास्त्रयोऽङ्ग जा ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्न जाः ॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्बोकः किलकिञ्चितम् ।
मोहायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ।
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्चः कुतुहलम् ।
हासितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ।
स्वभावजश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि । सा० द० । तृतीय परिच्छेद ।

चंचल होना कुतुहल यौवनोद्गम से उत्पन्न अकारण हास को हसित, प्रिय के आगे अकारण डरना चकित, कान्त के साथ विहार में कामिनी की क्रीड़ा केलि कहलाती है।

नायिकाओं में अनुराग चेष्टाएं इस प्रकार होती हैं—अपने प्रियतम के समीप बहुत समय तक ठहरने को सौभाग्य समझती हैं। प्रियतम के सामने अलंकारों के बिना जाना अच्छा नहीं लगता है। कोई-कोई नायिका तो अपने बाल और वस्त्रों को ठीक करने के ब्याज से अपने बाहुमूल, स्तन और नाभि को स्पष्टतः दिखा देती हैं। प्रियतम के सेवकों को मधुर वाणी आदि से संतुष्ट करती रहती हैं। प्रिय के मित्रवर्ग का विश्वास करती है एवं उनका सम्मान करती हैं। सहेलियों के बीच प्रिय के गुणों का बखान करती रहती हैं और अपनी सम्पत्ति भी बाँट देती हैं। प्रिय के सोने पर सोती है, दुःख-सुख में उसी स्थिति में जीती है। दूर से देखते हुए प्रिय के दृष्टिपथ में स्थित होकर अपने परिजन के आगे कामविकारों का वर्णन करती हैं। कुछ भी देख कर हँस पड़ती है, कान खुजाना, चोटी खोलना, जंभाई व अंगड़ाई लेना, बालक का आलिङ्गन व चुम्बन लेना, सखी के भाल पर तिलक लगाना, पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदना, कटाक्ष, करना, होट चबाना, नीची गरदन करके देखना, स्थान न छोड़ना, नायक के घर आना (किसी भी बहाने) दी हुई वस्तु को लेना बार-बार देखना, उससे मिलने पर प्रसन्न होना और उसके वियोग में कृश होना आदि अनुराग चेष्टायें हैं।[1]

---

१. चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलंकृता।
कापि कुन्तलसंव्यान संयम व्यपदेशतः।
बाहूमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत्स्फुटम्।
आल्हादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान्।
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥
सखीमध्ये गुणान्ब्रूते स्वधनं प्रददाति च।
सुखे स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः।
आभाषते परिजनं सम्मुख स्मरविक्रियम् ॥
यत्किंचिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा
कर्णकण्डूयनं तद्वत्कबरी मोक्ष संयमौ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति।
भाले तथा वयस्याया रचये तिलकक्रियाम् ॥
अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते।
दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते।
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥
दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्गे मुहुरीक्षते।
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥

नायिका अपने प्रिय के स्वभाव को बहुत अच्छा मानती हैं, और उसकी प्रिय वस्तुओं को प्रिय मानती है। थोड़े मूल्य की वस्तुएं माँगती है और शयन में विमुख नहीं होती। कान्त के सामने आने पर सात्विक विकारों को प्राप्त होती हैं एवं अनुरागवती रमणी प्रिय और सत्य तथा स्नेहपूर्ण भाषण करती है। इसमें नवोढ़ा की चेष्टायें अधिक लज्जा से युक्त होती हैं। मध्या की चेष्टायें कम शर्मीली होती हैं। परकीया, प्रगल्भा एवं वेश्याओं की चेष्टायें लज्जाविहीन होती हैं।[1]

इन नायिकाओं की दूती होती हैं—इनमें सखी, नटी, दासी, धाय की लड़की, पड़ौसिन, बालिका, सन्यासिनी, धोबिन, रंगरेजिन, तमोलिन आदि होती हैं।[2]

दूतियों के लिए ये आवश्यक गुण कहे गये हैं:—कलाओं में कुशलता, उत्साह, स्वामिभक्ति, दूसरे के अभिप्राय को समझना, अच्छी स्मृति, वाणी में मधुरता भाव भरी वक्रोक्ति आदि गुण होने चाहिये। ये दूतियाँ भी तीन प्रकार की होती हैं उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की कही गई हैं।[3] संस्कृत साहित्य में इस प्रकार नायक-नायिका व अन्य पात्रों के संदर्भ में विशद् रूप से उल्लेख किया गया है। दर्पणकार के अतिरिक्त अन्य लक्षणकारों ने भी इसी प्रकार लक्षण स्वीकार किये हैं।

इन्हीं लक्षणों के अनुसार संस्कृत-साहित्य में पात्रों की कल्पना की गई है और इन्हीं के आधार पर पात्रों के चरित्र प्रस्थापित किये गये हैं। आदर्श पात्रों की योजना में ये ही लक्षण पाये जाते हैं, कविगण इन लक्षणों का समावेश करना ही अपना धर्म समझते रहे हैं। ये सभी नायक-नायिकायें शृंगार रस से सम्बन्धित हैं–अतः इनके विलासजन्य वातावरण और चरित्र का मूल्यांकन हो पाया है न कि अन्य दृष्टि से।

---

१. मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम्।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते।।
विकारान्सात्विकानस्य सम्मुखीनाऽधिगच्छति।
भाषते सूनृतं स्निग्धमनुरक्ता नितम्बिनी।
एतेस्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रिया।
मध्यव्रीडानि मध्यायाः सस्मानत्रपाणि तु।
अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोषितः। सा० द० ३।१२७

२. दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी।
बाला प्रव्रजिता कारुः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा। सा० द०।३।१२८

३. कला कौशल मुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः।
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः।
एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः।। सा० द०।

आज के साहित्यकार और संस्कृत साहित्य के साहित्यकार की दृष्टि और विचारधारा में महान अन्तर आ गया है। आज का साहित्यकार रूढ़ नहीं रहा है और न श्रृंगार का सजीव व सरस चित्रण करना ही अपना मूल उद्देश्य मानता हैं। आदर्श पात्रों की कल्पना में संस्कृत-साहित्य के लक्षणों का समावेश किया जाना युक्ति सङ्गत नहीं रहा है। हर युग अपने वातावरण एवं परिस्थितियों के अनुकूल लक्षण निर्धारित करता है, और उन्हीं लक्ष्यों पर पात्रों की योजना स्वीकार की जाती रही हैं। मान्यताओं का हर युग में पुनर्मूल्यांकन होता हैं, नये सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं, नये मूल्य प्रस्थापित किये जाते हैं किन्तु परिवर्तनशील विचारधाराओं के उपक्रम में भी नैतिक मूल्य सारस्वत रहते हैं। सम-सामयिक परिवर्तनशील स्थितियों से नैतिक-मूल्यों पर किसी प्रकार की आँच नहीं आती है।

रचनाकार कथा के प्रस्तुतीकरण के हित पात्रों की सर्जना करता है। रचनाकार के समक्ष पात्रों के लिए बहुत बड़ा संसार है - जहाँ से वह पात्रों का चयन करता है। रचना में यथार्थवाद की स्थापना पर सर्वाधिक बल दिया जा रहा है। पात्रों के चरित्र को यथावत् प्रस्तुत किये जाने की प्रक्रिया को सम्बल मिला है। १९ वीं शताब्दी तक रचनाकार अपनी रचनाओं के लिए आदर्श-पात्रों का चयन करता रहा है। ऐसे पात्रों में राष्ट्र-प्रेम, त्याग-भावना, कर्तव्यशीलता, सहयोग-भावना आदि की वृत्तियाँ विद्यमान रहती रही हैं। महाकवि तुलसीदास ने 'राम चरित-मानस' के माध्यम से आदर्शवाद की प्रस्थापना की है। मानस के पात्रों में सद् के प्रति प्रवृत्ति और असद् के प्रति निवृत्ति का समायोजन किया गया है। मानस के पात्र इतने आदर्शनिष्ठ हैं कि आज भी मानवीय-चेतनाओं को कर्तव्य के प्रति प्रेरित करने में सारस्वत सिद्ध हैं। इसी परम्परा को लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों ने अनेक-पात्रों की सर्जना की।

प्रसाद-युग आदर्शवाद की प्रस्थापना के लिए सर्वाधिक श्रेष्ठ भूमिका निभाने के लिए सिद्ध रहा। हरिऔध की राधा, गुप्त की यशोधरा व उर्मिला, प्रेमचन्द का होरी व धनिया आदि पात्र अपने चरित्र की अमिट छाप आज भी अंकित किये हुए हैं। ये सभी पात्र आदर्श पात्र हैं। पात्र तो सभी श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं किन्तु आदर्श-पात्र से हमारा यह तात्पर्य है कि यथार्थ में विसंगतिपूर्ण यायावरी जीवन को जीते हुए भी त्याग एवं कर्तव्य-भावना के प्रति ईमानदार रहते हुए सद् के प्रति प्रवृत्त रहते रहे हों।

'आदर्श' शब्द की व्याख्या के संदर्भ में अनेक विद्वानों ने अपनी पृथक्-पृथक् मान्यतायें व्यक्त की हैं। इस संदर्भ में आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन हैं—

"मनुष्य में सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियन्त्रण करने लगता है, वह साहित्य में आदर्शवाद का युग आता है।.......... इसकी कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, तथापि आशामय वातावरण का आलोक उत्साह भरे उदात्त कार्य, आदर्शवादी कृतियों में देखे पहचाने जा सकते हैं।...... .. वह आदर्श धन्य हैं, जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोल कर सरस शीतल समीर का संचार करता है और हमारे मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान कर आत्म तृप्ति की व्यवस्था करता है।"[१] आचार्यजी की मान्यता है कि रचनाकार के आदर्शवाद की भावना स्वत: ही रहती है और जब वह असद् वृत्तियों का दमन करता हुआ व्यापक सद्वृत्तियों का संग्रह करना आरम्भ करता है तो आदर्शवाद का युग जन्म ले बैठता है। हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी आदर्श को अनिवार्य रूप से स्वीकारते हुए कहा है:—

"आदर्श की रेखायें कल्पना के सुनहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जाये और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के मूलों का सहारा देना आवश्यक है।"[२]

आदर्श एवं यथार्थ के अन्तर को व्यक्त करते हुए कहा है:—

"आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का बालक है और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक। अत: उनकी अन्योन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है। उनकी गति विपरीत दिशोन्मुखी होकर भी जीवन की परिधि के दो ओर से स्पर्श करने का लक्ष्य रखती है।"[३]

आदर्श शब्द भारतीय है—जिसका संस्कृत व्युत्पत्ति की दृष्टि से आ-समन्तात् दर्श अर्थात् चारों ओर से देखना है। आदर्श दर्पण के लिए ही प्रयोग में लाया जाता है—जिसमें मानव अपने प्रतिबिम्ब के रूप को व्यक्त करता है। जीवनप्रकाश जोशी ने आदर्श शब्द के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है:—

"जो है वह सब सत्य है। किन्तु जो है, उसके दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। जो व्यक्त है, वह प्रकृति है, परिवर्तनशील है और जो अव्यक्त है, वह नित्य है किन्तु अदृश्य है।

इस अव्यक्त किन्तु नित्य को अंग्रेजी में आइडिया कहते हैं यानी भावानात्मक जिसमें आइडियलिज्म या आदर्शवाद शब्द बना।

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी

२. महादेवी वर्मा

३. यथोपरि

दार्शनिक आदर्शवाद के लिए यूनानी दार्शनिक प्लेटो, तथा जर्मन के कांत, शीतर, शीलिंग, हीगेल, ग्रीन आदि प्रसिद्ध हैं। इन दार्शनिकों ने, भारतीय अद्वैतवाद की भाँति, पूर्ण और परम सत्य की स्थापना की। उन्होंने व्यक्त सत्य को, रियलिटी को, मिथ्या माना।"[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने आदर्शवाद पर तर्क संगत विचार करते हुए व्यक्तीकरण के लिए इसे स्वीकारा है किन्तु कालान्तर में यथार्थवाद एवं अतियथार्थवाद की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी। भारतीय साहित्यकार सदा से ही आदर्शवादी रहा है—वह असद् को सद् में ढालने की ओर प्रवृत्त रहा है श्री जोशी ने कहा है—

"भारतीय साहित्य में, अतीतकाल से आदर्श की स्थापना ही प्रधान रही। इसके कई कारण रहे। पहला तो मुख्यत: यह कि हमारे यहाँ जीवन की इयत्ता भौतिकवाद में नहीं देखी गई। जीवन का उद्देश्य है सद् कर्म करना और लक्ष्य है अन्तत: आनन्द पाना। विकृत कामों से ही जीवन में दु:ख मिलता है, जिसका चित्रण हमारे यहाँ के साहित्यकारों ने अपने उच्च साहित्य में करना उचित न समझा। यदि किसी तामसी आदर्श रावण या कंस जैसे नर-राक्षस का चित्रण भी किया गया है, तो अन्तत: उसका अंत राम या कृष्ण जैसे सात्विक आदर्श में महापुरुषों द्वारा करा दिया गया है। इस प्रकार हमारे यहाँ जहाँ पर भी यथार्थ का चित्रण किया गया, वहीं उसमें सात्विक आदर्श की महत्ता स्थापित कर दी गई है। फिर प्राचीनकाल में जीवन का भौतिकवादी पक्ष भी आज की तरह प्रधान नहीं था। दिव्य जीवन की साधना में लीन रहना सभी अधिक पसन्द करते थे।"

भारतीय-साहित्य को मूल्यांकन करने पर यह स्वत: ही सिद्ध होता है कि भारतीय साहित्य पर आदर्शवाद का गहरा प्रभाव रहा है—यही कारण है कि भारतीय-संस्कृति सदैव सारस्वत निष्ठामय सूत्र प्रदान करती रही। रीतिकालीन काव्य-परम्परा में देशकाल व वातावारण का प्रभाव है—जिससे विलासजन्य स्थितियो को उभार मिल पाया किन्तु समय की माँग के अनुसार पुन: रचना क्रम में परिवतन आया और आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भकाल ने आदर्शवाद को सर्वसम्मत रूप में स्वीकारा। प्रेमचन्द व अन्य साहित्यकारों ने यथार्थवाद की ओर अपने विचारों को व्यक्त किया किन्तु अन्तत: यथार्थवादो विचारधारा ने आदर्शमुखोन्वादी भावना का रूप धारण कर लिया। आज यथार्थवाद को लेकर जिन विसंगतियों एवं विभ्रमताओं को व्यक्त किया जा रहा है यह सब कुछ रचना का उद्देश्य नहीं कहा जा सकता है।

---

१. जीवन प्रकाश जोशी (साहित्य में आदर्श और यथार्थ)

रचना का उद्देश्य अत्यन्त व्यापक है, युग बोध की स्थितियों को सृजन की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। आज हम इस तथ्य को नहीं समझ पा रहे हैं किन्तु कालान्तर में इन विसंगतियों की सड़ान्ध से ऊब कर किसी ऐसे कोने की ओर भागने का प्रयास करने लगेंगें—जहाँ हृदय को आनन्दानुभूति प्राप्त हो सके। यथार्थवादी साहित्य से हमें किसी प्रकार की दिशा मिलना असम्भव है। मैं तो यहाँ तक कहना चाहूँगा कि दिशाबाध से शून्य युगबोधात्मक रचना रचना नहीं अपितु देशकाल का इतिहास मात्र है हर साहित्यकार ने अपने सृजन में युगबोध को स्थान दिया है, पर्याप्त विकास के सूत्र दिये हैं किन्तु युगबोध की विसंगतिपूर्ण वृत्तियों का विवेचन करते हुए उन्हें दोषपूर्ण सिद्ध किया है। इन वृत्तियों को प्रतीक रूप में प्रस्थापित कर सद्वृत्तियों की विजय चित्रित की है। आदर्शवादी साहित्य मानवीय जीवन की संचेतनाओं के लिए प्रेरक है मृत्युमुखी नहीं। आदर्शवाद में आशा का संचार है, आस्थाओं का मूल्य है, विश्वास का संचारण है, जीवन के प्रति निष्ठा है, और राष्ट्र के प्रति दृढ़ ईमानदारी है।

आदर्शवाद का आधार हमारी आर्य-संस्कृति है—जो मानवीय-जगत् को प्रतिक्षण अमृत-दान देने में समर्थ है। मातृ-भूमि के प्रति प्रेम, पुरुषार्थ तथा उद्योग, धैर्य तथा निर्भयता, संकल्पशील मन कर्तव्य एवं त्याग-भावना आदि प्रवृत्तियाँ आर्य-संस्कृति की देन है। भारतीय संस्कृति सत्य शिवं सुन्दरम् का मार्ग प्रशस्त करती है। हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहेंगें कि आदर्श कोई कल्पना मात्र नहीं है अथवा यथार्थ से सर्वथा विपरीत हो—ऐसी बात नहीं है अपितु यथार्थ को अपने साथ सम्पृक्त रखते हुए सद् की स्थापना मात्र है। सत्य का पर्याय ही यथार्थ है—जिसे हम सर्व प्रथम स्वीकारते हैं किन्तु इस सत्य को शिवात्मक रूप में देखना चाहते हैं—जिससे उसका विकृत स्वरूप व्यक्त न होकर सौंदर्यमय रूप ही व्यक्त हो सके। इस प्रकार की भावनाओं के साथ सृजित पात्र ही आदर्श पात्र कहा जायेगा।

पात्र—वर्गीकरण के संदर्भ में हम पात्र के तीन भेद करेगें—

(क) आदर्शवादी (ख) यथार्थवादी (ग) आदर्शमुखोन्वादी

(क) असद् वृत्तियों के मध्य संघर्षमय संचरण करता हुआ सद् वृत्तियों के प्रति पूर्ण पक्षपाती रहने वाला आदर्शवादी पात्र है।

(ख) केवल वृत्तियों का प्रकाशन मात्र ही जिसका धर्म हो-वह यथार्थवादी है।

(ग) असद् वृत्तियों के साथ संघर्ष करता हुआ अन्तिम क्षणों में सद्वृत्तिमुखी पात्र आदर्शमुखोन्वादी पात्र कहलायेगा।

प्रत्येक पात्र के पुनः ३ भेद किये जा सकते हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। इसी प्रकार इनके भी तीन भेद हो सकते हैं—उदात्त, अनुदात्त, उदात्तानुदात्त। पुनः उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद किये जा सकते हैं। इस प्रकार हम एक पात्र के २७ भेद कर पाते हैं और कुल २७ × ३ = ८१ भेद कर पाते हैं। यहाँ पात्र शब्द में नायक और नायिका का समावेश कर लिया गया है। पात्र-वर्गीकरण की स्थिति इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है:—

पात्र
आदर्शवादी
यथार्थवादी
आदर्शमुखोन्वादी
(आदर्शमुखोन्वादी अगले पृष्ठ पर देखिये)
दिव्य
दिव्यादिव्य
अदिव्य
उदात्त अनुदात्त उदात्तानुदात्त
उदात्त अनुदात्त उदात्तानुदात्त
उदात्त अनुदात्त उदात्तानुदात्त
दिव्य
दिव्यादिव्य
अदिव्य
उदात्त अनुदात्त उदात्तानुदात्त
उदात्त अनुदात्त उदात्तानुदात्त
उदात्त
अनुदात्त
उदात्तानुदात्त
उत्तम मध्यम अधम
उत्तम मध्यम अधम
उत्तम मध्यम अधम

आदर्शमुखोन्वादी
दिव्य
दिव्यादिव्य
अदिव्य
उदात्त
अनुदात्त
उदात्तानुदात्त
उदात्त
अनुदात्त
उदात्तानुदात्त
उदात्त
अनुदात्त
उदात्तानुदात्त
उत्तम
मध्यम
अधम
उत्तम
मध्यम
अधम
उत्तम
मध्यम
अधम
उत्तम
मध्यम
अधम
उत्तम
मध्यम
अधम
उत्तम
मध्यम
अधम
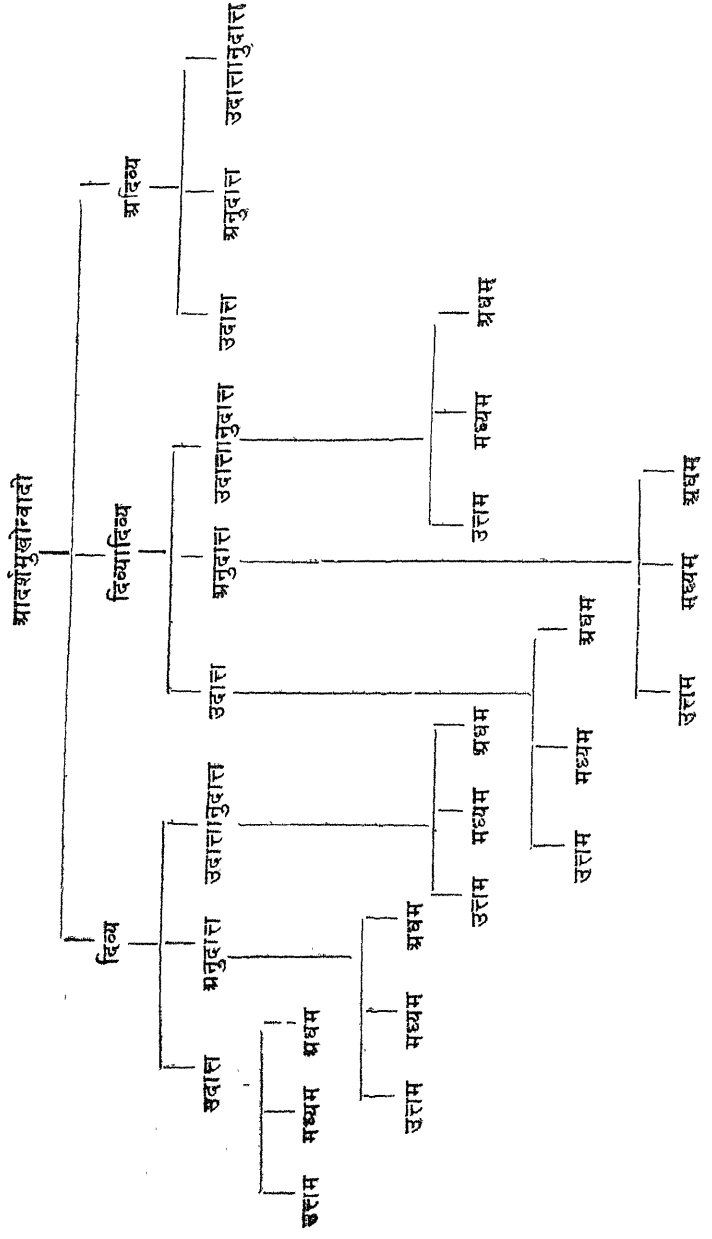
इस तरह पात्र-वर्गीकरण के अनन्तर हम मूल प्रश्न की ओर आते हैं कि—प्रसाद साहित्य में आदर्श-पात्रों की स्थापना किस सीमा तक हो पाई है। प्रसाद साहित्य पूर्णतः आदर्श साहित्य है—प्रत्येक पात्र आदर्श का पक्षपाती है। काव्य, नाटक, कथा, एवं उपन्यासों के पात्र जीवन में संघर्षशील रहते हुए अपनी उदात्त भावनाओं की अमिट मुद्रा अंकित किये बिना नहीं रह पाते हैं। आदर्शपात्रों के प्रस्तुतीकरण के लिए हम प्रसाद साहित्य को तीन भागों में विभक्त कर लेते हैं—

१. नाट्य-साहित्य के आदर्श पात्र
२. कथा-साहित्य के आदर्श पात्र
३. पद्य-साहित्य के आदर्श पात्र

———

नाट्य साहित्य के आदर्श पात्र

जनमेजय का नागयज्ञ

'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रसादजी का प्रसिद्ध पौराणिक नाटक है। इसका मूल कथानक व पात्र पौराणिक ही हैं—अतः चरित्रांकन कथा के वृत्त में ही परिवेष्टित है किन्तु प्रसादजी ने यहाँ भी अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से पात्रों में उदात्तता का पूर्ण समावेश किया है। इस नाटक के पात्र एक वृहद् व विश्वजनीन उद्देश्य को लेकर मंच पर आये हैं, वैयक्तिक भावनाओं के भीतर सार्वजनीन भावनाओं का समुदय स्वतः ही परिलक्षित होता है। इनके वैयक्तिक प्रश्न मानवतावादी दृष्टिकोण से सम्पृक्त रहे हैं। इस नाटक में सभी तरह के पात्रों की समायोजना की गई है। नाटक के सम्पूर्ण पात्र इस प्रकार हैं:—

पुरुष—पात्र

जनमेजयः इन्द्रप्रस्थ का सम्राट।
तक्षकः नागों का राजा।
वासुकिः नाग सरदार।
काश्यपः पौरवों का पुरोहित।
वेदः कुलपति।
उत्तङ्कः वेद का शिष्य।
आस्तीकः मनसा और जरत्कारू का पुत्र।
सोमश्रवाः उग्रश्रवा का पुत्र और जनमेजय का नया पुरोहित।
च्यवनः महर्षि कुलपति।
वेदव्यासः कृष्णद्वैपायन।
त्रिविक्रमः वेद का दूसरा शिष्य।
माणवकः सरमा एवं वासुकि का पुत्र।
जरत्कारूः ऋषि, मनसा का पति।
चण्ड भार्गवः जनमेजय का सेनापति।

तुरकाषवेयः जनमेजय का ऐन्द्र महाभिषेक कराने वाला ।
अश्व सेनः तक्षक का पुत्र ।
भद्रकः जनमेजय का शिकार ।
शौनकः एक प्रधान ऋषि और ब्राह्मणों का नेता ।
दौवारिक, सैनिक, नाग व दास आदिः अन्य सामान्य पात्र ।

नारी–पात्र

वपुष्टमाः जनमेजय की रानी ।
मनसाः जरत्कारु की स्त्री और वासुकि की बहिन ।
सरमाः कुकुर वंश की यादवी ।
मणिमालाः तक्षक की कन्या ।
दामिनीः वेद की पत्नी ।
शीलाः सोमश्रवा की पत्नी ।
दासियाँ और परिचारिकाएं आदिः अन्य सामान्य स्त्री पात्र ।

इस नाटक का नायक (प्रमुख पात्र) जनमेजय है किन्तु आदर्शवादी उदात्त पात्र नहीं कहा जा सकता है । आदर्शमुखोन्वा ी दिव्यादिव्य पात्रों में इसकी गणना की जा सकेगी । भारतीय शास्त्र-परम्परानुसार यह नायक के योग्य है—अर्थात् शास्त्रानुसार सभी लक्षण इस नायक में पाये जाते हैं किन्तु आज हम भिन्न ही दृष्टि से मूल्यांकन कर पाते हैं । आज का युग उस युग से सर्वथा भिन्न था—आज परि-स्थितियाँ और विचारधारायें परिवर्तित हो चुकी हैं, आज से अतीत की तुलना यद्यपि तर्क संगत नहीं कहीं जा सकती है किन्तु कुछ मूलभूत प्रश्न ऐसे होते हैं जो अपना सास्वत मूल्य रखते हैं – उन पर युग-परिवर्तन का स्थाई प्रभाव नहीं रह पाता है । ऐसे प्रश्नों के संदर्भ में हमें प्रत्येक प्रमुख पात्र का गम्भीरता से अध्ययन करना होगा ।

जनमेजय राजा परिक्षित का पुत्र था । जनमेजय ऐतिहासिक पात्र है । महाभारत में इसके संदर्भ में विशद् उपाख्यान प्राप्त होता है । जनमेजय ने पाण्डवों के राज्य इन्द्र-प्रस्थ पर शासन किया । इसका शासनकाल निरन्तर विघ्नों से आपूरित रहा । जीवन भर षड्यन्त्रों को विफल करने तथा अभिसन्धियों के दुष्चक्रों को तोड़ने में समय व्यतीत हुआ—इन विघ्नों की पृष्ठ भूमि में स्वार्थी राजपुरोहितों की अन्धी भावना और नाग-जाति का प्रतिशोधात्मक व्यवहार था । इन सभी प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित रहने पर भी जनमेजय में साहस का अक्षुण्ण भंडार था; वह प्रतिक्षण आर्य-परम्पराओं के निर्वहण के निमित्त अपने क्रोध को दबा लेता था । तत्कालीन्-युग में, ब्राह्मण-संस्कृति का साम्राज्य था; शासक-वर्ग पर पुरोहितों का नियन्त्रण था । पुरोहित गण शासन-व्यवस्था में पूर्णतया हस्तक्षेप करने की प्रक्रिया में जी रहे

थे। राजा के नियन्त्रण से बाहर होने पर वे अप्रसन्न हो उठते थे तथा क्रुद्ध होकर राज्य सभा छोड़ जाया करते थे। शासक-गरण उनके अप्रसन्न होने से भयभीत हो उठते थे। जनमेजय भी वन्य-जातियों के निरन्तर उपद्रव से संत्रस्त हो उठा था—और उनके दमन के निमित्त युद्ध-यात्रा करना चाहता था लेकिन पुरोहित काश्यय इस संदर्भ में आज्ञा नहीं दे पा रहे थे। राजा जनमेयज ने पुरोहित काश्यय की अवज्ञा की और वन्य-जातियों पर आक्रमण कर के सदा के लिए दस्यु-जातियों की उच्छृंखलता को समाप्त कर दिया। जब विजय-यात्रा से लौट कर आया तो काश्यपादि पुरोहितों ने महाभिषेक कराने से इन्कार कर दिया—उस समय राजा जनमेजय ने महर्षि तुर कावषेय से कहा—"भगवन् ! फिर भी कोई सीमा होनी चाहिये। राजपद का इतना अपमान !"[1] राजा जनमेजय के विचारों में राष्ट्र सर्वोपरि था - वह व्यक्तिवाद की भावना से ग्रस्त नहीं था। यद्यपि वह स्वयं व्यक्तिवादी शासक था किन्तु उसके विचारों में जन-हित की भावना का महत्व सर्वाधिक था। उसने पुरोहितों की अवज्ञा की किन्तु यह अवज्ञा उसके अहं की परिणिति नहीं कही जा सकती है अपितु उसकी वैचारिक-क्रान्ति की सफल परिणिति सिद्ध होती है। वह अपने पुरोहितों से खिन्न हो उठा था लेकिन महर्षि तुरकावषेय की मंत्रणा व आदेश के कारण पारम्परिक मर्यादाओं को तोड़ने में सफल नहीं हो सका—अपितु अपने पुरोहित को आमन्त्रित कर ससम्मान सत्कार किया। आर्यावर्त की परम्परित संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की रक्षा के निमित्त राजा जनमेजय ने अपनी वैचारिक क्रान्ति को दबा दिया। वह काश्यप के आने पर यही कहता है—" भगवन् ! यह पौरव जनमेजय प्रणाम करता है। चाहे मुझसे और जो भूल हुई हो, किन्तु दक्षिणा मैंने किसी को नहीं दी। वह आप ही के लिए रक्खी है।[2] राजा के हृदय में ब्राह्मणों के प्रति अगाध श्रद्धा थी किन्तु स्वार्थी एवं लोलुप व्यक्तियों के प्रति वह घृणा से भर उठा था। एक ओर काश्यप के प्रति वह खिन्न था तो दूसरी ओर महर्षि तुर के प्रति श्रद्धावान भी। वह ब्राह्मणों को ही राष्ट्र का संरक्षक मानता था। उसने अपनी रानी वपुष्टमा से 'तुर' के विषय में कहा—"सम्राज्ञी ! वे तपस्वी हैं, त्यागी हैं, महात्मा हैं, उन्होंने कहा— हम राष्ट्र की शीतल छाया में रहते हैं। इसलिये हमारा कर्तव्य था कि प्रजा-हितैषी विजयी राजा का ऐन्द्रमहाभिषेक करें, और दक्षिणा के अधिकारी तो आपके पुरोहित काश्यप हैं ही।"[3] काश्यप पुरोहित के प्रति वह घृणा से भर उठा था, क्योंकि वह इन तथ्यों से अच्छी तरह परिचित हो उठा था कि

---

१. जनमेजय का नाग यज्ञ पृ० सं० १८

२. यथोपरि पृ० सं० २१

३. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० २३

काश्यप के कारण ही उसके पिता परीक्षित की हत्या हुई है तथा काश्यप ही राष्ट्र-विरोधी नीतियों का समर्थक है एवं नाग-जाति के साथ मिल कर उसके शासन को उखाड़ने के लिए षड़यन्त्र रचता है—इतना सब कुछ जानने पर भी वह क्षमाशील बना रहा—यह उसकी गहन उदात्तता का परिचायक है।

जनमेजय आर्य-संस्कृति का समुपासक रहा है। उसने कर्मकाण्ड के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया। दुर्योग से उसके हाथ से भी ब्रह्महत्या जैसा जघन्य पाप हो गया– वह उसके प्रायश्चित स्वरूप परम्परित अश्वमेध यज्ञ करने के लिए प्रस्तुत हुआ। श्री जयशंकर प्रसाद ने प्राक्कथन में उल्लेख किया है:—"भारतवर्ष में यह एक प्राचीन परम्परा थी कि किसी क्षत्रिय राजा के द्वारा कोई ब्रह्महत्या या भयानक जनक्षय होने पर उसे अश्वमेध यज्ञ कर के पवित्र होना पड़ता था। रावण को मारने पर श्री रामचन्द्र ने तथा और भी कई बड़े-बड़े सम्राटों ने इस यज्ञ का अनुष्ठान कर के पुण्य लाभ किया था। कलियुग के प्रारम्भ में पाण्डवों के बाद परीक्षित के पुत्र जनमेजय एक स्मरणीय शासक हो गये हैं। भारत के शान्ति-पर्व अध्याय १५० में लिखा हुआ मिलता है कि सम्राट जनमेजय से अकस्मात् एक ब्रह्म-हत्या हो गई, जिस पर उन्हें प्रायश्चित् स्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा।"[1] राजा जनमेजय द्वारा जरत्कारू ऋषि की अनजाने में हत्या हो गई थी और इसी ब्रह्महत्या से मुक्त होने के लिए राजा अश्वमेध यज्ञ करना चाहता था। राजा ब्रह्महत्या होने पर अपने-आप में क्षुब्ध हो उठता है और वह ऋषि जरत्कारू से याचना भरे शब्दों में कहता है—" अनर्थ हो गया! हाय रे भाग्य! आए थे मृगया खेल क हृदय को बहलाने; यहां हो गया ब्रह्महत्या का महापातक! तपोनिधे! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा? आप कौन हैं? आपकी अन्तिम आज्ञा क्या है? तपोधन! मेरा हृदय मुझे धिक्कार की ज्वाला में भष्म कर रहा है। मैं ब्रह्महत्या का अपराधी हुआ हूं। भगवन् क्षमा करें।"[2]

राजा अपने कृत्य से अत्यन्त दुःखी है। अकस्मात् ही उससे भयङ्कर अपराध हो गया—उस क्षण वह सहज रूप से महर्षि जरत्कारू के शब्दों को दोहराता हुआ कहलाता है—"सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।"[3]

जनमेजय उन क्षणों में अपने आप से भिन्न कर्त्ता की स्थिति को स्वीकारता है। वह द्वन्द्व से मुक्त हो कर चेतना की प्रक्रिया को समझने लगता है। वह इसी

---

१. यथोपरि प्राक्कथत पृ० सं० १
२. यथोपरि पृ० सं० ४३
३. यथोपरि पृ० सं० ४३

निर्णय पर पहुंचता है कि वह कर्त्ता नहीं है अपितु नियति का एक खिलौना है, प्रकृति का अनुचर हो कर नियन्ता के संकेतों पर चलने वाला साधन मात्र है। उसका जिज्ञासु मन आत्म-चिन्तन की परतों को खोजता हुआ यही कहता है: —"मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, या उसकी क्रीड़ा का उपकरण ! फिर क्यों वह अपने आपको कुछ समझता है ? आज इस आश्रम के महर्षि से इसका रहस्य जानना चाहिये, अहा ! कैसा पवित्र स्थान है ! और यह देव द्वन्द्व भी कैसा मनोहर है ?"[1]

राजा का अशान्त मन शान्ति प्राप्त करने के लिए स्थान-स्थान पर भटकता रहता है। एक ओर वह स्वयं आत्म-ग्लानि से भरा हुआ है और दूसरी ओर काश्यप जैसे षड़यन्त्रकारी पुरोहित उसके अस्तित्व को लुप्त करने के लिए जनमेजय के व्यक्तित्व पर लाँछन लगाने में सक्रिय है। ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में राजा अपने धैर्य से विचलित नहीं हुआ। उत्तङ्क से वह यही कहता कि —"भगवन् ! यह तो ठीक है, पर मुझसे अनजाने में जो ब्रह्महत्या हो गई, उससे मैं और भी खिन्न हूं। काश्यप मुझ पर अभियोग लगाते हैं कि मैंने जानबूझ कर यह ब्रह्महत्या की। ब्राह्मण वर्ग और आरण्यक-मंडल भी इसमे कुछ असन्तुष्ट हो गया है। पौर, जानपद आदि सब लोगों में यह आतङ्क फैलाया जा रहा है कि राजा यौवन-मद से स्वेच्छाचारी हो गया है, वह किसी की बात नहीं सुनता। इधर जब मैं आपसे तक्षक द्वारा अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य सुनता हूं, तो क्रोध से मेरी धमनियाँ बिजली की तरह तड़फने लगती हैं। किन्तु मैं क्या करूं ? परिषद् भी अन्यमनस्क है। और कर्मचारी भी इस आतङ्क से ड़रे हुए हैं ! वे बेमन का काम कर रहे हैं।"[2] राजा के वचन सुनकर उत्तङ्क उसे दयनीय स्थिति से बाहर लाने का प्रयास करता है, साथ ही उसमें प्रतिशोध की भावना को जन्म देता है; राजा से अश्वमेध यज्ञ करने के लिए अनुरोध करता है किन्तु राजा अपने आपको कर्म के निमित्त स्वतंत्र नहीं मानता है, वह स्वयं को नियति के वशीभूत ही स्वीकारता है। यहाँ आकर राजा जनमेजय नियतिवादी हो जाता है तथा अपने आप को तटस्थ सिद्ध करने का प्रयास करता है किन्तु उत्तङ्क राजा के दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में सफल हो जाता है—और राजा के मानस में प्रतिहिंसा के भाव जागृत हो उठते हैं—और वह यही कह उठता हैं—"आर्य उत्तङ्क ! पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता हैं कि अश्वमेध पीछे होगा, पहले नागयज्ञ होगा !"[3]

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ४७
२. यथोपरि पृ० सं० ५७
३. यथोपरि पृ० सं ५८

राजा का उदार व्यक्तित्व यहाँ आकर लड़खड़ाने लगता है किन्तु उसमें भी मानवीय प्रवृत्तियाँ थी और समय पाकर उनका उदय होना भी सहज बात ही थी। प्रत्येक मानव-मन में प्रतिहिंसा के भाव जागृत होना स्वाभाविक है और फिर राजा जनमेजय के लिए तो प्रतिशोध की भावना का उदय होना स्वाभाविक ही था। नाग जाति का आर्यों के साथ अनेक वर्षों से संघर्ष चला आ रहा था। नाग-जाति अपने सोये हुए राष्ट्र को पुन; प्राप्त करने के लिए षड़यन्त्रों में लगी हुई थी। नाग-जाति का उत्पात व राष्ट्र के लिए विप्लव उत्पन्न करना—एक समर्थ शासक के लिए असह्य था। काश्यप का अभिसन्धिपूर्ण सहयोग घृत में आहूति डाल रहा था। अपने पिता की हत्या का वृत्तान्त भी राजा को प्रतिशोध के लिए उत्तेजित कर उठा था। राजा जनमेजय कायर व अपमानपूर्ण जीवन-क्षण जीना पसन्द नहीं करता था—वह वीर क्षत्रिय था—सम्मानपूर्ण जीवन जीना ही श्रेयस्कर मानता था।

वह पुरुष था और शौर्य ही पौरुष का सहज-धर्म है इसको स्वीकारते हुए उसने अपनी पत्नी वपुष्टमा से कहा—"यही उनकी भाग्यलिपि है, अदृष्ट है। क्या वे विलास, प्रमोद और ललित कला के सुकुमार अङ्क में समय नहीं व्यतीत करना चाहते ? किन्तु क्या करें ?"[1] जनमेजय स्वयं शान्तप्रिय मानवतावादी जीवन जीने की लालसा रखता है किन्तु परिस्थितियों ने उसे हिंसात्मक मार्ग के लिए उत्तेजित कर दिया था। वह ब्राह्मणों की प्रेरणा से अश्वमेध यज्ञ के लिए प्रेरित हुआ था और प्रतिशोध की आग ने उसे नागयज्ञ के लिए उत्तेजित किया था। राजा जनमेजय के जीवन में बड़ा भारी विरोधाभास था। एक ओर वह विनीत शान्तिप्रिय प्रजावत्सल व मानवतावादी दिखाई देता है तो दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व में क्रूरता का आभास होने लगता है। वह विनयशील छात्र की तरह वेदव्यास के आश्रम में अपने भविष्य के प्रति चिन्तित है। वह अश्वमेध यज्ञ के लिए प्रवृत्त होता है—सहसा यज्ञ में विघ्न उपस्थित हो जाते हैं—इन विघ्नों की भूमिका में काश्यप व अन्य ब्राह्मणों का षड़-यन्त्र होता है। जनमेजय की महिषी को छिपा देना जैसा कलुषित कार्य होता है। इन परिस्थितियों में जनमेजय का साहस बौखला उठता है—"चुप रहो ! तुम्हें लज्जा नहीं आती ! ब्राह्मण होकर ऐसा गर्हित कार्य ! शत्रु से मिलकर महिषी को छिपा देना ! ये सब मुझे लज्जित करने के उपाय हैं। मैं अवश्य इसका प्रतिशोध लूँगा। क्रोध से मेरा हृदय जला जा रहा है। इसी अनल-कुण्ड में तुम सब की आहूति होगी।"[2]

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ५६

२. यथोपरि पृ० सं० ११३

राजा जनमेजय ब्राह्मण-संस्कृति से क्षुब्ध हो उठता है; सहसा उसकी श्रद्धा घृणा में परिवर्तित हो जाती है। वह अपने शासन में ब्राह्मणों का सदा ही सम्मान करता रहा था; नम्रता के साथ उनकी आज्ञा-पालन को धर्म स्वीकारता रहा था। उसने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि ब्राह्मणों के उदार तपस्वी व्यक्तित्व में प्रतिहिंसा, प्रभुत्व का लोभ एवं षड़यन्त्रकारी भावनाओं का उदय भी सम्भव हो सकता है। वह ब्राह्मण-समाज को ही विनष्ट कर देना चाहता था किन्तु उसने समन्वयात्मक भावना के साथ काम लेते हुए यही आदेश दिया—"तुम लोगों को इसका प्रतिफल भोगना होगा। यह क्षात्र-रक्त उबल रहा है। उपयुक्त दण्ड तो यही है कि तुम सबको इसी यज्ञकुण्ड में जला दूँ, किन्तु नहीं, मैं तुम लोगों को दूसरा दण्ड देता हूँ। जाओ, तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ। आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेध आदि यज्ञ नहीं करेगा। तुम सरीखे पुरोहितों की अब इस देश में आवश्यकता नहीं। जाओ, तुम सब निर्वासित हो।"[1]

जनमेजय परिस्थितियों के चक्रजाल में उलझता हुआ अपना सौम्य व उदात्त चरित्र भुला बैठा और असहिष्णु होता हुआ प्रतिहिंसा के मार्ग का अनुसरण करने लगा। उसकी क्रोधाग्नि के सामने ब्राह्मण-समुदाय व नाग-जाति थी। वह ब्राह्मणों को अपने राज्य से निर्वासित होने की आज्ञा दे चुका था; पौरोहित्य की समाप्ति का सकेत दे चुका था—साथ ही समस्त नाग-जाति को अग्नि-कुंड में स्वाहा कर देना चाहता था। उसने उत्तङ्क से कहा—"उत्तङ्क! कुछ मत सुनो! घृत डालकर वह्नि प्रज्वलित करो! (अनुचरों से) एक-एक करके नागों को इसी में डालो! आज मैं क्षत्रियों के उपयुक्त ऐसा यज्ञ करूँगा, जैसा आज तक किसी ने न किया होगा और न कोई कर सकेगा। इस नागयज्ञ से अश्वमेधों का अन्त होगा। विलम्ब न करो, जिसको जाना हो, चला जाय।"[2] राजा किसी की कुछ भी नही सुनना चाहता है, वह प्रतिहिंसा के रथ पर आरूढ़ हो कर अपना संकल्प पूरा करने के लिए नाग-यज्ञ का आरम्भ कर देता है। एक क्रोधाग्नि असख्य नागों के जीवन के लिए अभिशाप हो जाती है। इन नागयज्ञ की समाप्ति के लिए वेदव्यास, आस्तीक आदि आते हैं। आस्तीक यहाँ अपने मिशन में सफल होता है—और जनमेजय की क्रोधाग्नि को शान्त करने में समर्थ हो पाता है। जनमेजय जैसा आक्रोशी एवं रौद्र-व्यक्तित्व आस्तीक को सामने पाकर प्रतिहिंसा का मार्ग छोड़ने को विवश हो जाता है; उसकी अन्तरात्मा यथार्थ को पाकर धरातल पर आ जाती है। वह इतना विनत और भावुक हो जाता है कि आस्तीक से सहज-भाव से कह बैठता हैं:—

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ११४

२. ,, ,, पृ० सं० ११५

"मुझे स्वीकार है भगवन् ! आस्तीक, तुम क्या चाहते हो ? क्या मैं अपना रक्त तुम्हें दूँ ?"[1]

राजा आस्तीक का ऋणी है—वह उसके सामने नतमस्तक होता हुआ नाग-यज्ञ को रोक देता है, तथा दोनों जातियों में संधि की बात स्वीकार लेता है किन्तु अपनी पत्नी वपुष्टमा को स्वीकारने से वह हिचकिचाता हुआ यही कहता है :—

'षड़यन्त्र यह कभी न होगा ! भला धर्षिता स्त्री को कौन ग्रहण करेगा ?"[2]

यहाँ राजा का व्यक्तित्व केवल प्राचीन-परम्पराओं से घिरा हुआ रूढ़िग्रस्त मात्र दिखाई देता है। वह केवल परम्पराओं से बंधा हुआ जीवन जीने के लिए विवश हो उठता है। व्यास के आश्वस्त करने पर वह अपनी पत्नी वपुष्टमा को स्वीकार लेता है—इस प्रकार हम पाते हैं कि राजा जनमेजय का चरित्र समन्वयात्मक स्वरूप लिए हुए पाठकों के सामने आया है। उसका व्यक्तित्व इतना लचीला हैं कि वह परिस्थितियों के साथ प्रवाह में बहाने के लिए हर क्षण विवश है। मूलत: उसका व्यक्तित्व मानवतावादी एवं आदर्शनिष्ठ है, वह एक कुशल प्रशासक है, तथा प्रजा के हित के लिए सदैव चिन्तनशील रहा है; किन्तु ब्राह्मणों द्वारा प्रेरित होकर यज्ञ-परम्परा के निर्वहण के लिए संकल्पशील हो उठता है। सरमा को शत्रुजाति की सदस्या समझ कर उसे कुत्सित दृष्टि से उपेक्षित करना मानवतावादी दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार वपुष्टमा को धर्षिता कह कर उसे स्वीकारने से हिचकिचाना भी मानवतावाद से परे की बात है, लेकिन शत्रुकन्या मणिमाला की सौम्यता की प्रशंसा करना आस्तीक के प्रति उदात्त भाव रखना आदि ऐसे प्रश्न भी हैं जो राजा के व्यक्तित्व को निखार देते हैं। राजा जनमेजय एक आदर्श पात्र से रूप में स्मरणीय रहेगा—क्योंकि उसने आर्य-सस्कृति के संरक्षण के लिए स्वयं को समर्पित किया तथा दो जातियों के वैमनस्य को मित्रता के रूप में परिणत करने को स्वीकार लिया एवं हिंसात्मक कर्मकाण्ड पद्धति को बन्द करने में अपना अपूर्व योगदान दिया।

महर्षि च्यवन

महर्षि च्यवन आश्रम के कुलपति हैं। अपने पद के अनुरूप ज्ञान-गौरव व गरिमामय व्यक्तित्व से अनुप्राणित हैं, अपने आश्रम के शिष्यों को नैतिक-शिक्षा देना ही वे अपना धर्म मानते हैं। महर्षि च्यवन एक ऐसे शिक्षाविद् कुलपति हैं जो शिक्षा को राष्ट्र से सम्पृक्त करते हुए उसके भवितव्य के लिए चिन्तनशील है। वे अपना दायित्व समझते हैं कि ब्राह्मण राजनीति को सद्धर्म से प्रेरित करें न कि अभिसंधियों में

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ११८

२. यथोपरि पृ० सं० ११६

उलझकर विप्लवकारी षड़यन्त्रों के भागीदार बनें। काश्यप जैसे कुत्सित पुरोहितों की दुरभिसंधियों से वे खिन्न हैं तथा इसे ब्राह्मणत्व का अपमान मानते हैं। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य सोमश्रवा से इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से कहा—"वत्स ! ऐसा काम करना जिसमें दुरात्मा काश्यप ने ब्राह्मणों की जो विडम्बना की है वह सब धुल जाय और सब पर ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता प्रकट हो जाय। अध्यात्म गुरु जब तक अपना सच्चा स्वरूप नहीं दिखलायेंगें, तब तक दूसरे भला कैसे धर्माचरण करेंगें ? त्याग का महत्व, जो हम ब्राह्मणों का गौरव है, सदैव स्मरण रहे, धर्म कभी धन के लिए न आचरित हो, वह श्रेय के लिए हो, प्रकृति के कल्याण के लिए हो, और धर्म के लिए हो ! यही धर्म हम तपोधनों का परम धर्म है। उसकी पवित्रता शरत्कालीन जलस्रोत के सदृश, उसकी उज्ज्वलता शारदीय गगन के नक्षत्रालोक से भी कुछ बढ़कर और शीतल हो।"[1]

एक अध्यापक को किन नैतिक मूल्यों का दायित्व समझना चाहिये ? यह प्रश्न महर्षि च्यवन के माध्यम से प्रसादजी ने सहज रूप में व्यक्त कर दिया। आज के आचार्य और प्राचीनकालीन कुलपति में क्या अन्तर है ? —प्रसादजी ने स्पष्ट कर दिया। आचार्य के मार्ग का अनुसरण समाज करता है, यदि आचार्य अपने आपको नैतिक मूल्यों से सम्पृक्त नहीं कर पाता तो उसे यह भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि उसके शिष्य आदर्श मार्ग का अनुसरण करते हुए नैतिक-मूल्यों की रक्षा कर सकेंगें। अध्यापक एवं छात्र-जीवन का मुख्य लक्ष्य अध्यवसाय है, उसे राजनीति के प्रपचों से संभवत: दूर ही रहना चाहिये। महर्षि च्यवन एक श्रेष्ठ कुलपति थे, उनकी दूरदर्शिता श्लाघनीय थी। उनके विचारों में ब्राह्मणों एवं आरण्यकों को राजनीति से दूर रहकर अध्यवसाय एवं अध्यात्मवाद की ओर प्रवृत्त होना चाहिये आचार्य अपने शिष्य सोम-श्रवा के राज-पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित होने पर दीक्षा देते हुए यही कहते हैं: —

"वत्स ! राज-सम्पर्क के अवगुण हम ब्राह्मणों को, आरण्यकों को, न सीखने चाहिये; दया, उदारता, शील, आर्जव, और सत्य का सदैव अनुसरण करना चाहिये।"[2]

च्यवन एक सामान्य पात्र होते हुए भी अपने विचारों के माध्यम से व्यक्तित्व की गहरी छाप अंकित करने में समर्थ हुए हैं। आधुनिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में च्यवन की चिन्तन दिशाबोधक है, आज शिक्षा को राजनीति से पृथक् रखना आवश्यक है, तभी नैतिक मूल्यों की सुरक्षा सम्भव है।

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ७३
२. यथोपरि पृ० सं० ७२

तुर कावषेय

ऐतरेय ब्राह्मण में तुर कावषेय का उल्लेख उपलब्ध होता है ।[1] 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में तुर एक सामान्य पात्र हैं किन्तु सामान्य सी घटना में ही उनका उदात्त चरित्र नैतिकता लिए हुए सामने आता है—जो आदर्श के सूत्र हमारे समक्ष प्रस्तुत करने में सिद्ध होता है । प्रसादजी का यह आदर्श पात्र आर्य-सस्कृति की गरिमा से मंडित है । आर्यावर्त का ब्राह्मण कितना महान ज्ञानी, चिन्तनशील, राष्ट्रीय, त्यागी एवं उदात्त होता था, इसका परिचय हमें आर्य तुर कावषेय के व्यक्तित्व से होता है । ब्राह्मण वर्ग राज्य पक्ष के लिए कितने सहयोगी होते थे ? और उन्हें इतना सम्मान क्यों प्राप्त होता था ? इसका उत्तर आचार्य कावषेय की उदात्तता है । कावषेय राजा के पुरोहित नहीं थे किन्तु उस राष्ट्र के एक सदस्य और हित चिन्तक थे । काश्यप राजा जनमेजय का ऐन्द्र महाभिषेक कराने के लिए उपस्थित नहीं हुआ तो वे इसे राष्ट्र-धर्म मानते हुए कर्तव्य-पालन के लिए स्वयं उपस्थित हो गये । राजा काश्यप के आचरण से जब क्षुब्ध हो उठा तो महर्षि तुर ने अपनी सहनशीलता का परिचय देते हुए यही कहा—"राजन् ! वसुन्धरा के समान चक्रवर्ती का हृदय भी उदार और सहनशील होना चाहिये । उसे व्यक्तिगत मानापमान पर ध्यान नहीं देना चाहिये । और ब्राह्मणों को तो सदा सन्तुष्ट रखना चाहिये, क्योंकि ये ही सन्तुष्ट रहने पर राष्ट्र का हितचिन्तन करते हैं । इसीलिए इनका इतना सम्मान है ।"[2] महर्षि ने वैयक्तिक धरातल को छोड़कर समष्टिगत भाव-चिन्तन पर राजा का ध्यान आकर्षित किया महर्षि नीति-निपुण और राष्ट्रीय व्यक्तित्व थे–वे अच्छी तरह जानते थे कि राजा यदि व्यक्तिगत प्रश्नों में उलझ जायेगा तो वह राष्ट्र का दायित्व कैसे ढो सकेगा ? वे अपने समाज को भी प्रतिष्ठित करना चाहते थे—आर्य-संस्कृति का मूलाधार ही ब्राह्मण-वर्ग था—उसकी प्रतिष्ठा की सुरक्षा महर्षि का प्रथम धर्म था । महर्षि राजा को ही सन्तुष्ट नहीं करना चाहते थे अपितु उसका मार्ग-निर्देशन करते हुए उसे निस्संकोच दिशाबोध कराने में भी नहीं कतराते थे—महर्षि ने राजा से स्पष्ट शब्दों में कह दिया था 'राजन् ! मार्मिकता से प्रजा की पुकार सुनना । युद्ध यात्रायें अब तुम्हें विजय देंगी । इस अभिषेक का यही फल है, किन्तु राजन् ! विजयों का व्यवसाय न चलाना, नहीं तो उसमें घाटा भी उठाना पड़ता है । सृष्टि की उन्नति के लिए ही राष्ट्र हैं । बल का प्रयोग वहीं करना चाहिए जहां उन्नति में बाधा हो । केवल मद से उस बल का दुरुपयोग नहीं होना चाहिये । तुम्हारी राजपरिषद् ने भारत के साम्राज्य का

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण (८-२१)

२. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० १८

तुम्हारी किशोरावस्था में बड़े नियमित रूप से सुशासन किया है। यौवन और प्रभुत्व के दर्प में आकर काम न बिगाड़ देना।[1]

तपस्या ही जिनका जीवन-धर्म है, मानवता के हितों का संरक्षण ही जिनका दर्शन है और संतोष ही जिनका जीवन-धन है—उन महान व्यक्तित्वों के लिए सत्य कहना सहज है—महर्षि तुर ने भी राजा को सत्य से परिचित करा दिया था। महर्षि विश्वबन्धुत्वशील एवं मानवतावादी थे तथा साथ ही आर्य-संस्कृति के परम-पोषक भी। अवसर का लाभ उठाकर वे अन्य ब्राह्मणों की तरह अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहते थे अन्यथा राजा के मानस में जलती हुई ज्वालाओं को प्रज्वलित कर काश्यप को मार्ग से हटा सकते थे किन्तु उन्होंने राजा से यही कहा—'अस्तु, तुम्हारा यह ऐन्द्रमहाभिषेक तो हमने करा दिया, और वह सम्पन्न भी हुआ किन्तु तुम्हें अपने पुरोहित काश्यप से क्षमा माँगनी चाहिये; और इसकी सारी दक्षिणा उन्हीं को दी जानी चाहिये। मैं इसी से प्रसन्न हूंगा।"[2]

महर्षि ने अपने त्याग और सन्तोष का निस्सीम परिचय प्रस्तुत किया। अन्यथा कार्य करने वाला व्यक्ति कब अपना पारिश्रमिक अन्य के हाथों सौंपने में समर्थ हो सकता है किन्तु यहाँ तो मुनि की प्रसन्नता ही तभी है जब कि दक्षिणा काश्यप को मिले। काश्यप मुनि को अति-कटु-वचन कहकर अपमानित करता है—उस समय भी महर्षि तुर ने अपनी सहनशीलता का अभूतपूर्व परिचय प्रस्तुत किया। महर्षि के सामने दो ही प्रश्न थे—प्रथम राष्ट्र और दूसरा ब्राह्मण-संस्कृति। इन दोनों की सुरक्षा तथा गौरव की अभिवृद्धि के हित मुनि ने अपनी उदारता का परिचय दिया। महर्षि ब्राह्मणत्व से अधिक राष्ट्र को महत्व देते हैं, यदि राष्ट्र है तो ब्राह्मणत्व है अन्यथा कुछ नहीं। तुर काश्यप को समझाते हुए यही कहते हैं—"द्विजवर्य! जब राजा अपनी प्रजा का, अपने राष्ट्र का वैभव बढ़ा रहा हो, तब उसका आदर करना ही उसकी प्रजा का धर्म हैं।[3] महर्षि ने यहाँ सिद्ध कर दिया कि इकाई का महत्व एक वैयक्तिक प्रश्न है इसे राष्ट्र के हिताहित के साथ सम्पृक्त नहीं किया जा सकता। पुरोहित की आज्ञा लेकर शासन का संचालन करना राजा का कर्तव्य है किन्तु राष्ट्र-हित के लिए अवज्ञा करना अपराध नहीं है। पांडित्य एवं पौरोहित्य का सम्मान राजा का नैतिक कर्तव्य है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सम्मानित व्यक्तित्व अपने-आपको प्रजा की सत्ता से पृथक् कर ले। प्रजा का कर्तव्य है कि वह अपने नीतिमार्गानुगामी राजा का

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० १६

२. ,, ,, ,, ,, ,, १६

३. यथोपरि पृ० सं० २१

सदा सम्मान करती रहे। महर्षि कावषेय का आदर्श चरित्र है —इसका प्रमाण मंत्री के ये शब्द हैं—"सम्राज्ञी। वे तपस्वी हैं, महात्मा हैं, त्यागी हैं। उन्होंने कहा—हम राष्ट्र की शीतल छाया में रहते हैं, इसलिए हमारा कर्तव्य था कि प्रजा हितैषी विजयी राजा का ऐन्द्रमहाभिषेक करें और दक्षिणा के अधिकारी तो आपके पुरोहित काश्यप ही हैं।

उत्तङ्क

उत्तङ्क की गणना भी आदर्शनिष्ठ पात्रों में ही की जाने योग्य है। महर्षि वेद का शिष्य स्वाध्याय पूर्ण करने के पश्चात् गृहस्थ-धर्म की विडम्बना से चिन्तित है।[1] वह गुरु का पूर्ण भक्त है[2] तथा सहज जीवन जीने वाला सरल एवं भोला विद्यार्थी है।[3] वह महान् आत्म-संयमी के रूप में प्रस्तुत हुआ है—इस संदर्भ में दामिनी स्वयं कहती है—'जिसे आत्मसंयम की इतनी शिक्षा मिलती थी, उसे हड़-मांस के मनुष्य का शरीर क्यों मिला ? क्यों न उसे छाया शरीर मिला ?"[4] गुरु पत्नी उसे आत्म-संयम से च्युत् करना चाहती थी किन्तु उसने अपने दृढ़-संकल्प और कर्तव्य-भावना का परिचय देकर अपने आप को विजयी घोषित किया। वह कौत्स की तरह गुरु-दक्षिणा देकर ही संसार में जीना चाहता है और गुरु-पत्नी ने भी रानी के मणिकुण्डल लाने की आज्ञा देकर उसे महान संकट में डाल दिया। लेकिन् वह विचलित नहीं हुआ और राजा जनमेजय से कुण्डल माँग कर अपनी गुरु-दक्षिणा को भेंट करने में सफल हुआ। उत्तङ्क को अपने ब्राह्मणत्व व शीलयुक्त ब्रह्मचर्य पर स्वाभिमान था।[5] दामिनी उसे जब धर्मच्युत करने के लिए संकल्पशील हो उठती हैं तो वह यही कहता है—"चुप रहो देवि ! यदि ईश्वर का डर न हो तो ससार से तो ड़रो। पृथ्वी के गर्भ में असंख्य ज्वालामुखी हैं; कदाचित् उनका विस्फोट ऐसे ही अवसरों पर हुआ होगा। तुम गुरु पत्नी हो; मेरी माता के तुल्य हो।[6] "यह कहता हुआ वह अपने शील की सुरक्षा करते हुए वहाँ से चला जाता है। वह तक्षक से अपना प्रतिशोध लेने के लिए संकल्पशील है, क्योंकि मणिकुण्डल ले जाते हुए मार्ग में उसी ने उसे मारना चाहा था। उत्तङ्क ने राजा से काश्यप, तक्षक, सरमा आदि का षड़यन्त्र कहते हुए उसे नागयज्ञ

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ११
२. यथोपरि पृ० सं० १२
३. ,, ,, १२
४, ,, ,, १५
५. ,, ,, ३६
६. ,, ,, ४१

के लिए उत्तेजित किया। उत्तङ्क ने राजा जनमेजय के द्वारा नागयज्ञ का आयोजन करवाया। उत्तंक का मन प्रतिशोध की भावनाओं से आपूरित था, वह यह भूल गया कि इस हिंसा से क्या कल्याण हो सकता है? यहाँ उत्तङ्क का चरित्र हिंसा की क्रूरता से भर जाता है, वह इस यज्ञ के लिए राजा के साथ हमेशा सम्पृक्त रहता है। उसका मन तक्षक के दुराचरण व गुरुपत्नी दामिनी के दुर्व्यवहार से खिन्न हो उठा था—और इसी क्रूरता ने उसे इतना कठोर बना दिया कि वह मानवता के मूल्यों को समझने में भी भूल करने लगा किन्तु अपने गुरु वेद के समझाने पर उसने अपनी त्रुटि स्वीकार ली। उत्तङ्क का चरित्र उसकी संयमशीलता व आदर्शछात्र के कारण दिव्य-स्वरूप ले बैठा। अपने महान संकल्प के कारण वह दृढ़निश्चयी बन गया था।

आस्तीक

आस्तीक मानवतावादी आदर्श पात्र है—जो दो जातियों के वैमनस्य को दूर करके शान्ति और सहिष्णुता प्रदान करने में सफल सिद्ध हो सका। वह जरत्कारु तथा मनसा से उत्पन्न था। वह तपोवन में रहता है—जहाँ जीवन-दर्शन को प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु है। आस्तीक के पिता जरत्कारु की हत्या हो चुकी और माता का स्नेह उसे कभी मिल नहीं सका। उसके जीवन में हास-रूदन का अद्भुत सम्मिश्रण था। वह मणिमाला से कहता है—"नहीं मणि! मेरी भूल थी। रोना और हँसना ये ही तो मानवी-सभ्यता के आधार हैं। आज मेरी समझ में यह बात आ गई कि इन्हीं के साधन मनुष्य को उन्नति के लक्षण कहे जाते हैं।"[1] आस्तीक आरम्भ से ही कोलाहल से दूर रह कर शान्ति का समर्थक रहा है। वह हिंसा और युद्ध के ताण्डव-नृत्य से मानवता को हर क्षण बचाना चाहता है। महर्षि वेद-व्यास के आश्रम में पहुँचने पर उसके मानस को एक अद्भुति शान्ति का आभास होता है। वह अपनी बहिन मणिमाला से कहता है:—

"आर्यावर्त के समस्त प्रान्तों से इसमें कुछ विशेषता है। भावना की प्राप्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह सङ्गमस्थली हृदय में कुछ अकथनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उल्लास उत्पन्न कर देती है! द्वेष यहाँ तक पहुंचते-पहुँचते थक कर मार्ग में ही कहीं सो गया है। करुणा आतिथ्य के लिए वन-लक्ष्मी की भाँति आगतों का स्वागत कर रही है। इस कानन के पत्तों पर सरलतापूर्ण जीवन का सच्चा चित्र लिखा हुआ देखकर चित्र चमत्कृत हो जाता है।"[2]

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ -पृ० सं० ४६

२. यथोपरि पृ० सं० ८२

आस्तीक का दृष्टिकोण मानवतावादी है वह आर्य और नाग-जाति के बिगड़े हुए सम्बन्धों को सुधारना चाहता है। इन दोनों जातियों के मध्य सन्धि की कामना करता है। यद्यपि वह स्वयं नागवंशीय है किन्तु आर्य-संस्कृति के मूलोच्छेदन की बात नहीं स्वीकारता है—उसे अपनी माँ मनसा और परिवार से भर्त्सना सहन करनी पड़ती है; लेकिन वह हर क्षण सहनशीलता और विवेक से काम लेता है। सम्पूर्ण विश्व की मानवता को शान्ति-वितान के नीचे सुख की शान्ति के साथ जीते हुए देखना चाहता है आस्तीक के विचार आदर्श निष्ठ हैं, वह एक मिशन को लेकर आया है और उसमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करता है। वह प्राणियों को संहार से बचाना चाहता है, रक्तरंजित धरणी की कल्पना से सिहर उठता है। अपनी माता मनसा से यही कहता है—"क्यों आप अपने को मानव-जाति से भिन्न मानती हैं ? क्या यह आप लोगों के कल्पित गौरव का दम्भ नहीं है ?"[1] आस्तीक जातिवाद से ऊँचा उठकर मानवता को एक सूत्र में देखना चाहता है। वह मानवतावाद को सर्वोपरि स्वीकारता है, वैयक्तिक मानापमान को तुच्छ विचारों की संज्ञा देता है। कल्पित मानापमान को ही युद्ध का मूल मानता है। वह स्वयं अपने जाति के विकास एवं कल्याण की ओर चिन्तित है किन्तु विकास के निमित्त युद्ध को अनिवार्य धर्म नहीं मानता है। हिंसा व प्रतिशोध के माध्यम से विकास सम्भव नहीं है और न यही एक मात्र मार्ग है। आज की दृष्टि में हम आस्तीक की विचारधारा को गांधीवादी विचार-धारा की संज्ञा दे सकते हैं। वह कहता है—"मैं किस प्रकार इस जाति की सहायता करूँगा—यह मैं जानता हूं, तो फिर माँ ! मैं प्रणाम करता हूं। तलवार लेकर नहीं, पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा। इस क्रोध की बाढ़ में मैं बाँध बनूंगा, चाहे फिर मैं ही क्यों न तोड़कर बहा दिया जाऊँ।"[2]

आस्तीक ने अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया था। वह विश्वबन्धुत्व के आदर्श लेकर स्थाई-शान्ति के हित आश्रमों में भटकता हुआ सदैव अवसर की प्रतीक्षा में रहा। उसके मन में वैभव की आकांक्षा नहीं थी और न राज्य सत्ता की लालसा ही। वह तो मानसिक शान्ति के क्षण जीना ही आनन्द मानता था। जीवों के पारस्परिक स्नेह के संदर्भ में उसने व्यक्त किया:—

भाई, यह भगवान बादरायण का आश्रम है। देखा, यहाँ की लता वल्लरियों में, पशु-पक्षियों में, तापस-बालकों में परस्पर कितना स्नेह है ! ये सब हिलते-डोलते और चलते-फिरते हुए भी मानों गले से लगे हुए हैं। यहाँ के तृण को भी एक शान्ति

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ६३
२. यथोपरि ,, ६४

का आश्वासन पुचकार रहा है । स्नेह का दुलार, स्वार्थ-त्याग का प्यार, सर्वत्र बिखर रहा है ।[1]

यही उसके विचारों का सार रहा कि मानव पारस्परिक स्वार्थों का परित्याग कर त्याग व स्नेह के पथ पर प्रशस्त होने लगे तो उसे असीम शान्ति का अनुभव होने लगेगा । वह जातिवाद अथवा वर्गवाद की भावना से ऊँचा उठकर समस्त मानवता के हित के सदर्भ में विचारने वाला व्यक्तित्व था । उसने अपने जीवन का निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर लिया था और जब राजा जनमेजय नागयज्ञ द्वारा समस्त नाग-जाति के विनाश के लिए दुष्प्रवृत्त हो गये तो उसने राजा के समक्ष उपस्थित होकर अपने अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित कर दिया—

जिस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करने के लिए तुमने अश्वमेध किया है, मैं उसी ब्रह्म हत्या की क्षति की पूर्ति चाहता हूँ । मैं उन्हीं जरत्कारु ऋषि का पुत्र हूँ, जिनकी तुमने बाण चलाकर हत्या की थी ।"[2]

राजा से उसने किसी प्रकार के प्रतिशोध अथवा प्रतिहिंसा के मार्ग पर चलने की प्रक्रिया को अपमानित नहीं किया अपितु सहज रूप से दोनों जातियों में संधि-विषयक माँग उपस्थित करते हुए कहा—

"नहीं, मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिये । सम्राट ! शान्ति की घोषणा करके वन्दी नागराज को छोड़ दीजिये । यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल होगा ।"[3]

आस्तीक अपने संकल्प में सफल हुआ । उसने यह आदर्श स्थापित कर दिया कि युद्ध एवं वैमनस्य स्थायी साधन नहीं है, और न ये मानवता की समृद्धि में ही सहायक हैं । मानवता को स्थायी शान्ति प्रदान करने के लिए स्नेह का आचरण ही सर्वोत्तम साधन है । मानव अपनी महत्वाकांक्षाओं का परित्याग कर परम्परित शत्रुता को समाप्त करके मानवता को विजयिनी बनाने में सहयोग दे—यही मार्ग उसके लिए श्रेयस्कर है ।

आज विश्व में युद्ध की भयंकर विभीषिका का साम्राज्य छाया हुआ है, वर्ण-भेद एवं वर्ग-भेद की विचारधारायें प्रबलतम भीषण ज्वालायें जला रही हैं—जिसमें मानवता के स्वाहा होने के अतिरिक्त कुछ नहीं है—इन परिस्थितियों के स्थायी समाधान के लिए युद्ध उपयुक्त साधन नहीं है—अपितु आस्तीक के आदर्शों का अनुशीलन ही कल्याणप्रद है । शान्ति के साथ संधियों का विस्तार ही मानवता को विनष्ट होने से बचा सकता है ।

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ
२. यथोपरि पृ० सं० ११७
३. ,, ,, ,, ११८

वेदव्यास

महर्षि वेदव्यास इतिहास-प्रथित पौराणिक पात्र हैं। महामना वैशम्पायन का चरित्र गरिमामय एवं निर्माल्य है। समस्त मानवता को प्रशस्त पुण्य पंथ की ओर प्रेरित करने के लिए व्यास का चरित्र स्पृहणीय रहा है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में भी वेदव्यास का व्यक्तित्व निष्ठामय एवं श्रद्धाशील रहा है, महान आत्मा की तरह भूत-वर्तमान एवं भविष्यत् के रेखाचित्र को अंकित करते हुए काल-प्रतिफलों की ओर लक्षित करते रहे हैं। महामना का आश्रम शान्ति प्रिय एवं अध्यात्म-शिक्षा का महान केन्द्र था – जहाँ शासक गण नीति-विषयक प्रश्नों पर उपदेश ग्रहण करने आते थे। राजा जनमेजय भी महर्षि वैशम्पायन के निकट आत्म-शान्ति के हित अनेक बार आया और अपनी मनोव्यथा को प्रस्तुत करता रहा।

दम्भ और अहङ्कार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति से क्रीड़ा के कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती है; और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट का वर्गीकरण होता है। यह एक देशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता; 'सर्व-भूत-हित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।"[1]

वेद व्यास ने राजा जनमेजय को आश्वस्त किया कि वह स्वयं कर्ता नहीं है अपितु नियति का क्रीड़क मात्र है। जो कुछ यह स्वयं कर रहा है—उसमें वह माध्यम भर है अथवा निमित्त मात्र है। विराट चेतना भी आरोह-अवरोह के क्षण उत्पन्न करती रहती है:—"परमात्मशक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है। इसी का नाम है दम्भ का दमन। स्वयं प्रकृति .... पर उसे रोकना उनके वश की बात नहीं है, क्योंकि उसमें विश्व भर के हित का रहस्य है।"[2]

वेदव्यास ने जनमेजय को स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि तुम्हारे पूर्वज कभी इस संदर्भ में मुझसे जानकारी नहीं करने आये, लेकिन तुम्हारा भविष्य अत्यन्त रहस्यमय है, तुम किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए जी रहे हो। तुम्हारा आचरण श्रीकृष्ण की प्रक्रिया है:—"जनमेजय, तुम्हारा भविष्य भी बहुत रहस्यपूर्ण है। तुम्हारा जीवन श्रीकृष्ण के किये हुए एक आरम्भ की इति' करने के लिए है। नियति, केवल नियति, और कुछ नहीं। ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध करने का जो दृढ़ संकल्प किया है, उसमें कुछ विघ्न होगा; और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत सी हिंसा

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ—पृ० सं० ७१
२. यथोपरि—पृ० सं० ८०

होती आई हैं, वह बहुत दिनों तक के लिए रुक जाने को है।"[१]

वेद व्यास ने राजा जनमेजय को भविष्य के प्रति सतर्क किया किन्तु नियति का चक्र अपना कार्य कर रहा था।[२] नागयज्ञ के अन्त में वेदव्यास ने शान्ति के हित महान भूमिका का निर्वहण किया। समस्त मानवता की समृद्धि के हित एवं ब्राह्मणत्व के सम्मान की पुन: प्रतिष्ठा के लिए जनमेजय को प्रेरित किया।[३]

वेद व्यास निस्सन्देह आदर्शनिष्ठ गरिमामय व्यक्तित्व रहे हैं।

पुरुष पात्रों में काश्यप एक ऐसा पात्र है—जिसे हम अधम पात्रों की गणना में सर्वोपरि स्थान देंगें। जिसने अपने सहज स्वार्थान्धता के कारण ब्राह्मण-संस्कृति एवं तपस्वीजन के गौरव को लांछित किया। तक्षक एव वासुकि सामान्य पात्र हैं—ये अपनी परिस्थितियों से पीड़ित तथा मानसी के द्वारा उत्तेजित होकर राज्य प्राप्ति के लिए षड़यन्त्र में लगे हुए हैं।

स्त्री पात्रों में मणिमाला का चरित्र उदात्त है तथा वपुष्टमा का व्यक्तित्व एवं चरित्र भारतीय-संस्कृति से अनुप्राणित है—जो अपने स्वामी के हित पूर्णरूपेण समर्पिता है; उदात्त नायिका के रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित होती है—इसके विपरीत मनसा प्रतिहिंसा की प्रतिमूर्ति, सरमा प्रतिशोध की आग से जलती हुई नाग वधु की तरह तथा दामिनी अतृप्त वासना में तड़पती हुई उद्दाम नायिका के रूप में सामने आई है।

अजात शत्रु

अजात शत्रु नाटक प्रसादजी का ऐतिहासिक नाटक है—जिसमें अजात शत्रु की कथा, प्रसेनजित की कथा व उदयन की कथा को एक सूत्र में गूँथकर ऐतिहासिक स्वरूप देते हुए कथानक को प्रस्तुत किया गया है। कथानक में सम-सामयिक स्थितियों पर विशद विवेचन हुआ है। इस नाटक के पात्र अपने व्यक्तित्वों के माध्यम से तत्कालीन स्थितियों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। वह एक ऐसा युग था—जिसमें दो विचारधारायें संघर्ष की चरम सीमा पर थीं। हिंसात्मक मार्ग और अहिंसात्मक मार्ग की स्पर्धा थी तथा राजनीति की पृष्ठभूमि मे स्त्रियों की महान भूमिका रही। प्रसादजी की यह तो विशेषता रही ही है कि उनके स्त्री पात्र पुरुष-पात्रों की अपेक्षा अधिक सशक्त रूप में उभर कर आये हैं और ये पात्र ही भारतीय-संस्कृति के

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ८१
२. ,, ,, ,, ८४
३. ,, ,, ,, १०६

उच्चादर्शों को प्रतिष्ठापित करने में समर्थ रहे हैं। अजात शत्रु नाटक में भी स्त्री पात्रों का अधिक योगदान रहा है, नाटक का आरम्भ ही वासवी और छलना के संघर्ष से होता है—और यह संघर्ष वैयक्तिक सतह पर होता हुआ भी विचारधाराओं का संघर्ष है। अजात शत्रु के पात्र अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं और सभी वैयक्तिक प्रश्नों से सम्पृक्त होते हुए भी समष्टिगत मूल्यों का मूल्यांकन करने में लगे हुए हैं। पात्र-विवरण इस प्रकार है:—

पुरुष पात्र:—

बिम्बसार: मगध राज्य के सम्राट।
अजातशत्रु: मगध का राजकुमार (जिसका बाल्यकाल में कुणीक नाम रहा)।
उदयन: कौशाम्बी का राजा, मगध सम्राट का जामाता।
प्रसेनजितः कौशल का राजा व वासवी का भाई।
विरूद्धक: कोशल का राजकुमार (शैलेन्द्र भी इसी का नाम था)
गौतमः अहिंसा व शान्ति संदेश देने वाले बुद्धदेव।
सारि पुत्र: सद्धर्म के आचार्य।
आनन्द: गौतम के शिष्य।
देवदत्त: गौतम बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी।
समुद्रदत्त: देवदत्त का शिष्य।
जीवक: मगध का राजवैद्य।
वसन्तक: उदयन का विदूशक।
बन्धुल: कोशल का सेनापति।
सुदत्त: कोशल का कोषाध्यक्ष।
दीर्घकारायण: सेनापति बन्धुल का भागिनेय, सहकारी सेनापति।
लुब्धक: शिकारी।
काशी का दण्ड नायक, अमात्य, दूत दौवारिक और अनुचरगण अन्य सामान्य पात्र।

स्त्री पात्र

वासवी: मगध सम्राट बिम्बसार की बड़ी रानी।
छलना: मगध सम्राट की छोटी रानी और राजमाता।
पद्मावती: मगध की राजकुमारी व उदयन की रानी।
मागन्धी: (श्यामा)—आम्रपाली।
वासवदत्ता: उज्जैन की राजकुमारी व उदयन की रानी।

शक्तिमती: (महामाया) शाक्यकुमारी, कौशल की रानी।
मल्लिका: सेनापति बन्धुल की पत्नी।
बाजिरा: कौशल की राजकुमारी।
नवीना: सेविका।
विजया, सरला, कञ्चुकी, दासी, नर्तकी आदि अन्य सामान्य पात्र।

बिम्बसार

बिम्बसार मगध के सम्राट थे। तत्कालीन समय में आर्यावर्त के कुछ भागों में गणतंत्र पद्धति का शासन सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था। बिम्बसार भी अपने समय के कुशल प्रशासकों में से थे। मगध का सम्राट कुशल प्रशासक ही नहीं अपितु पूर्ण मानव के रूप में इस नाटक में अवतरित हुआ है। वह संकीर्ण विचार-धाराओं के व्यूह को तोड़ कर सार्वजनीन स्थितियों में विशद रूप से विचरण करने लगा था। मगध का प्रशासन—जिसे केवल नैतिक दायित्व मान कर कर्तव्यपरायणता के साथ अपने कन्धों पर ढो रहा था—उस सम्राट को पारिवारिक परिस्थितियों ने विपत्तियों के जाल में इस तरह जकड़ दिया कि हर क्षण कराल-काल उसे अपना ग्रास बना लेने के लिए आतुर हो रहा था। तत्कालीन स्थितियों में धार्मिक द्वन्द्वता चरम सीमा पर आरूढ़ थी—और इसी धार्मिक द्वेषता ने उसे सत्रस्त कर दिया था। उसकी पत्नी छलना उसे संशय की दृष्टि से देखने लगी थी, उसी का पुत्र अजातशत्रु उसे मार्ग का शूल समझने लगा था किन्तु ऐसी विपन्न परिस्थितियों में बिम्बसार विचलित नही हुआ अपितु जीवन-दर्शन की ओर प्रवृत्त होता हुआ मानव मात्र की कल्पना करते हुए आदर्श पात्र के रूप में सामने आया। श्री कृष्णदास ने प्रसादजी के आदर्श पात्रों के संदर्भ में उनकी गरिमा को व्यक्त करते हुए लिखा है:—

"प्रसाद" के आदर्श पात्रों में पवित्रता, उच्चता, भव्यता आदि देव गुण इस लिए हैं कि वे पूर्ण मनुष्य हैं। उनका बिम्बसार, मगधाधिप होने के कारण बड़ा नहीं। उसकी बड़ाई इसलिए है कि वह नीचे लिखे तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों द्वारा, उन सकीर्ण सामाजिक नियमों का, जिन्होंने मनुष्य को ऊँच-नीच के भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्धनों में जकड़ कर मानवता की पवित्रता को पददलित कर रक्खा है, किस जोरों में खण्डन करता है:—

"यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्रलता के कोमल किसलय झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित कर के धीरे से उस थाले में चूपड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।"

इतना ही नहीं, उसके जीवन भर में मानवता ओत-प्रोत है, और उसका पुत्र, क्रूर अजातशत्रु भी अन्त को इसके आगे सिर नवाता है ।

इसी तरह 'प्रसाद' के लोकोत्तरचरित पात्रों को भी हम इसीलिए श्रद्धापूर्वक सिर नवाते हैं कि उनमें मानवता का पूर्ण विकास है ।"[१]

बिम्बसार पूर्णरूपेण मानवतावादी सिद्धान्तों का परिपोषक रहा । राजवंश में उत्पन्न हुआ तथा निष्कंटक रूप से वैभव में डूबा हुआ जीवन भर राज्य-सुख का भोग किया किन्तु इन सब के मध्य रहते हुए भी उसने जीवन-दर्शन प्राप्त कर लिया था—जो अन्य-सम्राटों के अधिकार की बात नहीं थी । उसने मानव-जीवन की क्षणभंगुरता को समझ लिया था तथा नश्वरता को बोध जानते हुए आकांक्षाओं की चरम—सीमा को हित कर नहीं माना था । मानव मन की आकाँक्षाओं का विश्लेषण करते हुए कहा—"आह ! जीवन की क्षणभंगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है । आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त हो कर अनेक अकाँड ताण्डव करता है । फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा में ले जा कर उसका शान्तिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है; किन्तु वह कब मानता है ? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकाँक्षा में मरता है; अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या ?"[१]

सम्राट ने धार्मिक-क्रान्ति के आधार को समझ लिया था । वह गौतम की शिक्षाओं से प्रभावित हो कर बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया था—सम्पूर्ण शिक्षाओं का अपने जीवन में पालन करने लगा था किन्तु साथ ही वैदिक-धर्म की निन्दा नहीं करता था—अपितु उसे भी सम्मानित दृष्टि से ही देखता था । आचार्य गौतम से उसने क्षमा व करुणा का पाठ पढ़ लिया था—तथा भोगवाद से वितृष्ण होता हुआ आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गया था । गृह-कलह की विपन्नताओं से जब वह संत्रस्त हो गया तो गौतम ने उसे राज्य-भार कुणीक को सौंप देने की मंत्रणा दी । यद्यपि उसे राज्य-सत्ता के प्रति मोह नहीं था तथापि वह इसे एक धर्म के रूप में स्वीकारता था और कुणीक को राज्य दिये जाने पर जो सम्भावनायें बन पड़ती थीं—उसकी पूर्व सूचना उसने एक सूत्र में व्यक्त कर दी थी—"योग्यता होनी चाहिये महाराज ! यह बड़ा गुरुतर कार्य है । नवीन रक्त राज्यश्री को सदैव

---

१. अजातशत्रु—प्राक्कथन—पृ० सं० ५

१. अजातशत्रु पृ० सं० २७

वाद पर थी। धार्मिक द्वन्द्वता के पीछे उनका स्वयं का कोई स्वार्थ सम्पृक्त नहीं था किन्तु समष्टि का प्रश्न ही उनके लिए व्यष्टिगत बन गया था। समस्त को स्व में अन्त-निहित कर लिया था। वे स्वयं यही कहा करते थे कि करुणा ही विश्व-मानवता को सम-दृष्टि से देखने में समर्थ है; यही सम्राट से कहा था :—

"राजन ! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र मे समदृष्टि रखती है।"[1]

बुद्धि का कार्य प्रवृत्तियों में लिप्त रहना है—वह वृत्तियों की संचालिका है और सद् व असद् कार्यों की ओर गतिवान करती है किन्तु आचार्य गौतम की मान्यता रही कि बुद्धि सदा ही निर्लिप्त रहती है, यह तटस्थ भाव से कर्मों का अनुशीलन करती है, बुद्धि कभी लिप्त नहीं हो सकती है—यह तो केवल सद्धर्म की साधिका है। विरक्त राजनीति में सक्रिय क्यों हो ? इस प्रश्न को सहज रूप से सामने रख दिया। वैरागी व्यक्ति केवल यही अपेक्षा लेकर राजदर्शन की ओर प्रवृत्त होते हैं कि न्याय व सत्य का पक्ष सदा समर्थित होता रहे अन्यथा विरक्तों का राज्य से क्या अर्थ ? राज्य में प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

"राजन ! शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी रूप से वह सब दृश्य देखती है। तब भी इन सांसारिक झगड़ों में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो—यही न्याय का समर्थन है। तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्य से प्रेरित होकर समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित करती है। यदि यह ऐसा न करे, तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय का समर्थन हो जाता है हम विरक्तों को भी इसीलिए राजदर्शन की आवश्यकता हो जाती है।"[2]

गौतम संसार की वास्तविकता से परिचित हो चुके थे। वे मानवता के हितों के लिए प्रतिक्षण चिन्तित थे। असमानता, शोषण व व्यक्तिवाद के दुष्चक्रों से संत्रस्त मानवता को समानता की ओर लाने तथा भ्रान्त जीवों को सुस्थिर सत्य दिशा का बोध देने के लिए अपने जीवन को समर्पित कर चुके थे। वे समानता तथा करुणा के सिद्धान्तों को लेकर इस जगत के कार्यक्षेत्र में अवतरित हुए थे—और इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत उन्हें अनेक अपवाद झेलने पड़े, अनेक स्थलों पर संघर्ष करने पड़े किन्तु वे कभी भी अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए, अपवादों एवं कलंकों की लाँछना पर भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। गौतम ने विरोधियों के प्रति प्रतिक्रियाओं को जन्म नहीं दिया—अपितु अपने संकल्प के प्रति सजग रहना ही धर्म समझा। अपने सदव्यवहार और संयम से क्रुद्ध भीड़ को शान्त करना ही श्रेयस्कर समझा। सम्राट बिम्बसार को भी यही मत्रणा दी कि व्यंग्य और कटाक्षों से उपद्रवों की शान्ति

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० २६
२. ,, ,, ३१

सम्भव नहीं हैं, अपितु विश्व मैत्री के लिए वाक्-संयम ही प्रथम सोपान है :—

'शीतल वाणी-मधुर व्यवहार से क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते ? राजन् संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार नहीं। वाक्-संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है "[1]

गौतम दूरदर्शी व्यक्ति थे, वे मानव-मन की आकांक्षाओं का सहज में ही अनुमान लगा लेते थे। मगध-राज्यनीति का दुष्चक्र क्षण भर में ही भांप गये थे और उन्होंने यही श्रेयस्कर समझा कि युवा-आक्रोश का समर्थन किया जावे—तभी समाधान सम्भव है, और इसी संदर्भ में सम्राट बिम्बसार से स्पष्ट शब्दों में राज्य दायित्व सौंपने के लिए धर्मादेश दे दिया था: —

"यह बोझ, जहां तक शीघ्र हो, यदि एक अधिकारी व्यक्ति को सौंप दिया जाय, तो मानव को प्रसन्न ही होना चाहिये, क्योंकि राजन्, इससे कभी न कभी तुम हटाये जाओगे, जैसा कि विश्व भर का नियम है। फिर तुम उदारता से उसे भोग कर छोड़ दो, तो इसमें क्या दुःख ?[2]

देवदत्त गौतम का भयंकर कुटिलतापूर्ण आचरण करने वाला प्रतिद्वन्द्वी रहा—गौतम की राह में अनेक प्रकार के शूल बिछाये यहां तक कि प्राणघातक षड़यन्त्रों का विस्तार किया—किन्तु गौतम आत्मसंयम और आत्मबल के साथ आगे बढ़ते रहे और प्रतिकार की भावना से सर्वथा शून्य रहे। उनकी दृष्टि में कर्तव्य ही सर्वोपरि रहा—राग-द्वेष की स्थितियों से बहुत ऊपर उठ चुके थे। असद् कर्म करने वालों पर विचार करना भी चित्त दोष मानते थे। अपने प्रिय शिष्य आनन्द से इस तत्व दर्शन को व्यक्त कर दिया था:—

"यह मेरा काम नहीं, वेदना और संज्ञाओं का दुःख अनुभव करना मेरी सामर्थ्य से बाहर है। हमें अपना कर्तव्य करना चाहिये, दूसरों के मलिन कर्मों के विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है।"[3]

अज्ञान के अंधकार को दूर कर समता व करुणा का मंत्र देने वाला कब इन स्थितियों में उलझने वाला था ? वे अनासक्त होकर भी मानवता के प्रति आसक्त थे, राज्य, समाज और धर्म के प्रति आसक्त होते हुए भी वीतरागी थे। करुणा ही उनका मुख्य धर्म था और संयम ही जीवन का आधार। वे जीवों के प्रति अत्यन्त

---

१. अजात शत्रु पृ० सं० ३०
२. यथोपरि पृ० सं० ३१
३. यथोपरि पृ० सं० ८४

दयालु थे—चाहे इस दया के निमित्त वे अपने व्यक्तित्व को भी खतरे में डाल देते। बिहार में स्त्री-प्रवेश निषिद्ध था–किन्तु असहाय, विपन्न, संत्रस्त तथा रूग्ण महिलाओं की सेवा करना अपना प्रथम कर्तव्य मानते रहे। बिहार के नियमो की अवहेलना भी करुणा के हित की जा सकती है क्योंकि ये नियम इसी करुणा के प्रसार निर्मित किये गये हैं। यदि विपन्नों की उपेक्षा करते हुए बिहार के अस्तित्व की रक्षा की तो इससे अस्तित्व की रक्षा सम्भव नहीं है। कलंक के भय से करुणा का आदेश भुलाया नहीं जाता। मूर्च्छित स्त्री के संदर्भ में तथागत ने शिष्य से कहा:—

'क्या करुणा का आदेश कलंक के डर से भूल जाओगे ? यदि हम लोगों की सेवा से वह कष्ट से मुक्त हो गयी तब ? और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि यह मरी नहीं है। आनन्द ! बिलम्ब न करो। यदि यह यों ही पड़ी रही, तब भी तो बिहार पीछे ही है। उस अपवाद से हम लोग कहाँ बचेंगे ?"[१]

गौतम समता के सदा उपासक रहे हैं। बिना किसी भेद-भाव के सभी को समान रूप से सम्मान मिले—नही उनकी भावना रही और इस साम्यवाद के हित वे सदा यत्नशील रहे। प्रसेनजित् अपने पुत्र को हमेशा त्याज्य-पुत्र कहता रहा तथा उसे दासी-पुत्र की संज्ञा देते हुए सिंहासन का अधिकारी मानने से अस्वीकारता रहा-- गौतम ने इस हीन-भावना को दूर करने की दृष्टि से कहा:—

"यह दम्भ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है। क्यों राजन् ? क्या दास, दासी मनुष्य नहीं हैं ? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राज-कुमारियो की ही सन्तान इस सिंहासन पर बैठी है, या प्रतिज्ञा करोगे कि कई पीढ़ी आने वाली तक दासी-पुत्र इस पर न बैठ पावेंगे ? यह छोटे बड़े का भेद क्या अभी इस सकीर्ण हृदय में इस तरह घुसा है कि निकल नहीं सकता ? क्या जीवन की वर्तमान स्थिति देख कर प्राचीन अन्ध-विश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते आयें हैं, तुम बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं हो ?"[२]

मैं महान् हूँ और अन्य लघु हैं—यह केवल दम्भ मात्र है, दूसरों के प्रति लघुता की भावना को उदयक्षण देना भी नैतिकता से पतित होना ही है। मानव को अंधविश्वासों से हट कर रूढ़ियों को तोड़ना ही होगा तभी मानवतावाद का प्रचार सम्भव है और तभी समृद्धि की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। जब तक संकीर्णता के विचारों को छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकेगा तब तक एक मानव

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ६५

२. यथोपरि पृ० सं० १२५

दूसरे मानव को समझने में भूल ही करता रहेगा। यही संकीर्ण भावना विश्व-शान्ति के मार्ग में सदा से बाधक रही है। मानव-शरीर क्षणभंगुर एवं नश्वर है, तब वृथा अहं को ओढ़े हुए इस संसार में भ्रान्तियों के मध्य भटकने से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। उसी प्रकार गौतम ने शासक की भी सुन्दर व्याख्या की है, शासक के लिए कर्तव्यशील होना आवश्यक है। अधिकारों के उन्माद में भ्रांत हो कर शासक को शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। प्राणियों में समता, स्नेह, शान्ति और करुणा के प्रचार के लिए शासक की नियुक्ति की जाती है। गौतम ने प्रसेनजित को समझाते हुए कहा:—

"कुछ नहीं, तुम लोग कर्तव्य के लिए सत्ता के अधिकारी बनाये गये हो, उसका दुरुपयोग न करो। भू मंडल पर स्नेह का, करुणा का, क्षमा का शासन फैलाओ। प्राणिमात्र में सहानुभूति को विस्तृत करो। इन क्षुद्र विप्लवों से चौंक कर अपने कर्म-पथ से च्युत न हो जाओ।"[1]

आचार्य गौतम का जीवन सदा ही आदर्शमय रहा। मागन्धी अपने रूप पर दम्भ करती हुई गौतम के मन पर विजय पाने की लालसा करती रही लेकिन तथागत चित्तनिरोधात्मक वृत्तियों के फलस्वरूप महान् अवधूत बन चुके थे—अपने प्रति प्रतिक्रियात्मक क्रियाओं को जन्म देने वालों के प्रति भी वे उदात्त भावनायें ही रखते थे। मागन्धी का उद्धार भी उनके लिए जीव का उद्धार ही था और वे उसके उपवन में पहुँच कर उसे निर्मल बनने की प्रेरणा देने से नहीं चूके तथा देवदत्त जैसे प्रतिद्वन्द्वी के प्रति भी उनके भाव सदा निर्माल्य बने रहे। हम देखते हैं कि गौतम एक पूर्ण मानव थे—जिनका आदर्शमय जीवन इस जगत् के लिए अक्षुण्ण रूप से प्रेरणा-सूत्र रहेगा।

जीवक

जीवक एक सामान्य पात्र है किन्तु अपने नैतिक-विचारों और कर्तव्यनिष्ठ व्यवहार के कारण आदर्श पात्र के रूप में अवतरित होकर पाठकों के मानस पर अमिट प्रभाव अंकित किये बिना नहीं रहता। जीवक एक राष्ट्रीय-चरित्र है—जो विश्वास एवं कर्तव्यपरायणता का सफल प्रतीक कहा जा सकता है। यह मगध का राजवैद्य राजनीति में पूर्णरूपेण सक्रिय है, तथा गुप्तचर और विश्वस्त सेवक के रूप में पाठको के समक्ष आता है। देवदत्त और समुद्रदत्त की कुमंत्रणा सुनकर वह अपना विरोध व्यक्त किये बिना नहीं रहता है, यद्यपि वह अच्छी तरह जानता है कि ये एक

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० १२५

तलवार के दर्पण में देखना चाहता है।"[१] आचार्य गौतम के आदेश से सम्राट ने राज्य का समस्त भार युवराज को दे दिया था और वासवी के साथ एक छोटे से उपवन में आकर विरक्त जीवन जीने लगा था। वीतरागी के लिए त्याग को अनिवार्य माना है—तथा अपने ही पुत्र को अधिकार देने से "आत्मा वै जायते इति आत्मजः" के अनुसार उन अधिकारों का आत्म-भोग स्वीकारता है। वासवी से वह कहता है—"संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।"[२]

सम्राट वीतरागी हो गया लेकिन परिस्थितियों ने उसे वहाँ भी शान्त-चित्त नहीं रहने दिया, विप्लव की स्थितियों का वृत्तान्त उसे वहां मिलता रहा—लेकिन वह इन सभी से दूर रहना चाहता था—उसने जीवक से स्पष्ट शब्दों में कह दिया—"नहीं जीवक! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रूचता।"[३]

वह अपने पुत्र के आचरण से खिन्न है, लेकिन किसी से याचना अथवा सहायता की अपेक्षा नहीं करता अपितु समस्त विवादों से दूर होकर तटस्थ दृष्टा की तरह सब कुछ घटित हो देना चाहता है।

सम्राट वासवी को विप्लव की स्थिति स्पष्ट करता हुआ कहता है—यह भी प्रकृति का विधान है, कहाँ नहीं होता है? जल, स्थल, राज्य, धर्म और समाज में सभी जगह इसकी गति विद्यमान है—और हर असम्भावित घटना की भूमिका में इसका अभिनय है:—

"तब तो देवि! प्रत्येक असम्भावित घटना के मूल में यही बवंडर है। सच तो यह है कि विश्व भर में स्थान-स्थान पर वात्याचक्र हैं जल में उसे भंवर कहते हैं, स्थल पर उसे बवंडर कहते हैं, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृंखलता और धर्म में पाप कहते हैं। चाहे इन्हें नियमों का अपवाद कहो चाहे बवंडर—यही न?"[४] सम्राट ने भी अजात शत्रु की प्रतिक्रियाओं को राज्य-विप्लव मानते हुए प्रकृति द्वारा संयोजित बवंडर की संज्ञा देदी थी। वह अपनी पत्नी छलना की अभिसंधियों के उद्वर्तन को

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ३१
२. यथोपरि पृ० सं० ३५
३. यथोपरि पृ० सं० ३७
४. यथोपरि—पृ० सं० ८३

समझा चुका था—किन्तु राज्य या अन्य विवादों के प्रति उसके मन में तनिक भी लोभ नहीं था किन्तु घटनाओं के अतिक्रमण से वह यदा-कदा व्यथित अवश्य हो उठता था और अपनी मनोपीड़ा वासवी के समक्ष व्यक्त कर देता था—किन्तु दोष किसी के सिर पर नहीं मढ़ पाता था। उसने छलना को हर बार क्षमा किया, उसके छलपूर्ण व्यवहार को विष-घूँट की तरह निगलता रहा—अन्ततः एक दिन ऐसा आया कि वह अपने तटस्थ भाव को सुरक्षित नहीं रख सका और छलना को स्पष्ट शब्दों में कह ही दिया:—

"छलना! मैंने राजदंड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे नहीं परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी! चलीजा। तुझे लज्जा नहीं—बर्बर लिच्छिवि-रक्त!"[1]

सम्राट होने से पूर्व वह एक मानव है, और मानवता की कसौटी पर अपने-आप को उतारने का हर क्षण प्रयास करता है, मानव की राष्ट्र और विश्वजनीन मानवता के प्रति क्या अपेक्षायें हैं?—इस संदर्भ में सर्वाधिक चिन्तनशील रहा है। सम्पूर्ण धरातल पर वह मानवता की समृद्धि और स्नेह की अभिवृद्धि देखते हुए सम्पूर्ण जीवों को एकलयात्मक स्थिति में देखने की कामना करता है। युद्ध द्वेष और ईर्ष्या के धरातल पर वह नहीं जीना चाहता अपितु स्नेहमयी प्रकृति की गोद में सर्वात्मभाव से स्वच्छंद विचरण करने के लिए विकल है। वह ऐसे साम्राज्य की कामना करता है कि जहाँ मानव शीतल छाया के नीचे बैठकर जीवन के लक्ष्य को समझ सके—किन्तु उसे विपरीत परिस्थितियों में जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जीवक हर दिन रक्तरंजित विप्लवपूर्ण घटनायें सुनाता है तो उसका मन घृणा से भर उठता है—और वह इन स्थितियों का समाधान दुष्प्रवृत्तियों की चरम सीमा मानता है—जहाँ विनाश का अट्टहास हो और फिर से नूतन-सृष्टि का उदय हो सके—

"जीवक! अब तुम विश्राम करो! अब और कोई समाचार सुनने की इच्छा नहीं है। संसार भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड़यन्त्र और और प्रतारणा है। यही सब तुम सुनाओगे, ऐसा मुझे निश्चय हो गया। जाने दो। एक शीतल निश्वास लेकर तुम विश्व के वात्याचक्र से अलग हो जाओ और इस पर प्रलय के सूर्य की किरणों से तप कर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा होने दो। अविश्वास की आँधियों को सरपट दौड़ने दो। पृथ्वी के प्राणियों में अन्याय बढ़े, जिससे दृढ़ होकर लोग अनीश्वरवादी हो जायें और प्रति दिन नई समस्या हल करते-करते कुटिल

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ८४

कृतघ्न जीव मूर्खता की धूल उड़ावें—और विश्व भर में एक उन्मत्त अट्ट-हास हो !"[१]

सम्राट बिम्बसार पूर्णरूपेण चिन्तनशील व्यक्तित्व है, उसके जीवन में आदर्श-मयी आस्थायें है और नैष्ठिक कर्मठता के प्रति कर्तव्यभावनायें है, वह भोगवाद से असम्पृक्त रहने की कामना करता है, उसे सम्राट बनने की इच्छा नहीं है, यदि वह एक साधारण मानव होता तो उसे इन विसंगतियों के मध्य नहीं जीना पड़ता। मानव का विश्लेषण करते हुए वह इसी स्थिति पर पहुँच पाता है कि मानव-मन में क्रोध व करुणा दोनों का स्थायित्व है, यदि राज्य-सत्ता अर्थात् शासन करने की प्रवृत्ति से मानव पृथक् हो जाये तो वह शान्तिपूर्ण जीवन जी सकता है किन्तु शासन की प्रवृत्ति उसे दुष्ट बना देती है, और वह इसी शासन की प्रक्रिया में उन्मत्त हुआ मानवता के नैतिक मूल्यों को गँवा देता हैं।

"मनुष्य हृदय भी एक रहस्य है, एक पहेली है। जिस पर क्रोध से भैरव हुँकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उन्माद ! और क्या ? मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निष्चेष्टता नहीं ग्रहण कर सकता ? हायरे मानव !.. यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चूपड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता.........इस चैतन्य मानव की बुरी गति है।"[२]

बिम्बसार यहीं एक महान आदर्श पात्र के रूप में उभर कर सामने आता है; उसने सार्वजनीन दृष्टि से चिन्तन करते हुए जीवन के मूल को पहचान लिया और समस्त आधियों का निदान पा लिया; किन्तु यह चैतन्य के नियन्त्रण में नहीं है कि वह अपनी इच्छानुसार चेतना को परिधान दे सके; उसका जन्म नियति की क्रीड़ाओं के लिए होता है लेकिन वह शासन से विरक्त रह सकता है; और बिम्बसार भी जीवक को स्पष्ट शब्दों में कह देता है :—

"चुप ! यदि मेरा नाम न जानते हो, तो मनुष्य कह कर पुकारो। वह भया-नक सम्बोधन मुझे न चाहिये।"[३]

यह उसके मन का क्रन्दन है। 'सम्राट' शब्द ने उसे क्या दिया ? शासन के

१. अजातशत्रु—८८
२. यथोपरि पृ० सं० १३५
३. ,, ,, ,, १३५

मोह ने उसे जग के सामने महान् घोषित कर दिया किन्तु वह लघुता में प्रतिक्षण परिवेष्टित होता रहा। शासन ने उसकी स्वच्छंदता का अपहरण कर लिया, पत्नी छलपूर्ण व्यवहार करने लगी, पुत्र उसे शत्रु की दृष्टि से देखने लगा तथा समाज के समक्ष वह एक पराजित व्यक्तित्व के रूप में रह गया। काश ! वह सम्राट नहीं होता तो पुत्र का स्नेह, पत्नी की आदर्श निष्ठा को प्राप्त करते हुए शान्ति को प्राप्त करता। वह सिर्फ एक अधखिला पुष्प बनकर अपनी सुरभि से उपवन को आनन्दित कर देने की कामना में जीता रहता है, सम्राट बिम्बसार का जीवन आदर्श मूल्यों के लिए रहा और नैतिकता की स्थितियों में जीता हुआ वह वीतरागी बना रहा।

वह एक तटस्थ व्यक्तित्व के रूप में सामने आया। न उसके मन में हर्ष का अतिरेक था और न अवसाद की रेखायें ही, न वह अपने लिए ही चिन्तित था और न राज्य की विप्लव-स्थितियों के प्रति ही। वह वैयक्तिक धरातल से ऊँचा उठकर समस्त मानवता के प्रति चिन्तनशील बन गया था—त्याग-भावना से प्रेरित होकर करुणा का प्रवाह बहा देना चाहता था। अन्त में अपने परिवार से सम्पृक्त होता हुआ भी वह अनन्त-निद्रा में सो गया—उस अधखिले फूल में चैतन्य प्राप्त करने के लिए—जहां पवन की किसी लहर को सुरभित कर सके।

गौतम

महामना गौतम विश्वविश्रुत गरिमामय व्यक्तित्व रहे हैं—जिसे काल की बदलती हुई स्थितियाँ भी नहीं सुलझा सकती हैं, विश्व की संत्रस्त मानवता को अमृत-दान देते हुए साम्यवाद की ओर प्रवृत्त किया तथा अपने-आप को धर्म, समाज व राज्य से सम्पृक्त रखते हुए आदर्शों की स्थापना की—जिनकी प्रेरणा से पीढ़ियाँ नव-मार्ग को प्राप्त करती हुई सत्य-मार्ग को प्राप्त कर सके। प्रसादजी के गौतम ईश्वर के अवतार नहीं हैं अपितु एक पूर्ण मानव हैं। कृष्णदासजी ने अजातशत्रु नाटक के 'प्राक्कथन' में गौतम के व्यक्तित्व और महत्ता के संदर्भ में इस प्रकार संकेत किया है—

"उनके बुद्ध इसलिए बुद्ध हैं—इसलिए अवतार हैं—कि वे मानवता के आदर्शों की पूर्ण मूर्ति हैं। यह नहीं कि वे अवतार हैं, अतः उनमें इन आदर्शों की पूर्णता उपस्थित हुई हैं।"[1]

गौतम अपने विचारों और अनुष्ठान की प्रक्रियाओं के कारण आदर्श पात्र के रूप में अवतरित हुए। उन्हे भी अपने जीवन में सामान्य व्यक्ति की तरह संघर्षशील रहना पड़ा, लेकिन उनके संघर्षों की पृष्ठभूमि वैयक्तिक सतहों पर न होकर मानवता-

---

१. अजातशत्रु प्राक्कथन पृ० सं० ५–६

ऐसी शक्तियाँ हैं—जो राष्ट्र में उथल-पुथल मचा सकती हैं किन्तु वह एक राष्ट्रीय नागरिक के रूप में स्पष्ट रूप से चेतावनी देने में नहीं हिचकता है:—

"आप विरक्त हैं और मैं गृही। किन्तु जितना मैंने आपके मुख से अकस्मात् सुना है वही पर्याप्त है कि मैं आपको रोक कर कुछ कहूँ, संघ भेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं?"[1]

जीवक भीरु पात्र नहीं है, सत्य और कर्तव्यपरायणता ही उसका सद्धर्म है। वह छल-नीति के माध्यम से अपनी बात नहीं कहना चाहता अपितु नग्न-यथार्थ को सभी के सामने स्पष्ट-रूप में व्यक्त करना ही अपनी नैतिकता स्वीकारता है। राष्ट्र में अभिसंधियाँ एवं कुमन्त्रणाओं की भीड़ देखकर अपने-आप को पृथक् कर लेता है लेकिन् निष्क्रिय होकर नहीं बैठा रहना चाहता अपितु अपने सम्राट के चरणों के पास बैठ कर अपने विरोध को इस प्रकार व्यक्त करता है:—

"नहीं महाराज! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ? कर्म में क्यों विरक्त रहूँ? मैं इस उच्छृंखल नवीन राज-शक्ति का विरोधी होकर आपकी सेवा करने आया हूँ।[2]

वह अपना जीवन सम्राट की आज्ञा से विरोधी-शक्तियों के उन्मूलन के लिए उत्सर्ग कर देता है। न उसे साम्राज्य से सम्मान की लालसा है और न उसे कांचन का लोभ ही। न वह निरासक्त होकर बैठ ही सकता है और न उच्छृंल-वृत्तियों का समर्थन ही कर सकता है। वह तो कर्मजयी है, राष्ट्र ही उसके लिए सर्वोपरि है। वह स्वयं को राष्ट्रीय इकाई के रूप में घोषित करता है, यदि इकाई निष्क्रिय हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्र का क्या भविष्य होगा? यह प्रश्न उसके सामने था। आज भी यही समस्या है कि प्रत्येक नागरिक राष्ट्र से पूर्व वैयक्तिक स्वार्थों की अन्धी भीड़ में भटकना चाहता है और अपने अस्तित्व को स्वीकारने से हिचकता है लेकिन प्रसादजी का जीवक पूर्णरूपेण अस्तित्ववादी एवं राष्ट्र-धर्म के प्रति सक्रिय है। वह अपने राष्ट्र की समस्याओं में उलझा हुआ कौशाम्बी व कौशल से समाचार लाता रहता है तथा सद् वातावरण बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। जीवक ब्राह्मण होता हुआ भी पेटू नहीं है वह चरित्र के मूल्यांकन को समझता है। प्रसादजी ने जीवक को एक विश्वस्त सेवक एवं कर्तव्यशील राष्ट्रीय नागरिक के रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१. **अजातशत्रु—पृ० सं० ३३**

२. **यथोपरि—पृ० सं० ३६**

निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि जीवक एक सामान्य-पात्र होते हुए भी आदर्श-पात्र के रूप में पाठकों के सामने आता है।

बन्धुल

बन्धुल कौशल का सेनापति रहा है। यह अपने राष्ट्र के प्रति पूर्णरूपेण आस्थावान तथा सैनिक-धर्म को अपना कर्तव्य मानने वाला व्यक्तित्व हैं। अपने आप में पूर्णतया सशक्त है; आत्मबल और संकल्प के माध्यम से हर दिशा में आशातीत विजय प्राप्त करता है। बन्धुल एक वीर योद्धा एवं आदर्श सैनिक है। इस राष्ट्र-भक्त सेवाभावी सैनिक के मन में सत्ता के प्रति किसी प्रकार की महत्वाकाँक्षा नहीं है किन्तु उसके उत्साह और विजय से स्वयं शासक आक्रान्त एवं आशंकित है—और इसी भय के कारण बन्धुल को काशी का सामन्त बना दिया जाता है लेकिन एक कर्तव्यनिष्ठ सैनिक को छलपूर्ण-नीति से क्या प्रयोजन ? वह तो अपने सरल से सहज जीवन को रुचिकर मानता हुआ कहता हैं:—

"मुझे तो सरल और सैनिक जीवन ही रुचिकर है। यह सामन्त का आडम्बर-पूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है।"[1]

सैनिक-शासन को कभी-कभी क्यों महत्व दिया जाता है ? यह शासन छल-छद्मों से दूर रहकर अनुशासनात्मक-व्यवस्था को जन्म देता है—लेकिन इसमें भी तानाशाही का उदय होना घातक होता है। प्रसादजी का बन्धुल पात्र ऐसा है—जो सेनापति होते हुए भी एक सामान्य सैनिक के रूप में जीना चाहता है। वह अपने स्वामी की हर बात को आदेश की तरह स्वीकारता है। स्वामी के आदेश पर ही वह काशी का सामन्त बन कर आया था। जब उसे विद्रोही राजकुमार विरुद्धक मिलता है तो वह उसी सम्मान के साथ उससे व्यवहार करना चाहता है। राजकुमार बन्धुल से अभिसंधियों के संदर्भ में जिक्र करता है तो स्वाभिमानी बन्धुल अपने कर्तव्य को नहीं भूल पाता है—वह अपने राष्ट्र में किसी भी प्रकार के आतंक को सहन नहीं कर सकता है। उसका राष्ट्रीय व्यक्तित्व इस प्रकार झलक कर आता है:—

"सावधान ! राजकुमार ! ऐसी दुराचरण की बात न सोचिए। यदि आप इस पथ से नहीं लौटते, तब मेरा भी कुछ कर्तव्य होगा, जो आपके लिए बड़ा कठोर होगा। आतंक का दमन करना प्रत्येक राजपुरुष का कर्म है, यह युवराज को भी मानना ही पड़ेगा।"[2]

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ६५
२. यथोपरि „ ६६

राजकुमार सेनापति के उत्तर से विकल होकर उसे दुष्चक्रों में फंसा हुआ सिद्ध करना चाहता है लेकिन आत्मविश्वासी बन्धुल स्वाभिमान के साथ राजकुमार के तर्कों को काटता हुआ अपने विश्वास को दृढ़ करता दिखाई देता है, वह अपने कर्तव्य को सर्वोपरि महत्व देता है—और विश्वास को ही जीवन। वीरता का विश्वास देखिये —

"यह तो बड़ी सीधी बात है—कौशल-नरेश इस राज्य को हस्तगत करना चाहते हैं, मगध भी उत्तेजित है, युद्ध की सम्भावना है, इसलिए मैं यहाँ भेजा गया हूँ, मेरी वीरता पर कोशल का विश्वास हैं।"[1]

वास्तव में बन्धुल स्वार्थी शासक की भ्रांतियों का शिकार होता है लेकिन वह अमर शहीद एक सच्चे सैनानी का महत्व प्रतिपादित कर जाता है। एक सैनिक के जीवन में वीरता, आत्मबल, राष्ट्र-भक्ति और अपने शासक के प्रति गहन निष्ठा का होना सिद्ध हो जाता हैं। बन्धुल सरल, वीर, कुशल-युद्ध संचालक, आत्मविश्वासी आदर्शनिष्ठ राष्ट्रीय व्यक्तित्व था।

वासवी

मगध सम्राट की बड़ी रानी एवं अजातशत्रु की विमाता वासवी प्रसादजी के स्त्री-पात्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रसादजी के स्त्री-पात्र भारतीय-संस्कृति की विशिष्ट गरिमामय विशेषताओं से अनुप्राणित रहने वाले हैं। प्रासाद के विलास-कक्षों से लेकर झोपड़ी तक में रहने वाले स्त्री-पात्र अपने चरित्र की मुद्रा अंकित करने में समर्थ हैं। मगध-सम्राट बिम्बसार की महिषी वासवी सरल-प्रकृति, सौम्य-आकृति और उदात्त विचारों वाली स्त्री हैं—जिसे किसी से भी शिकायत नहीं हैं, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है लेकिन अपने अधिकारों के प्रति सदा सजग रहने वाली है। उसके मानस में यह आशंका नहीं है कि छलना का पुत्र सिंहासनारूढ़ होने पर उसके साथ कैसा व्यवहार करेगा? क्योंकि वह तो कुणीक को अपना ही पुत्र मानकर वात्सल्य प्रेम लुटाती रही है। वासवी आदर्श जननी है, वह ममता के प्रवाह में अपनी संतान को व्यावहारिक शिक्षा देना नहीं भूल पाती है। वह परिवार के सुख को समझती है—और इस सुख के लिए किन संस्कारों की उपादेयता है - इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं—जबकि छलना अपने कुणीक को निरंकुश शासक बनाना चाहती है, आरम्भ से ही उसे द्वेष, प्रतिशोध, एवं प्रतिक्रियात्मक प्रतिवादों की दीक्षा देने में तत्पर रही—यह देख कर वासवी कैसे मौन रह सकती थी? वह परिवार की

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ६७

सुख-समृद्धि में चिनगारियाँ कभी नहीं बिखरने देना चाहती थी—उसने छलना को सावधान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि एक सुखी परिवार के लिए पारस्परिक स्नेह-भाव आवश्यक है और राज-परिवार के लिए भी सुख अपेक्षित है।[1] यहाँ वासवी व्यावहारिक एवं सद्गृहस्थ स्त्री के रूप में चित्रित हुई है, उसका व्यक्तित्व आदर्शमयी जननी का चित्र उभार देता है।

वासवी दूरदर्शिनी एवं यथार्थ को व्यक्त करने वाली विदुषी महिला है। उसकी दृष्टि में राजा मानव-समाज के हितों को संरक्षण प्रदान करने वाला है, उसे कारुणिक एवं विनीत होना चाहिये। यदि शासक निरंकुश एवं निष्ठुर होगा तो उस राज्य में विप्लवों के साथ मानवता त्रस्त हुए बिना नहीं रहेगी। वह अपने अजात को एक करुणा-निधान शासक बनाने का स्वप्न देख रही थी किन्तु उसकी आशाओं से विपरीत होने जा रहा था। छलना मिथ्या-गर्व की घाटियों मे भटकती हुई कुणीक को गलत दिशा दे रही थी। वासवी ने छलना को आत्मदर्शन करा दिया था कि यह मिथ्या गर्व विजय का प्रतीक नहीं अपितु मानवता का दुर्मद शत्रु है।[2]

वासवी कुणीक को राज्य दिये जाने से प्रसन्न है—उसके मानस में किसी प्रकार की ग्लानि नहीं है। वह पतिव्रता स्त्री है और अपना समस्त जीवन पति-सेवा में व्यतीत करना ही धर्म समझती है। उसे वैभव के प्रति भी किसी प्रकार का मोह नहीं हैं, वह किसी उपवन में रह कर भी अपना जीवन व्यतीत कर सकती है। वासवी ने गौतम से किन शब्दों में अपनी सहजभावना व्यक्त की है:—

"भगवन्! हम लोगों के लिए तो एक छोटा सा उपवन पर्याप्त है। मैं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।"[3]

---

१. "यह मैं क्या देख रही हूं? छलना! यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है?
राज-परिवार में क्या सुख उपेक्षित नहीं है?"
"बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मनमें,
कुल लक्ष्मी हो मुदित भरा हो मंगल उनके जीवन में,
बन्धुवर्ग हो सम्मानित, हो सेवक सुखी, प्रणत-अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर?
—(अजातशत्रु—पृ० सं० २६)

२. किन्तु, छलना! सावधान! यह असत्य गर्व मानव-समाज का बड़ा भारी शत्रु है।"
—(अजातशत्रु पृ० सं० २७)

३. अजातशत्रु पृ० सं० ३१

भारतीय नारी का सर्वस्व पति ही हैं; वह उसकी सेवा ही अपना धर्म व कर्तव्य समझती रही है उसके सुख-दुःखों की भागीदार बनकर अपना आदर्श स्थापित करती हैं —तभी तो भारतीय ललनायें सती कहलाने योग्य होती हैं। वासवी ने भी इसी धर्म को प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया। वासवी केवल सामान्य स्त्री अथवा पतिपरायणता ही नहीं है अपितु वह जीवन की सार्थकता से भी परिचित है। वह वैराग्य के संदर्भ में अपने सारस्वत-सत्य को सम्राट बिम्बसार के समक्ष व्यक्त करते हुए कहती है —

"महाराज! जीवन की सारी क्रियाओं का अन्त केवल अनन्त विश्राम में हैं। इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपाशा जग उठे, तब उसमें विलम्ब क्यों करें?"[1]

वह वानप्रस्थ जीवन में रहते हुए भी राज्य द्वारा परतंत्रता को समझ रही थी किन्तु अपने स्वामी से इस संदर्भ मे एक शब्द भी नही कह सकी—लेकिन एक दिन ऐसा आया कि वह उस सत्य को नहीं छिपा सकी और नारी-गत आक्रोश ने अपने स्वाभिमान को जगा ही दिया। वह किसी पर आश्रित होकर नहीं जीना चाहती थी—इसी कारण काशी राज्य—जो उसका अपना था—उसका कर-ग्रहण करने का सकल्प ले बैठी। अपने बंधक-जीवन मे भी वासवी पराजित नहीं हो सकी थी। कुछ भी न रहने पर याचकों को देने के लिए अपना कंकण देते हुए उसने बिम्बसार की भावनाओं को स्वस्थ रखने के लिए कहा था—

"और तो कुछ नहीं है,..................प्रभु! इन स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर बड़ा रंग रहता हैं, जिससे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर नहीं देखने पाता"[2] वासवी के इन शब्दों में एक साथ दो सत्य उद्भाषित हो जाते हैं। वासवी का त्याग, उदात्त विचार और जीवन में आभूषणों की निरर्थकता तथा अपने पति के प्रति अगाध-निष्ठा। ऐसे चरित्र ही भारतीय-स्त्री को महान् सिद्ध कर देते हैं—तभी तो स्वयं प्रसादजी को भी कहना पड़ा— 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो!"

वासवी का दार्शनिक स्वरूप भी उभर कर आया हैं—जिससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि चिन्तन के क्षेत्र में पुरुष ही नहीं अपितु स्त्री भी समान अधिकार रखती है—यह तथ्य भिन्न हैं कि उसे अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवसर न दिया गया हो। महाराज बिम्बसार प्रकृति के नियमों और गति के संदर्भ में चिन्तनशील हैं—वे वासवी से इन प्रश्नों के संदर्भ में तर्क कर रहे हैं—समय की गति सम क्यों नहीं है?

---

१. अजातशत्रु, पृ० सं० ३६
२. यथोपरि पृ० सं० ३८

इस प्रश्न का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वासवी ने सुलझे हुए शब्दों में इस सत्य को प्रतिपादित करते हुए कहा —

"यही समझाने के लिए बड़े-बडे दार्शनिकों ने कई तरह की व्याख्यायें की हैं, फिर भी प्रत्येक नियम में अपवाद लगा दिये हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपवाद नियम पर है, या नियामक पर ? सम्भवतः लोग उसे ही बवंडर कहते हैं।"[१]

वासवी का कुणीक निरंकुश हो गया, उसे बंधक बना रखा है, वह अपने पिता के प्रति भी कर्तव्यनिष्ठ नही रह सका, तब भी वह छलना के मिलने पर उसके कुशल-समाचार पूछ बैठती है—यह उसकी निश्छल ममता का परिचायक है। अजात के बंदी होने पर जब छलना वासवी के पास आती है तो उसे किसी प्रकार का हर्ष नहीं होता है। वासवी यहाँ नीति-निपुणा के रूप में उभर कर आई है। वह केवल सही रास्ते पर लाने के लिए यत्नशील थी। वासवी छलना से स्पष्ट शब्दों में कहती है कि माँ ही अपनी संतान को संस्कारवान् बनाती है। तुमने कुणीक के लिए जैसा किया-वैसा पायाः—

"तब इतना घबराती क्यों हो ? अजात को रण-दुर्मद साहसी बनाने के लिए ही तो तुम्हें इतनी उत्कण्ठा थी। राजकुमार को तो ऐसी उद्धत शिक्षा तुम्हीं ने दी थी, फिर उलाहना क्यों ?"[२]

वह अत्यन्त दयालु तथा परिवार की सुख-समृद्धि चाहने वाली स्त्री थी। छलना ने जो कुछ उसके प्रति दुर्व्यवहार किया था—वह उसके प्रति किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करना नहीं चाहती थी। उसके मानस में प्रतिशोध नाम की भावना की लहर तक न थी। उसे तो सिर्फ छलना की बुद्धि पर खेद है—जिसने अपना घर अपने ही हाथों से उजाड़ना चाहा था, जिसने आत्मीयता को नहीं पहचाना था। वह स्वयं अपने कुणीक को मुक्त कराने के लिए कोशल जाने को तैयार हो जाती है। यद्यपि वह अपने पति को अकेले छोड़ कर कहीं नहीं जाना चाहती किन्तु उसकी ममता उसे विवश कर देती है। छलना के आत्म-पश्चात्ताप के पश्चात् वह उसे नारी-जीवन के अस्तित्व को समझाते हुए कहती है:—

"रानी ! यही जो जानती कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है तो पुरुषार्थ

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ८३

२. अजातशत्रु—पृ० सं० ,,

का ढोंग क्यों करती ? रो मत बहिन ! मैं जाती हूँ, तू यही समझ कि णीक कुननिहाल गया है।"[1]

वासवी अपने अजात को मुक्त करा लाती है। परिवार उसी प्रकार सुख-शान्ति के स्वप्न की ओर लौट आना चाहता है। वासवी का उद्देश्य यहीं सफल हो जाता है। उसकी सबसे बड़ी यही उत्कण्ठा रही है कि इस संसार में समस्त प्राणी एक-दूसरे से स्नेहालिंगन करते हुए करुणा के साम्राज्य में सुख-शान्ति के साथ अपना जीवन-यापन करे।

इस संसार की समस्त स्त्रियाँ शीतल छाया इस जग को प्रदान करती रहें तथा अनन्य भक्ति का स्रोत बहाती रहें तो इस धरा पर किसी प्रकार का विप्लव होना असम्भव है। समस्त दुर्भावनायें और विसंगतियाँ समाप्त हो सकती हैं। वासवी आदर्शगृहिणी, ममतामयी माँ तथा क्षमा की मूर्ति के साथ विशाल भावनायें रखने वाली महिला थी। अपने भाई प्रसेनजित से मिलने पर अपने वैयक्तिक सम्बन्धों को समष्टिगत रूप देती हुई समस्त मानवता की सुख-समृद्धि के स्वप्न देखने लगती है:—

"अहा ! जो हृदय विकसित होने के लिए है, जो मुख हँस कर स्नेह-सहित बातें करने के लिए है, उसे लोग कैसा बिगाड़ लेते हैं ? भाई प्रसेन ! तुम अपने जीवन-भर में इतने प्रसन्न कभी न हुए होंगें ? जितने आज ! कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवन् ! क्या कभी वह भी दिन आवेगा, जब विश्व भर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जायेगा, और मानव-मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हालेंगें।[2]

वासवी आदर्शमयी जननी, पतिव्रता स्त्री, कर्तव्य-परायणा स्त्री, मानव-कल्याण को चाहने वाली करुणा की मूर्ति, अपने स्नेह में समस्त पीड़ाओं को सहलाने वाली, स्वाभिमानिनी तथा भारतीय संस्कृति की उपासिका के रूप में पाठकों के समक्ष अवतरित हुई है।

मल्लिका

मल्लिका कोशल के सेनापति बन्धुल की पत्नी है। मल्लिका एक आदर्श नारी है—जिसने अपनी नैतिकता असीम धैर्य, महान् त्याग, अपूर्व क्षमाशीलता एवं अनासक्त-जीवन से गरिमामय व्यक्तित्व प्रस्तुत किया है। सेनापति की पत्नी हो कर उसने क्या पाया ? शासन ने उसकी सुकुमार भावनाओं के साथ छल किया, उसके

---

१. अजातशत्रु—पृ० सं० १०६–१०७
२. " " " १२६

सौभाग्य का अपहरण कर लिया गया। बन्धुल की स्वामिभक्ति का प्रतिफल उसे वैधव्य रूप में मिला। काश ? वह अपने वीर सेनानी के दिवंगत होने पर शहीद की पत्नी कहलाती ! लेकिन उसके जीवन में तो अभिशापों की रेखायें थीं। अपने पति के साथ जो कुछ घटित हुआ उससे वह अत्यन्त खिन्न है किन्तु घोर-निराशा के महातिमिर में भी वह कुण्ठित नहीं हो सकी, अस्तित्व को भुलावा नहीं दे सकी अपितु अपने जीवन की दिशा को अभिनव मोड़ देती हुई कर्तव्य-पथ की सदा अनुगामिनी रही। समस्त मानवता के हितों के संरक्षण के लिए तथागत से दीक्षित होने चली गई। अपनी असीमित वेदना को वह सरला से इस प्रकार व्यक्त करती है:—

'सरला ! धैर्य न होता, तो अब तक यह हृदय फट जाता—यह शरीर निष्पन्द हो जाता। यह वैधव्य-दुःख नारी-जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, यह किसी भी स्त्री को अनुभव न करना पड़े।"[1]

भारतीय संस्कृति ! और वैधव्य ? इन परतों के मध्य सुकुमार भावुक-हृदया युवती ! अपना मानसिक-संतुलन रखने में शायद ही सफल हो सके ? लेकिन् मल्लिका ने यह सिद्ध कर दिया कि पीड़ाओं के गाँव में रह कर भी नारी को अपना धर्म निभाना होता है। मल्लिका ने पति-प्रेम को मानवता की सेवा में परिवर्तित कर लिया। अपने सूने मानस की रिक्तता को विश्वबन्धुत्व एवं करुणा के स्रोतों से भर लिया।

एक ओर अभिशापों से संत्रस्तक्षण, जीवन की घोर-निराशा ! आशा-दीप का सदा के लिए बुझ जाना और दूसरी ओर द्वार पर अतिथि का आना ! इस मध्य भी मल्लिका ने अपने सद्धर्म को समझा। सरला से वह सहज-स्वर में अपने मन के अन्तर्द्वन्द्व को इस प्रकार अभिव्यक्त करती है:—

'किन्तु नहीं सरला ! मैं व्यवहार जानती हूं, आतिथ्य परम धर्म है। मैं भी नारी हूं, नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ। शरीर की धमनियाँ खिचने लगती हैं। जी रो उठता है, तब भी कर्तव्य करना ही होगा।"[2]

मल्लिका के विचार और व्यवहार आदर्शनिष्ठा तथा कर्त्तव्य के सूचक हैं। उसने एक ऐसा आदर्श स्थापित किया—जो समस्त स्त्री-जाति के लिए गौरवास्पद है। सम्राट प्रसेनजित् ने अपनी संकीर्ण एवं कुत्सित भावनाओं के वशीभूत होकर बन्धुल जैसे राष्ट्रभक्त सेनानी को राजनीति के षड्यन्त्रों का शिकार बना दिया—इन तथ्यों से परिचित होते हुए भी मल्लिका ने प्रसेनजित् के प्रति व्यवहार में संकीर्णता अथवा

---

१. अजातशत्रु, पृ० सं० ७८-७९

२. यथोपरि पृ० सं० ७९

प्रतिक्रिया को स्थान नहीं दिया। प्रसेनजित् द्वारा पश्चाताप व्यक्त करने पर वह केवल इतना ही कह पाती है:—

"कुछ नहीं महाराज! आज्ञा दीजिये कि आपके राज्य से निर्विघ्न चली जाऊँ, किसी शान्तिपूर्ण स्थान में रहूं। ईर्ष्या से आपका हृदय प्रलय के मध्यान्ह का सूर्य हो रहा है, उसकी भीषणता से बच कर किसी छाया में विश्राम करूँ। और कुछ भी मैं नहीं चाहती"[१]

मल्लिका के चरणों में वैभव समर्पित था किन्तु उस आदर्श नारी ने समस्त अधिकारों को ठुकराते हुए किसी एकान्त-स्थान में जाकर शान्ति प्राप्त करने की कामना की-साथ ही उसने सम्राट को सचेत भी कर दिया कि ईर्ष्याग्नि के कारण मानवता का पौधा जलकर राख हो जायेगा। मानवता की अनन्य उपासिका तथा कर्त्तव्य परायणा साध्वी मल्लिका ने एकांतवास ले लिया किन्तु वह अपने राष्ट्र के महत्व को नहीं भूल सकी। उसने यहाँ सिद्ध कर दिया कि हर विरक्त पहिले नागरिक होता है और उसके पश्चात् साधु। कोशल-नरेश की पराजय से उसे अपने पति बन्धुल की स्मृति आ जाती है, और भागिनेय कारायण के मिलने पर भर्त्सना भरे शब्दों में उसे स्वार्थ-त्याग के लिए प्रेरित करती है। मल्लिका के महान आदर्श के प्रतीक ये शब्द हैं:—

"क्या सच्चे सैनिक के समान ही तुम रण-क्षेत्र में खड़े थे, और तब भी कोशल-नरेश की यह दुर्दशा हुई? जब तुम इस लघु-सत्य को पालने में असमर्थ हुए तब तुम से और महान् स्वार्थ त्याग की क्या आशा की जाय! मुझे विश्वास है कि यदि कोशल की सेना अपने सत्य पर रहती तो यह दुःखद घटना न होने पाती।"[२]

शक्ति के साथ सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईमानदारी के साथ यदि कर्त्तव्य-पालन किया जावे तो वह शक्ति सदा अपराजेय रहती है। सामान्य सी शक्ति भी सत्य-मार्ग का अनुकरण करे तो वह व्यूह-भेदन करने में समर्थ हो सकती है। सेवा और कर्त्तव्य परायणता के लिए व्यक्ति को वैयक्तिक स्वार्थों का परित्याग करना होता है। वह कौशल की पराजय को वैयक्तिक-स्वार्थों की विजय और कर्तव्य-पालन में सत्यता का अभाव कहती है। सम्राट मल्लिका के मुख से सत्य सुनने पर उसके चरण पकड़ बैठता है तो वह उस समय तटस्थ भाव से कहती है:—'उठिये सम्राट! उठिये! मर्यादा-भंग करने का आपको भी अधिकार नहीं है।"[३]

---

१. अजातशत्रु—पृ० सं० ८१
२. यथोपरि—पृ० सं० ८७
३. ,, ,, ,, ८८

सम्राट को चरणों पर अवनत देख कर उसे गरिमा का भान नहीं होता है और न वह इससे गुरुता ही समझती है—अपितु सम्राट को भी स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि मर्यादा-भंग करने का अधिकार राजा को भी नहीं है। सामान्य से शब्दों में कितना बड़ा विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया गया है ! मल्लिका की स्थिति दम्भ एवं गौरव से ऊपर उठ चुकी थी—वह इतनी भावुक भी नहीं थी कि प्रवाह मे बह जाये ! मल्लिका ने आत्मबल व सम्यक् विचारों से राजा को झुका दिया था। अहिंसात्मक-मार्ग से उसने महान विजय प्राप्त करली थी।

राजा प्रसेनजित अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए देवी मल्लिका से अभिशापों की याचना करता है तो उदारमना मल्लिका जो समस्त मानवता के हितों की संरक्षिका है तथा जिसके हृदय में उदात्त भावनाओं का अथाह सागर लहरा रहा है—वह राजा से यही कहती है कि—जो इतिहास बन चुका है, वह नहीं मिट सकेगा, अपितु एक नया रमणीय इतिहास बनाईये—

"अतीत के वज्र—कठोर पर जो कुटिल-रेखा चित्र खिंच गये हैं, वे क्या कभी मिटेंगें ? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिये, जो भविष्य में उज्ज्वल होकर दर्शकों के हृदय को शान्ति दें। दूसरों को सुखी बना कर सुख पाने का अभ्यास कीजिये।"[1]

यहाँ ऐसा आभास होता है कि प्रसादजी ने अपनी इस पात्रा को मानवता से भी बहुत ऊँचा उठा दिया है। सात्विकता की मूर्ति करुणा की देवी मल्लिका शासक से यही अपेक्षा करती है कि वह समस्त मानवता को सुख-समृद्धि दे सके। अपने पति के हत्यारे के प्राणों की रक्षा कर के वह भारतीय-संस्कृति के आदर्श-मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ाती है। एक नारी-हृदय जो भयंकर आक्रोश के प्रतिघातों से परिपूर्ण रहता है, जहाँ प्रतिशोध व प्रतिक्रियाओं का आवेश रहता है—उस नारी हृदय में करुणा का निस्सीम सागर लहरा रहा था। वह प्रसेनजित के प्राणों की रक्षा कर के उसे ही दिशाबोध नहीं देती है अपितु दुर्मद रक्तपिपाशु अजातशत्रु का भी हृदय-परिवर्तन करने में सफल सिद्ध होती है:—

"तुम उष्ण रक्त चाहते हो, या इस दौड़-धूप के बाद शीतल-जल ? युद्ध में जब यशार्जन कर चुके, तब हत्या कर के क्या अब हत्यारे बनोगे ? वीरों को विजय की लिप्सा होनी चाहिये, न कि हत्या की।"[2]

अजात को सहज रूप से अहिंसा के मार्ग पर प्रशस्त कर मानवता की महान

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ८६

२ यथोपरि पृ० सं० ६०

सेवा करती है, अन्यथा न जाने कितने मानवों के रक्त से यह धरा रक्तरंजित होती ? मल्लिका में कितना महान आत्मबल था—कितना सत्य था—एक क्षण में उसने आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया। जब अजात बन्धुल की हत्या के षडयन्त्र का समाचार स्वयं कहता है तो वह उत्तेजित नहीं होती है अपितु एक चिन्तनशीला भारतीय साध्वी की तरह कहती है—मैं सब कुछ जानती हूं। "यह समस्त संसार केवल मृत्पिण्ड है—अन्त में सभी इस मिट्टी में मिल जायेंगें। उसने संसार की नियति को समझ लिया था तभी तो कहा—

"जानती हूं, और यह भी जानती हूं कि सब मृत्पिण्ड इसी मिट्टी में मिलेंगें।"[1]

न मैं रहूंगा और न वह, ये सभी भ्रांतियां हैं, सभी मिथ्या अहं की भ्रान्तियों में भटकते हुए रागद्वेष से पीड़ित हो रहे हैं—इस संसार की वास्तविकता को कोई नहीं समझ पा रहा है, सभी माया के हाथ के खिलौने बन कर हिंसा और अधर्म के खेल खेल रहे हैं। सभी आत्मायें एक-सी हैं और मानवता की सेवा ही सद्धर्म है, मानव हृदय पर विजय पाना ही सच्ची विजय है, शक्ति के द्वारा प्राप्त की हुई विजय क्षणिक है। मानव का यही कर्तव्य है कि वह मानवता के मूल्यों को समझने का प्रयास करे। अजात से वह कहती है:—

"नहीं राजकुमार! यह देवता का नहीं, मनुष्य का कर्तव्य है। उपकार, करुणा, सम्वेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं। देवी मल्लिका ने त्याग, करुणा और निस्वार्थ सेवा की भावनाओं का प्रचार-प्रसार किया। उसने राष्ट्रों के विवाद को जड़ से मिटा देने का साहस किया। वस्तुतः मल्लिका का चरित्र एक साध्वी-नायिका के रूप में उभर कर आया है।"[2]

वासवदत्ता

उज्जैन की राजकुमारी वासवदत्ता का चरित्र भी अपना अस्तित्व रखता है। वह अपनी सत्यवादिता और अपरिमित धैर्य के साथ पाठकों के समक्ष आती है। उसमें अपनी सौतों के प्रति किसी प्रकार से भी द्रोह-भावना विद्यमान नहीं है।

स्कन्दगुप्त

प्रसादजी का 'स्कन्दगुप्त' नाटक आदर्श-पात्रों का मन्दिर है। स्कन्दगुप्त सम्राट की अपेक्षा एक सामान्य सैनिक बना रहना ही श्रेयस्कर मानता है तो गोविन्द

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ९०
२. यथोपरि „ ९१

गुप्त अधिकारों से दूर रह कर राष्ट्र-सेवा को ही महत्व देता है, इसी प्रकार बन्धुवर्मा मालव को समर्पित कर अपूर्व त्याग का परिचय देता है। इस नाटक में समस्त पात्र राष्ट्र से सम्पृक्त दिखाई देते हैं, राष्ट्र के लिए अपने वैयक्तिक-सुखों को सदा के लिए परित्यक्त कर देते हैं। कर्तव्य-भावना, त्याग एवं विश्वास ही सभी का आवश्यक धर्म है। कर्तव्य-भावना से च्युत हुए पात्र भी पश्चाताप की अग्नि में झुलसते दिखाई देते हैं। वैयक्तिक-धरातल से उठ कर राष्ट्रीय मूल्यों के गरिमामय अध्याय प्रस्तुत करने में नाटक के पात्र सफल हुए हैं। नाटक के पात्र इस प्रकार हैं:—

पुरुष-पात्र:—

स्कन्द गुप्त: मगध का युवराज (विक्रमादित्य)
कुमार गुप्त: मगध का सम्राट।
गोविन्द गुप्त: कुमार गुप्त का भाई।
पर्णदत्त: मगध का महानायक।
चक्रपालित: पर्णदत्त का पुत्र।
बन्धुवर्मा: मालव का राजा।
भीम वर्मा: बन्धु वर्मा का भाई।
मातृ गुप्त: काश्मीर नरेश काव्यकर्ता कालिदास।
प्रपंचबुद्धि: बौद्ध कापालिक।
शर्व नाग: अन्तर्वेद का विषय पति।
कुमार दास: सिंहल का राजकुमार जिसे धातुसेन भी कहा गया है।
पुरगुप्त: कुमार गुप्त का छोटा पुत्र।
भटार्क: नवीन महाबलाधिकृत।
पृथ्वी सेन: मंत्री कुमारामात्य।
खिंगिल: हूण आक्रमणकारी।
मुद्गल: विदूषक
प्रख्यात कीर्ति: लकाराजकुल का श्रमण, महाबोध बिहार-स्थविर।

महा प्रतिहार, महादडनायक, नन्दी ग्राम का दंडनायक, प्रहरी सैनिक इत्यादि सामान्य पात्र।

स्त्री-पात्र:—

देवकी: कुमार गुप्त की बड़ी रानी व स्कन्द गुप्त की माता।
अनन्त देवी: कुमार गुप्त की छोटी रानी व पुरगुप्त की माता।
जयमाला: बन्धु वर्मा की स्त्री, मालव की रानी।
देव सेना: बन्धु वर्मा की बहिन।

विजया: मालव के धनकुबेर की कन्या ।
कमला: भटार्क की माता ।
रामा: शर्वनाग की पत्नी ।
मालिनी: मातृ गुप्त की प्रणयिनी ।
सखी दासी आदि: अन्य सामान्य पात्र ।

स्कन्दगुप्त:—

स्कन्दगुप्त नाटक का नायक स्कन्दगुप्त भारतीय संस्कृति का आदर्शमय प्रतीक एवं त्याग का उदात्त परिचायक है। आर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी सम्राट स्कन्दगुप्त के चरित्र का मूल्यांकन करने पर हम सहज रूप से कह बैठेंगे कि—वह एक पूर्ण मानव था। उसमें ऐसी कोई दिव्य शक्ति थी—जिसके माध्यम से वह संक्रमण काल की स्थितियों के मध्य से निकलता हुआ कीर्तिस्तम्भ को स्थापित करने में सफल सिद्ध हो गया। प्रकाशक ने नाटक के निवेदन में उल्लेख करते हुए कहा है:— 'गुप्त काल (२७५ ई० ५४० ई० तक) अतीत भारत के उत्कर्ष का मध्यान्ह है। उस समय आर्य-साम्राज्य मध्य-एशिया से जावा-सुमात्रा तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी सस्कृति का झंडा फहरा रहा था। इसी गुप्त वंश का सब से उज्ज्वल नक्षत्र था—स्कन्द गुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहले ही साम्राज्य में भीतरी षडयन्त्र उठ खड़े हुए थे। साथ ही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छा गया था और गुप्त सिंहासन डाँवाडोल हो चला था। ऐसी दुरवस्था में लाखों विपत्तियाँ सहते हुए भी जिस लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कन्दगुप्त ने इस स्थिति से आर्य-साम्राज्य की रक्षा की थी।—पढ़ कर नसों में बिजली दौड़ जाती है। अन्त में साम्राज्य का एक छत्र चक्रवर्तित्व मिलने पर भी उसे अपने वैमात्र एवं विरोधी भाई पुरगुप्त के लिए त्याग देना तथा स्वयं आजन्म कौमार जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करना—ऐसे प्रसंग हैं जो उसके महान चरित्र पर मुग्ध ही नहीं कर देते, बल्कि देर तक सहृदयों को करुणा-सागर में निमग्न रखते हैं।[1] उज्जयिनी के स्कन्धावार में टहलता हुआ स्कन्दगुप्त नाटक का आरम्भ करता हुआ कहता है:—

"अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? (ठहर कर) ऊँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।"[2]

---

१. स्कन्दगुप्त—'निवेदन'—पृ० सं० ४—५

२. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६

स्कन्दगुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी होता हुआ भी स्वयं को एक सैनिक मात्र समझता है। अधिकार-लोलुपता की अपेक्षा वह कर्तव्य परायणता का पक्षपाती है। साम्राज्य व अधिकारों के भोग से राष्ट्र की सुरक्षा सम्भव नहीं अपितु मानवीय दृष्टिकोण के साथ सैनिक के रूप में आत्मोत्सर्ग ही सत्य राष्ट्र-भक्ति है। एक सैनिक का क्या कर्तव्य है ? सच्चे सैनिक का मुख्य कर्तव्य त्याग है—इसी संदर्भ में वह चक्रपालित से कहता है:—

"विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा ? कभी नहीं, वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है ? क्या ही उन्मत्त भावना हैं ? चक्रपालित ! संसार में जो सब से महान है, वह क्या है ? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य हैं।"[1]

वह इसी वीरता पर मुग्ध होकर कर्मजयी सैनिक की भाँति अपना समस्त जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित कर देना चाहता है। यद्यपि वह साम्राज्य का उत्तराधिकारी हैं, विस्तृत साम्राज्य का भावी सम्राट है किन्तु उसके मन में साम्राज्य के अधिकारों को भोगने की लालसा नहीं है। वह सिंहासन के लिए वैमात्र भाई से संघर्ष नहीं करना चाहता है। यह अर्थ नहीं है कि वह अशक्त है अपितु उसके हृदय में सैनिक की भाँति वीरता के साथ संघर्ष करते हुए राष्ट्र के लिए उत्सर्ग की भावना है। वह चक्रपालित से यही कहता है स्वर्गीय कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं हैं। सिंहासन की अपेक्षा एकाकी जीवन श्रेयस्कर है। वह सिंहासन की प्राप्ति के लिए गृह-कलह को जन्म नहीं देना चाहता।[2] वह युद्धों की विभीषिका से दूर रह कर शान्त-प्रिय जीवन जीने के लिए संकल्पशील है। युद्ध के जीवन को विडम्बना की संज्ञा देता है। युद्ध की भीषणता एवं रक्तपात की अपेक्षा सुकुमार प्रकृति की रमणीय क्रोड़ में आसीन होकर नियति के रहस्य का अन्वेषण करने के लिए जिज्ञासु है। मानवीय उद्देश्य को व्यक्त करता हुआ कहता है :—

वसन्त के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में, चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहा कर लाल कर दिया जाय ! नहीं, नहीं, चक्र ! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वय न जान सका हूँ।"[3]

---

१. स्कन्दगुप्त पृष्ठ सं० ४६ (संस्करण १७)

२. " " ४७ (")

३. " " ४७ (")

वह प्रकृति की अनन्त शक्ति का जिज्ञासु समस्त अधिकारों से विरक्त रह कर सन्यासी नही बनता है अपितु संसार में जीता हुआ अपनी कर्तव्य भावना के प्रति अनुक्षण सतर्क रहता है। अपनी जननी देवकी को अनन्तदेवी के षड़यन्त्र से बचाता है।[१] नीच भटार्क को क्षमा करता,[२] अपनी विमाता अनन्तदेवी को इस कुकृत्य के लिए बन्दी न बनाना[३] उसके निस्सीम धैर्य और सहनशक्ति के परिचायक हैं।

स्कन्दगुप्त समस्त अधिकारो के वैभव को ठुकराता हुआ आर्य-राष्ट्र के संरक्षण के प्रति स्वयं को समर्पित कर देता है। मालव की सुरक्षा के संदर्भ मे जब स्कन्दगुप्त बन्धुवर्मा से सिंहासन पर आसीन होने के लिए कहता है तो जयमाला स्कन्दगुप्त को सिंहासन अर्पित कर देती है।[४] गोविन्दगुप्त भी बन्धुवर्मा के अपरिमित त्याग की प्रशंसा करता हुआ[५] स्कन्दगुप्त से सिंहासन पर बैठने के लिए कहता है।[६] यहां भी स्कन्दगुप्त सिंहासन पर आसीन होकर अधिकार-सुख नहीं भोगना चाहता है उसके समक्ष अनेक समस्यायें संक्रमण करती हुई दिखाई देती हैं—वह अपने पितृव्य गोविन्द गुप्त से कहता है—"तात ! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं : अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है : इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सकूंगा, सम्राट नहीं।"[७] वह अन्तर्विद्रोह की स्थिति से पूर्ण परिचित है, वह स्थितियों का लाभ नहीं उठाना चाहता है अपितु राष्ट्र की सुरक्षा के लिए संकल्पशील है। गोविन्दगुप्त एवं अन्य सभी व्यक्ति स्कन्दगुप्त को मालवेश के सिंहासन पर आसीन करने के लिए आग्रहशील रहते हैं। स्कन्दगुप्त जब सिंहासन पर आसीन होता है तो अपने पितृव्य से आशीर्वाद मांगता हुआ कहता है—

"आर्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूं और आर्य-सम्राट की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूं, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिए, और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश-सेवा से, कभी विचलित न हो।"[८]

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६३ (संस्करण)
२. ,, ,, ६३ (,,)
३. ,, ,, ६३ (,,)
४. यथोपरि पृ० सं० ७३
५. यथोपरि पृ० सं० ७४
६. यथोपरि पृ० सं० ७४
७. यथोपरि पृ० सं० ७४
८. यथोपरि पृ० सं० ७४

सम्राट बनने के पश्चात् उसके मन मे यही संकल्प है कि वह सैनिक की भाँति राष्ट्र-सेवा में तत्पर रह सके। सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् अहं एवं प्रमाद की स्थिति मे शासक जीने लगता है तथा दण्ड व्यवस्था को लेकर उग्र हो जाता है किन्तु स्कन्दगुप्त इन सभी विकृतियों से पूर्ण मुक्त था—इसका यह अर्थ नहीं कि वह सफल शासक के योग्य नहीं था अपितु वह दण्ड-व्यवस्था मनोवैज्ञानिक स्तर पर करता था। अपनी जननी के हत्या करने के षडयन्त्र में सम्मिलित शर्वनाग को वह शारीरिक दण्ड नहीं देता है, अपितु उसे क्षमा करता हुआ उसे पश्चाताप की अग्नि में जलने के लिए पदोन्नत करता है। इसी प्रकार भटार्क को क्षमा कर अपनी उदात्तता का अभूत-पूर्व परिचय देता है। स्कन्दगुप्त का हृदय बहुत विशाल था—वह मानवीय दृष्टिकोण का पक्षपाती रहा और इसी कारण अपराधियों को दण्ड देने की प्रक्रिया में अभिनव उदात्तता का प्रदर्शन किया। सम्राट के पद को अधिगत करने के पश्चात् भी उसका मानव अपनी मुक्तता के लिए विकल था। वह एकान्त में बैठकर यही कहता है—

"इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति केवल मेरे अस्तित्व से। मालूम होता है कि सबकी-विश्व भर की शान्ति-रजनी मे मैं ही धूमकेतु हूं, यदि मैं न होता, तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नही ...."[1]

सम्राट भी एक मनुष्य ही होता है, यदि उस व्यक्ति के मानस में शान्ति नहीं तो वह अतुलित वैभव एव स्वर्णिम चकाचौंध तथा कादम्ब की मादकता भी सारहीन हो जाती है। स्कन्दगुप्त जीवन चक्र में जीता हुआ भी वीतरागी बन गया था। महान तपस्वी की तरह साधना में लगा हुआ था। उस निस्पृह व्यक्ति के हृदयाकाश के किसी भी कोने में कामना का कोई नक्षत्र नहीं चमक रहा था। गुप्तवश के अन्तर्विद्रोह का कारण वह अपने आप को समझता है [2] वह विश्वास की प्रत्यक्ष मूर्ति के समान था—यहाँ तक कि भटार्क जैसे कृतघ्नी पर भी विश्वास करता रहा। यद्यपि वह अच्छी तरह परिचित था कि भटार्क अविश्वसनीय है।[3] भटार्क की नीचता पर भी वह धैर्य को नहीं छोड़ता है।[4] हूणों के साथ वीर सैनिक की तरह युद्ध मे संघर्ष करता हुआ षडयन्त्र के कुचक्र में फंस कर पराजित होता है किन्तु उन पराजित क्षणों में भी वह

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ८४
२. यथोपरि पृ० सं० ८४
३. ,, ,, ६६
४. ,, ,, १०१-१०२

तिलमिलाता नहीं हैं—अपितु वह नियति के चक्र पर चिन्तन करता हुआ दार्शनिक की तरह विचारशील हो जाता है—

"बौद्धों का निर्माण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है।'[1] स्कन्दगुप्त का जन्म ही उत्सर्ग के लिए हुआ था। देवसेना और—विजया ये दोनों युवतियाँ उससे प्रणय-प्रतिष्ठा की कामना करती थी। विजया अपने लक्ष्य के प्रति सफल नहीं हो सकी और पराजित होकर कायर स्त्री की तरह आत्महत्या कर बैठी किन्तु देवसेना का पवित्र प्रेम स्कन्द-गुप्त के लिए प्रेरक बना। स्कन्द भी देव सेना के पवित्र प्रेम और अनुपम त्याग-भावना को निष्ठा की दृष्टि से देखता था। उसे साम्राज्य की इच्छा नहीं थी—वह तो संसार के किसी एकान्त स्थल में बैठ कर मानवीय-प्रेम की पावन-तरलता में निमज्जित हो जाने की भावना में जीता था —

'देव सेना! एकान्त में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूंगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।"[2] देव सेना के साथ अपने जीवन के अवशिष्ट दिवस व्यतीत कर देना चाहता था—किन्तु उसके भाग्य में यह भी सम्भव न था, वह साम्राज्य के संरक्षण के निमित्त भीष्म-प्रतीज्ञा कर बैठता हैं: -

'तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं कुमार जीवन ही व्यतीत करूंगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।[3] स्कन्दगुप्त भारतीय-संस्कृति का उज्ज्वल नक्षत्र, सच्चरित्र का धनी कर्तव्यपरायण, महान तपस्वी, अनुपम त्याग-मूर्ति, दृढ़ राष्ट्रप्रेमी, मानव-कल्याण-हित जीवन जीनेवाला आदर्श पात्र रहा। यदि इस पात्र को दिव्य, उदात्तशील आदर्शपात्र कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। अन्तिम क्षणों में भी वह यही कहता है —

"और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूं देव सेना! देव सेना!! तुम जाओ, हत भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द! ओह![4] सत्य ही है— न प्रविचलन्ति धीराः।

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १२३
२. „ „ १३४
३. „ „ १३५
४. „ „ १४८

देवसेना

मालवेश बन्धुवर्मा की बहिन देवसेना आर्यावर्त-स्त्री-रत्न एवं भारतीय नारी के त्यागमयी रूप को सिद्ध करने वाली आदर्शनिष्ठा उदात्त नायिका है। श्रेष्ठि कन्या विजया से गौरव पूर्ण शब्दों में कहती है कि धन कुछ नहीं है, सर्वोपरि राष्ट्र है - विजया ! तुम्हें सिर्फ अपनी अपार सम्पत्ति के संरक्षण का मोह है —

"और देश के मान का स्त्रियों की प्रतिष्ठा का. बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं।[1]

इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए उसमें अकथनीय उत्सर्ग की भावना विद्यमान थी। वह करुणा की प्रतिमूर्ति के रूप में समस्त मानवता के दुःखों पर अमृत-धारा बहा देना चाहती है। समस्त मानवता को अनुपम मादक-लहरी के संगीत मे सिमेट लेना चाहती है। उसके मानस में प्रेम का अपार सागर उमड़ रहा है। वह प्रेम के नीड़ को स्वर्ग से भी अतिशय रूप में स्वीकारती है। जिस मानस में प्रेम का अपरिमित पारावार नहीं है—उसे अभागे की संज्ञा से सम्बोधित करती है। वह स्कन्द गुप्त के उच्चादर्श एवं अनुपम त्याग के प्रति श्रद्धानत होकर उसके प्रति समर्पित हो जाना चाहती है। उसका प्रणय, राजकुमार के सौंदर्य या शौर्य अथवा पृथुल सम्पत्ति के प्रति मुग्ध नहीं है अपितु उसकी भावनाओं के प्रति वेदना के साथ सम्पृक्त होकर अर्पित है। वह विजया को प्रेम-समर्पण की स्थिति का भान कराते हुए कहती है:—

"नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिए ही। परन्तु एक वस्तु और चाहिए। पुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिए धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का, अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखायें मुख पर पड़े और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय। और फिर दो बूँद गरम-गरम आँसू और इसके बाद एक तान वागीश्वरी की—करुण कोमल-तान। बिना इसके सब रंग फीका।[2]

और इसी वेदना को संगीत के मृदुल कम्पनों की स्वर-लहरी में तन्मय कर लेना चाहती है। देवसेना संसार को लय की सृष्टि ही मानती है। प्रकृति का हर अंग लयात्मक है, प्रणय भी लययुक्त है, और इसी लय के अजस्र प्रवाह मे मानस सम्पृक्त होने के लिए आतुर रहता है। यदि लय नहीं है तो जीवन शक्ति भी नहीं है और न प्रणय ही। स्कन्दगुप्त के प्रति मानस में उफनते प्रणय-ज्वार को वह व्यक्त नहीं कर पाती

---

१. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ४१
२. यथोपरि—पृ० सं० ४८-४६

है—अपितु इस समस्त पीड़ा को संगीत के प्याले में मिश्रित कर एकान्त में अव्यक्त रूप से पी लेना चाहती है। उसकी संगीतात्मकता को परिजन रोग की संज्ञा देते हैं तो—वह सहज रूप से कह बैठती है:—

"रोग तो एक न एक सभी को लगा है। परन्तु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।"[१]

स्कन्द की तरह देवसेना भी समस्त अधिकार-सुखों का भोग नहीं भोगना चाहती है अपितु राष्ट्र की सफल सेविका के रूप में जीवन जीती हुई सकल मानवता को आनन्दमय संगीत-सागर में निमज्जित कर लेना चाहती है। विजया उसके प्रणय की प्रतिद्वन्द्विनी है—वह उसकी भावनाओं के निमित्त अपनी भावनाओं की हत्या कर लेने में भी आनन्द का अनुभव करती हुई दिखाई देती है। षड़यन्त्र में जब विजया भी सामने आती है तो वह यही कहती है:—

"सम्राट! विजया मेरी सखी है।"[२]—यह कह कर वह अपनी प्रतिद्वन्द्विनी के प्राणों की सुरक्षा कर गौरव का अनुभव करती है। जब उसे यह विदित हुआ कि विजया ने भटार्क का वरण कर लिया तो—वह किसी सुख का अनुभव नहीं करती है अपितु विजया की पराजय पर खिन्न है। जब विजया उसे मिथ्या-विश्वास का सम्बल देकर प्रपंचबुद्धि के कुचक्र में फँसा लाती है—तब भी वह भयभीत नहीं होती है—अपितु विजया से स्पष्ट कहती है—

"शीघ्रता करने वाली स्त्री। अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती है।"[३]

देवसेना स्वार्थमयी वृत्तियों से परिवेष्टित नहीं है, वह अपने सुख के लिए किसी के त्याग की कामना नहीं करती है अपितु किसी अन्य के सुख के निमित्त अपने सुख व स्वार्थ का परित्याग करने में आनन्द का अनुभव करती है। उसने अपनी नारी-सुलभ समस्त कामनाओं का दमन कर लिया था। विजया जब उसे श्मसान में लेकर आती है तो उसकी भावनाओं को कुण्ठित करने की दृष्टि से प्रश्न कर बैठती है—"राज-कुमारी! श्मसान में आने से नहीं डरती हो?—विजया के प्रश्न का उत्तर देते हुए वह कहती है:—

"संसार का मूक शिक्षक 'श्मसान' क्या डरने की वस्तु है? जीवन की

---

१. स्कन्दगुप्त—पृ० सं ५०
२. ,, ,, ,, ७७
३. यथोपरि—पृ० सं० ८१

नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है ?"[१]

देवसेना जीवन के उद्देश्य को समझ गई थी और नश्वर संसार के समस्त सुखों को वह क्षण भंगुर मानने लगी थी। जीवन को भी वह तुच्छ समझती है, प्रपंचबुद्धि जब देवसेना की बलि देना चाहता है तो वह क्षण भर के लिए भी विचलित नहीं होती--न उसे प्राणों का मोह है और न जीवन-सुखों की लालसा; अन्तिम क्षणों में अधर यही कहना चाहते हैं:—

"प्रियतम ! मेरे देवता युवराज !! तुम्हारी जय हो !"[२]

यहाँ उसका अव्यक्त प्रणय सहज रूप से व्यक्त हो पाता है। अमर-प्रणयिनी की तरह अव्यक्त पीड़ा लिए हुए वह स्वयं को प्रियतम के सान्निध्य में समर्पित करने को भावनाशील है। वह स्कन्द से प्रणय करती है किन्तु प्रणयदान के लिए प्रार्थना करना तुच्छ समझती है—प्रणय के प्रति उसमें गहरा स्वाभिमान है। निस्वार्थ-प्रेम की साधिका देवसेना ने कभी भी अपने स्वार्थ के निमित्त प्रार्थना नहीं की। राष्ट्र के संरक्षण के लिए उसने अपने प्रणय का भी त्याग कर दिया और मानव-कल्याण के आनन्द में विकल हुई सामान्यजन की तरह भटकने लगी। दयनीय-स्थिति से जीती हुई जब वह स्कन्द से मिलती है तो गौरवपूर्ण शब्दों में कहती है:—

"मैं अपने लिए ही नहीं मांगती देव ! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरवलम्ब हैं। किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र खण्ड। उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है।[3]

दयनीय-स्थिति में देवसेना को देखकर स्कन्द का मानस वेदना से आपूरित हो उठता है और उस क्षण वह राजकुमारी से कहता है—आओ! आज से हम कभी अलग न होंगे—यह क्षण देवसेना के लिए विजय का क्षण था। किन्तु इस क्षण भी वह परीक्षा में सफल हो गई। अपनी समस्त भावनाओं का दमन करते हुए राष्ट्र की रक्षा का व्रत पालती हुई देवसेना ने राजकुमार के प्रस्ताव को ठुकराते हुए यही कहा—

"सो न होगा सम्राट ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूंगी। देखो, यहीं पर सती

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ८५
२. ,, ,, ,, ८६
३. ,, ,, ,, १३४

जयमाला की भी छोटी सी समाधि है, उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिए।"[1]

देव सेना ने मालव के गौरव की अक्षुण्ण परम्परा में एक नई शृंखला और जोड़ दी। यदि वह चाहती तो स्कन्द के साथ जाकर अपनी भावनाओं को सुख-सौरभ से उन्मादित कर सकती थी। राष्ट्र प्रेम के प्रति वह अपने आत्मिक प्रेम का उत्सर्ग कर बैठती है, वह अच्छी तरह जानती थी कि यदि स्कन्दगुप्त प्रणय के बन्धन में बंध गया तो राष्ट्र के प्रति कर्तव्यभावना में श्लथता आ जायेगी और लक्ष्य पूर्ण न हो सकेगा। देव सेना का अपूर्व-बलिदान भारतीय नारी के लिए आदर्शमय गौरव है। जब उस त्यागमयी देवसेना के समक्ष सम्राट स्कन्दगुप्त पुनः यह प्रस्ताव रखते हैं बन्धु-वर्मा की भावनाओं की साक्षी देकर—तब भी देवसेना अपने मन को प्रस्तर का बना लेती है, अखिल भावनाओं के ज्वार को अंकुश के साथ दबा बैठती है और इन्हीं शब्दों के साथ सम्राट को स्पष्ट कह देती है :—

"परन्तु क्षमा हो सम्राट ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे; अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूंगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूंगी; परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूंगी।"[2]

देवसेना के पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था—अतः वह सम्राट पर यही आरोप लगाती है कि आप विजया का स्वप्न देखते थे—और मैं इस स्वप्न को विखण्डित कर विजया का स्थान प्राप्त करना कभी स्वीकार नहीं करूंगी। मुझे सम्राट की सम्राज्ञी बनने की कामना नहीं है, भोग भोगने की लालसा नहीं है, अधिकार-सुख की इच्छा नहीं है, यदि कोई इच्छा है तो सिर्फ यही कि मैं सम्राट की दासी रह कर अपना समस्त जीवन व्यतीत कर दूं।

जब स्कन्दगुप्त देव सेना से स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—मैं भी सम्राट नहीं रहना चाहता हूं, केवल तुम्हारे साथ रहकर एकान्त में जीवन व्यतीत कर देना चाहता हूं तो देव सेना अपनी भावनाओं को स्पष्ट रूप में व्यक्त कर देती है :—

"तब तो और भी नहीं। मालव का महत्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देव सेना जीवित न रहेगी। सम्राट ! क्षमा ! हो इस हृदय में .... आह ! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १३४

२. यथोपरि पृ सं० १३४

निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए; उसे कामना के भंवर में फंसा-कर कलुषित न कीजिए। नाथ ! मैं आपकी हूँ, मैंने अपने को दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।[1]

देव सेना अपने प्रियतम के लिए प्रेरणा है, सहयोगिनी है, उसके तारों में कर्म के कम्पन भरने वाली संगीत लहरी है, वह विलासवती नहीं है और न ही भोग-साधन ही—अपितु वह अपने प्रियतम को कर्मजयी देखना चाहती है—अकर्मण्य नहीं। प्रियतम के विकास के लिए, उसके लक्ष्यों की सिद्धि के लिए अपने आप को मिटा देना चाहती है—बलिदान की भूमि पर अर्पित हो जाने की अक्षुण्ण लालसा में जी रही है। कुमार के आजीवन कौमार्य-व्रत से भी वह विचलित नहीं हुई और सम्राट के प्रति समर्पित रहते हुए जीवन के भावी सुख, आशा और आकाँक्षा आदि सभी से विदा लेते हुए अपनी वेदना को व्यक्त करती है :—

"आह ! वेदना मिली विदाई !
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित;
मधुकरियों की भीख लुटाई।[2]

अपने प्रियतम की साधना सफल होने पर वह हर्ष से नाच उठती है— प्रियतम के साथ लक्ष्य प्राप्ति के लिये अनवरत संघर्षों से जूझती है और जब विजय-नाद गूंज उठता है तो वह प्रिय से विदा लेने के लिए अनुरोध करती है। इस क्षण देव सेना का हृदय पीडाओं के अनन्त सागर से उद्वेलित था— किन्तु त्यागमूर्ति प्रणयिनी यहाँ भी मानस में भीरुता को स्थान न दे पाई और इन कठोरतम परीक्षण की घड़ियों में भी सफल हो गई। वह अपने प्रियतम के आजीवन कौमार्य-व्रत को नहीं तोड़ना चाहती— भावनाओं के तीव्र प्रवाह को काट कर अपने प्रियतम से इन्हीं शब्दों के साथ विदाई लेती है :—

"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिये। मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जन्म के प्राप्य ! क्षमा !"[3]

देव सेना भारतीय-संस्कृति के उज्ज्वल पृष्ठों की वह भूमिका है—जिस पर इतिहास गौरव के साथ अपने भाल को उन्नत रख सकेगा।

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १३५
२. यथोपरि पृ० सं० १४७
३. यथोपरि ,, १०८

कमला

भटार्क की जननी कमला एक सामान्य पात्रा होते हुये भी पाठकों पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप अंकित किये बिना नहीं रहती है। उसका पुत्र भटार्क वीर है तथा महाबलाधिकृत है किन्तु अपने सामान्य से स्वार्थ के लिये वह राष्ट्रद्रोही बन जाता है तो मां का हृदय असंख्य वेदनाओं से भर उठता है और वह अपने पुत्र से कहती है :—

'और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई; मैं क्यों अपने कलंकपूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पद-दलित भारत-भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा; मेरा सिर ऊंचा होगा। परन्तु हाय।"[1] जननी स्वयं कलंकिनी अथवा व्यभिचारिणी हो सकती है किन्तु अपने कोख से उत्पन्न पुत्र की नीचता या दुराचरण को सहन नहीं कर सकती है। कमला भारतीय जननी है—उसके हृदय में वीर पुत्र की लालसा है किन्तु देशद्रोही सन्तान से वह बहुत पीड़ित है। एक माँ अपने ही रक्त के प्रति घृणा से भर उठती हैं। राष्ट्र की तुलना में उसे उसका कृतघ्न पुत्र बहुत हल्का लगता है। वह अपने पुत्र के दोषों पर आवरण नहीं डालना चाहती है अपितु सभी को सतर्क कर देना चाहती है। इस प्रकार की विरक्ति वस्तुत: आश्चर्यजन्य है। माँ को अपने पुत्र का हर आचरण संशयापन्न प्रतीत होता है। वह विजया के समक्ष भटार्क के आगमन पर स्पष्ट शब्दों में यही कहती है —

"इस पिशाच ने छलने के लिये रूप बदला है। सम्राट का अभिषेक होने वाला है, यह उसी में कोई प्रपंच रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं इसे स्वयं दंडनायक को समर्पित कर देती।"[2]

सम्भवत: संसार में ऐसी ही कोई आदर्शनिष्ठ माँ हो—जो अपने एक मात्र पुत्र को दंडनायक के समक्ष समर्पित करने को प्रस्तुत हो जाये। कमला साँसारिक स्त्री होते हुए भी चिन्तन की दृष्टि से इतनी ऊंची उठ गई थी कि—उसने अपने मानस के मिथ्या मोह को झटके के साथ बिखण्डित कर दिया था। अपने पुत्र के भविष्य के लिये प्रत्येक माँ शुभकामनाशील होती हैं, उसके सुखों के त्याग करने को तत्पर रहती है, उसके दुराचरण पर आवरण डालती रहती है किन्तु वह माँ नहीं अपितु सन्तति के जीवन को बिगाड़ने में सहायक होती है। किन्तु प्रसादजी की कमला अपने नीच-पुत्र को पुत्र कहने में भी संकोच करती है :—

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६६
२. यथोपरि ,, ७०

"तू कह सकता है। परन्तु मुझे तुझको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूं ! जिस जननी की संतान-जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुंह दिखाना चाहिये ? आह भटार्क !"[१]

अपने पुत्र के प्रत्येक कुकृत्य पर कमला भर्त्सना पूर्ण शब्दों में उसका तिरस्कार करती है तथा यही कहती है कि—क्यों नहीं तुझे सूतिका-गृह में ही मार दिया जाता। धन्य है ऐसी जननी ! कमला के मन में नारी-जाति के प्रति गहन पीड़ा हैं : पुत्र स्कन्द को मार्ग से हटाना चाहती है किन्तु जननी अकेले स्कन्द को देख कर अपनी पीड़ित ममता के स्रोत को उस पर उडेंल देना चाहती हैं :—

"कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। सहानुभूति को जागृत करो। यदि भविष्यत् से ड़रते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ।.................. राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है वही ईश्वर का अवतार है ! ...."[२]

कमला ने नारी-जगत का भाल उन्नत करते हुये यह सिद्ध कर दिया है कि जननी और पुत्र के सम्बन्ध केवल मोहजन्य होते हैं। कुपुत्र की अपेक्षा बंध्या जीवन श्रेयस्कर है। नीच, कृतघ्न, राष्ट्रद्रोही पुत्र को पाकर ममता स्वयमेव दग्ध हो उठती है, स्नेह का क्षीर स्वत: ही शुष्क हो जाता है। कमला का व्यक्तित्व अनुपम है—जो सत्य को सहज रूप से स्वीकारती है तथा स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने के लिए संकल्पशील है। कमला उदात्त चरित्रशील पात्रा है।

रामा

रामा शर्वनाग की स्त्री तथा स्कन्दगुप्त की जननी देवकी की सेविका के रूप में नाटक में दिखाई देती है। रामा एक सामान्यपात्रा है, कथानक के दृष्टिकोण से कोई विशिष्ट महत्व नहीं है और न ही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में; किन्तु चारित्रिक दृष्टि से नैतिकता के अध्याय का शुभारम्भ करने वाली संघर्षशीला आदर्श निष्ठ पात्रा है। वह सामान्य स्त्री है, अपने जीवन में सीमित साधनों से सुलभ सुखों में संतुष्ट है; उसके मन में महत्वाकांक्षाओं का गंदला पोखर नहीं है। जब उसे यह विदित होता है कि उसका पति महज स्वार्थ के निमित्त अपनी नैतिकता को नीलाम कर भ्रष्ट हो गया है तो उसकी श्रद्धा विश्रृंखल हो जाती है और वह शर्वनाग को फटकारते हुए कहती है:—

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १०८

२. " " १२५

"ओह ! मैं समझ गई ! तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभ वश मनुष्य से पशु हो गया है। रक्त पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य। कृतघ्नता की कीच का कीड़ा ! नरक की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पायेगा।"[1]

भारतीय स्त्री पति को ईश्वर की संज्ञा देती है और उसके प्रत्येक आदेश का पालन करना ही अपना धर्म समझती है—फिर अधिकार एवं वैभव के सुख की कामना किस स्त्री को नहीं रहती है किन्तु रामा उन सामान्य स्त्रियों से कहीं ऊँची उठी हुई है। मानवीय-दृष्टिकोण समझने की शक्ति उसमें विद्यमान है। पति के हिता-हित पर भी विवेक के साथ दूरगामी परिणामों को सम्यक्तया पहचानती है। रामा में अपूर्व आत्मशक्ति है, स्वामिनी के लिए वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तत्पर हो उठती है। रामा में स्वार्थ की बदबू नहीं है, न वैभव का मोह ही और न रूढियों के प्रति अंधी आसक्ति ही। वह तो मानवीय दृष्टिकोण को सर्वाधिक पसन्द करती है तभी तो अपने भ्रष्ट पति से कहती है:—

मैं दूँगी सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य रूप में चाहिए।"[2]

यदि संसार की प्रत्येक स्त्री में निस्वार्थ-भावना और रामा की तरह आत्म-शक्ति का संचय हो जाये तो विश्व की नैतिकता में इतनी पावनता का समावेश हो जाये कि संसार का स्वरूप ही परिवर्तित हो जाये। प्रसाद का यह पात्र सामान्य होते हुए भी इतना ऊँचा उठ गया कि महान आदर्शों की परिधि को लाँघ गया। स्त्री होते हुए भी उसके मन में यह कातर-भाव नहीं आ सका कि पति के विरूद्ध आवाज उठाने का भावी परिणाम क्या होगा ? निर्भीक हृदया, आत्मसंकल्पशीला रामा दृढ़ प्रतिज्ञ हो चुकी थी कि उसका शर्व यदि पैशाचिक कृत्य करता है तो वह शर्व नहीं, ऐसे असंख्य शर्वों का बलिदान किया जा सकता है। वह कहती है:—

"एक शर्व नहीं, तुम्हारे-जैसे सैंकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आयें तो आज महादेवी का अंग स्पर्श कोई न कर सकेगा।"[3]

---

१. स्कन्दगुप्त--पृ० सं ५६
२. यथोपरि--पृ० सं० ५६
३. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ६२

जब शर्वनाग पति होने की दुहाई देता है तो रामा सारस्वत सम्बन्धों के मोहजाल को झटके के साथ तोड़ देना चाहती है—वह अपने स्वामी में मानवता के दर्शन करना चाहती है किसी पिशाच के नहीं। शर्व की पैशाचिक वृत्ति को देखकर वह यही कहती है कि मेरा स्वामी तो कभी का मर चुकाः—

"स्वामी ? नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी की नरक वासिनी प्रेतात्मा है। तेरी हत्या कैसी तू तो कभी का मर चुका है।"[1]

वह शर्वनाग के पैशाचिक कृत्य से इस सीमा तक पीड़ित हो उठती है कि अपने पति की हत्या करने को सकल्पशील हो जाती है किन्तु दूसरे ही क्षण उसका विवेक उसे झकझोरता है तो वह यही कहती है—मृतक की क्या हत्या करना ? जो विचारों और कर्म से पूर्व भी मृत हो चुका—जिसने अपनी नैतिकता की हत्या करली—उसकी क्या हत्या करना ? वह पीड़ित स्त्री अपने दग्धहृदय को साथ लेकर देवकी के आगे सब कुछ कहते हुए रो पड़ती है किन्तु अपने विश्वास एवं नैतिकता की हत्या नहीं होने देती है। वह अपने पति के पैशाचिक कृत्यों से विदीर्ण होकर आत्म हत्या करने को विवश नहीं होती है और न ही मौन होकर बैठना चाहती है और न ही सामान्य स्त्री की तरह अश्रु बहाकर मूक होना चाहती है—अपितु पति को समझाते हुए यही कहती है:—

'मूर्ख ! अभागा कौन है ? जो संसार के सबसे पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान है, वह या मैं ?"

अपने शर्व के मानव को तलाश करने के लिये प्रतिक्षण सकलपशील रहती है, अनुक्षण संघर्ष करना चाहती है—यहाँ तक कि स्वयं बलिदान हो जाना चाहती है किन्तु अपने शर्व को कुकृत्य से बचाना चाहती है। रामा अपूर्व आत्मशक्ति सम्पन्न स्त्री है—जिसमें मानव के प्रति अपार स्नेह और श्रद्धा है तथा पैशाचिक वृत्तियों के प्रति संघर्ष की प्रबल भावना है।

मातृगुप्त

जयशंकरप्रसाद ने स्कन्दगुप्त के पात्र मातृगुप्त को संस्कृत साहित्य का महाकवि कालीदास स्वीकारा है। राजतरगिणीकार ने भी मातृगुप्त को कवि व काश्मीर निवासी बताया है। मातृगुप्त कवि के रूप में ही स्कन्दगुप्त नाटक में अवतरित हुआ है। मातृगुप्त कविता को अनन्त पुण्यों का फल स्वीकारता है किन्तु कविता के संदर्भ

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६१

में अन्तर्द्वन्द्वको व्यक्त करता हुआ कवि-भावना को सहज में प्रकट करदेता है। कभी-कभी ऐसी अनुभूति होती है कि प्रसाद स्वयं इस पात्र के माध्यम से स्वयं को व्यक्त कर रहा है। कवि जीवन के अभाव की स्थितियों को व्यक्त करता हुआ काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है। मातृगुप्त विवेकवान चिन्तनशील प्रज्ञापात्र है—जिसे जननी जन्मभूमि स्वर्गादपि गरीयसी के अनुसार मातृ भूमि से स्नेह है:—

"काश्मीर ! जन्म-भूमि !! जिसकी धूलि में लौट कर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल-खेल कर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही छूट गया ! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह ! वही जो मेरे जीवन-पथ का पाथेय रहा।"[1] मातृगुप्त जीवन के उद्देश्य से सम्यकतया परिचित है। प्रकृति की सुकुमारता का प्रेमी है, नियती नटी के प्रति-लास्य में रहस्यात्मक सत्ता की अनुभूति का दर्शन करता रहता है - स्नेहयुक्त जीवन दर्शन की अनुक्षण कामना करता है। कवि का उद्देश्य स्पष्ट करता हुआ कहता है:—" अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कराने वाली कविता ही है।" कवि शान्तिप्रिय अहिंसावादी जनकल्याण—कामनाशील व्यक्तित्व है, वह भीषण रक्तपात के संदर्भ मे कहता है: —

"नहीं मुद्गल ! निरीह प्रजा का नाश नहीं देखा जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था ? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिए है ?"[2]

मातृगुप्त अन्तर्विद्रोह की हर स्थिति से परिचित है— ऐसे अवसर पर वह मौन नहीं रह सका अपितु अपने कर्तव्य के प्रति सचेष्ट रहा। मातृगुप्त के मानस में करुणा का अपार सागर लहरा रहा है—हूणों से संत्रस्त प्रजा को देख कर वह कहता है:—

हमें विश्वास दो—अपना बनालो।
सदा स्वच्छन्द हों—चाहे जहां हों।

इन निरीहों के लिए प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरों ! स्त्रियों पर यह अत्याचार।"[3] मातृगुप्त आदर्शनिष्ठ कवि एवं राष्ट्र प्रेमी व्यक्तित्व के रूप में सामाजिकों के समक्ष आया है।

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० २२
२. यथोपरि ,, ,, ३८
३. ,, ,, ,, ३९

विजया

विजया मालव के धन कुबेर की कन्या, भटार्क की प्रेमिका किन्तु स्कन्दगुप्त को हृदय से चाहने वाली पात्रा है। इसका व्यक्तित्व विलासिता से भरा हुआ है, अनिश्चय की स्थिति में जीता हुआ, प्रतिहिंसा व प्रतिशोधात्मक वृत्ति वाला रहा है। वह हृदय से स्कन्द को प्रेम करती है किन्तु देव सेना की स्पर्धा उसे भटार्क को वरण करने के लिए विवश कर देती है। अन्तिम क्षण तक महादेवी बनने की लालसा उसमें विद्यमान रहती है।[१] स्कन्द के न मिलने पर वह आत्महत्या करने का विचार करती है।[२] किन्तु सहसा स्कन्द से मिलने पर अपने रत्नगृह उसे समर्पित कर देना चाहती है।[३] स्कन्द का निराशाजन्य उत्तर पाकर भर्टाक के समक्ष वह इतनी अपमानित हो जाती है कि आत्महत्या कर बैठती है।[४]

विजया का चरित्र उदात्त नहीं है किन्तु अनुदात्त होते हुए भी उसके मानस की पीड़ा को व्यक्त किये बिना नहीं रहता है।

पर्णदत्त

मगध का महानायक पर्णदत्त राष्ट्र भक्त कुल के प्रति कृतज्ञ महान् सेवाव्रती व्यक्तित्व के रूप में सामने आया है। वह युवराज के प्रति आज्ञाकारी होने का विश्वास व्यक्त करता है।[५] वह स्कन्दगुप्त प्रजा की रक्षा के लिए प्रेरित करता है।[६] भावी आशंकाओं के प्रति विवेकशील नीतिज्ञ की तरह घोषणा कर देता है।[७] राष्ट्र की रक्षा के लिए वह विपत्ति के समय में भी विचलित नहीं होता है।[८] वह रोता नहीं है।[९] अपितु सूखी रोटियों का संचय करता है।[१०] भिक्षा माँगते समय वह यही विचारता है कि—" देश के बहुत से दुर्दशा-ग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूं, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा।"[११] देश के मनचले

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १२९
२. ,, ,, ,, १३५
३. ,, ,, ,, १३६
४. ,, ,, ,, १३८
५. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ९
६. यथोपरि ,, ,, १०
७. ,, ,, ,, ११
८. ,, ,, ,, १३१
९. ,, ,, ,, १३१
१०. ,, ,, ,, १३१
११. ,, ,, ,, १३१

कुत्सित युवकों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करता हुआ देश के भविष्य के प्रति चिन्तातुर हो उठता है ।[1] अन्न एवं धन की व्याख्या करता हुआ कहता है—"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का ।[2] आहत वीरों के दायित्व को समझता हुआ वृद्ध पर्णदत्त कहता है—" हमारे ऊपर सैंकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है ।[3] वृद्ध पर्णदत्त का व्यक्तित्व आदर्शमय एवं कर्तव्य-शील रहा है ।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त नाटक प्रसाद-नाट्य साहित्य की शृंखला में सर्वाधिक सशक्त ऐतिहासक नाटक है । इस नाटक के कथानक का सम्बन्ध प्रधान पात्र चन्द्रगुप्त और चाणक्य से है, अन्य पात्र प्रधान पात्रों के सहायक पात्र ही हैं—अतः इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्व के साथ अन्य पात्रों का व्यक्तित्व सम्पृक्त है । चन्द्रगुप्त नाटक में सामान्य-स्थितियों की अपेक्षा राजनैतिक तथा राष्ट्रगत विचारधारायें उभरकर आई हैं—जिससे सामाजिकता अथवा मानवीय दृष्टिकोण का विकास सम्भव नहीं हो पाया । चाणक्य, चन्द्रगुप्त, नन्द, राक्षस, सिकन्दर, सिल्युकस, मैगस्थनीज, पर्वतेश्वर आदि पात्र इतिहास सम्मत है—अतः उनके चारित्रिक-विकास में प्रसाद अपनी कल्पनाशक्ति से अधिक संवार नहीं सकते थे—फिर भी उनकी विचारधाराओं से हम उनके आदर्श का भलीभांति परीक्षण करने में समर्थ हो सकते हैं ।

इस नाटक की रचना के समय भारत की भी ठीक उसी प्रकार की स्थिति थी—जैसी कि चाणक्य के समय । महात्मागांधी को चाणक्य और नेहरू को चन्द्रगुप्त के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए बिदेशी परतंत्रता से आर्यावर्त की मुक्ति के संदर्भ में विचार करें तो अनुपयुक्त न होगा । महात्मागांधी का सादगीपूर्ण जीवन जीते हुए सत्ता से विलग रहकर आर्यावर्त को मुक्त कराना चाणक्य के चरित्र की प्रेरणा कही जा सकती है । लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् निस्पृह हो जाना सामान्य बात नहीं कही जा सकती है ।

चाणक्य भारतीय संस्कृति के ब्राह्मणत्व का सत्य प्रतीक रूप में सामाजिकों के समक्ष आता है—जिसका कार्य ब्रह्म-साधना है, किन्तु अन्याय को सहते हुए जीना नहीं । ब्रह्मवेत्ता का राष्ट्र के प्रति किस सीमा तक कर्तव्य है ?—इसी संदर्भ में राजनैतिक उथल-पुथल का संक्रमण आरम्भ होता है । नाटक के पात्र कर्तव्यशील हैं—

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १३२
२. यथोपरि „ „ १३२
३. „ „ „ १३२

नैतिकता से आबद्ध हैं यदि कहीं विशृंखलता है तो वह सम-सामयिक राजनैतिक-स्थितियों अथवा आपद्धर्म के कारण है।

चन्द्रगुप्त नाटक के पात्र इस प्रकार हैं:—

पात्र:—

चाणक्य (विष्णुगुप्त)	मौर्य साम्राज्य का निर्माता
चन्द्रगुप्त	मौर्य-सम्राट
नन्द	मगध-सम्राट
राक्षस व वररूचि	मगध के अमात्य
शकटार	मगध का मन्त्री
पर्वतेश्वर	पंजाब का राजा
सिकन्दर	ग्रीक विजेता
सिल्यूकस	सिकन्दर का सेनापति

आम्भीक, सिंहरण, फिलिप्स, मौर्य सेनापति, दाण्ड्यायन, मेगस्थनीज, गान्धार-नरेश, नागदत्त आदि अन्य पात्र।

स्त्री पात्र:—

अलका	तक्षशिला की राजकुमारी
सुवासिनी	शकटार की कन्या
कल्याणी	मगध-राजकुमारी
नीला व लीला	कल्याणी की सहेलियाँ
मालविका	सिन्धुदेश की कुमारी
कार्नेलिया	सिल्यूकस की कन्या
मौर्य-पत्नी	चन्द्रगुप्त की माता
एलिस	कार्नेलिया की सहेली

चाणक्य:—

चाणक्य चन्द्रगुप्त नाटक का प्रधान पात्र तथा मौर्य साम्राज्य के निर्माता के रूपमें सामाजिकों के समक्ष उभर कर आया है। स्वयं प्रसाद ने लिखा है:—"इनके बहुत से नाम मिलते हैं—विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य, वात्स्यायन एवं द्रुमिल आदि। भारतीय पर्यटक इन्हें दक्षिण देशीय कोंकणस्थ ब्राह्मण लिखते हैं और इसके प्रमाण में वे लिखते हैं कि दक्षिण देशीय ब्राह्मण प्रायः कूटनीति पटु होते हैं......................

जहाँ तक ज्ञात होता है, चाणक्य वेदधर्मावलम्बी, कूटनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी थे।"[1]

चाणक्य के संदर्भ में अनेक विचार व्यक्त किये गये हैं—चारित्रिक प्रश्न को लेकर विभिन्न विद्वानों ने विविध विचार व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वान् चाणक्य को महाक्रोधी और हठी सिद्ध करते हैं तो अन्य विद्वान् चाणक्य को महत्वाकांक्षी सिद्ध करते हैं। डा० जगदीशचन्द्र जोशी ने इसी संदर्भ में उल्लेख किया है—"इसी दृश्य में मौर्य सेनापति द्वारा चाणक्य के वध का प्रयत्न, सुवासिनी द्वारा उसकी रक्षा और अन्ततः चाणक्य द्वारा उसको क्षमा किया जाना काल्पनिक घटनायें हैं और पात्र चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्रों को उदात्त बनाने के लिए इनका उपयोग किया गया है।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी कहा जा सकता है किन्तु प्रसाद के आदर्श पात्रों की दृष्टि से चन्द्रगुप्त नाटक के चाणक्य के चरित्र का विश्लेषण किया जाये तो निस्सन्देह चाणक्य का व्यक्तित्व आदर्शनिष्ठ एवं भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुरूप सिद्ध होगा।

चाणक्य तक्षशिला के गुरुकुल मठ का विद्वान् रहा। अर्थशास्त्र का अध्यापन कराने के लिए चाणक्य तक्षशिला में ठहरा हुआ था। वह अर्थशास्त्र का महान् विद्वान् था। चाणक्य का वैदुष्य इतिहास-प्रथित रहा है, वह महान् नीति शास्त्रज्ञ एवं तत्व-विचारक था। वररुचि जैसे विद्वान् चाणक्य से भाष्य करने के लिए आग्रहशील रहते थे। चाणक्य ब्राह्मण था—उसे ब्राह्मणत्व एवं ब्राह्मण संस्कृति पर नितान्त स्वाभिमान था। वह अपमान अथवा लघु अर्थात् क्षुद्र वाक्यों को सहन करने का आदी नहीं था। आम्भीक को वह स्पष्ट शब्दों में स्वाभिमान के साथ कहता है:—

"राजकुमार! ब्राह्मण न किसी राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।"[3]

चाणक्य को ब्राह्मण कुल में जन्म लेने का गौरव था। वह सामान्य ब्राह्मण नहीं था जो अपनी आजीविका के लिए राज्याश्रित होकर जीना चाहता हो! वह

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ४१–४३
२. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन पृ० सं० १४२
३. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ४८

तपस्वी ब्राह्मण था—तथा ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी था। चाणक्य समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में बंधा हुआ देखना चाहता था। "एक हृदय हो भारत जननी" को सार्थक करने वाले चाणक्य के शब्द इस प्रकार थे:—

"तुम मालव हो और यह मगध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में, आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे ? आज जिस व्यंग्य को लेकर इतनी घटना हो गयी है, वह बात भावी गांधार नरेश आम्भीक के हृदय में, शल्य के समान चुभ गई है। पञ्चनद-नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण यह क्षुद्र हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त का सर्वनाश होगा।"[1] पारस्परिक क्षुद्र-भावना के कारण राष्ट्र विपत्तियों से घिर जाता है और क्षुद्र स्वार्थों के कारण राष्ट्र परतंत्रता की शृंखलाओं से आबद्ध हो जाता है, प्रान्तीय भावना के विपरीत एकता के सूत्र को ग्रथित करने की प्रबल भावना चाणक्य के मानस में विद्यमान थी। आर्यावर्त के ऋषि, तपस्वी और विद्वान ब्राह्मण स्वाध्याय को ही महत्व दिया करते थे। तपस्या ही उनका धन रहा है किन्तु अनाशक्त होते हुए भी राजनीति से पूर्णतया विरक्त नहीं थे। प्रजाहित एवं न्याय-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने की दिशा में सदैव जागृत रहा करते थे। यद्यपि भौतिकता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा करता था। चाणक्य भी तक्षशिला से लौटने पर यही कहता है:—

"झोंपड़ी ही तो थी, पिताजी यहीं मुझे गोद में बिठाकर राज-मंदिर का सुख अनुभव करते थे। ब्राह्मण थे, ऋत और अमृत जीविका से संतुष्ट थे, पर वे भी नहीं रहे। कहाँ गये ? कोई नहीं जानता। मुझे भी कोई नहीं पहचानता। यही तो मगध का राष्ट्र है। प्रजा की खोज है किसे ? वृद्ध दरिद्र ब्राह्मण कहीं ठोकरें खाता होगा या कहीं मर गया होगा।"[2]

पाटलिपुत्र में आने पर अपने कुल का भग्नावशेष देख कर क्षण भर के लिये विचलित होता है। अपने विद्वान वृद्ध-पिता के संधान के लिए वह आतुर हो उठता है। भारतीय ब्राह्मण के दारिद्र्य के प्रति वह संकेत करता है। राज्य से अर्थ-प्राप्ति अथवा वैभव को अधिगत करने की कामना उसके हृदय में नहीं है। वह तो सात्विक, संतोषी, सरल हृदय, तपोनिष्ठ, अध्यवसायी ब्राह्मण है—उसे भौतिकता के परम सुख

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५१
२. ,, ,, ,, ५७

से क्या ? किन्तु राष्ट्र के शासक से वह यह अपेक्षा रखता है कि वृद्ध विद्वानों का सम्मान अवश्य होना चाहिये। शासक दायित्व से विमुख रहे—यह उसे सह्य नहीं है ब्राह्मणत्व का अपमान, वैदूष्य का तिरस्कार चाणक्य का व्यक्तित्व सहन नहीं कर सकता है। वह अपने पिता के विवरण को जानने के लिए प्रयत्नशील है। चाणक्य बाल्यकाल में शकटार की पुत्री सुवासिनी से स्नेह करता था।[1] तक्षशिला से लौटने पर उसे कुछ नहीं मिल सका, पिता का भी पता न लग सका[2] न झौंपड़ी का ही कोई ठिकाना रहा और न सुवासिनी से ही भेंट हो सकी।[3] —ब्राह्मण अपने सर्वनाश से विचलित हो उठा और भीषण-प्रतीज्ञा के लिये संकल्पशील हो गया— किन्तु उसके विवेक ने उसे परिधि में बांधे रखा। चाणक्य निर्भीक राष्ट्र-प्रेमी कर्तव्यशील ब्राह्मण था। जब नन्द ने उसके ब्राह्मणत्व का उपहास करते हुये ताप के अहं का प्रश्न किया तो चाणक्य ने गर्व के साथ कहाः—

"वह तो रहेगा ही ! जिस दिन उसका अन्त होगा, उसी दिन आर्यावर्त का ध्वंस होगा। यदि अमात्य ने ब्राह्मण-नाश करने का विचार किया हो तो जन्म भूमि की भलाई के लिये उसका त्याग कर दे; क्योकि राष्ट्र का शुभ-चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं। एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध सिर पर मंडराने वाली विपत्तियों से, रक्त समुद्र की आंधियों से, आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होगें।"[4]

वह मगध का रहने वाला है—इसे गर्व के साथ स्वीकारता है।[5] नन्द के कहने पर भी वह अपने आप को मूर्ख स्वीकारने को प्रस्तुत नहीं है। यवनों के आक्रमण की सूचना का संकेत नन्द-सभा में करता है।[6] उसका दृष्टिकोण व्यापक है, वह दूरदर्शी रहा है—राजनीति से दूर रहता हुआ भी राज्य की स्थितियों और परिणतियो के सदर्भ में जागृत रहना ही अपना कर्तव्य समझता रहा। नन्द की सभा में जब चाणक्य को अपमानित किया गया तो उसका स्वाभिमान रौद्र रूप ले बैठा और उसी क्षण उसने अपनी भीषण प्रतिज्ञा को व्यक्त किया—

"खींच ले ब्राह्मण की शिखा ! शूद्र के अन्न से पले हुये कुत्ते ! खींच ले।

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५६
२. यथोपरि—पृ० सं० ५६
३. „ „ „ ५६
४. „ „ „ ६५
५. „ „ „ ६५
६. „ „ „ ६७

परन्तु यह शिखा नन्द कुल की काल-सर्पिणी है, वह तब तक न बंधन में होगी, जब तक नन्द-कुल निःशेष न होगा।"[1]

चाणक्य ने उसी क्षण नन्द-वंश के नाश और आर्यावर्त को एक करने का दृढ़-संकल्प ले लिया था।[2] चाणक्य को जब बंदी बना लिया गया और वररुचि उसे मुक्त कराने के लिये आया तो उसने स्वाभिमान के साथ कहा—

"मैं लेखक नहीं हूँ कात्यायन ! शास्त्र-प्रणेता हूँ, व्यवस्थापक हूँ।"[3]

चाणक्य के मन में प्रतिशोध की ज्वाला धधक उठी थी। शूद्र के द्वारा ब्राह्मणत्व के अपमान को वह किसी भी स्थिति में सहन नहीं कर सकता था। वररुचि से वह यही कहता है कि मानव को संस्कार बनाना आवश्यक है:—

"मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूं।"[4]

चाणक्य के ये शब्द कितने गहन अर्थ को व्यक्त करते हैं ? भाषा को सुसंस्कृत कर भी लिया गया यदि उसको व्यवहार में लाने वाले व्यक्ति को ठीक नहीं किया गया तो व्यर्थ है। चाणक्य वररुचि से स्पष्ट कर देता है कि नीचों के हाथ में स्वर्ग का राज्य चले जाने से स्वर्ग, स्वर्ग नहीं रह सकता है।[5]—यहां वह स्पष्ट कर देता है कि नन्द-वंश का समूल नाश ही व्यवस्था का परिवर्तन है। चाणक्य अपनी प्रति हिंसा को शान्त करने के लिए ही प्रयासशील नहीं है अपितु प्रजा-हित के लिए तत्पर है। चन्द्रगुप्त को मगध का सम्राट बनाने के लिए पर्वतेश्वर से आग्रह करता है किन्तु वह भी उपेक्षा ही करता है तो उसका मानस यही कहता है-—

'रे पददलित ब्राह्मणत्व ! देख, शूद्र ने निगडबद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल, एक बार अपनी ज्वाला से जल ! एक बार अपनी ज्वाला से जल ! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों। जाता हूँ पौरव ![6]

यहीं से शान्तिप्रिय, स्वाध्यायरत, तपोनिष्ठ ब्राह्मणत्व का स्वरूप परिवर्तित

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ६८
२. यथोपरि ,, ,, ७२–७३
३. ,, ,, ,, ७३
४. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० – ७४
५. यथोपरि ,, ,, ७४
६. यथोपरि पृ० सं० ८१

होता है, जो अहिंसा का उपासक था वह रौद्र रूप धारण कर लेता है तथा शासकों का नियामक बन गया। राजनैतिक उथल-पुथल, अभिसंधियों का अभिनर्तन, रण-नीति का उद्गम हो गया। चाणक्य ने यह सिद्ध कर दिया कि आर्यावर्त का शान्ति-प्रिय विप्र जितना नैष्ठिक है समय आने पर उतना ही उग्र भी बन सकता है। जहां क्षमा है वहां रौद्र का नर्तन भी है, जहां वैदुष्य भी है वहां नीति-चातुर्य भी है। चाणक्य चाहे कितना ही उग्र हो गया हो किन्तु भारतीय संस्कृति का सदा उपासक रहा। आर्यावर्त से लौटते हुए सिकन्दर से वह कहता है:—

"हम लोग प्रस्तुत हैं सिकन्दर! तुम वीर हो, भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं। तुम्हारी जल यात्रा मंगलमय हो। हम लोग युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं।"[1]

चाणक्य के नीति-चातुर्य ने आर्यावर्त को यवनों की महा-विपत्ति से बचाया तथा चन्द्रगुप्त के लिए उचित अवसरों की भूमिका की स्थापना कर दी ताकि वह भारत का भावी सम्राट बन सके। चाणक्य के हृदय में अग्नि ही नहीं करुणा का उत्स भी था। शकटार को सहयोग देना—चाहे राजनैतिक स्थिति कही जा सकती है। किन्तु करुणा की अनुकृति ही थी।[2] शकटार से मिलने पर भी उसके मन में नन्द द्वारा अपमान की स्थिति ज्वालाओं के रूप में जल रही थी। वह शकटार को नन्द के विनाश के प्रति आश्वस्त करता है।[3] नन्द के विनाश, चन्द्रगुप्त को मगध का सम्राट बनाने की दिशा में वह सफल हो गया। उसकी हर योजना उसके संकेत पर सफल होती गई, प्रतिपल विजय उसकी नीतियों का वरण करती रही किन्तु इतनी सफल-ताओं पर भी वह विभ्रमित नहीं हो सका—अपने लक्ष्य से च्युत नहीं हुआ कात्यायन से वह सहज शब्दों में कहता है:—

प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर हम-तुम साथ ही वैखानस होंगे, कात्यायन! शक्ति हो जाने दो फिर क्षमा का विचार करना।'[4]

वह राज्य सुख को नहीं भोगना चाहता है, अपने संकल्पों की पूर्ति के पश्चात् विरक्त भाव से तपस्या में लीन हो जाना चाहता है। वह अपने संकल्प की पूर्ति के लिए महान् साधक व तपस्वी तथा त्यागी बन जाता है। वह जीवन-सहचरी सुवासिनी

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १३५
२. यथोपरि ,, ,, १४५
३. ,, ,, ,, १४६
४. ,, पृ० सं० १५२

को भी लक्ष्य प्राप्ति के लिये बलिदान कर देता है ।[1] चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ़ करने के पश्चात् चाणक्य उसके साम्राज्य को निष्कंटक बना देना चाहता है—इसके लिये उसे चन्द्र के माता-पिता को भी अप्रसन्न करना होता है । चन्द्रगुप्त से वह स्पष्ट शब्दों में अपने मौलिक-स्वरूप को व्यक्त करता हुआ कहता है :—

"चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हूं ! मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था । आनन्द-समुद्र में शान्ति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र मेरे दीप थे, अनंत आकाश वितान था, शस्यश्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी । बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था । उस अपनी ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़ कर कहाँ आ गया ! सौहार्द्र के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान में भय ! .... अपना अधिकार छीन ले ! यह मेरा पुनर्जन्म होगा ! मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है । किसी छायाचित्र, किसी काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूं । शांति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया ! जान गया, मैं कहाँ और कितने नीचे हूं ।"[2]

चाणक्य महत्वाकाँक्षी ब्राह्मण नहीं था–वह तो तत्व ज्ञान के लिए चिन्तनशील था । उसके मानस में महामात्य बन कर शासन करने की भावना न थी और न ही राजा-महाराजाओं का नियामक ही बनना चाहता था । अन्याय से संघर्ष कर न्याय-निष्ठ शासन की स्थापना करना ही उसका परम लक्ष्य था—इसकी पृष्ठ भूमि में नन्द चाहे निमित्त बना हो । चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को योग्य पात्र समझ कर आर्यावर्त का चक्रवर्तित्व प्रदान करने में उसे सहयोग प्रदान किया । वह तो विश्व-शाँति का समुपासक था, आदर्शनिष्ठ तपोनिधि था, उसने संघर्ष के साथ जो कुछ प्राप्त किया—वह उसे सिद्धि नहीं मानता था अपितु भ्रम की संज्ञा देता था :—

"कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है ! भगवान् सविता तुम्हारा आलोक जगत् का मंगल करे ! मै आज निष्काम हो रहा हूं । विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था मुख्य वस्तु आज सामने आयी । आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है ।"[3]

चाणक्य क्रोध की मूर्ति ही नहीं था अपितु क्षमा का अवतार भी था । मौर्य द्वारा हत्या का प्रयत्न करने पर भी वह अपनी क्षमाशीलता का अनुपम प्रदर्शन करता है । महान् ऋषि की तरह विश्व-शांति की कामना उसने केवल विचारों से नहीं

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १६५
२. " " १७१
३. " " १९९

की अपितु कर्म से की। उसने पीड़ित प्रजा के अत्याचार को दूर किया, आर्यावर्त की विशृंखलता को एक सूत्रता प्रदान की। वस्तुतः चाणक्य भारतीय-संस्कृति के गरिमामय आर्शनिष्ठ पात्रों की परम्परा में अपना सर्वोच्च स्थान रखता है।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक है चन्द्रगुप्त बाल्यकाल से ही निर्भीक, चतुर एवं आत्मसंकल्पशील था। चन्द्रगुप्त के संदर्भ मे इतिहासकारों का मत है कि सम्राट चन्द्रगुप्त दृढ़ शासक, विनीत, व्यवहार चतुर, मेधावी, उदार, नैतिक, गुणसम्पन्न, तथा भारतभूमि के सपूतों में से एक रत्न था। चन्द्रगुप्त मौर्य सेनापति का पुत्र था। कुछ आलोचक चन्द्रगुप्त को शूद्र की संज्ञा देते हैं। मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त ने भी वृषल की संज्ञा से व्यवहृत किया है किन्तु प्रसाद ने इस नाटक में चाणक्य के द्वारा यह सिद्ध किया है कि चन्द्रगु त शूद्र नहीं अपितु शुद्ध क्षत्रियवंशज था। नन्द वश को शूद्र कहा गया है। चाणक्य जैसा तपोनिष्ठ विप्र किसी शूद्र को आर्यावर्त के सिंहासन पर आसीन नहीं कर सकता था। अस्तु, चन्द्रगुप्त वीर एवं विवेकशील व्यक्तित्व को लेकर सामाजिकों के समक्ष आया। चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का सम्राट बना किन्तु उसकी पृष्ठ भूमि में समस्त आर्यावर्त की विशृंखलता को समाप्त कर एक सूत्र में बाँध कर विदेशी बर्बर आक्रमणकारियों से बचाना था। चन्द्रगुप्त चाणक्य का शिष्य था— अपने आचार्य के नीति-निर्देशन को स्वीकारता हुआ कर्म क्षेत्र में आगे बढ़ रहा था। चन्द्रगुप्त का वीरत्व रक्त-पिपाशु नहीं था अपितु सम्मान के संरक्षण के लिए था— वह अपने आचार्य के समक्ष अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है:

"आर्य ! संसार-भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर-मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय मित्र है, उसका मान ही मेरा मान हैं।"[1]

यद्यपि वह मागध था किन्तु आचार्य की शिक्षा ने उसके मानस से क्षेत्रीय भावनाओं का अन्त कर दिया था। समस्त आर्यावर्त ही उसके लिए जन्मभूमि बन गया था। आर्यावर्त ही उसका राष्ट्र था सीमाओं की रेखायें मिट गई थीं—और वह अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए प्रतिज्ञारत हो गया था—

"गुरु देव ! विश्वास रखिए; यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है, कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे"[2]

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५०
२. यथोपरि पृ० सं० ५१

"आचार्य देवो भव" के सिद्धांत का प्रतिपालन करने वाला चन्द्रगुप्त अपने गुरु की निन्दा को स्वीकार नहीं सकता था। आचार्य का सम्मान उसके लिए बहुत बड़ा प्रश्न रखता था। जब नन्द ने चाणक्य का अपमान किया तो वह तिलमिला उठा और नन्द का विरोधी बनता हुआ स्पष्ट शब्दों में कह बैठा :—

"राजाधिराज ! ऐसा करके आप एक भारी अन्याय करेंगे और मगध के शुभचिन्तकों को शत्रु बनायेंगे।"[१]

चन्द्रगुप्त वीर ही नहीं अपितु उदात्त नायक था— वह मानवता का समुपासक रहा, कृतज्ञता उसके मानस मे सदैव रही। सिल्यूकस के द्वारा जब उसके प्राणों की रक्षा की गई तो—एक विदेशी आक्रमणकारी यवन के प्रति भी उसकी मानवता ने विनीत शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त की :—

"धन्यवाद ! भारतीय कृतघ्न नहीं होते। सेनापति ! मैं आपका अनुगृहीत हूं, अवश्य आपके पास आऊंगा।"[२]

चन्द्रगुप्त वीर अवश्य था किन्तु महत्वाकाँक्षी नहीं—वह स्वयं मगध का शासक नहीं बनना चाहता था। वह तो वीर सैनिक की तरह आक्रमणकारियों से राष्ट्र की सुरक्षा करना चाहता था। जहाँ तक देश की आन्तरिक अव्यवस्था का प्रश्न था—वह निरीह नागरिकों को दमन-चक्र से मुक्ति प्रदान कराना चाहता था—वह स्पष्ट रूप से कहता है कि मैं शासन को हस्तगत नहीं करना चाहता हूं:—

"हस्तगत नहीं, उसका शासन बड़ा क्रूर हो गया है, मगध का उद्धार करना चाहता हूँ।"[३]

यदि उसके मन में शासक बनने की महत्वाकांक्षा का बीज होता अथवा अधिकार-सुख भोगने की लालसा होती तो वह विदेशी शक्ति के साथ अभिसंधि कर आर्यावर्त का शासक बन सकता था किन्तु उसके रक्त में भारतीय नैतिकता समाई हुई थी, राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम था—वह आम्भीक से सिकन्दर के पास आने का कारण व्यक्त करता हुआ कहता है :—

"स्वच्छ हृदय भीरू कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य ! देशद्रोही ! आम्भीक ! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।"[४]

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ६७
२. यथोपरि—पृ० स० ८२
३. यथोपरि पृष्ठ सं० ६४
४. „ „ ६५

वह राष्ट्र के लिए सदा समर्पित रहा। उसे ऐसे अनेक अवसर मिले—जब वह बहुत कुछ प्राप्त कर सकता था किन्तु उसने अनैतिक कदम को सदा ठुकराया। आचार्य के आदेश का पालन करता हुआ विपत्तियों के बादलों को चीरता रहा। वह स्वयं मगध का शासक नहीं बना अपितु जनमत ने उसे इस पद के लिए बाध्य किया। वह कभी रक्तपात नहीं चाहता था और न अधिनायकवाद ही। वह राजनैतिक—अभिसंधियों से स्वयं विकल हो उठा था—

"विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं। मन ऊब आ गया है। झंझटों से घड़ी भर अवकाश नहीं। गुरुदेव! और क्या चाहते हैं, समझ में नहीं आता।"[1]

मगध के सम्राट चन्द्रगुप्त ने सदैव आचार्य के आदेश का पालन किया। वह विजयों की परम्परा से हट कर शान्त जीवन जीने के लिए आतुर था। जब आचार्य द्वारा उसके माता-पिता का अपमान किया गया तो वह सहसा वितृष्णा से भर उठा किन्तु सहिष्णु सम्राट इस क्षण भी कर्तव्यच्युत न हो सका और अपनी अन्तर्वेदना को विष घूँट की तरह मूक-भाव से कण्ठ के नीचे उतार गया। उसकी अन्तर्वेदना थी:—

"चतुर सेवक के समान संसार को जगा कर अन्धकार हट गया। रजनी की निस्तब्धता काकली से चंचल हो उठी है, नीला आकाश स्वच्छ होने लगा हैं, या निद्रा-क्लान्त निशा, उषा की शुभ्र चादर ओढ़ कर नींद की गोद में लेटने चली है, यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना। और कर्मक्षेत्र क्या है? जीवन-संग्राम! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली सी है। तो फिर.............. मेरे पिता, मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गये, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या; मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किये गये। यह परतंत्रता कब तक चलेगी?"[2]

चन्द्रगुप्त शासक की अपेक्षा एक सामान्य नागरिक-जीवन जीने के लिए लालायित था। प्रसाद के आदर्शनिष्ठ पात्रों की यह विशेषता है कि वे सभी अन्तर्मुखी प्रवृत्तिशील होते हैं। चन्द्रगुप्त भी शांतिप्रिय, आदर्शमय, कर्मजयी जीवन जीने को तत्पर है किन्तु आचार्य के आदेश की—वह कभी न उपेक्षा कर सका और न करने का संकल्प ही। यवनों के आक्रमण के समय जब उसे यह विदित होता है कि आचार्य यहाँ भी साथ हैं तो कृतज्ञ हो यही कहता है—

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १६६–६७
२. " " १७०

"गुरुदेव ने यहाँ भी मेरा ध्यान नहीं छोड़ा ! मैं उनका अपराधी हूँ सिंहरण !"[1]

चन्द्रगुप्त के हृदय में अपने आचार्य के प्रति जो हीन भावना आगई थी—उसके लिए वह स्वयं को अपराधी मानता है । पश्चात्ताप के क्षणों को जीता हुआ प्रायश्चित की ज्वालाओं में जलता है । चन्द्रगुप्त एक सफल मानव ही नहीं था अपितु न्यायप्रिय शासक था—न्याय की तुला के समक्ष वह पक्षपात विहीन था । जब उसके पिता सेनापति मौर्य ने चाणक्य की हत्या करने का प्रयत्न किया तो—शासक चन्द्रगुप्त अपने पिता को भी दण्ड देने को तत्पर हो गया । उसकी न्यायप्रियता का द्योतक यह वाक्य है:—

"पिताजी, राज्य व्यवस्था आप जानते होंगे—वध के लिए प्राणदण्ड होता है, और आपने गुरुदेव का इस आर्य साम्राज्य के निर्माण कर्ता ब्राह्मण का-वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है ।"[2]

चन्द्रगुप्त राष्ट्र प्रेमी, विश्वबन्धुत्व के प्रति भावनाशील, उच्चविचारक महत्वाकांक्षाविहीन, तथा मानवतावादी दृष्टिकोण का व्यक्ति था । इस पात्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने राज्य की प्राप्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए नहीं अपितु जन-सामान्य के हित के लिए की थी । वह कभी अधिनायकवादी नहीं रहा और न प्रान्तीय-भावनाओ का समर्थक ही रहा । उसकी दृष्टि व्यापक थी, हृदय में अतिशय उदात्तता थी—उसने विदेशी शक्तियों के साथ स्नेहपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर भारतीय संस्कृति के गौरव में भी वृद्धि की । वह सफल शासक था, विचारक था, वीर था, उदात्त था, राष्ट्र प्रेमी एवं विश्वबन्धुत्व शील मानवतावादी व्यक्तित्व था । उसने सर्वप्रथम भारतीय-विसंगतियों को समझने की चेष्टा की, शासकों के पारस्परिक वैमनस्यता के अंकुर को समाप्त किया ।

चन्द्रगुप्त ने हिंसात्मक अथवा रक्त-पात के मार्ग को कभी नहीं अपनाया । वह तो साधन मात्र था—चाणक्य के संकेत पर राजनीति के प्रांगण में कुशलता दिखा रहा था । गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति का किसी अन्य शासक का इतना उत्कृष्ट उदाहरण सहज में मिलना असम्भव है ।

अलका

अलका प्रसाद के स्त्री पात्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । प्रसाद के

---

१. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ११६
२. यथोपरि पृ० सं० २००

स्त्री पात्र स्वत: ही आदर्शनिष्ठ, त्यागपरक विचारों से युक्त होते हैं। अलका मालवेश की कन्या आम्भीक की बहिन व सिंहरण की प्रेयसी के रूप में आती है। अलका के व्यक्तित्व ने पुरुष-पात्रों के व्यक्तित्व को पीछे धकेल दिया है। भारतीय नारी भोग्या ही नहीं, विलास की साधिका ही नहीं अपितु राष्ट्रीय-कार्यकलापों में रण-नीति को समझती हुई वीराङ्गना की तरह स्वयं को समर्पित करने के लिए सदा तत्पर रहती है। आम्भीक द्वारा अपमानित किये जाने पर भी सिंहरण की वीरता पर वह मुग्ध है और उसे आत्म-विश्वास है कि जिस देश में वीरों की परम्परा है—वह कभी पर-तंत्र नहीं हो सकता:—

"जिस देश में ऐसे वीर युवक हों—उसका पतन असम्भव है। मालव वीर! तुम्हारे मनोबल में स्वतंत्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त के रक्षण की शक्ति हैं।"[1]

सिंहरण से उसने प्रेम किया किन्तु उसके वैभव से नहीं अपितु उच्चाशयता तथा शौर्य पर मुग्ध हो कर। उसे स्वाभिमान के साथ जीवन जीने मे गौरव की अनुभूति होती थी। आत्म-सम्मान के लिए बलिदान होने में सर्वोच्च सुख मानने वाली भार-तीय स्त्री अलका अपने पिता, अपने भाई से ही विरक्त हो उठी। जब उसे यह विदित हुआ कि उसके भाई आम्भीक ने यवनों के साथ अभिसंधि कर आर्यावर्त के लिए मार्ग खोल दिया है तो वह निस्सीम वेदना में निमज्जित हो गई किन्तु असहाय अबला की तरह अश्रु-प्रवाह नहीं किया अपितु वीराङ्गना, स्वाभिमानिनी, एवं राष्ट्र-सेविका की तरह अपने कर्तव्य को निभाती हुई पिता से कहने लगी—

मुझे दण्ड दीजिये, कारागार में भेजिए, नहीं तो मैं मुक्त होने पर भी यही करूँगी। कुलपुत्रों के रक्त से आर्यावर्त की भूमि सिंचेगी। दानवी बन कर जननी जन्म-भूमि अपनी सन्तान को खायगी। महाराज! आर्यावर्त के सब बच्चे आम्भीक जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगें। स्मरण रहे, यवनों की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्तन बनाने वाले यही भारत-सन्तान होंगे। तब बचे हुए क्षतांग वीर, गांधार को भारत के द्वारा-रक्षक को विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमें नाम लिया जायगा मेरे पिता का! आह! उसे सुनने के लिए मुझे जीवित न छोड़िये, दण्ड दीजिए—मृत्यु दंड!"[2]

उस क्षण वह भूल गई कि—राजकुमारी है, अपितु सामान्य नागरिक की तरह जन्म-भूमि के संरक्षण के लिए अपने देश के शासक से दण्ड का विधान चाहने

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ६५
२. ,, ,, ,, ७७

लगी। अलका का आत्मबल सराहनीय कहा जायेगा—जिसने आत्म-सुख एवं भय से दूर रह कर यथार्थ को पहचाना। वह भारतीय स्त्री अपना सर्वस्व लुटा कर वीराङ्गना की तरह मृत्यु का आनन्द चाहने वाली कलंक को नहीं स्वीकार कर सकती थी—विद्रोहिणी बन गई—आर्यावर्त की एक-सूत्रता व सम्मान के लिए। उसने स्पष्ट शब्दों में अपने पिता से कह दिया—

"तब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं राज-मंदिर छोड़ कर चली जाऊँ।"[3]

जीवन के सभी मोहों को तोड़ कर वह राज-प्रासादों से निकल पड़ी और दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँच कर अपनी वेदना को व्यक्त किया। अलका में दुस्स-ह्रास बहुत था—वह किसी भी क्षण भय संत्रस्त नहीं हो पाती थी। जब यवन ने उससे उसका परिचय पूछा तो उस स्वाभिमानिनी ने गर्व भरे शब्दों के साथ राष्ट्र-प्रेम को व्यक्त किया—

"मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियां हैं, और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं! फिर मैं और कहाँ जाऊँगी यवन?"[1]

अलका अपने-आप में जागृत राष्ट्र थी। वह यवन से भयभीत नहीं हुई और उसने मानचित्र उसे नहीं दिया। वह अपने ही राज्य में राजकुमारी होते हुये भी बन्दिनी बन गई किन्तु अवनत नहीं हुई। वह आम्भीक की अर्थलोलुपता और स्वार्थपरता से घृणा करने लगी थी—अपने ही भाई को कलंक कहने लगी थी किन्तु उसके मन में आत्मविश्वास बहुत दृढ़ था—वह जानती थी कि चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण के रहते हुये आर्यावर्त मलिन नहीं हो सकता। स्वाधीनता की उपासिका के ये भाव थे:—

"ऋषे! यवनों के हाथ स्वाधीनता बेच कर उनके दान से जीने की शक्ति मुझमें नहीं।"[2]

वह दरिद्र होकर स्वाभिमान के साथ जीवन जीने में आनन्द का अनुभव करती थी।[3] उसने पर्वतेश्वर की प्रणय-प्रार्थना को ठुकराते हुए कहा था—अलका को स्वाभिमानशील वीरत्व से प्रणय हो सकता है कायर से नहीं। उसके शब्द थे:—

"महाराज! यदि भूपालों का-सा व्यवहार न मांग कर आप सिकन्दर से द्वन्द्व-युद्ध मांगते तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता।"[4]

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ७८

२. " " ८१

३. यथोपरि—पृ० सं० ८५

४. " " " १०६

अलका सिंहरण से प्रणय करती थी किन्तु जब सिंहरण और अलका पर्वतेश्वर के बन्दी हो गये तो उसके समक्ष परीक्षण की कठिन घड़ियाँ आ गई थीं। आम्भीक चाहता था कि अलका का पर्वतेश्वर के साथ पाणिग्रहण संस्कार कर दिया जावे और पर्वतेश्वर भी अलका के सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसे अंकशायिनी बनाना चाहता था। एक ओर वन्दिनी की विवशता दूसरी ओर अपने वीर प्रणयी सिंहरण के प्राण संकट में—कितनी बड़ी असहायता और विवशता—जिसके मध्य सामन्य स्त्री का टूट जाना स्वाभाविक है किन्तु वीराङ्गना अलका ने चातुर्य से कार्य किया—शांति के साथ पर्वतेश्वर के प्रस्ताव को स्वीकार किया। राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने प्रणय का बलिदान करने को तत्पर हो गई। पर्वतेश्वर को इस बात के लिये विवश कर दिया कि आर्यावर्त के विरूद्ध संधि-नियमों को भंग कर यवनों को किसी प्रकार का सहयोग प्रदान नहीं करेगा—तथा सिंहरण जैसे वीर-युवक को मुक्त करेगा।

अलका के जीवन की कितनी कठोर घड़ियाँ थी ? किन्तु उसने अपनी भावनाओं पर पत्थर रख कर पर्वतेश्वर को वाध्य कर दिया। पर्वतेश्वर अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर सका और अलका उसके शिविर से भाग निकली। अलका ने आर्यावर्त के सम्मान संरक्षण के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया तथा मालव के कलंक को सदा के लिए धो दिया। उसकी प्रेरणा पाकर सिंहरण अपने व्यक्तित्व का विकास कर पाया—उसके राष्ट्र प्रेम और अपूर्व त्याग से द्रवित होकर पिता पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगा तथा अन्त में आम्भीक का हृदय परिवर्तन करने में भी वह सफल हो गई। चाणक्य जैसा नीतिनिपुण व्यक्ति भी उसकी गरिमा का प्रसंशक था—अलका ने आदर्श का वह अध्याय आरम्भ किया—जिससे भारतीय नारी का भाल सदा उन्नत रहेगा।

दाण्ड्यायन

दाण्ड्यायन भारतीय तपस्वी का प्रतीक है। आश्रम में रहता हुआ ब्रह्म-ज्ञान का समुपासक समस्त भौतिकता से विलग रहता हुआ आध्यात्म-चिन्तन में रत रहने वाला व्यक्तित्व रहा है जिसमें भारतीय वैदिक-संस्कृति का सम्पूर्ण स्वरूप विद्यमान है। भारतीय दार्शनिक केवल विचारों से ही दर्शन शास्त्री नहीं होता है अपितु जीवन में भी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में साधकत्व लिए हुए रहता है। दाण्ड्यायन सफल साधक था—पूर्ण विरक्त था न उस में मोह के प्रति आसक्ति थी और न लोभ का अंश ही था। वह अहिंसावादी विश्व बन्धुत्व प्रेमी सभी को समान दृष्टि से देखता था।

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १११

जब यवन ने सिकन्दर के संदर्भ में दाण्ड्यायन से कहा तो निर्भीकता के साथ विरक्त भाव को प्रदर्शित करते हुए महर्षि ने उत्तर दिया:—

"तुम्हारा राजा अभी झेलम भी नहीं पार कर सका, फिर भी जगद्विजेता की उपाधि लेकर जगत् को वंचित करता है। मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता।"[1]

दाण्ड्यायन महान दार्शनिक था—उसे भौतिकी जगत् से क्या अर्थ था? वह अनासक्त भाव से जीवन जीता हुआ विश्व-मानवता के कल्याण की मंगलमय कामना करता था—उस मनस्वी को साम्राज्य अवनत नहीं कर सकता था—विरक्त के लिए सत्ता का क्या मूल्य! वह सिकन्दर के समीप जाने को प्रस्तुत नहीं हुआ—वह स्वयं को केवल ईश्वर द्वारा शासित मानता था—मानव की सत्ता का अनस्तित्व था उसकी दृष्टि में। महर्षि ने सम्राट के दूत से कहा:—

"मेरी आवश्यकताएं परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती है। उसके रहते दूसरों का शासन कैसा? समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं। मैं फल-मूल खाकर अंजलि से जलपान कर, तृणशय्या पर आँख बन्द किये सो रहता हूँ। न मुझसे किसी को ड़र है और न मुझको ड़रने का कारण है। तुम ही यदि हठात् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरी स्वतंत्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।"[2]

व्यक्ति किसी के तन पर विजय प्राप्त कर सकता है आत्मा पर नहीं। उसके सिद्धाँतों को अवनत नहीं कर सकता है। मनस्वी विरक्त का धन उसकी तपस्या है, वह अभय है, तृष्णा शून्य है, कर्मयोगी है और जगत् के स्वार्थमय मोहपाश से विमुक्त है—ऐसे व्यक्तित्व का कौन स्पर्श कर सकता है? महान् सिकन्दर ने ऐसे व्यक्तित्व के दर्शन कर आशीर्वाद प्राप्त करने की कामना की तो निर्भीक महर्षि का दृढ़ स्वर गुम्फित हो उठा:—

"जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे, हत्या, रक्तपात और अग्निकांड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं। विजय तृष्णा का अन्त पराभव में होता है, अल-

---

१. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ८४–८५

२. यथोपरि—पृ० सं० ८५

क्षेन्द्र ! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं। इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगो।"[1]

दाण्ड्यायन मानव कल्याण के लिए संकल्पशील और शान्ति के समुपासक थे—आर्य ऋषियों की गौरवमय गरिमा के प्रतीक रूप में सामाजिकों के समक्ष आये—आर्य महर्षि ने जीवन-व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए चन्द्रगुप्त की ओर संकेत कर सम्राट सिकन्दर से कहा था —

अलक्षेन्द्र ! सावधान ! देखो, यह भारत का भावी सम्राट तुम्हारे सामने बैठा है।"[2]

और आर्य की भविष्यवाणी भी सफल हुई। दाण्ड्यायन आर्य-संस्कृति के दिव्य उदात्त आदर्शनिष्ठ पात्र कहे जावेंगे।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी समाजपरक मूल्यों के संदर्भ में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। ध्रुवस्वामिनी के कुछ ऐसे पात्र हैं—जो कर्तव्यपरायण होकर भी अधिकार-सुख के लिए मौन है—विवशता से नहीं अपितु विषादमय अथवा स्वार्थपरता के परित्याग के कारण और कुछ ऐसे पात्र हैं—जो रूढ़िग्रस्त परम्पराओं की अंधी गुहाओं को तोड़कर परिवर्तनशील अभिनव आदर्श स्थापित करने के दुस्साहस में प्रवृत्त है। ध्रुवस्वामिनी के पात्रों ने समाज की कतिपय विचारधाराओं का पुनर्मूल्यांकन किया है—जो वस्तुतः यथार्थमय होते हुए भी आदर्शपरक कही जायेंगी।

पुरुषपात्र:—

रामगुप्त
चन्द्रगुप्त
शकराज
शिखर-स्वामी
मिहिरदेव
पुरोहित आदि अन्य पात्र

स्त्री-पात्र:—

ध्रुवस्वामिनी

---

१. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ८७
२. यथोपरि—पृ० सं० ८८

मन्दाकिनी
कोमा
खड्गधारिणी आदि अन्य पात्र

मिहिरदेव

आचार्य मिहिरदेव महान् दार्शनिक रूप में तथा शकराज की प्रणयिनी कोमा के धर्मपिता तथा आचार्य हैं। मिहिरदेव की शिष्या कोमा शकराज से प्रणय करती है। मिहिरदेव करुणामयी मूर्ति किन्तु स्पष्टवादी तथा दूरदर्शी व्यक्ति थे। उनके हृदय में कोमा के लिए विस्तृत स्थान है। आचार्य कोमा का शकराज के प्रति समर्पण श्रेयस्कर नहीं मानते किन्तु कोमा की कोमल भावनायें कहीं विखण्डित न हो जायें — अतः कुछ व्यक्त भी नहीं कर पाते। शकराज जैसे दुर्द्धर्ष व्यक्तित्व के समक्ष स्पष्ट शब्दों में कह बैठते हैं - "स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा ? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।"[1] आचार्य मिहिरदेव राजनीति से ऊँचा स्थान नीति को प्रदान करते हैं।[2] राजनीति का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्र से है किन्तु नीति का सम्बन्ध समस्त मानवता से है।[3] प्रेम नैतिक आधार लिए होता है, प्रेम में पावनता और विश्वास जमा रहता है, प्रेम स्वर्गीय ज्योति का निवास है तो आचार्य प्रेम को हृदय की विश्वस्त भावना का द्योतक मानते हैं। जब शकराज का अनैतिक आचरण देखते हैं तो हृदय अवश्य क्षुब्ध हो उठता है किन्तु धैर्य साथ नहीं छोड़ पाता है—उस क्षण कोमा से यही कहते हैं—"बेटी ! हृदय संभाल ! कष्ट सहन के लिए प्रस्तुत हो जा ! प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने का मन नहीं करता है। कोमा ! छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी—पर दुःखदायी और हृदय को बेधने के लिए। इस बन्धन को तोड़ डाल।"[4] आचार्य मिहिरदेव साँसारिक पिता की तरह दायित्व का निर्वहण करते हुए अपनी पुत्री का कष्ट नहीं देख सकते—उसे अपने साथ चलने के लिए प्रेरित करते हैं।[5] आचार्य कोमा की भलाई इसी में समझते हैं कि कोमा को अपने साथ ले जायें और उसके विखण्डित मानस को प्रकृति की रमणीय गोद में

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ४४
२. यथोपरि—पृ० सं० ४४
३. ,, ,, ,, ४४
४. ,, पृ० सं० ४५
५. ,, ,, ४५

बिठाकर संसार के रहस्य को समझा सकें।[1] आचार्य को इस बात का पूर्वाभास हो चुका था कि शकराज का भविष्य अच्छा नहीं है और न कोमा का जीवन ही सुखमय हो सकेगा—फिर भी अपनी शिष्या का हृदय सहसा नहीं तोड़ देना चाहते थे।[2] आचार्य मिहिरदेव दार्शनिक एवं अनासक्त होते हुए भी महर्षि कण्व की तरह आदर्श पिता के रूप में पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना गये।

चन्द्रगुप्त

स्वर्गीय समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त अपने देदीप्यमान इतिहास-प्रथित कुल-गौरव की परम्परा में जीने वाला शौर्य सम्पन्न उदात्त व्यक्तित्व था—जिसने स्कन्दगुप्त की तरह अन्तर्विद्रोह की अग्नि को न प्रज्वलित होने देने के लिए अपने अधिकार-सुखों की उपेक्षा करते हुए बन्दी-जीवन बिताने के लिए भी सहमत होगया—यद्यपि यह भी उसकी विवशता ही थी कि जिसे वह प्रणय करता था—वह ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की महादेवी बन चुकी थी—किन्तु उसके मानस से ध्रुवस्वामिनी का मोह विश्रृंखल न हो सका था—हृदय में यथावत् स्थान था। जब शकराज की संधि के अनुमार रामगुप्त महादेवी को दान करने के लिए तत्पर हो गया—और असहाय अबला अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए आत्महत्या करने को प्रस्तुत हो गई तो सहसा चन्द्रगुप्त का प्रवेश हुआ और उसने देवी से कहा:—

"देवि! जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाईयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं।"[3]

चन्द्रगुप्त स्थितियों से अनभिज्ञ था किन्तु गुप्त कुल की वधु उसके जीवित रहते हुए आत्महत्या को विवश हो—यह कदापि सहन नहीं कर सकता था। चन्द्रगुप्त वंश-परम्परा के अनुकूल शौर्यसम्पन्न, उत्साही तथा दुस्सहासी था। उसे आत्मसम्मान के प्रति व्यापक मोह था - वह अपने कुल-गौरव को किसी भी मूल्य पर नष्ट नहीं होना देना चाहता था। वीरों के रहते हुए स्त्रियों का विक्रय कर राष्ट्र की सुरक्षा करना कितना लज्जास्पद था—उसने कभी अपने अधिकारों के लिए याचना नहीं की और न संघर्ष ही किया किन्तु रामगुप्त की इस व्यवस्था से वह आक्रोशमय हो उठा और अमात्य शिखर-स्वामी से व्यवस्था के संदर्भ में पूछ बैठता है:—

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ४५
२. " " ४६
३. " " २६

"अमात्य ! तभी तो तुमने व्यवस्था दी है कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय ! क्यों यही तो विनय की पराकाष्ठा है ! ऐसा विनय प्रवचंकों का आवरण है, जिसमें शील न हो ! और शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है। कापुरुष ! आर्य समुद्रदत्त का सम्मान........" ?[१]

चन्द्रगुप्त विनयशील व्यक्तित्व रहा है किन्तु उस विनय को कभी सहन नहीं कर सका—जिसमें भीरुता अथवा विवशता भरी हुई हो। वीरत्व के साथ विनय का समावेश स्पृहणीय होता है। चन्द्रगुप्त वैयक्तिक-स्वार्थों के प्रति अनासक्त हो गया था किन्तु राष्ट्रगत सम्मान की उपेक्षा नहीं कर सकता था। वह मानवतावादी—स्त्रीत्व के संरक्षण की अपेक्षा उसे दाव पर लगा कर कुल की मर्यादा एवं वर्चस्व खो देना—घृणित कार्य एवं अत्यन्त अपमानजनक था। उस संक्रमणकाल में चन्द्रगुप्त ने अपने कर्तव्य का परित्याग नहीं किया। देश, जाति व कुल के परम्परागत गौरव के संरक्षण के लिए वह मर्यादा को पालते हुए प्राणों के उत्सर्ग को भी तत्पर हो गया। वह कर्तव्य-पालन में भी सुख की अनुभूति को स्वीकारता है।

"तीखे वचनों से मर्माहत कर के भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पथ से विमुख नहीं कर सकता। मैं केवल अपना कर्तव्य करूँ—इसी में मुझे सुख है।"[२]

वह मृत्यु के आलिंगन को भी महोत्सव की संज्ञा देता है। वीर-पुरुष की भांति सम्मान के साथ मरना श्रेयस्कर मानता है किन्तु क्लीब पुरुष की तरह आत्म-सुखों का उपभोग मृत्यु से नीच समझता है। वह कायरों की तरह जीवन निर्वहण नहीं चाहता है। चन्द्रगुप्त अकेला शत्रु-शिविर में चला जाता है—वह उसकी दुस्साहसतापूर्ण वीरता का परिचायक है—जो अपने कुल के आदर्शों का बलिदान नहीं कर सकता है। शकराज की मृत्यु के पश्चात् महादेवी के अधिकार में किले का दायित्व सौंप कर अनासक्त हो जाता है। वह अपने अधिकारों के लिए बल-प्रयोग नहीं चाहता गृह-कलह को स्वीकार नहीं करता और न महादेवी के सम्मान तथा स्त्रीत्व की सुरक्षा कर प्रणय-भिक्षा मांगने को कामनाशील है। वह छल-प्रपंचों के मायाजाल से विलग रह कर कर्तव्यशील रहने में ही आनन्द का अनुभव करता है—जब मन्दाकिनी उसके मानस की सुसुप्त भावनाओं को जागृत करते हुए उसे अधिकारों के हित संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती है तो—वह किसी को दोष नहीं देना चाहता है अपितु नियति के कालचक्र के संदर्भ में विचारता है—

"विधान की स्याही का एक बिन्दु गिर कर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ३१
२. यथोपरि पृ० सं० ४८

देता है । आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवदेवी मेरी है। (ठहर कर) हाँ, वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है । मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई यह मूक-स्वीकृति आज बोल रही है । मैं पुरुष हूं ? नहीं, मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूं और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही । नहीं, यह शील का कपट मोह और प्रवचना है । मैं जो हूं, वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रगट कर सका । यह कैसी विड़म्बना है ? विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी ?"

प्राणों में विगत स्मृतियों के साथ आक्रोश उफनता है किन्तु फिर भी कुल-गौरव की गरिमा को यथावत् सुरक्षा प्रदान करता हुआ रामगुप्त के सैनिकों द्वारा बन्दी बनाये जाने पर प्रतिवाद नहीं करता है—ध्रुवस्वामिनी के कहने पर भी वह अपने-आपको मुक्त करने के लिए कामनाशील नहीं होता है । निस्वार्थ, त्यागमय एवं कर्तव्यशील जीवन जीने वाले व्यक्तित्व के लिए अधिकार-सुख क्या महत्व रखते हैं ? ऐसे व्यक्ति मानवता पर प्रहार नहीं देख सकते हैं । जब ध्रुवदेवी पर रामगुप्त का अत्याचार बढ़ा और उसे बन्दिनी बनाया जाने लगा तो विखण्डित मानस धैर्य न रख सका । अपमानित व अधिकारों के छिन जाने के पश्चात् भी उसके मानस में प्रतिशोध अथवा प्रतिहिंसा की भावना न थी । चन्द्रगुप्त मूक-प्रणयी की तरह मान-सिक-अग्नि में जलता रहा किन्तु अपनी कुलीन मर्यादाओं को विखण्डित करने का दुस्सहास नहीं जुटा पाया । कुल-मर्यादा के संरक्षण के लिए उसने आदर्श स्थापित किया ।

मन्दाकिनी

विश्व-साहित्य में सम्भवतः ही ऐसा कोई कुशल साहित्यकार होगा—जो अपने स्त्री-पात्रों में उदात्त नैतिकता के साथ कर्तव्यनिष्ठ दुस्सहासता का रंग भर दे और भावुकता को नष्ट न होने दे ! कोमलता और दृढ़ता का सुन्दर सामञ्जस्य प्रसाद के स्त्री-पात्रों में सहजता से देखने को मिल जाता है । सामान्य से पात्र में राष्ट्र-प्रेम, कर्तव्यनिष्ठा, निस्वार्थपरता, त्याग की अनुपम स्पर्धा देखने को अनायास ही सुलभ है । स्त्री जैसे चरित्र में निस्वार्थ प्रणय का बलिदान—केवल मानवतावादी दृष्टि-कोण के लिए कल्पना की बात है किन्तु प्रसाद के स्त्री-पात्रों की यह प्रकृति है । ऐसे ही उदात्त पात्रों की परम्परा में मंदाकिनी का स्थान है, जिसने कुल-गौरव एवं स्त्रीत्व के सम्मान की सुरक्षा के लिए अपनी भावनाओं का दमन कर लिया और

---

१. ध्रुवस्वामिनी ५७

व्यष्टि से समाष्टिजन्य समस्याओं के समाधान के लिए चिन्तित हो उठी। क्लीवों के शासन में रह कर कुल-गौरव के सम्मान को बचाने के लिए विवशता के स्वर व्यक्त करती है—

"भयानक समस्या है। मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया! सच है! वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनैतिक छल-छंद की धूल उड़ती है.........पर मन्दा! तुझे विधाता ने क्यों बनाया? नहीं। मुझे कठोर हृदय कर के अपना कर्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा। न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना होगा।"[1] वह रामगुप्त के साम्राज्य में पल भर भी नहीं ठहरना चाहती है किन्तु विपन्न स्थितियों में चन्द्रगुप्त के पक्ष को दृढ़ करने के लिए इस वेदना को भी सहन करने के लिए प्रस्तुत है। वह अपने हृदय की सुकोमल भावनाओं पर पत्थर रख कर कर्तव्य-पालन करने के लिए सकल्पशील हो जाती है।

मन्दाकिनी ने दृढ़ता के साथ कर्तव्य-पालन किया। विद्रोहिणी बन कर सभी के लिए सुकृत पंथ को प्रशस्त किया। चन्द्रगुप्त के निकट ध्रुवदेवी की वेदना को पहुँचाना और महादेवी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति उदात्त भाव बनाये रखना, रामगुप्त को उसकी दुर्बल-भावनाओं के लिए प्रताड़ित करना, कुल-गौरव के संरक्षण के लिए भावों को जागृत करना, चन्द्रगुप्त को अधिकार-प्राप्ति के लिए प्रेरित करना, ध्रुवदेवी की मर्मान्त-वेदना का अन्त करते हुए चन्द्रगुप्त से मिलाना आदि--मंदाकिनी के भावनाशील कार्य हैं—जो उसके सतत प्रयत्नों का प्रतिफल हैं। राष्ट्र के गौरव रक्षा के निमित्त वह शिखर-स्वामी से निर्भीक शब्दों में अपनी भावना व्यक्त करती है—

"राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने में असमर्थ हैं, तब भी उस राजा की रक्षा होनी चाहिये। अमात्य! यह कैसी विवशता हैं? तुम मृत्यु-दण्ड के लिए उत्सुक! महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत! फिर यह हिचक क्यों? एक बार अन्तिम बल से परीक्षा कर देखो! बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश!"

मन्दाकिनी भी आत्म-गौरव को ही सर्वाधिक महत्व देती हैं, भौतिक सुख क्षणभंगुर है, यदि सभी भौतिक-सुख उपलब्ध हो जायें और स्वाभिमान नष्ट हो जाये तो जीवन की उपादेयता ही व्यर्थ है। वह अमात्य के समक्ष गौरवपूर्ण प्रस्ताव रखती है—बलिदान होने का—जिसके युग्म पक्षों में विजय की भूमिका हैं। मन्दाकिनी

---

1. ध्रुव स्वामिनी पृ० सं० २०

स्वयं स्त्री है—वह स्त्रीत्व की वेदना को भली-भांति समझती हैं। आत्मवेदना के साथ ध्रुवदेवी की वेदना को उसने आत्मसात् कर लिया था। वह राजनीति से सर्वथा दूर है किन्तु नैतिकता की प्रबल पक्षपातिनी है। नैतिकता ही उसका जीवन है। इसी नैतिकता का सम्बल लिए हुए वह ध्रुवस्वामिनी की मर्मान्तक पीड़ा को अनुभूत करती है और सहसा उसके मुख से महादेवी के स्थान पर 'भाभी' सम्बोधन निकल पड़ता हैं।[1] वह पुरोहित से स्पष्ट शब्दों में कह देती हैं कि ध्रुवदेवी महादेवी के पद से स्वतः ही वंचित हो गई है।[2] मन्दाकिनी का हृदय उदार है, भावुक है, वह ध्रुवदेवी को क्लीब रामगुप्त की असह्य पीड़ाओं से मुक्त कराने के लिए कृत संकल्प है। धर्म-व्यवस्था के संदर्भ में भावना को अधिक महत्व देती है। सामाजिक रूढियों को विशृंखल कर परम्परागत मान्यताओं को तोड़ देने के लिए अभिनव व्यवस्था को जन्म देने के हित कटिबद्ध हो जाती हैं। स्त्रियों की मानसिक-दासता को वह सहन नहीं कर सकती—धार्मिक व्यवस्था को उपयुक्त वैवाहिक संस्था की संज्ञा नहीं दे सकती। धर्म के बन्धन में बांध कर स्त्रियों की भावनाओं को दलित करने में चरित्र नहीं मानती। वह कुल-पुरोहित धर्म के नियामक से इस संदर्भ में प्रश्न कर बैठती है—

"आर्य ! आप बोलते क्यों नहीं ? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सके ? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम लेते हैं ?"[3]

नारी का जीवन पुरुष की दासता के लिए ही नहीं हैं अपितु सहयोग-भावना के लिए प्रेरणास्पद हैं। उसे पशु की तरह जीवन जीने के लिए विवश नहीं किया जा सकता है, वह पण्य-वस्तु नहीं है, जब चाहा—जिसने उपभोग किया और नीलाम कर दिया—इस संदर्भ को परिप्रेक्ष्य में रखते हुए कहा जा सकता है कि मंदाकिनी क्रान्तिचारिणी रूढ़ियों के प्रति विद्रोहिणी, विवेकशीला एवं ऐसी संस्था थी—जो मानवता के साथ नूतन व्यवस्था को जन्म देकर दाम्पत्य-जीवन को आदर्शनिष्ठ बनाना चाहती थी।[4] वह नारी-जाति की विवशता के संदर्भ में कहती है :—

"स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है ?

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ३१
२. " " ५२
३. " " ५२
४. " " ५४

अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा का भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली मानती हैं ?"[१]

नारी-जाति के उत्थान के लिए वह रचनात्मक कदम उठाने में अग्रणी हैं। नारी-हृदय कितना भावनाशील है ? कोमा के हृदय को परख कर मन्दाकिनी उसके पागलपन की चर्चा करती है। जिस पुरुष के प्रति वह सहज रूप से समर्पित हुई— उसी ने उसके हृदय-दर्पण को विखण्डित किया, किन्तु भावनाशील नारी उसी के शव को लेकर सती हो जाना चाहती है, पुरुष के नाम पर मर-मिटने की भावना को मन्दाकिनी स्वीकार नहीं करती है। वह भी भावनाशील है किन्तु अंधी होकर वर्षा-सरित् की तरह नहीं बहना चाहती— वह विवेकशील नारी है, तर्क की कसौटी पर भावना को कसते हुए अपने अधिकारों की माँग करती हुई दिखाई देती है। वह नारी-जाति पर किये जा रहे सदियों के शोषण का अन्त कर देना चाहती है, वैवाहिक-संस्था को रूढ़िग्रस्त जटिल परम्पराओं से पृथक् कर अभिनव विश्वस्त रूप देने के लिए सचेष्ट है। ध्रुवदेवी की परतंत्रता को समाप्त कर हृदय से उसे आनन्दित देखना चाहती है। पशुवत् जीवन जीना—उसे रुचिकर नहीं है। वह निडर विद्रोहिणी का तरह अपना स्वर परिषद् के सामने व्यक्त करती है। राज्य-भय की आशकाओं को उखाड़ कर स्पष्ट-रूप से कहती है:—

राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती, तो इस अपनी कुल मर्यादा, नारी को शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। भगवान ने स्त्रियों को उत्पन्न कर के ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है। किन्तु तुम लोगों की दस्युप्रवृत्ति ने उन्हें लूटा है। इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़कर जिन लोगों ने राज-किल्विष किया हो उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।"[२]

मन्दाकिनी ने चन्द्रगुप्त को स्वर्गीय समुद्रगुप्त का अधिकार दिलाकर नैतिक भूमिका का निर्वहण किया। ध्रुवस्वामिनी के शव में प्राणों का सचार किया—उसके नारीत्व को नव-जीवन प्रदान किया--कुण्ठाओं से निकाल कर अस्तित्व प्रदान किया। वैवाहिक-संस्था के संदर्भ में अभिनव व्याख्या प्रस्तुत कराने की भूमिका में मन्दाकिनी का पूर्ण हाथ था -अन्यथा महादेवी कभी भी नारकीय जीवन से मुक्त नहीं हो सकती थी—और न ही अस्तित्व को प्राप्त कर सकती थी। मन्दाकिनी ने अपने हृदय की

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ५५
२. „ „ ६२

भावनाओं का दमन कर ध्रुवदेवी के जीवन के लिए महान् उत्सर्ग किया—दुस्सहास के साथ एक बहुत बड़े विपन्न परिवार को अधिकार दिला कर उनका दाम्पत्य-जीवन आनन्दमय बनाया। निश्चय ही मन्दकिनी का जीवन आदर्शमय कहा जायेगा—जो सामान्य पात्र होते हुए भी सामाजिकों के हृदय में अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित करने में सफल हुई।

कोमा

भारतीय संस्कृति के गरिमामय आदर्शों की सुरक्षा एवं उन्हें पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रसादजी ने सशक्त नारी पात्रों का सृजन किया—और उसमें आशातीत सफलता प्राप्त की। आचार्य मिहिरदेव की तनया सदृश शिष्या और शकराज के अनुपम शौर्य तथा कर्मनिष्ठ पौरुष पर मुग्ध होने वाली कोमा भावनाशील नारी कही जायेगी। उसे धर्म पिता के चरणों में बैठकर जीवन-दर्शन एवं नैतिकता का पाठ पढ़ने का अवसर मिला था, जीवन-वैभव की अपेक्षा नैतिकता का संरक्षण ही उसे भाता था। वह शकराज के शिविर में खिन्नमना सी खड़ी हुई है—शकराज उसकी उदासीनता देख कर प्रश्न कर बैठता है—"क्या आज रूठ गई ? वह उत्तर देती है:—

"रूठने का सुहाग मुझे मिला कब ?"[१] —इस एक पंक्ति ने उसके अछूते मानस की विकल-वेदना को व्यक्त कर दिया है। वह अपने को सौभाग्यशालिनी ही नहीं मानती है—जो सामान्य सी नारी अपने जीवन में अनुभव करती है। उसके मानस में अतृप्त प्रणय की भावनाओं का प्रबलतम ज्वार है। वह किसी सामान्य-जन की सहयोगिनी बन कर जीवन को आनन्दमय रख सकती थी। शकराज के विभिन्न पहलुओं को दृष्टिगत रखते हुए वह सुलझा हुआ चिन्तन प्रस्तुत करती है:—

"प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ, कि मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने-आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमन्त्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिए महाराज ?"[२]

कोमा सादा जीवन एवं उच्च विचारों के साथ जीवन जीना चाहती है, प्रकृति की रमणीय छाया में बैठकर हृदयों का विनिमय करना चाहती है—उसे अतुलित वैभव, असीमित-सम्पदा, राज्य-सुख, अधिकार एवं विलासमय भोग भोगने की लालसा नहीं है। वह चिन्तनशील भावुक नारी है—जो विश्वास के साथ जीवन जीने के लिए लालायित है। संसार मे जीने के लिए विनय-शील होना आवश्यक मानती है, अहं के

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ३८

२. „ „ „ ३८

साथ आक्रान्त कर जीना उसे रुचिकर नहीं है। अपने प्रियतम शकराज से भी कोमा यह अपेक्षा करती है:—

"संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा सा विनीत बन कर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।"[1]

नारी के हृदय में अपने पति के प्रति एक छत्र की भावना रहती है—वह कभी यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं कि उसके रहते हुए उसके पति के जीवन में किसी अन्य स्त्री का प्रवेश हो! किन्तु कोमा को ध्रुवस्वामिनी के प्रति शकराज के झुकाव का कोई दु:ख नहीं है—केवल पीड़ा है। इस बात की कि शकराज राजनीति का सम्बन्ध नारी के साथ सम्पृक्त कर किसी का जीवन विनष्ट करने जा रहा है। वह अपने प्रियतम का यह अनैतिक आचरण सहन करने के लिए कदापि सहमत नहीं है:—

"किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता?"

कोमा अपने प्रियतम को हृदय से प्रेम करती है, उसके प्रति हृदय से समर्पित है—उसके सुख-दुःख के साथ सम्पृक्त है। किन्तु उसने शकराज के शौर्यसम्पन्न उदात्त-चरित्र से स्नेह किया था न कि उसकी हीन अनैतिक भावनाओं पर मुग्ध होकर। वह मानव की सुकोमल उदात्त भावनाओं की उपासिका है न कि क्रूर-विचारों की सहयोगिनी। उसके मानस में सम्राज्ञी बनने की कामना नहीं है। उसका प्रियतम अनैतिक कार्य-कलापों में रत होकर नारी-जीवन के साथ खिलवाड़ करे—यह उसे सह्य नहीं है। वह अपने भीतर झाँक कर देखती है तो—उसे नारी-जीवन की असहायता क्रन्दन करती हुई दिखाई देती है—वह समस्त नारी-जाति की पीड़ा को आत्मसात् करते हुए अपने प्रियतम से पृथक् हो जाना चाहती है। हृदय की समस्त मृदुल-भावनाओं को एक झटके के साथ विखण्डित कर देना चाहती है। जिस प्रेम का अंकुर उसने अपने हृदय में पाला था—उस बल्लरि को वह अपने ही सामने दग्ध कर देना चाहती है। नैतिक-मूल्यों के संरक्षण एवं आदर्शनिष्ठ मर्यादा की रक्षा के लिए प्रेम को ठुकराते हुए अपने प्रियतम शकराज से स्पष्ट शब्दों में कह देती है:—

"प्रेम का नाम न लो! वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भष्म कर सकता हो, उस दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ३८

कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका-मात्र से दुर्बल-कम्पित और भयभीत हो।"[1]

वह अपने अतीत की मधुर-स्मृतियों को भुला देना चाहती है।[2] वह किसी भी स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न होते हुए नहीं देख सकती है।[3] मानवीय-आदर्शों के मूल्यों को शाश्वत बनाये रखने के लिए वह अपने प्रणय को जीवन की भूल कह कर शकराज से बिदा लेती है।[4] अपने धर्मपिता मिहिरदेव के साथ वह भग्न हृदया पश्चातापपूर्ण वेदना को लिए निकल जाती है किन्तु नैतिक-मूल्यों का विघटन अपनी आंखोंके सामने नहीं देख सकती है।

जब उसे यह विदित होता है कि उसका प्रियतम शकराज युद्ध में मारा गया तो वह कुमारी साध्वी स्त्री की तरह पति के साथ दग्ध होने के लिए संकल्प ले बैठती है और ध्रुव देवी से शव माँगते हुए कहती है:—

"रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय-हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्वदान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिये।"[5]

कोमा का आदर्श नीतिपरक मूल्यों के साथ उभरा है। उसने भारतीय-संस्कृति की आदर्शपरक मर्यादा की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी इस नाटक की नायिका है—जिसके चारों ओर सम्पूर्ण कथानक घूम रहा है। ध्रुवस्वामिनी वह भारतीय नारी है—जिसे जन्म से ही पीड़ाओं की सौगात मिली है और पृथ्वी की तरह प्रतिक्षण दुःखों का भार सहन करने की क्षमता भी उपलब्ध है। ध्रुवस्वामिनी के पिता ने समुद्रगुप्त को उपहारस्वरूप अपनी कन्या भेंट कर दी—और चन्द्रगुप्त उसे अपने साथ लेकर आया—वह मूक पशु की तरह

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ४६
२. यथोपरि—पृ० सं० ४३
३. ,, ,, ४३
४. ,, ,, ४५
५. ,, ,, ५५

रामगुप्त के अंक में डाल दी गई—तभी से असहाय विवशता भरी जिन्दगी जीने का अभ्यास करने लगी। उसकी वेदना का आरम्भ तो तभी से हो गया था—जब वह पण्य वस्तु की तरह उपहार स्वरूप दे दी गई। उसके अस्तित्व का अन्त उसी क्षण हो गया था—समस्त अधिकारों की इति श्री करने के पश्चात् भी उसे जीने को मिला—घुटनपूर्ण जीवन ! जहाँ मुक्त हृदय से अश्रु बहाने की स्वतन्त्रता भी न थी। असहाय अबला नारी की प्रतीक ध्रुवस्वामिनी से क्या अपेक्षा की जा सकती है ? किन्तु कुण्ठा-पूर्ण जीवन जीते हुए भी उसने आदर्श स्थापित किया और शाश्वत नैतिक-मूल्यों की रक्षा की। वह चन्द्रगुप्त को हृदय से चाहती है—उसकी वाग्दत्ता है किन्तु नियति ने उसे क्लीब रामगुप्त के हाथों में समर्पित कर दिया। रामगुप्त के साथ बंध कर उसने क्या पाया ?—इसका उत्तर वह स्वयं देती है— "भला मैं क्या कर सकूँगी ? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती। मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी : मैंने तो कभी उनका मधुर-सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ?"[१]

वह अपने जीवन से तो संत्रस्त है ही किन्तु कुमार के स्निग्ध-शौर्य पूरित हृदय की स्मृतियों से भी विकल्प है।[२] वह कुमार के प्रति निगूढ़ प्रेम को अव्यक्त नहीं रख पाती है।[३] खड्ग धारिणी से कुमार के संदर्भ में भावी आशंकाओं को व्यक्त करते हुए कहती हैं :—"किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिये जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय।"[४]

ध्रुवस्वामिनी का जीवन विषम परिस्थितियों के मध्य से गुजर रहा था। वह संक्रान्तिकालीन स्थितियों के मध्य अपने आप को धैर्य के साथ रक्षित रख पा रही थी—यह उसके आत्मबल का परिचायक है। जिसे वह स्नेह करती है—वह उसके लिए पर-पुरुष हो गया और भाग्य ने जिसके साथ उसे बांध दिया—वह क्लीब हिंजड़ों और बौनों के ओछे-छिछले वातावरण में जीने का आदी है। भारतीय संस्कृति की जटिल परम्परा के अनुसार वह विद्रोह नहीं कर सकती है और न कुमार के प्रति अपना अनुराग ही व्यक्त कर सकती है।

वेदना पर वेदना का बोझ ! ध्रुवस्वामिनी को उपहार में देकर शकराज से

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० १५
२. " " १६
३. " " १६
४. " " १६

संधि की जा सकती है और राष्ट्र को बचाया जा सकता है—यह सुनकर ध्रुवदेवी का हृदय विदीर्ण हो उठता है। वह इतनी परायत्ता है कि उसे हर कोई नीलाम कर सकता है। वह शिखर स्वामी और सम्राट से प्रश्न कर बैठती है कि इस राष्ट्र में क्या यही परम्परा रही है—और आप लोग स्त्रियों को भेंट देकर कुल-गौरव बढ़ाते रहे हो[1] ? मैं आपसे पूछती हूँ:—

"और आप लोग कुबड़ों, बौनों और नपुंसकों का नृत्य देखेंगे। मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्नि-वेदी के सामने की है ?"[2] क्या एक पति अग्नि की साक्षी मे प्रतिज्ञा कर इसी तरह दायित्व निर्वहण करता है। क्या मैं इस राष्ट्र के सम्राट की महादेवी नहीं हूँ ?[3] वह शिखर स्वामी की नैतिकता पर आरोप लगाती है।[4] जब उसे यह विदित होता है कि इन क्लीवों ने राष्ट्र के गौरव और मानवता को कोने में रख कर निर्णय लिया है तो उसका आक्रोश बिखर पड़ता है। उसका आत्म-सम्मान ज्वालामुखी की तरह विचारों का लावा उगलने लगता है—वह स्पष्ट शब्दों में अधिकार की मांग करते हुए अपना निर्णय सुना देती है:—

'कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है—वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो। हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।"[5]

जिस नारी ने रामगुप्त से संलाप करने की कामना व्यक्त नहीं की थी—वही नारी आज अपने पुरुष की तलाश में भटकने लगती है। सम्राट ने आदेश दिया था—वह केवल महादेवी ही नहीं स्त्री भी है—एक स्त्री अपने पति से स्त्रीत्व की रक्षा करने के लिए याचना करने लगती है। अपने आत्म-सम्मान की सुरक्षा के लिए उसका विकल मन तड़फ उठता है। अपने समस्त भोगों का परित्याग कर किसी भी मूल्य पर आत्म-सम्मान नहीं खोने देना चाहती है। ध्रुवस्वामिनी का स्वाभिमान यहाँ आकर व्यक्त होता है—जब वह अपने पति से शरण की प्रार्थना करती है:—

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० २५
२. ,, ,, ,, २५
३. ,, ,, ,, २६
४. ,, ,, ,, २६
५. ,, ,, ,, २७

"मेरी रक्षा करो ! मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो । राजा आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ । मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई; किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है । मैं तुम्हारी होकर रहूँगी । राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को बहुत सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता ।"[१] ध्रुव-देवी इसी क्षण पराजित होती है और पति के आगे समर्पण को प्रस्तुत हो जाती है ।

ध्रुवस्वामिनी पति से निराश होकर विद्रोहिणी बन जाती है । उसका आक्रोश रामगुप्त को मद्यप, क्लीब, नीच आदि कहने लगता है ।[२] वह ऐसे संक्रमणकाल में भी विवशता के क्षण नहीं जीना चाहती अपितु आत्म-बल का संचय करती है ।[३] स्वाभि-मानिनी वीराङ्गना की तरह रामगुप्त के समक्ष घोषणा कर बैठती है :—

"ओह ! तो मेरा रक्षक कोई नहीं ? नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी । मैं उपहार में देने की शीतलमणि नहीं हूं । मुझमें रक्त की तरल-लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं ही करूंगी ।"[४] वह रामगुप्त जैसे क्लीब की हत्या नहीं करना चाहती[५] अपितु अपने गौरव की रक्षा करने के लिए आत्म-हत्या करने के लिए कृत-संकल्प हो उठती है ।[६] चन्द्रगुप्त के कहने पर वह आत्महत्या नहीं करती है और नियति के क्रूर-चक्र का परिणाम देखने की प्रतीक्षा करती है ।[७] चन्द्रगुप्त के ओजस्वी विचार सुन कर वह मुग्ध हो उठती है, उसके मानस में अतीत की मधुर-स्मृतियाँ लौट आती है—और वह चन्द्रगुप्त के साथ शकराज तक जाने की स्वीकृति दे देती हैं ।[८] चन्द्रगुप्त को वह अपने लिए संकट में नहीं डालना चाहती है, प्रेम का प्रतिदान स्वीकार करने को सहमत नहीं है । वह नहीं चाहती है कि उसके प्राणों के लिए चन्द्रगुप्त अपना बलिदान दे ।[९]

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० २८
२. ,, ,, २८
३. यथोपरि ,, २८
४. ,, ,, २८
५. ,, ,, २९
६. ,, ,, २९
७. ,, ,, २९
८. ,, ,, ३०
९. ,, ,, ३२

चन्द्रगुप्त की भावनाओं का समादर करते हुए वह कृतज्ञ हो उठती है । उसके मानस में सोया हुआ प्रेम जागृत हो उठता है और वह उसकी भुजाओं के आलिंगन में बंध कर आनन्द का अनुभव करती है ।[१] रामगुप्त अपनी आंखों से यह कृत्य नहीं देख सका भला-बुरा कहने लगा तो ध्रुवस्वामिनी उसे फटकारते हुए कहती है—पुरुष अपनी स्त्री का सम्मान बेचकर धर्म समझता है और नारी का हर कार्य अधर्म ! शकराज क्या मेरी पूजा करेगा :—

'जो मेरे लिए अपनी बलि दे सकता है, जो मेरे स्नेह अथवा इससे क्या ? शकराज क्या मुझे देवी बना कर भक्ति-भावना से मेरी पूजा करेगा ? वाह रे लज्जाशील पुरुष !

ध्रुवस्वामिनी चन्द्र के प्रति कृतज्ञ है किन्तु उसे विपत्ति में डालना कभी नहीं स्वीकार सकती । वह अपने प्रियतम को मृत्यु-मुख में अकेला नहीं जाने देना चाहती है, स्वयं भी उस आनन्द का अनुभव करना चाहती है ।[२] शकराज के शिविर में पहुंचकर भी वह यही कहती है:—"लौट जाओ, इस तुच्छ नारी-जीवन के लिए इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं है ।[३] शकराज की मृत्यु के पश्चात् भी वह मुक्त रूपसे चन्द्रगुप्त को स्वीकारने का साहस नहीं कर पाती है—अपितु अपनी वेदना पर अश्रु बहाती है ।[४] पुरोहित को स्वस्त्यन के लिए निषेध कर देती है ।[५] वह अपने जीवन की विषमताओं के मध्य तीव्र घुटन का भान करने लगती है । वह कर्तव्यपरायण है — चन्द्रगुप्त की विपत्तियों से रक्षा करना धर्म है— साथ ही उसके अव्यक्त प्रेम में जल रही है—इस मर्मान्तक वेदना को हतभागिनी कोमा के समक्ष इन शब्दों में व्यक्त करती है:—

"जलो ! प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो ! जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है ।"[६]

ध्रुवस्वामिनी साहस का संचय करती है और आत्मबल के माध्यम से

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ॰ सं॰ ३४
२. ,, ,, ३२
३. यथोपरि पृ॰ सं॰ ४८
४. यथोपरि पृ॰ सं॰ ५४
५ यथोपरि पृ॰ सं॰ ५४
६. यथोपरि पृ॰ सं॰ ५५

पुनर्जन्म का प्राप्तकर अभिनव-व्यवस्था के लिए कृत संकल्प हो उठती है। ध्रुवस्वामिनी ने विवशता भरा जीवन जिया किन्तु मर्यादा पर आंच नहीं आने दी - स्त्रीत्व के सम्मान को बचाने के लिए आत्म-हत्या करने को विवश हो उठी किन्तु नारीत्व के स्वाभिमान की लज्जा नही जाने दी।

राज्यश्री

जय शंकर प्रसाद ने राज्यश्री नाटक के प्राक्कथन में उल्लेख किया है कि—"हर्षवर्धन का बौद्ध धर्म की ओर अधिक झुकाव होने का कारण उनकी भगिनी राज्यश्री का एक बौद्ध दिवाकरमित्र-द्वारा बचाया जाना भी हो सकता है। संभवतः धर्म में वे समन्वयवादी थे; सूर्य, शिव, और बौद्ध तीन देवताओं की प्रतिमा आदरणीय थी। हर्षवर्धन के हृदय में धर्म का सात्विक रूप व्याप्त था, यद्यपि चीनी यात्री ने उसके महायान-प्रेमी होने का अधिक वर्णन किया है।

पुलकेशिन चालुक्य ने उसकी विजय को दक्षिण में रोक दिया था—वह भी उत्तरापथ के साम्राज्य से संतुष्ट था। राज्यश्री एक आदर्श राजकुमारी थी। उसने अपना वैधव्य सात्विकता से बिताया। अनेक अवसरों पर वह हर्ष के लौह हृदय को कोमल बनाने में कृतकार्य हुई। यद्यपि इस धर्म-समन्वय के कारण, चीनी यात्री सुएनच्वांग और सीयूकी के अनुसार, स्वयं हर्षवर्धन के प्राण लेने तक की चेष्टा भी की गई थी; परन्तु वह राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा से कठोरता से बचता ही रहा। कान्यकुब्ज का और प्रयाग का दान-महोत्सव वर्णन करते हुए सुएनच्वांग अघाता नहीं। यह सब प्रेरणा राज्यश्री की थी।"[1]

नाटक के पात्र ऐतिहासिक हैं किन्तु भारतीय-संस्कृति की आदर्शनिष्ठ गरिमामय परम्परा के संदर्भ में सप्राण-स्फूर्ति के प्रणेता हैं। राज्यश्री वैधव्य-जीवन की विषाक्त-स्थितियों को जीते हुए भी सात्विकता को विस्मृत न कर सकी अपितु मानव-हिताय हर्षवर्धन को अनुप्रेरित करती रही। वह अपने भग्न-हृदय की जीवन्त भावनाओं से शासक को धर्म के लिए सदा प्रेरित करती रही। भारत के सम्राट् को दीक्षा देने वाली भारतीय प्रथम महिला रही—जिसने जीवन के मूल को समझा तथा धर्म के यथार्थ स्वरूप को पहचाना। धर्म की अनुप्रेरणा से सम्राट् का जीवन त्यागमय व जन-सेवक के रूप में प्रस्तुत किया। राज्यश्री एवं हर्षवर्धन के अतिरिक्त कतिपय अनेक ऐसे पात्र हैं—जिन्होंने यथार्थ जीवन जीते हुए भी आदर्शनिष्ठ परम्परा को स्थापित किया।

---

१. राज्यश्री प्राक्कथन पृ० सं. ७-८

है और उसे स्वरूप के अनुसार संयम की दीक्षा देने का साहस करती है:—

"तुम संयम करो अपने मन को भिक्षु ! श्लाघा और आकांक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड़ चुके हो ! यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूँ; निश्चित उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ।"[1]

राज्यश्री में धैर्यशक्ति बहुत थी—पतिव्रता स्त्री की तरह वह अपने स्वामी के हृदय को अनुक्षण आश्वस्त करती रहती है। मानसिक-दुर्बलता ही पराजय का कारण है - अतः वह हृदय में दुर्बलता को स्थान देना कभी नहीं स्वीकारती थी। वह भीरू नहीं थी—वीराङ्गना की तरह हर क्षण जीने का उसे अभ्यास था। जब मत्री युद्ध-वृत्तान्त को कहने में सकोच का अभिनय करता है तो वह गौरव के साथ आत्म-बल को अभिव्यक्त करती है:—

"मंत्री ! इसी बात को कहने में आप संकुचित होते थे ! क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा ? आप प्रबन्ध कीजिये, मैं निर्भय हूँ।"[२]

राज्यश्री का मानस नाना-प्राशंकाओं से आपन्न था किन्तु उसने अपने मन को अधीर नहीं होने दिया—अपनी ओर से अपूर्व-आत्मशक्ति का परिचय प्रस्तुत किया। जब देवगुप्त ने उसके साथ विश्वासघात किया और उसकी असहाय विवशताओं का लाभ उठाना चाहा तो—वह विचलित न हुई—अपितु अपने धर्म की रक्षा करते हुए उसे आत्मबोध कराने के लिए प्रताड़ित करने लगी। मालवराज देवगुप्त को स्पष्ट शब्दों में कह दिया:—

"तुम देवगुप्त ? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो, मैं तुम्हारी दासी नहीं हूं। एक निर्लज्ज प्रवञ्चक का इतना साहस !"[3]

राज्यश्री के मानस का उद्वेलन देवगुप्त जैसे नराधम की हत्या को संकल्पशील था। उसे अधिकार-सुख व वैभव की कामना नहीं थी। वह विसंगतियों के कारण वितृष्ण हो उठी थी—किसी भी मूल्य पर अपने स्वत्व को विनष्ट नहीं कर सकती थी। उसे मान मर्यादा का गौरव था—विपन्नावस्थाओं में भी वह अपना परिचय नहीं देती है :—

"जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल

---

१. राज्यश्री—पृ० सं० २५
२. ,, ,, ,, २७
३. राज्यश्री पृ० सं० ४३

कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है। देव! मैं एक विपन्न अनाथा हूं। जीवन का अन्त चाहती हूँ—मृत्यु चाहती हूं।"[1]

देवगुप्त राज्यश्री पर अनेक अत्याचार करता है, उसकी मृदुल-भावनाओं को संत्रस्त करता है किन्तु वह अपने मानस के संकल्प को नहीं कुंठला पाती है—अपितु दृढ़ निश्चय के साथ नारकीय-जीवन जीना ही श्रेयस्कर मानती है। राज्यश्री का सब कुछ विनष्ट हो गया था—पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री के जीवन में शेष रह ही क्या जाता है, वह असहाय-स्थिति में जीते हुए भी पराजित न हो सकी। उसका पीड़ित मानस मानव-कल्याण के लिए संकल्पशील हो गया था। वह हिंसा के मार्ग से अपनी प्रतिशोधात्मक भावना को शान्त नहीं करना चाहती थी :—

"भाई हर्ष! यह रत्नजटित मुकुट तुम्हें भगवान ने इस लिये नहीं दिया कि लाखों सिर को तुम पैरों से ठुकराओ। मेरी शाँति ढूंढ कर तुमने उसे इतनी बड़ी-नर-हत्या में पाया! हर्ष! विचार करो, तुमने मेरे सदृश कितनी स्त्रियों को दुखिया बनाया। तुम्हें क्या हो गया था?"[2]

वह पीड़ित थी, अशान्त थी,—और उसके मानस में भयंकर ज्वाला थी—किन्तु नर-हत्या के माध्यम से वह अपनी भावनाओं को आनन्दित नहीं कर सकती थी। वह आग की ज्वाला शीतल स्रोतस्विनी के रूप में परिवर्तित हो गई थी। समस्त ज्वालाओं की पीड़ा को लोकानुरंजन के हित में समर्पित कर दिया था। विश्व-कल्याण के हित उसने स्वयं को तथा भारत के सम्राट हर्षवर्धन को त्यागमय बना लिया। समस्त अधिकार-सुखों का परित्याग करते हुए उसने अनासक्त भाव अपना लिया—विरक्ति की तीव्र लालसा की पूर्व-भूमिका में लोक-सेवा के भाव संरक्षित हैं :—

"चलो भाई! जहाँ तक बन पड़े लोक-सेवा करके अन्त में हम-दोनों साथ ही काषाय लेंगे।"[3]

राज्यश्री के जीवन में राग, आसक्ति, आक्रोश, वेदना, आत्महत्या, विवशता, असहायता, करुणा, अनासक्ति, एवं लोक-सेवा के हित अनेक क्षण आये। वह संघर्षों से लड़ती हुई अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो गई। राज्यश्री का व्यक्ति समष्टि के स्वरूप में लीन हो गया—समष्टि की पीड़ा को आत्म-पीड़ामय अनुभूत करने लगी। बौद्ध धर्म की दीक्षा पाकर निस्पृह हो गई तथा त्याग की भावना में जीने लगी।

---

१. राज्यश्री – पृ० सं० ६१
२. „ „ ७१
३. „ „ ७२

यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने पर भी वह कट्टर धर्मान्ध नहीं हुई—अपितु सभी धर्मों का स्वागत करते हुए उसने जीवन-महत्व को प्रतिपादित किया। वह क्षमा की ममतामयी मूर्ति बन गई थी—जिसके प्राणों के भीतर करुणा की निर्झरणी बह रही थी :—

"आज हम लोगों ने सर्वस्वदान किया है भाई ! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई।"[1]

यहाँ आकर वह मानवता से भी ऊँची उठ गई—उसका मानस विकृतियों से शून्य हो गया और वह यथार्थ में भारतीय-दर्शन की अनुगामिनी बन चुकी थी। जब त्यागमय जीवन के संदर्भ में हर्षवर्धन ने राज्य का परित्याग करना चाहा तो उसने आदर्श स्थापित करते हुए गौरव के साथ कहा:—

"भाई ! यहां त्याग का प्रश्न नहीं है। यह लोक-सेवा है। ऐसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त की ही उत्तम श्री है।"[2]

राज्यश्री—जिसने वैधव्य जीवन की विषमताओं का अनुभव किया—समाज के द्वारा प्रतारित किये जाने पर भी भारतीय संस्कृति के मूल्यों को नहीं छोड़ा और आदर्शमय जीवन प्रस्तुत किया। राज्यश्री का जीवन सदैव आदर्शनिष्ठ रहा—भारतीय गृहिणी की तरह जीवन-यापन किया, राज्य कुल में रहकर भी आश्रम सा जीवन भोगा। मानवता के हित स्वयं को अर्पित करने वाली त्यागमयी मूर्ति सदा स्पृहणीय रहेगी।

हर्षवर्धन:—

स्थाण्वीश्वर का राजकुमार हर्षवर्धन, प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारत के सिंहासन पर आसीन हुआ। हर्ष के लिए सिंहासन वैभव-सुख का भण्डार नहीं था-अपितु दायित्वों से परिपूर्ण कण्टकों का आसन था। शत्रुओं से संघर्ष बहिन राज्यश्री का संधान, कुल-गौरव का वीर की तरह संरक्षण आदि अनेक प्रश्न उसके समक्ष थे। वह महत्वाकांक्षी अथवा अधिनायकवादी नहीं था—वीर का वीरत्व की तरह सम्मान करना ही उसे रूचि कर था। वह चालुक्य नरेश से युद्ध न कर संधि को सहमत हुआ:—

"मुझे साम्राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है। वसुंधरा के शासन के लिए एक

---

१. राज्यश्री—पृ० सं० ८०
२. ,, ,, ,, ८२

प्रवीर की आवश्यकता होती है, सो इधर दक्षिणापथ में उसका अभाव नहीं। महाराष्ट्र सुशासित वीर-निवास है, मुझे तो उत्तरापथ के द्वार की रक्षा करनी है।"[1]

वह वीर था, उसने सर्वत्र विजय प्राप्त की—किन्तु उसका रण-अभियान साम्राज्य-विस्तार के लिए नहीं था। विद्वान् नरेश हर्ष के मन में करुणा का सागर था—वह भीषण रक्त-पात के लिए कभी सहमत नहीं था। वह तो स्वयं को शासक न मान कर उत्तरापथ का प्रहरी मानता था। न उसे मिथ्या यश की लालसा थी और न विस्तार की कामना ही। चालुक्य-नरेश का वीर की तरह सम्मान करते हुए वह यही कहता है कि मैं मानवता का सेवक हूँ और यही मेरा राजधर्म है—इस कर्तव्य से मैं विमुख नहीं होना चाहता:—

"मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूं। वह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक, एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न चाहिये। यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ—राजधर्म का पालन कर सकूँ; तो कृतकृत्य हो जाऊँगा।"[2]

निरन्तर विजयश्री को प्राप्त करने वाला हर्ष अनासक्त हो उठता है, संसार की निस्सारता को समझ जाता है। मानव अपने मिथ्या—अहं में भ्रमित होता हुआ अधिकार-सुखों के भोग में भटकता रहता है। हर्ष ने अपनी बहिन राज्यश्री के समक्ष जीवन की क्षुद्रता को स्वीकारते हुए व्यक्त किया है:—

"बहिन! इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है! सब गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से—संसार की एक ठोकर से—निस्सार लगने लगा है।"[3]

हर्ष ने राज्य-सुख को प्राप्त करने पर भी मानसिक शान्ति की अनुभूति नहीं प्राप्त की। वह भारतीय संस्कृति और दार्शनिक—विचारधारा से सम्पृक्त रहा—राजा रघु की भाँति सकल भौतिक—सुखों का परित्याग करते हुए मानसिक शान्ति का संधान करने लगा—वह वैराग्य के प्रति आसक्त हो उठा—

चलो पराक्रम से जो सम्पत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है, उसे पात्रों को दे दूँ। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें।"[4]

---

१. राज्यश्री—पृ० सं० ६३
२. ,, ,, ,, ६४
३. ,, ,, ,, ७२
४. ,, ,, ,, ७२

शासक का क्या कर्तव्य है ? इस संदर्भ में हर्ष पूर्णरूपेण कर्मनिष्ठ व्यक्तित्व निकला। शासक होते हुए दीन-हीनजनों के कल्याण के लिए उसने सब कुछ त्याग दिया। मानवता की सेवा को ही सर्वोच्च सुख स्वीकारा ! उसने सभी धर्मों का सम्मान किया किन्तु स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया था। धर्म को वह करुणा-प्रेम और सेवा का साधन मानता था। धर्म के भीतर द्वेष, व विवाद को कभी स्वीकारने को प्रस्तुत नहीं था। धर्म की विद्वेषता पर वह क्रोधित हो उठा था—

"धर्म में भी यह उपद्रव ! राज्यश्री, देखो बहिन ! सब स्थानों पर क्षमा की एक सीमा होती है।—जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।"[1]

राज्यश्री ने अपने भाई को सदा ही मर्यादित रखने की चेष्टा की। उसे क्षमाशीलता, धैर्य, सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। अन्ततोगत्वा हर्ष त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँच गया और क्षमाशीलता का अवतार बन गया—अपने मानस से प्रतिहिंसा एवं क्रोध की भावना का समूल उत्खनन कर दिया। अपने प्राणों को समर्पित करते हुए उसने सहज रूप से कहा—

"क्यों मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न ? मैं आज सबसे अलग हो रहा हूँ—यदि कोई शत्रु मेरा प्राण दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।"[2]

भारतीय उदात्त आदर्शनिष्ठ शासकों की परम्परा में हर्ष का स्थान गरिमामय रहेगा—जिसने शासक का दायित्व मानव-कल्याण के लिए उठाया न कि विस्तार के लिए अथवा आत्म-सुख के लिए अहंशून्य विनीत व्यक्ति की तरह वह भी एक त्यागशील नागरिक बनकर राष्ट्र की सेवा में तत्पर रहा। हर्ष ने कर्तव्य-पथ से अपने चरण कभी विचलित नहीं किये और न अधिकार-सुख के लिए कामना व्यक्त की। वह सरल एवं शुद्ध हृदय वाला विनीत शासक था। उसने यह सिद्ध कर दिया कि प्रजा पर शासन दण्ड-व्यवस्था अथवा रक्त पात से नहीं किया जा सकता अपितु प्रेम व त्यागशीलता के माध्यम से मानव-मन पर अधिकार किया जा सकता है। हर्ष ने शासकों के समक्ष एक नवीन आदर्शनिष्ठ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया—और क्रियान्विति के साथ उसमें साफल्य प्राप्त करके दिखाया। शासन-भार के साथ अनासक्तमय जीवन भी जिया जा सकता है। राजा वही है—जो स्वयं को सेवक मान कर व्यवस्था स्थापित करे तथा विलास के

---

१. राज्यश्री—पृ० सं० ७७
२. „ „ „ ७९

साधनों से विलग रहे—रक्तपात, युद्ध-परम्पराओं से कीर्तिमान स्थापित करने वाले शासक सफल शासक नहीं हो सकते हैं।

विशाख

विशाख नाटक में प्रसादजी ने ऐसे पात्रों का सृजन किया है—जो दायित्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण करते हुए भी नैतिकता से पतित हो जाते हैं और मानसिक-दासता से प्रतिबद्ध वृत्तियों के हाथों में खेलने लग जाते हैं—साथ ही ऐसे पात्रों का सृजन भी हुआ है—जिन्होंने अपने धर्म को व्यापक-दृष्टि से समझा है—तथा कर्तव्य-शील रहकर कर्म क्षेत्र में उतरे हैं—ऐसे पात्रों में स्वामी प्रेमानन्द एवं विशाख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पात्र-विवरण इस प्रकार है:—

पुरुष-पात्र:—

नरदेव: काश्मीर का राजा
महापिङ्गल: राजा का सहचर
सुश्रवा: नागसहोदर
विशाख: ब्राह्मण नागरिक
प्रेमानन्द: सन्यासी
सत्यशील: कानीर बिहार का बौद्ध महन्त

स्त्री-पात्र:—

चन्द्रलेखा: सुश्रवा की कन्या
इरावती: चन्द्रलेखा की बहिन
रमणी: सुश्रवा की बहिन
तरला: महापिंगल की स्त्री
रानी: नरदेव की स्त्री

नाग, भिक्षु, दौवारिक, दासी, सैनिक, प्रहरी इत्यादि।

विशाख:—

विशाख प्रेमानन्द का शिष्य ब्राह्मण नागरिक है—जीवन की लक्ष्य-प्राप्ति प्राप्त करने से पूर्व संसार के कर्म-क्षेत्र में आया है। सांसारिक-सुखों की उपलब्धि भी उसके जीवन के लिए संस्कार है इस संस्कार के पश्चात् ही वह विरक्ति के मार्ग का अनुसरण कर सकता है। विशाख कर्मनिष्ठ, उत्साही, सदाचारी नवयुवक है। वह कर्म क्षेत्र में आकर यौवन को भी लक्ष्य-प्राप्ति का कठोर परीक्षण-मानता है:—

"यौवन सुख के लिए आता है—यह एक भारी भ्रम है। आशामय भावी

सुखों के लिए इसे कठोर कर्मों का संकलन ही कहना होगा।"[1]

मानव-सेवा के हित वह संघर्षशील हो जाता है और कर्मजयी की तरह अपने-आप को लगा देता है। इसी कर्तव्य-भावना को वह अपने आचार्य प्रेमचन्द के समक्ष व्यक्त करते हुए कहता है:—

'गुरुकुल से निकलते ही कर्तव्य सामने मिला। आपकी आज्ञा थी कि सेवा, परोपकार, और दुःखी की सहायता मनुष्य के कर्तव्य हैं।"[2] विशाख ने जीवन में प्रेम को भी स्थान दिया—किन्तु किसी भी क्षण कर्तव्य को उसने विस्मृत नहीं किया—गृहस्थ जीवन मानव के लिए बाधक नहीं प्रेरक है। कर्तव्य-भावना को लेकर ही उसने सत्याश्रम के विरुद्ध संघर्ष किया और इस क्रम में विद्रोही भी बना। विशाख मानवतावादी व्यक्तित्व था—उसने जन-हित के लिए स्वयं को अर्पित किया किन्तु गृहस्थ एवं कर्तव्य की उलझन में घिरे रहने पर ज्ञानामृत की जिज्ञासा को भ्रान्त नहीं होने दिया—अपने विकास के संदर्भ में उसकी भावना है:—

"संसार उन्नति का साथी है, क्या मुझे उससे अलग रहना चाहिये। क्या इससे तुम मेरे प्रणय की कमी समझती हो?"[3]

विशाख स्वाभिमानी ब्राह्मण था—कर्तव्य-पालन के साथ वह चहुँमुखी विकास की स्पर्धा के लिए सचेष्ट था। उसका चिन्तन सुलझा हुआ तथा साफ-सुथरा था। अपने आचार्य की सद्प्रेरणाओं से उसने कर्म क्षेत्र में भी धर्म को स्वीकार किया था। मनुज होकर पशु की तरह जीवन बिताना उसे रुचिकर न था:—

मरण जब दीन जीवन से भला हो,
सहें अपमान क्यों फिर इस तरह हम।
मनुज होकर जिया धिक्कार से जो,
कहेंगे पशु गया बीता उसे हम॥[4]

विशाख कर्मक्षेत्र का छात्र बना और अनेक अनुभवों के पश्चात् आचार्य-चरण के मार्ग की ओर प्रवृत्त हुआ। वह सत्यवादी, कर्मनिष्ठ, परोपकारी, संघर्षशील तथा ज्ञान-पिपासु की तरह पाठकों के समक्ष आया।

प्रेमानन्द

प्रेमानन्द भारतीय सन्यासी है— जो विरक्त हो कर जीवन जी रहा है किन्तु

---

१. विशाख—पृ० सं० १२
२. विशाख पृ० सं० ३४
३. यथोपरि ,, ,, ५५
४. ,, ,, ,, ७५

फिर भी संसार से सम्पृक्त है, अपने लिए नहीं अपितु मानव-कल्याण के लिए। वह सत्याश्रय को समझाते हुए कहता है :—

"मैं शाश्वत संघ का अनुयायी हूँ। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना मेरा कर्तव्य है—तो भी संसारी नियम, जिसमें समाज का सामंजस्य बना रहे—पालनीय है और तुम उससे उपेक्षा दिखलाते हो। क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे ? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे ?"[1]

प्रेमानन्द ने जीवन-सत्य को प्राप्त कर लिया था। आत्म-सुख-दुःख की परिभाषा करते हुए शाश्वत सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया :—

मना आनन्द मत, कोई दुःखी है।
सुखी ससार है तो तू सुखी है।
न कर गर्व औरों को दबाकर
कठिनता से दबाकर तू दुखी है।[2]

प्रेमानन्द ने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था कि भ्रान्त पथिकों को दिशा-बोध दे। जन-कल्याण एवं पीड़ितों के स्वयं को समर्पित कर दिया था। एकान्त में रह कर अनासक्ति दिखाना उसे रुचिकर नहीं था। वह अपने प्रत्येक शिष्य को कर्म-क्षेत्र से संस्कारवान् होने के लिए प्रेरित करता है। विशाख से भी यही कहता है :—

"वैराग्य अनुकरण की वस्तु नहीं हैं।"[3] वैराग्य की उत्पत्ति स्वतः होती है—उसे आरोपित नहीं किया जा सकता है—कर्मक्षेत्र के सफल परीक्षण के पश्चात् ही वैराग्य का मार्ग स्वीकार करना चाहिये :—

"यही कि जब तक शुद्ध बुद्धि का उदय न हो, तब तक स्वार्थ-प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है।"[4] जब तक बुद्धि शुद्ध न हो—तब तक सत्कर्म ही करना चाहिये। कर्म के माध्यम से ही मानव संस्कारवान होता है, उसकी चित्त-शुद्धि होती है। प्रेमानन्द सन्यासी अथवा विचारक ही नहीं था अपितु राष्ट्र-शुभचिन्तक भी था। मानव-शान्ति के लिए प्रतिहिंसात्मक स्थितियों का अवरोध करता है :—

"देश की शान्ति भङ्ग करना और निरपराधों को दुःख देना—इसमें तुम्हें क्या मिलेगा ? देखो, सावधान हो, इस उत्तेजना राक्षसी के पीछे न दौड़ो,—एक

---

१. विशाख पृ० सं० ३५
२. ,, ,, ,, ३६
३. ,, ,, ,, ३५
४. ,, ,, ,, ३७

अपराध के लिए लाखों को दण्ड न दो ! हरी-भरी भूमि के लिए पत्थर वाले बादल न बरसाओ ! अन्यथा पीछे पछताओगे ।"[1]

प्रेमानन्द आदर्शनिष्ठ दार्शनिक था––उसने समाज, राष्ट्र, मानव के हित के लिए अपनी तपस्या को अर्पित किया । उसने यह सिद्ध कर दिया कि वैराग्य आरोपित नहीं किया जा सकता है तृष्णाओं की भोगात्मक-स्थिति के उपरांत विवेक स्वतः ही इस दिशा में व्यक्ति को प्रेरित करता है । मानव-मन में क्रोधजन्य वृत्ति के शान्त होने पर ही व्यक्ति इस ओर प्रवृत्त हो सकता है । अपने शिष्य विशाख को भी प्रतिहिंसा से पृथक् रखना चाहते हैं :––

"विशाख, वत्स ! प्रतिहिंसा पाशवृत्ति है ।"[2]

प्रेमानन्द ने जीवन के यथार्थ को प्रमाणित किया । केवल शास्त्रीय-परम्परा अथवा शास्त्रों के अध्ययन या परम्परागत स्थितियों के अनुसार जीवन-दर्शन को नहीं समझा जा सकता । कर्मक्षेत्र में पदार्पण किये बिना जीवन-दर्शन को समझना कठिन है साथ ही वैराग्य-प्राप्ति के पश्चात् भी सन्यासी कर्म से विमुक्त नहीं हो सकता है । उसका कर्म उसके लिए धर्म बन जाता है, उसे मानव-हित के लिये प्रेरणा-श्लोक रचने होते हैं । विसंगतियों एवं विकृतियों से स्वयं मुक्त रह कर समाज को भी विकृतियों से दूर रखने की कामना करे––तभी लक्ष्य की सार्थकता है ।

कामना

प्रसादजी का कामना नाटक काल्पनिक प्रतीकात्मक शैली में लिखा हुआ है । मानवीय-प्रवृत्तियों का सघर्ष का प्रदर्शन करते हुए मानव को आदर्श-परक मूल्यों पर गतिमान रहने के लिये मार्ग प्रशस्त किया है । सृष्टि के आरम्भ में न शासक था––और न व्यवस्था का क्रम ही । सभी स्वतंत्र रूप से निर्लिप्त भाव से लोभ-शून्य होकर मानवतावादी दृष्टिकोण के साथ जीवन जीते थे––न अपराध की प्रवृत्ति थी––और न अपराधियों के लिए दण्ड-व्यवस्था ही । विवेक के रहने पर भी कामना किस कोटि तक विलास के विभ्रम-शृंग से लुढ़काती है कि मानवीय-नैतिक-पतन का आरम्भ हो जाता है । 'कामना' नाटक में पात्र-रचना इस प्रकार की गई है :––

पुरुष-पात्र

सन्तोष
विनोद
विलास

---

१. विशाख पृ० सं० ७७
२. " " " ६२

विवेक
शान्तिदेव
दम्भ
दुर्वृत्त
क्रूर
वृद्ध, युवा, बालक, नागरिक, सैनिक, आगन्तुक, द्वीपवासी, शिकारी, बन्दी, आदि अन्य सामान्य पात्र ।

स्त्री-पात्र

कामना
लीला
लालसा
करुणा
प्रमदा
बन लक्ष्मी
महत्वाकाँक्षा
माता, बालिका, किशोरी, स्त्रियाँ आदि ।

प्रसादजी ने इस नाटक में वृत्तियों के अनुसार पात्र योजना की है। विवेक पात्र जीवन की मूलभूत समस्या को समझता हुआ दूर खड़ा हो कर वृत्तियों का संघर्ष देखता है। कामना आकाश में व्यापक आकांक्षाओं के साथ विचरण करती है किन्तु अन्ततः पराजित हो कर उसे सन्तोष के साथ ही अपने को सम्पृक्त करना होता है।

एक घूंट—

"एक-घूंट' उपन्यास प्रसादजी का काल्पनिक उपन्यास है—इसके पात्र असन्तोष के साथ तर्कों के माध्यम से अपने आपको उलझाते-सुलझाते रहते हैं। इसके पात्र कोई विशिष्ट छाप अंकित नहीं कर पाते हैं—पात्र विवरण इस प्रकार है:—

पात्र:—

रसाल: भावुक कवि
कुञ्ज: आश्रम का मंत्री
मुकुल: तर्कशील युवक
चँदुला: विदूषक
आनन्द: स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक
झाड़ूवाला: सामान्य-जन

प्रेमलताः मुकुल की बहिन

वनलताः कवि-पत्नी

प्रसादजी ने इन पात्रों का व्यक्तित्व विश्लेषण स्वयं ने इस प्रकार किया है—

कुञ्ज:—

आश्रम का मंत्री। एक सुदक्ष प्रबन्धकारक और उत्साही संचालक। सदा प्रसन्न रहने वाला अधेड़ मनुष्य।

रसाल:—

एक भावुक कवि। प्रकृति से और मनुष्यों से तथा उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिए सामग्री जुटाने में व्यस्त सरल प्राणी।

बनलता:—

रसाल कवि की स्त्री। अपने कवि की भावुकता से असन्तुष्ट। उसकी समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने में व्यस्त रहती है।

मुकुल:—

उत्साही और तर्कशील युवक। कुतुहल से उसका मन उत्सुकता से भरी प्रसन्नता में रहता है।

झाड़ूवाला:—

एक पढ़ा-लिखा किन्तु साधारण स्थिति का मनुष्य। अपनी स्त्री की प्रेरणा से उस आश्रम में रहने लगता है—क्योंकि उस आश्रम में कोई साधारण काम करने वाले को लज्जित होने की आवश्यकता नहीं—सभी कुछ न कुछ करते थे। उसकी स्त्री के हृदय में स्त्री-जनसुलभ लालसायें होती हैं किन्तु पूर्ति का कोई उपाय नहीं।

चन्दुला:—

एक विज्ञापन करने वाला विदूषक।

प्रेमलता:—

मुकुल के दूर के सम्बन्ध की बहिन। एक कुतुहल से भरी कुमारी—उसके मन में प्रेम और जिज्ञासा भरी है।

आनन्द:—

एक स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक घुमक्कड़ और सुन्दर युवक—कई दिनों से आश्रम का अतिथि होकर मुकुल के यहाँ ठहरा है।

---

१. एक घूँट—पृ० सं० ४–५

उपन्यास साहित्य के आदर्श पात्र

तितली

'तितली' ग्राम्य जीवन की पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया समस्या-मूलक सामाजिक उपन्यास है। समाज के उच्च-वर्ग एवं दलित-वर्ग की विभिन्न समस्याओं के संदर्भ में पात्रों के माध्यम से सुधारवादी दृष्टिकोण प्रतिष्ठापित किये गये हैं। उपन्यास में यथार्थ-चित्रण कुशलता के साथ हुआ है—युगबोध के चित्रण में भी लेखक ने सफलता प्राप्त की है। तितली के पात्र अपनी समस्याओं से संत्रस्त होकर निराश नहीं होते हैं, अपितु आस्था के साथ संघर्ष करते हुए जीवन्त प्रतीत होते हैं। वातावरण एवं विकट-परिस्थितियों ने पात्रों के मानस को दुर्बल बनाने की बहुत चेष्टा की किन्तु संकल्प-शील पात्रों ने अपना नैतिक-पतन नहीं होने दिया। अपनी नैतिकता को विश्वास के साथ सुरक्षित रखा और आत्मबल का संचय करते हुए समाज में नये नैतिक मूल्यों की स्थापना की। मधुवन का संघर्षशील जीवन, तितली का आत्मबल एवं अपूर्व सहनशीलता, इन्द्रदेव का अपरिमित त्याग, शैला का समन्वयवादी दृष्टिकोण व जन-सेवा, एवं रामनाथ का आत्मसंकल्प आदि अभिनव आदर्श के सूत्र रचने में सफल हुए हैं। आज हम देखते हैं कि तनिक सी दयनीय स्थिति में व्यक्ति टूटने को विवश हो जाता है और अपने नैतिक-मूल्यों को विश्रृंखल कर बैठता है किन्तु 'तितली' के जीवन्त-पात्र संघर्षों के मध्य कष्टों का भार झेलते हुए भी आत्म-बल को नहीं गंवा सके। 'तितली' उपन्यास के पात्र इस प्रकार हैं:—

पात्र:—

इन्द्रदेव: धामपुर का जमींदार
मधुवन: शेरकोट के जमींदारों का वंशज
रामनाथ: ब्राह्मण, सुधारक
महन्त: मन्दिर का अधिकारी
रामजस: धामपुर का कृषक

श्यामलालः माधुरी का पति
तहसीलदारः धामपुर का व्यवस्थापक
चौबे, वाट्सन, स्मिथ, वीरू आदि अन्य पात्र।
शैलाः इन्द्रदेव की पत्नी
तितलीः मधुवन की पत्नी
अनवरीः डाक्टर
माधुरीः इन्द्रदेव की बहिन
राजकुमारीः मधुवन की बहिन
श्यामदुलारीः इन्द्रदेव की माता
मैनाः नर्तकी
नन्दरानी, मलिया आदि अन्य-पात्र।

रामनाथः—

रामनाथ विद्वान् ब्राह्मण, समाज-सुधारक, स्पष्टवक्ता, दायित्व का सफलता के साथ निर्वहण करने वाला सामान्य वर्गीय सुलभा हुआ पात्र है—जिसमें नैष्ठिकता और भावुकता का अभूतपूर्व सम्मिश्रण है। विद्वान्, ब्राह्मण स्वाभिमानी स्पष्टवक्ता एवं निर्भीक था। अपनी सत्यवादिता के कारण वह वृत्ति से वंचित होकर गाँव में लौट आया और करुण हृदय तथा मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण अपनी सम्पत्ति देवनन्दन की प्रतिष्ठा को बचाने के लिए समर्पित कर दी—किन्तु फिर भी एक बालिका का अनचाहा भार उसे झेलना पड़ा। तितली को अपनी पुत्री की तरह पाला और उसी का जीवन सुखमय बनाना चाहा। तितली के विवाह के सम्बन्ध में राजकुमारी से कहता है:—रुपयों से व्याह नहीं होगा बेटी! व्याह होगा मधुवन से तितली का। तुम इसे स्वीकर कर लो, और जो कुछ होगा—मैं देख लूँगा।

मैं अब बूढ़ा हुआ—तितली को तुम लोगों की स्नेह छाया में दिये बिना मैं कैसे सुख से मर सकूँगा?[१] महर्षि कण्व की तरह तितली का भार रामनाथ ने उठाया—अन्यथा वह दार्शनिक सांसारिक-झंझटों से मुक्त होकर अपनी साधना में लीन रहता—किन्तु कर्तव्य-धर्म का पावनता के साथ निर्वाह किया। रामनाथ ने ग्राम के कृषक बालकों को व्यावहारिक-शिक्षा के साथ जीवन-दर्शन का अध्यापन कराया। रामनाथ को भारतीय-संस्कृति और ज्ञान पर गौरव था—और उसका वह अधिकारी भी था। शैला को देखकर उसके मन में अस्पृश्यता की भावना नहीं उभरी-उसे विधर्मी समझ कर तिरस्कार नहीं किया अपितु उसे अपने सान्निध्य में बिठा कर भारतीय-

---

१. तितली—पृ० सं० ११४

वेदान्त की व्याख्याओं का विवेचन करते हुये जीवन-दर्शन समझाया। वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकारते हुए रामनाथ ने शैला से कहा:—"मैं कहता हूँ कि वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है—जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिक को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है। भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है:—किन्तु उसका रहस्य है समाजवाद की रूढ़ियों से व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना..............................युद्ध का परिणाम मृत्यु है। जीवन से युद्ध का क्या सम्बन्ध, युद्ध तो विच्छेद है और जीवन में शुद्ध सहयोग है।[1] जीवन में शान्ति-साम्राज्य की कामना करने वाला वृद्ध ब्राह्मण दायित्वों के संघर्ष में उलझ कर खिन्न नहीं था—कर्मयोग की साधना करता हुआ भी अनासक्त भाव से जीवन व्यतीत कर रहा था। भारतीय आदर्शनिष्ठ ब्राह्मण का सत्य-प्रतीक रामनाथ निरतिशय स्वाभिमानी और आत्म-संकल्प का धनी था —उसे आर्यावर्त में जन्म प्राप्त करने का अभिमान था।

तितली के विवाह के लिए उसे भी संघर्ष करना पड़ा—राजकुमारी, तहसीलदार, एवं अन्य व्यक्तियों के विरोध करने पर भी उसने अपने आत्म-संकल्प को पूर्ण किया। रामनाथ का व्यक्तित्व सामान्य-स्थितियों से उन्नत उठा हुआ था। उसने शैला को दीक्षा देकर हिन्दुत्व का संस्कार प्रदान किया। वह मानव के विचारों को धर्म की तुला मे तोलने का आदी नहीं था—अपितु उसकी शुद्ध-भावनाओं और उसके संस्कारों से उसकी परीक्षा किया करता था।

रामनाथ के हृदय में करुणा का अथाह सागर लहराता था—जहाँ परोपकार, दायित्व-निर्वहण तथा परिष्कृत-विचारों की तरंगें नृत्य किया करती थीं—वह दृढ़ विश्वास का धनी रहा—अपने मानसिक संकल्प को पूर्ण किये बिना साधना को अधूरी समझता था। निस्वार्थ-भावना से रामनाथ ने अपना कर्तव्य निभाया—और उसी नैतिक पक्ष के लिए अपने जीवन की समस्त आशा और सुखों का हर्ष के साथ परित्याग कर दिया—वह इससे भी संतुष्ट था। स्वयं लेखक ने इस पात्र के संदर्भ में लिखा है:—बाबा रामनाथ धार्मिक जनता के उस विभाग के प्रतिनिधि थे—जो संसार के महत्वपूर्ण कर्मों पर अपनी ही सत्ता, अपना ही दायित्वपूर्ण अधिकार मानती है, और संसार को अपना आभारी समझती है। उनका दृढ़ विश्वास था कि विश्व के अन्धकार में आर्यों ने अपनी ज्ञान-ज्वाला प्रज्वलित की थी।[2]

---

१. तितली—पृ० सं० १३४-१३५
२. " " " १३७

मधुवन

मधुवन शेरकोट का उत्तराधिकारी किन्तु नियति के क्रूर-काल चक्र का शिकार होकर एक सामान्य किसान की तरह ग्राम्य जीवन जीने वाला सरल-हृदय व्यक्तित्व है। अपने वंशजों के दुर्ग को पुनः प्राप्त करने की लालसा उसमें अवश्य विद्यमान है किन्तु उसके अभाव में भी वह उसके प्रति सतृष्ण नहीं है। रामनाथ के सान्निध्य में बैठ कर जीवन-दर्शन की उपादेयता समझता हुआ सुधारवादी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेता है। वह जो कुछ था—उसके पूर्वजों का जो गौरव था—उसके नष्ट होने पर उसे खेद अवश्य है किन्तु अतीत के गौरव पर अहं नहीं। सामाजिक-विसंगतियों के प्रति उसके मानस में आक्रोश है—किन्तु उसे व्यक्त करने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा में है। उसके मानस में स्नेह व सहयोग की प्रबलतम भावना है। वह विदेशी युवती शैला के साथ सहज रूप से सम्पृक्त हो जाता है। अपनी आत्म-वेदना को उसी के समक्ष सहज रूप से व्यक्त करता है: —यह तहसीलदार पहले मेरे यहाँ काम करता था..........................अरे यह बात मैं क्रोध में कह गया मेम साहब! जो समय बीत गया, उसे सोच कर मैं क्या करूँगा। अब तो मैं एक साधारण किसान हूँ। शेरकोट का.........................।"[1] वह अपने को सामान्य कृषक स्वीकारने में आत्म सुख की अनुभूति करता है। वह आचार्य के प्रति पूर्ण श्रद्धानत है—उसकी हर आज्ञा को कर्तव्य के रूप में स्वीकारता है।[2] तितली के साथ विवाह करने के लिये उसकी बहिन राजकुमारी भी विरोध करती है किन्तु वह उस विवाह को कर्तव्य रूप में स्वीकारता हुआ अतीत के सम्बन्धों को ठुकरा देता है।[3] ग्राम में हो रहे अन्याय के प्रति उसके मानस में भयंकर आक्रोश है किन्तु वह विवशताओं के मध्य स्वयं को असहाय अनुभव करता है- अपनी विवशताओं के संदर्भ में वह स्वयं व्यक्त करता है :—इस दरिद्रता का अनिवार्य कुफल लोग समझने लगे हैं। देखते नहीं हो, गाँव में संगठन का काम चलाने के लिए मिस शैला कितना काम कर रही है। सब का सामुहिक रूप से कल्याण होने में बिलम्ब है अवश्य, परन्तु उसे अपने उच्छृंखलताओं से अधिक दूर करने से तो कुछ लाभ नहीं है। मैं कायर हूँ, डरपोक हूँ, मुझे मोह है, यह सब तुम कह रहे हो केवल इसलिये कि मुझे भविष्य के कल्याण में आशा है। मैं धैर्य से उसकी प्रतीक्षा करने का पक्षपाती हूं।"[4]

वह दुस्सहासी कर्तव्यशील युवक के रूप में अपने व्यक्तित्व को निखारता है।

---

१. तितली—पृ० सं० ६४
२. यथोपरि पृ० सं० ६५
३. यथोपरि पृ० सं० १४१
४. " " २४४

मानस में आचार्य रामनाथ की शिक्षाओं का पूर्ण प्रभाव है—वह कर्तव्यच्युत होकर नहीं जी सकता है। गज की आक्रान्त विभीषिका से नर्तकी मैना को बचाकर उसने कर्तव्य का निर्वाह किया था—किन्तु उसे अपवाद मिला—अपमानित होने के क्षण मिले। सभी सम्बन्ध उसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे—किन्तु उसने आत्मबल को नहीं टूटने दिया, अपनी आस्थाओं को दुर्बल नहीं होने दिया—अपितु आत्मविश्वास के साथ जीता रहा।

वह स्वाभिमानी व्यक्तित्व था—उसमें अन्याय के प्रति व्यापार करने की प्रवृत्ति नहीं थी—अत: संघर्ष का जन्म होना स्वाभाविक ही था—वह स्वयं भी इस तथ्य से असहमत नहीं था कि विपन्नावस्था में हर स्थिति और हर सम्बन्ध जटिल हो जाते हैं—अन्याय के साथ संघर्ष करने की स्थिति में था किन्तु प्रतिशोध अथवा प्रतिहिंसा की अग्नि में नहीं जलना चाहता था। परिस्थितियों ने उसके आक्रोश को बहि्न कण दिये और वह धधक उठा—अनजाने में वह क्रोधित हो उठा—और सामान्य सी घटना के कारण वह पलायनवादी बन गया—यहीं आकर वह एक कमजोर मानव के रूप में आता है। मधुवन अपने मानस की कमजोरी को स्वीकारता है—"समूचा जगत् मेरे लिए एक षडयन्त्र रच रहा था। और मूर्ख मैं, एक भावना में पड़कर, एक काल्पनिक महत्व के प्रलोभन में फंस कर, आज इस कष्ट में कदर्यित हो रहा हूँ।"[1] वह समस्त कर्तव्यों को भुलाकर भागता रहता है अपनी विवशताओं के जाल में उलझकर। वह किसी के साथ विश्वासघात नहीं करता है—और न किसी पर अपना अपराध ही आरोपित करना चाहता है। उसने जो कुछ भी किया—वह अपनी बहिन के सतीत्व की रक्षा के लिए किया था। अपनी विवशताओं के साथ संघर्ष करने के लिए किया था। वह स्वाभिमान रहित जीवन जीने के लिए नहीं जन्मा था—किन्तु नियति ने उसे भटका दिया। वह अपने स्वाभिमान एवं कुल गौरव के हित विचारता है:—"तब वह पुरुष है। उसको मान के लिए मर मिटना चाहिये।"[2]

वह कारावास में रहकर अपने विकारों का दमन कर देना चाहता है, अपने अपराधों को स्वीकार करता है। वह स्वयं का आत्मदर्शन करता हुआ निज-नैतिकता का विश्लेषण करता है—और अपने जीवन में इन दुरभिसन्धियों के प्रवेश को दुर्भाग्य की संज्ञा देता है। विपन्नावस्था में भी वह कर्तव्य शून्य नहीं है—उसे अपनी तितली के जीवन का ध्यान आता है—उसके प्रति दायित्व की प्रतीति का अनुभव करता है—इसी क्षण वह अपने मानस के विकारों को भगवान के समक्ष रखते हुए प्रायश्चित्त

---

१. तितली पृ० सं० १०३
२. यथोपरि ,, ,, १०४

को व्यक्त करता है:—"हे भगवन् ! मेरे बहुत से अपराध हैं । मैं तो केवल एक की ही गिनती कर सकता था । सब जैसे साकार रूप धारण करके मेरे सामने उपस्थित हैं । हाँ मुझे प्रमाद हो गया था । मैंने अपने मन को निर्विकार समझ लिया था । यह सब उसी का दण्ड है ।"[1]

वह स्वाभिमानी युवक अपनी वेदना को लिए हुए संसार से कट जाना चाहता है । जिस लक्ष्य को आरम्भ करके वह आगे बढा था—उसी जीवन उद्देश्य की प्रति जिज्ञासु होना चाहता है । मेले में उसके शत्रुओं का जब संहार होता है—तो वह एक ही प्रश्न में उलझ जाता है कि मृत्यु निश्चित है फिर पापों के सृजन के लिए ईश्वर की यह लीला क्यों ? वह अपने-आपसे कहता है:—

"मरते तो सभी हैं, फिर भगवान उन्हें पाप करने के लिए उत्पन्न क्यों करता है ? जो मरने पर भी पाप ही छोड़ जाते हैं ।"[2]

मधुवन को पूर्ण आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता है किन्तु उसे आदर्श शून्य भी नहीं । वह आदर्शों की परम्परा लेकर ही आगे बढ़ा था—एक विवेकशील स्वस्थ्य कृषक की तरह संतोषमय जीवन व्यतीत करता हुआ कर्तव्यनिष्ठ रहना चाहता था—किन्तु विवशताओं ने उसे पलायनवादी बना दिया ।

इन्द्रदेव

इन्द्रदेव का जीवन समृद्धमय होते हुए भी जटिलतम विपन्नताओं से ग्रस्त था । सभी प्रकार से वैभवमय होते हुए भी अभावों से संत्रस्त था । मन में ग्राम्य-जीवन के प्रति सुधारात्मक आन्दोलन के भाव और मानवता के उद्धार का संकल्प था—किन्तु विसंगतियों ने इस तरह उलझा दिया था कि वह स्वयं को अकर्मण्य अनुभव करने लगा था । वह करुणा और प्रेम का प्रतिनिधि तो नहीं किन्तु असमानता और अभावों के प्रति सम्वेदनशील था । विदेश की कुबेर नगरी में दीनता के प्रति कहता है—"इतना अकूत धन विदेशों से लाकर भी क्या इन साहसी उद्योगियों ने अपने देश की दरिद्रता का नाश किया ? अन्य देशों की प्रकृति का रक्त इन लोगों की कितनी प्यास बुझा सका है ?"[3] वह अपनी अतुल सम्पत्ति से दीन-जनों के हृदयों में बसी हुई हीन-भावना को हटाकर उन्हें सुखमय बना देना चाहता था । लंदन की विपन्न बस्ती से उठाकर शैला को प्रश्रय देना—तथा निस्वार्थ भाव से उसके प्रति

---

१. तितली पृ० सं० ३६५
२. " " " ३७६
३. " " " १५

सम्वेदनशील होना उसकी उदात्तता का परिचायक ही है। वह अपने परिवार के सदस्य की तरह उसे अपने देश ले आता है—और उसे विपन्नों की सहायता के लिए प्रेरित करता है। उसका परिवार शैला के प्रति संशयशील है—वह इस स्थिति को संकीर्ण मानता है। उसका मानस शैला के व्यक्तित्व के प्रति किसी प्रकार की आंच नहीं आने देना चाहता है—वह शैला से कहता है—"मैं अब इसलिए चिन्तित हूँ कि अपना और तुम्हारा सम्बन्ध स्पष्ट कर दूँ। यह ओछा अपवाद अधिक सहन नहीं किया जा सकता।"[1]

उसने शैला से प्रणय किया है–मानवीय दृष्टिकोण के साथ। वह संयुक्त कुटुम्ब में जीना चाहता है किन्तु हर्ष और सहयोग की भावना के साथ। उसे सम्पत्ति नहीं मानसिक शान्ति चाहिये—वह षड़यन्त्रों की भूमिका में नहीं जीना चाहता है। वह महत्वाकांक्षी नहीं है, उसे वैभव की प्यास नहीं है और न अधिकार-सुख भोग करने की कामना ही। वह सहज-जीवन जीने के लिए संकल्पशील है, सम्बन्ध भी सहज ही स्वीकारता है, कृत्रिमता के कच्चे धागे में लटके हुए सम्बन्धों के शव से उसे आत्म-ग्लानि होती है।

वह स्वयं को किसी पर आरोपित नहीं करना चाहता है, किसी पर अधिकार नहीं व्यक्त करना चाहता—यहां तक कि अपनी प्रणयिनी शैला पर भी। वह मुक्त चिन्तनशील प्राणी है—किसी के प्रति वह स्पष्ट शिकायत भी नहीं करता—अपनी आत्मवेदना को एकान्त में बैठ कर डायरी के कोरे पृष्ठों में इस प्रकार लिख लेता है—"सब जैसे भीतर २ विद्रोही! मुंह पर कृत्रिमता और उस घड़ी की प्रतीक्षा में ठहरे हैं कि विस्फोट होते ही उछल कर चले जायँ! मेरी बहिन.......... मेरा पतन, मुझी से विरोध, मेरी प्रतिद्वन्द्विता! तब तो हृदय व्यथित हो जाता है.............. और माँ—जैसे उनके दोनों हाथ दो दुर्दान्त व्यक्ति-लूटने वाले-पकड़ कर अपनी ओर खींच रहे हों, द्विविधा में पड़ी हुई, दोनों के लिए प्रसन्नता-दोनों को आशीर्वाद देने के लिए प्रस्तुत!"[2]

"उसे सम्बन्धों से हार्दिक स्नेह है किन्तु सड़ान्ध को सहन नहीं कर सकता है। सम्पूर्ण विकृतियों का कारण सम्पत्ति को मानता है—और इसी लिए वह अपने अधिकार व सम्पत्ति का परित्याग करने की भावना से कहता है:—मेरे परम आदर की वस्तु 'माँ का स्नेह' जिसे पाकर खोया जा सके—वह सम्पत्ति मुझे न चाहिये।"[3]

---

१. तितली—पृ० सं० १०७
२. ,, ,, ,, १५७
३. ,, ,, ,, २८१

इन्द्रदेव का व्यक्तित्व यहाँ आदर्श की कसौटी पर खरा उतरता है। "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"— का महत्व प्रतिपादित होता है। वह सकल वैभव का परित्याग करते हुए अनासक्त हो जाता है। वह क्षणिक-सुख के लिए अपने आप में कृत्रिमता का समावेश नहीं कर सकता है। सिद्धान्तों के बिसर्जन के संदर्भ में शैला से अपनी मनोभावना को प्रकट करता है:—

"संसार के अच्छे से अच्छे नियम और सिद्धान्त बनते और बिगड़ते रहेंगें। मैं सब को प्रसन्न और संतुष्ट रखने के लिए अपने-आप को जकड़ कर रखना नहीं चाहता।"[1]

हम इन्द्रदेव के व्यक्तित्व को आदर्शपरक-मूल्यों की कसौटी पर खरा उतारने के लिए निम्न विन्दुओं का संचय करते हैं:—

शैला की सम्वेदनाओं के प्रति करूणाशील होकर कर्तव्य निभाना।

ग्राम्य जीवन के प्रति सुधारात्मक दृष्टिकोण के साथ जन-कल्याण के निमित्त सम्पत्ति का सदुपयोग एवं शैला के जीवन को प्रेरित करना।

शैला के प्रति आग्रह मुक्त प्रणय, बंधन हीन जीवन की आस्था।

परिवार के विवाद से बचकर मातृत्व के स्नेह को प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति एवं अधिकारों के त्याग की प्रशंसनीय भूमिका।

स्वावलम्बन की वृत्ति के साथ जीवन जीते हुये भौतिक सुखों के लिये संघर्ष से बचाना। अहं का परित्याग, निस्वार्थ-सेवा-भावना के प्रति आत्मजयी इन्द्रदेव आधुनिक युग में जीता हुआ विसंगतियों से विलग रहकर आस्थावान रहा।

शैला

शैला प्रसाद की मानवीय-जगत् में जीने वाली करुणामयी सृष्टि है। प्रसाद ने भारतीय स्त्री-पात्रों को ही भारतीय संस्कृति की उदात्तता का वेश नहीं पहनाया— अपितु पाश्चात्य स्त्रियों के हृदय से वैभवमय विलासिता को समाप्त कर भारतीयता के समरूप लाकर उपस्थित कर दिया। संस्कृति को सीमा में नहीं बांधा जा सकता है—व्यक्ति विशेष अथवा देश विशेष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है। शैला विदेशी युवती ईसाई धर्म की उपासिका जीवन-दर्शन को सम्यक्तया समझने की शक्ति रखने वाली महिला के रूप में उपस्थित हुई।

---

१. तितली—पृ० सं० २९५

शैला ने अपने जीवन को जन-सेवा के लिये अर्पित कर दिया था—वह विलास-मय भौतिकी जगत् से दूर रहकर आत्मशान्ति की तलाश में है—अपनी भावनाओं को स्पष्ट करते हुये कहती है:—

"सुख ! अरे मुझे तो इनके पास जीवन का सच्चा स्वरूप मिलता है, जिसमें ठोस मेहनत, अटूट विश्वास और सन्तोष से भरी शान्ति हंसती-खेलती है। लन्दन की भीड़ से दबी हुई मनुष्यता में मैं ऊब उठी थी और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मैं भी दुःख उठा चुकी हूँ। दुखी के साथ दुखी की सहानुभूति होना स्वाभाविक है।"[1] वह भी कृत्रिमता से दूर रह कर सहज प्राकृतिक-जीवन जीने में विश्वास रखती है। इन्द्रदेव के साथ गाँव में आकर पीड़ित-सहज-सरल मनुष्यों के साथ सम्पृक्त होकर आनन्द का अनुभव करती है। उसने इन्द्रदेव के वैभव से प्रेम नहीं किया अपितु उसके सहज-व्यवहार पर मुग्ध होकर उसकी उदात्तता से प्रणय करती है। वह इन्द्रदेव के प्रति समर्पित है किन्तु उसके—आत्मसुख के मध्य दीवार भी नहीं बनना चाहती है। वह भारतीय संस्कृति के गरिमामय आदर्शों के मध्य घुल जाना चाहती है। वह अपने कारण किसी की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाना चाहती। इन्द्रदेव की जननी से सेवा-भाव के कारण अपनी सहजता को व्यक्त करते हुये कहती है :—

नहीं, मैं इसलिए आज्ञा मांगती थी कि मेरे आने से आपको कष्ट न हो, मुझे अलग कुर्सी पर बिठाया कीजिये, मैं आपको छूऊंगी नहीं।[2] वह पीडिता है, उसे स्नेह प्राप्त करने की लालसा है, वह अपनी सहजता पर आवरण नहीं डालना चाहती है—उसे सभी के समक्ष व्यक्त कर देना चाहती है। भूल को मानवीय सहज प्रवृत्ति स्वीकारते हुये कहती है :—

'माँ जी, मुझसे भूल हो सकती हैं, अपराध नहीं। तब भी आप लोगों की स्नेह छाया में मुझे सुख की अधिक आशा है।"[3] वह तितली के साथ सम्बन्ध बढ़ा कर उसकी सहज-भावनाओं से सम्पृक्त हो जाती है। उसे नागरिक जीवन की विषमताओं का गहन अध्ययन था—अतः उस विषाक्त स्वार्थमय वातावरण में जीने वाले व्यक्तियों से वह दूर ही रहना चाहती थी। उसने मानव-सेवा को ही अपना धर्म बना लिया था यद्यपि वह इन्द्रदेव के सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये अपने-आपको भारतीय-संस्कृति के अनुरूप ढ़ाल लिया था किन्तु परिवार की विकृत-भावनाओं की भी वह उपेक्षा न कर सकी थी। उसके और इन्द्रदेव के सम्बन्धों की विकृति से भी

---

१. तितली पृ० सं० ४८–४६
२. यथोपरि ,, ६२
३. ,, ,, ६३

वह अपरिचित नहीं थी किन्तु उसने अपमान का विषय न मानते हुये इन्द्रदेव से यही कहा था :—

"तुम्हारे संसर्ग से जो मैंने सीखा है, उसका पहला पाठ यही है कि दूसरे मुझको क्या कहते हैं—इस पर इतना ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। पहले मुझे ही अपने विषय में सच्ची जानकारी होनी चाहिये।"[1]

शैला आत्म-दर्शन के पक्ष की समर्थक रही—वह भारतीय सामान्य स्त्री की तरह भीरु अथवा संत्रस्त नहीं थी। उसमें आत्मबल एवं आत्मसंकल्प की उत्कट भावनाओं का समावेश था। वह तो निस्वार्थ प्रेम तथा मानवीय गुणों के प्रति आसक्त थी–उसने इन्द्रदेव व उसके परिवार को संघर्ष की पृष्ठ-भूमि से बचाने के लिए अपने आपको पृथक् कर लिया और अपना समय मानव सेवा तथा अध्यात्म-अध्ययन के निमित्त अर्पित कर दिया। वह मानवीय गुणों से सम्पन्न थी। उसने मधुवन की भावनाओं का सम्मान करते हुए इन्द्रदेव से शेरकोट के भग्नावशेष को सुरक्षित रखने की दृष्टि से कहा :—

"शेरकोट एक पुराने वंश की स्मृति है—उसे मिटा देना ठीक नहीं।"[2] यद्यपि उसकी योजनाओं को मूर्त रूप देने के लिए यह स्थान उपयुक्त था किन्तु अपनी सहृ-दयता का परिचय दिया। अपनी माता की भूमि से अवगत होकर वह कृतज्ञ हो उठी और उस निर्जन-भग्न स्थान का पुनरुद्धार करने के लिए कृत सकल्प हो गई साथ ही आचार्य रामनाथ के निकट बैठकर उसने भारतीय-दर्शन का सम्यक् अध्ययन किया। उसका चिन्तन रूढ़ नहीं था –उसने तुलनात्मक दृष्टि के साथ सत्य को जानने के लिए प्रश्न किया :—

"इन्द्रदेव से अलग रह कर भी उसने अपनी सहज भावना को इस प्रकार व्यक्त किया:—हम लोगों के पश्चिमी जीवन का यह संस्कार है कि व्यक्ति को स्वाव-लम्ब पर खड़े होना चाहिये। तुम्हारे भारतीय हृदय में जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है—परस्पर सहानुभूति की- सहायता की बड़ी आशायें, परम्परागत संस्कृति के कारण बलवती रहती हैं, किन्तु मेरा जीवन कैसा रहा है, उसे तुमसे अधिक कौन जान सकता है? मुझसे काम लो और बदले में कुछ दो।"[3]

वह दया पर कृतज्ञता भरी जिन्दगी न जीकर ईमानदारी के साथ कर्मनिष्ठ जीवन जीना चाहती थी। वह अपनी संस्कृति के अनुसार भिक्षावृत्ति पर नहीं अपितु

---

१. तितली—पृ० सं० १०८
२. ,, ,, १०९
३. ,, ,, १११

श्रम के आधार पर स्वावलम्बन भारी जिन्दगी जीने के लिए कृत संकल्प थी। वह इन्द्रदेव से विलग नहीं और अधिक सम्पृक्त होना चाहती थी:—

"यह स्वांग नहीं है, मैं तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न कर रही हूँ—तुम्हारी संस्कृति का अध्ययन करके।"[१]

वह इन्द्रदेव के यहां से चली गई थी—यहाँ तक कि उसके परिवार से दूर हो गई थी—और उन सभी शंकाओं को नष्ट कर देना चाहती थी—जिनसे विषाक्त वातावरण उत्पन्न हुआ था। इतना होने पर भी वह इन्द्रदेव से दूर न हो सकी थी—उसकी स्थितियों का अध्ययन करती रहती थी। उसकी डायरी के पीड़ित पृष्ठों को पढ़कर उसके मानस की अतल वेदना का स्पर्श कर चुकी थी। उसकी संस्कृति जीवन को संघर्ष मानती थी किन्तु उसने इन्द्रदेव में भारतीय संस्कृति के अनुरूप त्याग और उदासीनता को पाया था। इसी प्रश्न को लेकर उसने जिज्ञासाभाव से एक दिन आचार्य रामनाथ से प्रश्न कर लिया था:—

"हम लोगों के यहाँ जीवन को युद्ध मानते हैं; इसमें कितनी सचाई है। इसके विरुद्ध भारत में उदासीनता और त्याग का महत्व है?"[२]

वह भारतीय संस्कृति और दर्शन के आदर्शपरक सूत्रों से बहुत प्रभावित हुई थी—इसके गरिमामय सूत्रों का उसने चिन्तन करते हुए यथार्थ-सत्य को पहचाना था। जीवन–दर्शन को समझने के पश्चात् वह स्वयं भारतीय-धर्म के प्रति आस्थावान् होते हुए दीक्षा लेने को तत्पर हो उठी थी। उसके धर्म-परिवर्तन को स्वांग अथवा भावावेश नहीं कहा जा सकता है। वह सहज रूप से सत्य को स्वीकारने के लिए प्रस्तुत हुई थी। उसने इन्द्रदेव से धर्म की महत्ता के संदर्भ में कहा था:—

"प्रत्येक जाति में मनुष्य को बाल्यकाल ही में एक धर्म-संघ का सदस्य बना देने की मूर्खतापूर्ण प्रथा चली आ रही है। जब उसमें जिज्ञासा नहीं, प्रेरणा नहीं, तब उसके धर्म-ग्रहण करने का क्या तात्पर्य हो सकता है? मैं आज तक नाम के लिए ईसाई थी। किन्तु धर्म का रूप समझ कर उसे मैं अब ग्रहण करूंगी।"[३]

शैला भावुक एवं संवेदनशील कही जा सकती है, निस्वार्थ-प्रेम एवं कर्तव्यशील कही जा सकती है किन्तु उसमें दृढ़ संकल्प का अभाव था। उसने इन्द्रदेव को गाँव से शहर जाने की स्वतंत्रता प्रदान कर दी—किन्तु उसके सुख-दुःख की भागीदार नहीं बन सकी।

---

१. तितली – पृ० सं० ११२
२. ,, ,, १३४
३. ,, ,, १६३

इन्द्रदेव की माता एवं बहिन की पीडा से वह करुणार्द्र हो उठी थी—और प्रत्येक पल उनके साथ सहयोग देने के लिए कृत संकल्पशील थी—इन्द्रदेव से मिलने पर उसके निस्वार्थ-त्याग से वह मुग्ध भी थी—और यहीं आकर वह अपने मन की कमजोरी को स्वीकार करती है।

तितली की विपन्नावस्था में वह सहयोग प्रदान करना चाहती है किन्तु क्रियान्विति के रूप में उसका किसी प्रकार का सहयोग नहीं कर सकती है।

शैला का जीवन सुधारात्मक-आन्दोलनों में सक्रिय रहा—उसने सरल एवं सहज जीवन का आदर्श स्थापित किया।

तितली

तितली इस उपन्यास की नायिका है,—इस पात्र ने अपनी सहजता और उदात्तता के कारण शैला-जैसे व्यक्तित्व को पराभव की अनुभूति करा देता है। पीड़ा की प्रतीक—सरल हृदया तितली का बाल्यकाल यथार्थ में प्रकृति-प्रेमी और स्वच्छन्द विचरणशील रहा—वह तितली की तरह ही उड़ती रहती थी। जब उसे यह विदित हुआ कि उसके माता-पिता अकाल की क्रूर छाया में समा गये थे—और उसके जीवन का दायित्व स्वामी रामनाथ ने उठाया तो—वेदना एवं कृतज्ञता के भार से मूर्छित हो उठी।[1]

तितली में सहयोग और सेवा की भावना बाल्यकाल से ही थी—शैला को अपने घर लाकर उनका आतिथ्य करना व चौबेजी की सेवा करना—उसकी सहृदयता का प्रतीक है।[2] उसने विपन्नावस्था में भी शैला से प्रतिदान ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया।[3] बाबा रामनाथ का स्नेह पाकर वह कृतज्ञता से भीगी हुई थी। जब रामनाथ ने मधुवन से उसका विवाह किया—तो उसने सहर्ष स्वीकार किया।[4] उसके मानस में स्त्रीत्व की सुरक्षा और विपन्नों की सहायता के लिए बहुत बड़ी भावना थी—अपने पति मधुवन से बाबा रामनाथ की स्मृतियों को दोहराती हुई कहती है—"मैं जानती हूं कि बाबाजी इस समय होते तो क्या करते, और मैं वही कर रही हूं जो करना चाहिये। मलिया अनाथ है। उसकी रक्षा करना अपराध नहीं। तुम कहाँ जा रहे हो?"[5]

---

१. तितली—पृ० सं० ८६
२. ,, पृ० सं० २१
३. ,, पृ० सं० ५४
४. ,, पृ० सं० १३६
५. ,, पृ० सं० १४६

मानवता के हितों की रक्षा के लिए कृत संकल्प थी—उसके लिए वह स्वयं को संघर्षपूर्ण स्थितियों में डाल लेना भी सहर्ष स्वीकार कर लेती थी। अपनी ननद के व्यवहार से वह खिन्न थी।

वह राजकुमारी के प्रति अपने मन में किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं रखती थी—जब वह अपनी ननद से मिली-तो सहज स्वर में कहा—"जीजी! मेरा अपराध क्षमा करोगी।"[१] इससे स्वतः स्पष्ट है कि उसका मानस निर्विकार और सामञ्जस्य पूर्ण था। वह अपने गार्हस्थ्य को सुखमय रचने के लिए कृत संकल्प थी। जब उसका मधुबन मैना के साथ चला जाता है—तो उस समय भी वह टूट नहीं पाती है। अपने मधुबन को विपत्तियो से बचाने के लिए वह बनारस पहुँच जाती है।[२] तितली के समक्ष अपनी वेदना को व्यक्त कर उससे सहयोग चाहती है।[३] इस क्षण भी वह भारतीय स्त्री की तरह समस्त वेदना को पी जाती है—मधुबन-मैना के सम्बन्धों की चर्चा नहीं कर पाती है। वह तितली से सहयोग की कामना लेकर गई थी—जब उसे यह विदित होता है कि 'देव' इन्द्रदेव ही हैं तो वह किसी भी प्रकार की सहायता के बिना वापिस लौट आती है।[४] तितली में स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था। उसने अपनी विपन्नता के लिये किसी से याचना नहीं की—अपितु आत्मबल के माध्यम से संघर्ष करने का निश्चय किया। वह अपनी ननद से अपनी कर्तव्य-भावना को व्यक्त करते हुए कहती है:—

"मैं भी तुम्हारी-सी ही बात सोच कर छुट्टी पा जाती जीजी! पर क्या करूँ? मै वैसा नहीं कर सकती। मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पड़ेगा। और जो कुछ वे छोड़ गये हैं—उसे सम्हालकर उनके सामने रख देना होगा।[५] उसकी विपन्नता में सभी ने उसका साथ छोड़ दिया—किन्तु उसके आत्मबल और विश्वास ने उसका साथ नहीं छोड़ा। असहाय अबला ने सघर्षों की पृष्ठ भूमि पर अपना कर्तव्य नहीं भुलाया—और नैतिक साहस के साथ नियति के क्रूर-थपेड़ों से संघर्ष करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अपनी व्यवस्था को नियोजित करने के लिए वह झुकी नहीं—अपितु स्वावलम्बन के मार्ग पर खड़े होने का निश्चय कर लिया। उसने अपने आत्म-बल का परिचय देते हुए अपनी ननद राजकुमारी से कहा:—

---

१. तितली—पृ० सं० २२५
२. यथोपरि—पृ० सं० २८६
३. ,, ,, ,, २६०
४. ,, ,, ,, ३०१
५

"इसको बेच कर रुपये लाओ जीजी ! लगान का रुपया देकर जो बचे उससे एक दालान यहीं बनवाना होगा । मैं यहाँ पर कन्या पाठशाला बनवाऊँगी ।.......... हम लोगों को इस भीषण संसार से तब तक लड़ना होगा—जब तक वे लौट नहीं आते ।"[1]

उसने परीक्षा की कठिन घड़ियों में अपने आप को लगा दिया । स्त्री-जाति होकर भी क्रूरताओं के हाथ वह पराजित नहीं हो सकी—उसने अपने नैतिक-मूल्यों का विघटन नहीं किया—अपितु कर्म के क्षेत्र में सफलता के साथ श्रमदान करने लगी । अपने हृदय की दुर्बल भावनाओं को स्वाध्याय में व्यस्त कर दिया—और विश्वास के साथ अपने मधुवन क आगमन की प्रतीक्षा करने लगी । वह अपने मधुवन के प्रति सदा विश्वस्त रही । उसके संदर्भ में नाना-चर्चाओं के उपरांत भी उसने शैला से सहज शब्दो में कहते हुये अपने विश्वास को दोहराया: —

"वह डाकू, हत्यारा और चोर था—या नहीं—सो तो मैं कह नहीं सकती—क्योंकि चौबीसों घंटों मैं उसके साथ रही ।"[2] विश्वास की विश्रृंखल कडियों को जोड़ते हुए उसने कठिनतम परीक्षा दी और समाज के समक्ष आदर्श उपस्थित कर दिया कि अबला भी विपन्नावस्था में बिना किसी के सहयोग से स्वाभिमान के साथ जीवन जी सकती है । उसे अपने नैतिक-मूल्यों के विघटन करने की आवश्यकता नहीं । वह अपने स्वार्थ और सुख के लिए किसी का सहयोग नहीं चाहती थी—अपने दुःख में किसी को भागीदार नहीं बनाना चाहती थी । शैला के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने अपने गौरवमय स्वाभिमान की रक्षा करते हुए कहा था मैंने यही समझा कि मुझे दूसरों के महत्व प्रदर्शन के सामने अपनी लघुता न दिखानी चाहिये । मैं भाग्य के विधान से पीसी जा रही हूं । फिर उसमें तुमको, तुम्हारे सुख को घसीट कर क्यों अपने दुःख का दृश्य देखने के लिए बाध्य करूँ ? मुझे अपनी शक्तियों पर अवलम्ब कर के भयानक संसार से लड़ना अच्छा लगा । जितनी सुविधा उसने दी है, उसी की सीमा में मैं लड़ूँगी अपने अस्तित्व के लिए ।"[3]

वाट्सन एवं शैला की सुधारवादी योजना के लिए उसने सर्व प्रथम सहयोग देकर शैला के अहं को विखण्डित कर दिया था—वह रचनात्मक कार्यों में विश्वास करती थी किन्तु केवल सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं अपितु क्रियान्विति के साथ । विपन्नावस्था में भी उसने अपने कर्तव्य को विस्मृत नहीं किया—अपितु जन-कल्याण

---

१. तितली पृ० सं० ३१०
२. ,, ,, ३३६
३. ,, ,, ३३७

की भावना से समादृत रही—अपने परिवार में पल रही तीन कन्याओं के संदर्भ में उसने कहा था—"संसार भर में अछूत ! समाज की निर्दय महत्ता के काल्पनिक दम्भ का निदर्शन ! छिपा कर उत्पन्न किये जाने योग्य सृष्टि के बहुमूल्य प्राणी, जिन्हें उनकी माताएं भी छूने में पाप समझती हैं ! व्यभिचार की संतान !"[1]

तितली ने अपने विद्यालय के लिए दिये जा रहे आर्थिक—सहयोग भी अस्वीकार कर दिये-उसने कभी किसी का सहयोग स्वीकार नहीं किया। अपने पुत्र मोहन के संशयशील प्रश्नों के संदर्भ में वह अवश्य विखण्डित होने लगी थी-किन्तु वहां भी उसने अपनी आत्मशक्ति का परिचय देकर अपने आदर्श मूल्यों की स्थापना की।

कंकाल—

प्रसादजी का साहित्य आदर्शनिष्ठ रहा है—उनके पात्र उदात्त-चरित्र और आदर्शवाद की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले सिद्ध हुए हैं—जो पात्र अनुदात्त-भावना को लेकर आये—वे अन्त में पश्चात्ताप की अग्नि में तपस्या करते हुए आदर्शमुखोन्वादी बन गये, किन्तु कंकाल एक ऐसा उपन्यास है—जिसके पात्र यथार्थ-जीवन जीने के आदी हैं—जिनके जीवन में आदर्श नाम का कोई मूल्य नहीं है—सभी अपने स्वार्थमय वातावरण को लेकर एक-दूसरे के साथ प्रतारणा करने में अभ्यस्त हैं। यद्यपि कंकाल के पात्र आदर्शवाद की बात स्वीकरते हैं, सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं और प्रदर्शन भी कौशल के साथ प्रस्तुत करते हैं—ठीक वैसे ही—जैसे किसी ककाल की नग्न देह पर श्वेत वस्त्र ड़ालकर उसके सौंदर्य को बढ़ाया जावे। हां, कुछ पात्र ऐसे भी हैं—जो आदर्शवाद की भूमिका में जीना चाहते हैं किन्तु उनकी विवशतायें आत्म-संकल्प को विखण्डित कर देती हैं। कंकाल के पात्र मध्यम वर्ग के हैं—साधु-संत से लेकर गृहस्थ जीवन जीने तक सभी धर्म और सिद्धान्तों का इसमें व्यापक प्रचार हुआ है किन्तु सामान्य-वर्ग के साथ प्रतारणा ही होती है। प्रसाद के स्त्री पात्र सदैव आदर्शनिष्ठ रहे हैं किन्तु इस उपन्यास के संदर्भ में मंजुलता ने उल्लेख किया है—"मध्यवर्ग की दृष्टि से स्त्री पात्रों में किशोरी, नन्दी, घंटी, सरला, लतिका, चन्दा और तारा के चरित्र विशेष महत्वपूर्ण हैं। स्त्री-पात्रों में उच्च मध्यवर्ग, मध्य-मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग तीनों ही श्रेणियों की स्त्रियां हैं। सभी स्त्री-पात्रों को एक ही वर्ग में रख पाना सम्भव नहीं है क्योंकि कहीं परिस्थितिवश ये स्त्री-पात्र निम्नवर्ग की श्रेणी में आ गए हैं तो कहीं कहीं उच्चवर्ग की श्रेणी में, परन्तु अधिकतर इनका सम्बन्ध मध्यवर्ग से ही है। "कंकाल" के स्त्री-पात्र समाज की कुलीनता का उपहास उड़ाते हैं—क्योंकि इन सभी स्त्री-पात्रों को समाज की कुलीनता का पुरस्कार घृणा और असामाजिकता में

---

१. तितली पृ० सं० ३४०

मिलता है। 'कंकाल' का कोई भी नारी पात्र ऐसा नहीं है जिसे सुखी सम्पन्न और पूर्ण कहा जा सके।"[1]

पुरुष-पात्रों में विजय—एक ऐसा पात्र है—जो अपने सिद्धान्तों की सुरक्षा करने में सफल सिद्ध हुआ है। अपनी भावना के विपरीत उसने कभी किसी मान्यता को स्वीकर नहीं किया अपितु विद्रोही बनकर यथार्थवाद के खोखले चित्र उपस्थित कर दिये—इसी संदर्भ में वह अन्ततः त्यागी बन गया। जहां तक अन्य पात्रों का प्रश्न है—उनमें वृन्दावन के गोस्वामी कृष्णशरण—अपनी मर्यादाओं को संरक्षित करने में नैतिक-समर्थन को प्राप्त कर सके हैं—मानवता की हृदय से सेवा करना, पीडितों की अन्तश्चेतनाओं को आस्थावान बनाने में दिशाबोध सा कार्य किया है। मंगलदेव का प्रारम्भिक व्यक्तित्व नितान्त आदर्शवादी रहा—और इसी पात्र से यह अपेक्षा की जाती रही कि प्रसादजी के मूल उद्देश्य की पूर्ति में यह पात्र सर्वाधिक योगदान दे सकेगा—किन्तु असफलता ही हाथ लग पाती है। कुछ लोग—उसकी मानसिक विवश-ताओं के कारण उसे बचाने का प्रयत्न कर सकते हैं किन्तु वह उदात्त पात्र सिद्ध नहीं हो सकता। स्त्री-पात्रों में यमुना ने वह भूमि का निभाई—जिसकी उससे आशा की जा सकती है। कंकाल का पात्र-विवरण इस प्रकार है:—

पात्र

श्रीचन्द्र	अमृतसर का धनाढ्य व्यापारी
किशोरी	श्रीचन्द्र की धर्मपत्नी
रञ्जन (देव निरञ्जन)	ब्रह्मचारी एवं किशोरी का बाल्य-प्रेमी
रामा	अनाथ ब्राह्मणी
तारा (यमुना)	रामा एवं देवनिरञ्जन की पुत्री
मंगलदेव	सरला का पुत्र
वीरेन्द्र	मंगल देव का मित्र
वेदस्वरूप	आर्यसमाजी
सुभद्रा	"
विजयचन्द्र	किशोरी का पुत्र
सरला	मंगलदेव की माता
बाथम	ईसाई धर्म-प्रचारक
घण्टी	बाल विधवा, नन्दो की पुत्री
गोस्वामी कृष्णशरण	वृन्दावन के संत

1. हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग—पृ० सं० १२०

गाला	मिरजा जमाल की पुत्री
बदन	गूजर-डाकू
मिरजा जमाल	नवाब
सोमदेव	नवाब का आश्रय प्राप्त ब्राह्मण कवि
शबनम	रहमत की पुत्री
रहमत	—
बुधुआ	—
मोहन	यमुना का पुत्र
रामदेव	—
नन्दो आदि अन्य पात्र	

मंगलदेव:—

मंगल सरला का पुत्र है किन्तु जीवन भर वह अपने-आपको अनाथ समझता रहा। मंगल स्वाध्याय करके भारतीय-दर्शन के रहस्य को हृदयंगम कर लेना चाहता है किन्तु परिस्थितियों की विवशता ने उसे लक्ष्य से विशृंखल कर दिया। वह सेवा-भावी, परोपकार में रत रहने वाला सरल-हृदय, उदार दृष्टिकोण वाला व्यक्तित्व है। सादगीपूर्ण जीवन जीता हुआ अपने व्यक्तित्व में कहीं भी विशृंखलता का समावेश नहीं आने देना चाहता है। उसका मित्र वीरेन्द्र उसे नगर की सुन्दरी के यहाँ ले जाना चाहता है तो वह सहज स्वर में कहता है—"यह कैसा कुतुहल ! छीः !"[1] वह अपने विचारों में भी विकृति को स्थान नहीं देना चाहता है किन्तु अपनी भावुकता के कारण उस घर तक जाता है—और वहाँ उसका कर्तव्य-धर्म उसे जीवन-आस्थाओं के प्रति सजग करता है। वह उस युवती के उद्धार के लिए अपने सिद्धान्तों का विसर्जन कर जीवन की भावी योजनाओं को भुला देता है। जब उसका मित्र उस पर आरोप लगाता है तो वह यही कह पाता है:—"आश्चर्य काहे का है, यही तो काजल की कोठरी है।"[2] तारा के उद्धार के लिए वह क्या नहीं करता ?

उसे जीवन के बीभत्स पक्ष से मुक्त करा कर उसके परिवार तक पहुँचाने का प्रयास करता है—और जब तारा का पिता उसे स्वीकार करने को सहमत नहीं होता है तो उसका सरल हृदय आस्थाओं को व्यक्त करता हुआ कहता है:—

"महाशय, आपका क्रोध व्यर्थ है। यह स्त्री कुचक्रियों के फेर में पड़ गई थी,

---

१. कंकाल—पृ० सं० २७

" " " ३१

परन्तु इसकी पवित्रता में कोई अन्तर नहीं पड़ा, बड़ी कठिनता से इसका उद्धार करके मैं इसे आप ही के पास पहुँचाने के लिए जाता था।"[1] उसने एक हिन्दू-बालिका का उद्धार करके अपने आदर्श को प्रतिष्ठापित किया था। वह कर्तव्यशील युवक-विपदाओं से संत्रस्त होने वाला नहीं था। जब तारा को परिवार ने नहीं स्वीकारा तो—वह विवश हो उठा किन्तु उन परीक्षण की घड़ियों में उसने साहस और संकल्प के साथ काम लिया—अपने उद्देश्य से भ्रान्त होकर मानवीय-दृष्टिकोण अपनाते हुए तारा का दायित्व उठाया। वह हिन्दू-दर्शन के संदर्भ में आर्य-समाज के प्रचारक से अपनी तीव्र-भावनाओं को व्यक्त करते हुए कहता है:—"परन्तु संसार का अभाव-आवश्यकताओं को देखकर यह कहना पड़ता है कि कर्मवाद का सृजन करके हिन्दू-जाति ने अपने लिए असन्तोष और दौड़-धूप, आशा और कर्तव्य का फन्दा बना लिया है।"[2]

जब तारा को किसी प्रकार का प्रश्रय नहीं मिला तो–उसने उसे स्वीकारने का दृढ़-संकल्प कर लिया था। वह कभी नहीं चाहता था कि जिसका उसने उद्धार किया वह पुनः उसी दुष्चक्र में फँस कर अनैतिक जीवन जीने लगे। मंगलदेव ने तारा को आश्वस्त करते हुए कहा था—"न घबराओ तारा! भगवान सब के सहायक हैं।"[3]

मंगलदेव आस्तीक था किन्तु धर्म-भीरु नहीं। उसने तारा को स्वीकार लिया–उसकी मृदुल भावनाओं के साथ खेलने लगा—संयम के बाँध टूटने लगे। वह उदात्त-प्रणयी की तरह तारा की हर आकांक्षा की पूर्ति करने लगा—और हर अभाव के प्रति आग्रहशील होता हुआ उसे दूर करने लगा। वह स्वतंत्र जीवन जीने वाला व्यक्तित्व समाज की परम्पराओं के अनुसार बंधनशील हो जाना चाहता था और उसने तारा से कहा था: – हम दोनों इसीलिए उत्पन्न हुये हैं, आज मैं उचित समझता हूँ कि हम लोग समाज के प्रचलित नियमों में आबद्ध हो जांय, यद्यपि मेरी दृष्टि में सत्य प्रेम के सामने उसका कुछ मूल्य नही है।"[4] वह जीवन में मुक्त-विचारक था किन्तु शाश्वत-परम्पराओं को विश्रृंखल उनके मूल्यों में विघटन नहीं करना चाहता था—किन्तु उसमें निर्णय लेने की शक्ति का अभाव था—अति भावुक होने के कारण वह दूरदर्शिता की ओर नहीं जा पाता था—और यही कारण रहा कि तारा के साथ विवाह-प्रसंग ने उसे चौंका दिया:—"मैं आज ब्याह करके कई कुकर्मों से

---

१. कंकाल पृ० सं० ४४
२. ,, ,, ,, ४९
३. ,, ,, ,, ५५
४. ,, ,, ,, ६१

कलुषित संतान का पिता कहलाऊँगा।"[१] यहाँ उसके सैद्धान्तिक-मूल्यों में अनायास ही आत्म बल की कमी आ गई और कर्तव्यशील युवक पलायनवादी हो गया। तारा को अकेला छोड़ कर—वह कलुषित न होने की कामना से विमुख हो गया—अपनी एक त्रुटि के कारण पाठकों की सहानुभूति खो बैठा। वह अपने-आप को स्वाध्याय में पुनः सम्पृक्त कर लेना चाहता है, अपनी आर्थिक-चिन्ताओं का भार भी अन्य किसी पर नहीं डाल देना चाहता है। जब विजय उसे साग्रह अपने यहां रखता है तो उसकी मनस्विता यही कहती है :—"तुम स्वतंत्र नहीं हो विजय! क्षणिक उमंग में आकर हमें वह काम नहीं करना चाहिये—जिससे जीवन के कुछ ही लगातार दिनों के पिरोये जाने की संभावना हो, क्योंकि उमंग की उठान नीचे आया करती हैं।"[२]

मंगलदेव अपने धर्म और उसकी संस्थाओं के प्रति पूर्ण आस्था रखने वाला उत्साही युवक है। वह उन संस्थाओ के विकारजन्य स्वरूपों को हटाकर मौलिक—स्वरूप के प्रति विशेष रूप से आग्रहशील है। मर्यादाओ की अनुपालना ही जीवन-धर्म मानता है। आडम्बर में लिप्त धार्मिक-संस्थाओं की जटिलता को स्वीकारता हुआ भी विजय से यही कहता है :—"विजय! प्रत्येक संस्थाओं का कुछ उद्देश्य है और इसे सफल करने के लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। नियम प्रायः निषेधात्मक हैं, क्योंकि मानव अपने को सब कुछ करने का अधिकारी समझता है। कुछ थोड़े से सुकर्म है और पाप अधिक हैं।[३]" वह भी समाज में सुधार चाहता है, हिन्दू-दर्शन में व्यापक-स्वरूप देखने का इच्छुक हैं किन्तु उसके लिए विद्रोही बन जाना उसे स्वीकार नहीं है, वह उसी में रह कर संशोधन की प्रवृत्ति को जन्म देना चाहता है, मूल्यों को मौलिक रूप में देखने के लिए संस्कारवान् रचना चाहता है किन्तु उनकी परिसमाप्ति नहीं। आर्य-समाज के सुधारवाद से वह असहमत नहीं है किन्तु उसकी मान्यता है कि :—आर्य-समाज कुछ खण्डनात्मक है, और मैं प्राचीन धर्म की सीमा के भीतर ही सुधार का पक्षपाती हूँ।"[४] तारा के प्रति उसने जो दुर्व्यवहार किया—उससे वह स्वयं सुखी नहीं है, उसके मन में प्रायश्चित की अग्नि निरन्तर जलती रही—जब यमुना के रूप में उसने तारा को देखा तो—वह उसके समक्ष अपनी वेदना को प्रस्तुत कर देना चाहता था—किन्तु स्थितियों को यह स्वीकार नहीं था। उसके प्रेम की कसौटी यह सिद्ध करती है कि वह यमुना के जीवन में किसी अन्य को नहीं देखना चाहता था—विजय तक को पिशाच की संज्ञा दे बैठा था। काल-क्रम से वह

---

१. कंकाल पृ० सं० ६६
२. ,, ,, ६२
३. ,, ,, ६६
४. ,, ,, १२६

सेवा भाव को अपनाता हुआ भी यमुना से बहुत दूर चला गया था— फिर भी वह यमुना को उसी सहज रूप में स्वीकारता रहा । उसने यमुना के जीवन में किसी प्रकार की विकृति को नहीं देखा । वह गाला से उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कहता हैः—

"आश्रम की एक स्त्री पर हत्या का भयानक अभियोग था,.................वह हत्या उसने नहीं की थी—वतुत: एक दूसरे पुरुष ने की । पर वह स्त्री उसे बचाना चाहती है ।"[१] गाला उसके हृदय में दृढ़ता के साथ यह जमा देना चाहती है कि यमुना विजय के लिए उत्सर्ग कर रही है—इसका आधार विजय के प्रति प्रेम-भावना है । मंगल यहाँ भी अपने आत्म-बल को नहीं ठुकरा पाता—सभी संशय उखाड़ फेंकना चाहता है—किसी भी स्थिति में यमुना के प्रति विकृति को सहन करने को प्रस्तुत नहीं होता । गाला से स्पष्ट शब्दों में अपनी पीड़ा को व्यक्त कर देता है :—सब स्त्रियाँ एक धातु की नहीं । देखो मैं जहाँ तक उसके सम्बन्ध में जानता हूँ—तुम्हें सुनाता हूँ--वह एक निश्छल प्रेम पर विश्वास रखती थी और प्राकृतिक नियम से आवश्यक था कि एक युवती किसी भी युवक पर विश्वास करे । परन्तु वह अभागा युवक विश्वास का पात्र नहीं था ।............... मैं तो समझता हूँ कि वह हताश होकर जीवन दे रही है । उसका कारण प्रेम नहीं था ।"[२] वह चाहता है कि यमुना निर्दोष सिद्ध होने पर उससे अपनी समस्त भावना को व्यक्त कर देगी किन्तु गाला की, सवेदनशील भावनायें उसे बहा ले जाती हैं—और वह एक अध्याय को भुला कर नवीन अध्याय का पारायण करने को तत्पर हो जाता है । आलोचक यहाँ मंगल के व्यक्तित्व के प्रति पुनः संशय करते हैं, किन्तु उसने विजय और यमुना के लिए त्याग किया हो तो !—वह उन दोनों के जीवन से सम्भवत: इसी बहाने हट जाना चाहता हो !—मंगल देव समाज के लिए सदा समर्पित रहा—विवाह के पश्चात् भी अपनी आस्थाओं को व्यक्त करता हुआ कहता है—संसार में जितने हलचल हैं, आन्दोलन हैं, वे सब मानवता की पुकार हैं । जननी अपने झगड़ालू कुटुम्ब में मेल कराने के लिए बुला रही है । उसके लिए हमें प्रस्तुत होना है ।"

मंगलदेव ने भारतीय-संस्कृति और दर्शन के संरक्षण के वृन्दावन में विद्यालय की स्थापना कर ब्रह्मचारियों को दीक्षित करना चाहा,—अन्य स्थानों पर पाठशालायें स्थापित कर निर्धन अशिक्षित छात्रों को शिक्षित करना चाहा । धर्म-संघ की स्थापना

---

१. कंकाल पृ० सं० ३०१
२. ,, ,, ३०३
३. ,, ,, ३५१

को आड़म्बर कहा जा सकता है किन्तु उसका उद्देश्य आदर्शनिष्ठ था। वह समाज की अनाथ नारियों के लिए सेवा करना चाहता था किन्तु स्वयं तारा को नहीं स्वीकार कर सका—यह उसके मन की भीरुता थी। कंकाल का यह पात्र आदर्शवादी पात्रों के अनुरूप तो नहीं रहा किन्तु आदर्शमुखोन्वादी पात्र अवश्य सिद्ध हुआ।

विजय

विजय इस उपन्यास का सशक्त पात्र है—जो जीवन भर यथार्थवादी दृष्टिकोण स्वीकारता हुआ भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुसार अंत में अनासक्त हो गया—और सहज में ही पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करता हुआ आदर्श-पात्र बन गया। उसने अपने जीवन में अतुलित वैभव पाया था—और अभावों से दूर रह कर अपने-आप को कृत्रिम-जीवन से दूर रखना चाहा। उसे नास्तिक कहा गया—किन्तु उसे धर्म के प्रति आस्था न हो—ऐसी बात नहीं थी। वह हिन्दू-धर्म की जटिलताओं और अन्ध-परम्पराओं की विसंगतियों से क्षुब्ध था। वह मानवीय-धर्म को स्वीकारता था। दीन-हीन एवं दलित व्यक्तियों के प्रति उसके मन में पूर्ण सहानुभूति थी। वह आड़म्बरमय वातावरण से दूर रह कर देश के उस समाज की दयनीय दशा के प्रति कारुणिक था–जो पददलित वर्ग था। वह निरंजनदेव के आड़म्बरपूर्ण कृत्यों के प्रति मंगलदेव से कहता है :—"यही तो इस पुण्य धर्म का दृश्य है! क्यों मंगल! क्या और भी किसी देश में इस प्रकार का धर्म-संचय होता है? जिन्हें आवश्यकता नहीं उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाय............ वे मनुष्य, कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिये लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।"[1] वह धर्म को अवश्य स्वीकारता है किन्तु उन अतृप्त और सुश्रित मानवों की सेवा करने का। उसके मन में हिन्दू धर्म की नियामक संस्थाओं के प्रति आक्रोशशीलता का होना स्वाभाविक था—वह हिन्दू धर्म के प्रति विद्रोही हो गया था। उसके मानस में ईसाई धर्म के प्रति विश्वास हो चला था—उसका कारण यह नहीं था कि वह मुक्त जीवन होकर सभी नियमों को विशृंखल कर देना चाहता हो! अपितु कृत्रिम-बंधनों की सीमा से बाहर निकल कर सहज जीवन जीता हुआ मानवीय-दृष्टिकोण अपनाना चाहता था। वह अपने राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों की तुलना में पिछड़ा हुआ नहीं देखना चाहता—उसके पिछड़ेपन का कारण भारतीय रूढ़िग्रस्त धार्मिक आडम्बरपूर्ण मान्यताओं को मान्यता है। उसके मन में करुणा का स्नेहशील निर्झर था—सहयोग का साम्राज्य था। यमुना का देव-मंदिर में प्रवेश प्राप्त कर लेने से देवनिरंजन का क्रोधरूप देख कर विद्रोही हो उठता है—और उन समस्त रूढ़िग्रस्त मान्यताओं को एक क्षण में विखण्डित कर देने की भावना

---

१. कंकाल पृ० सं० ८७

से अपना आक्रोश व्यक्त करता है— "क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है ? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची ....उसकी संस्कृति बिड़म्बना, उसकी संस्था सारहीन, और राष्ट्र बौद्धों के शून्य के सदृश बन गई है; जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनीन भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं तब आपके इन खिलौनों से भला उसकी संतुष्टि होगी ।"[1]

वह पूर्णतः यथार्थवादी है, उसका चिन्तन सुलझा हुआ है, वह अधर्मी नहीं है अपितु धर्म की सम-सामयिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहता है। देव-प्रतिमा की अपेक्षा मानव की पूजन करना चाहता है और इसी दृष्टि से मंगल को कहता है:—"जो हमारे दान के अधिकारी हैं, धर्म के ठेकेदार हैं, उन्हें इसीलिए तो समाज देता है कि वे उसका सदुपयोग करें; परन्तु वे मन्दिरों में, मठों में बैठे मौज उड़ाते हैं:—

उन्हें क्या चिंता समाज के बच्चे भूखे, नंगे और अशिक्षित हैं ।"[2] विजय साहसिक है, वह समाज के पददलित वर्ग के उद्धार के लिये कृत-संकल्प है, अपने समस्त वैभव और जीवन को तदर्थ समर्पित कर देना चाहता है किन्तु पारिवारिक स्थितियाँ इन जटिलताओं से बाहर निकलने के लिये बाधक है तो—वह उन सभी को तोड़ कर एकाकी हो जाना चाहता है, यहाँ तक कि परिवार की संस्था से भी अपने-आप को तोड़ लेना चाहता है। उस हिन्दू-समाज से विरक्त हो जाना चाहता है—जहाँ कृत्रिमता है—वह अपनी आत्मभावना को व्यक्त करता है:—मैं बहुत जल्द ईसाई होने वाला हूँ, उस समाज में इसका व्यवहार नहीं। मुझे यह दम्भपूर्ण धर्म बोझ के समान दबाये है। अपनी आत्मा के विरूद्ध रहने के लिये मैं वाध्य किया जा रहा हूँ ।"[3] वह पददलित यमुना की विवशताओं के प्रति संवेदनशील है, उसकी ओर आकृष्ट है, उसकी मृदुल-भावनाओं का समुपासक है, उसी ने उसको प्रश्रय दिया, उसके प्रति कर्तव्यशील भावना का निर्वहण किया किन्तु उसके प्रति अधिकार की भावना नहीं है। जब यमुना स्वयं को दासी कहती है तो वह अपने हृदय की अन्तर्निहित मनोभावना को भावनावेश में व्यक्त करता हुआ उससे कहता है:—यमुना ! तुम दासी हो ? कोई मेरा हृदय खोल कर पूछ देखे—तुम मेरी आराध्य देवी हो—सर्वस्व हो !"[4] वह यमुना को हृदय से चाहता है, उसकी समस्त पीड़ा को अपने आप में

---

१. कंकाल पृ० सं० ९७
२. ,, ,, १३२
३. ,, ,, १३८
४. ,, ,, १३८

सिमेट लेना चाहता है किन्तु उस भग्न-हृदय को कहीं से भी सम्वेदना नहीं मिल पाती है। यमुना उस उपासक की अभ्यर्थना को नहीं स्वीकार करती है तो वह असंतुलित हो उठता है। यह तो हम कह ही चुके हैं कि विजय आरम्भ से ही मुक्त-विचारक और विद्रोही प्रकृति का व्यक्तित्व रहा है—वह सभी संस्थाओं से असम्बद्ध होकर अपनी ज्वाला में जलने लगता है और घण्टी से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—यह उसके नैतिक पक्ष की कमजोरी कही जा सकती है किन्तु यहाँ भी वह क्षणिक सुख का भोगी नहीं है—अपितु सिद्धान्तों के संरक्षण में तत्पर है, उस बदनाम स्त्री से आजीवन बंधने के लिये स्वामीजी से कहता है:—'मैं इस समाज से उपेक्षिता—अज्ञात कुलशील घन्टी से व्याह करना चाहता हूँ—इसमें आपकी क्या अनुमति है ?"[1] एक मंगल था—जो तारा को स्वीकार कर उसके साथ भोगवाद की अनुभूति प्राप्त करने के पश्चात् भी आशंकाओं से घिर उठता है और एक विजय है जो अज्ञातकुलशीला एवं समाज में कलुषित नारी को अपनी सहधर्मिणी बनाने के लिए संकल्पशील दिखाई देता है। वह अपनी वृत्तियों का दमन नहीं करना चाहता है अपितु उनके विश्लेषण के लिये सदा प्रस्तुत करता है, अपने मानस में अन्तर्द्वन्द्व को जन्म नहीं देना चाहता और न विसंगतियों के मध्य भ्रमित ही होना स्वीकार करता है। घण्टी को बचाते हुए जब उसके हाथ से हत्या हो जाती है तो वह पलायनवादी नहीं बनना चाहता अपितु यही कहता है:—"कुछ नहीं फाँसी होगी और क्या ?"[2] वह अपने अपराध से हिचकिचाता नहीं, किसी अन्य पर आरोपित नहीं करना चाहता और न भागना ही चाहता है, अपितु अपने कर्म का भोग भोगने के लिये संकल्पशील है—किन्तु फिर भी उसे भागना पड़ता है:—यमुना के अतिशय प्रेम और उदात्त भावना के कारण। वह इस घटना से संतुष्ट नहीं है अपितु उसके मन में भारी बोझ है जो उसे समाज व जीवन के प्रति निरन्तर अनासक्त बनाता रहता है। वह भागता हुआ दुस्यु नायक बदन की शरण लेता है और, बदन गाला के प्रति उसे सतर्क करता है तो उसका अनासक्त हृदय सहस्त्र-पीड़ाओं की अन्तर्वेदना लिये हुये उसके समक्ष व्यक्त होने के लिये साग्रहशील हो उठता है—उस क्षण वह बदन के समक्ष अपनी शून्यता को द्योतित कर देता है:—

"मुझे इसकी आशंका पहले से ही थी। आपने मुझे शरण दी है, इसलिये गाला को मैं प्रतारित नहीं कर सकता। क्योंकि मेरे हृदय में दाम्पत्य जीवन की सुख-साधना की सामग्री बची न रही। जिस पर भी आप जानते हैं कि मैं एक सन्दिग्ध

---

१. कंकाल—पृ० सं० २००
२. कंकाल—पृ० सं० २२४

हत्यारा मनुष्य हूँ।"[1] वह अपने आप को अपराधी स्वीकारने से कभी नहीं हिचकिचाता है---यहाँ उसकी स्पष्टवादिता उसके व्यक्तित्व को मुखर कर देती है। उसकी सहजता और विरक्त भावना उस भोगी-व्यक्तित्व को साधक-व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित कर देती है। उसके जीवन में---यमुना, घण्टी और गाला क्रमशः अवतरित होती हैं, उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़ा होता है किन्तु वह अपने विवेक को नहीं खो पाता है। वह गाला के अनिन्द्य सौंदर्य के प्रति आसक्त नहीं होता है अपितु कर्तव्य-परायण बनकर बदन के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। न उसे वैभव के प्रति ही मोह है, गाला द्वारा बदन की सम्पदा को अस्वीकार करते हुये वह अपनी मानसिक घुटन को व्यक्त करता है:---''भला मैं क्या करूंगा गाला! मेरा जीवन संसार के भीषण कोलाहल से, उत्सव से और उत्साह से ऊब गया है। अब तो मुझे भीख मिल जाती है। तुम तो इससे पाठशाला को सहायता पहुँचा सकती हो!"[2] जब उसे यमुना के अभियोग के संदर्भ में सूचना प्राप्त होती है तो वह कर्तव्यशून्य सा जड़ होकर नहीं बैठना चाहता है अपितु मानसिक-वेदना से खिन्न होकर अपने आपको अपराधी घोषित कर देता है। यमुना के निर्मालय व्यक्तित्व के प्रति अपनी सम्वेदना व्यक्त करता हुआ न्यायालय में प्रवेश कर सभी के समक्ष स्वयं को विज्ञापित करता है:---

"मैं हूँ हत्यारा! मुझको फाँसी दो? यह स्त्री निरपराध है।"[3] वह अपनी कलुष-भावना को आवरित नहीं रखना चाहता और इसी पीड़ा के कारण क्षुब्ध है। यमुना के हृदय को तलाश लेने के पश्चात् भी वह उसकी भावनाओं का लाभ नहीं उठाना चाहता है---अपितु मंगल और गाला के परिणय-सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुये अपने आक्रोश को व्यक्त करता है:---"अच्छा तो है चंगेज और वर्धनों की संतानों की क्या ही सुन्दर जोड़ी है।"[4] विजय आदर्शनिष्ठ उदात्त नायक के रूप में पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करने में सफल सिद्ध हुआ है।

यमुना

प्रसादजी ने इस उपन्यास में प्रायः सभी पात्रों को जारज-संतान के रूप में चित्रित किया है---सभी पात्र एक ही धुरी पर भ्रमित होते दिखाई देते हैं। सभी पात्र अपने परिवार की तलाश में---विकल रह कर अपनी भावनाओं को झुठलाते

---

१. कंकाल---पृ० सं० २८२
२. ,, ,, ,, ३२६
३. ,, ,, ,, ३३०
४. ,, ,, ,, ३५५

रहते हैं। इन जारज-संतानों के हृदय में जीवन के मूल्यों के प्रति आस्थायें अवश्य हैं किन्तु आडम्बर-जन्य स्थितियां उन्हें पद-पद पर विचलित करती रहती हैं। प्रसाद के पात्र आदर्शपूर्ण रहे हैं—किन्तु कंकाल के पात्र भोगवादी और यथार्थ के विकृत रूप को अपने तन पर कोढ़ की तरह फैलाये हुए हैं—ऐसे भग्न व्यक्तित्वों के मध्य यमुना का व्यक्तित्व पृथक् ही है—जिसने जीवन में नारीगत पीड़ा की जटिलतम ग्रंथियों की मर्माहत कसक को झेला—और पुरुषों की दी हुई अपमानजन्य स्थिति को अपने आप से चिपकाये रही—प्रेम और विश्वास के नाम पर सदा प्रतारित होती रही—किन्तु संक्रान्तिकालीन स्थितियों के मध्य भी अपने विश्वास को भंग न कर सकी, अपनी आस्थाओं के मूल्य का बिघटन नहीं होने दिया—अपने धर्म और कर्तव्य के प्रति सजग रह कर किसी से याचना न करते हुए स्वाभिमानत्व का प्रस्तुतीकरण किया यमुना आधुनिक भावनाशील पथभ्रष्ट परित्यक्त—अबलाओं की प्रतीक है—जो मृत्यु के कराल गाल में समा जाती हैं। उसकी नैतिकता का परिचायक है कि वैश्या के बन्दी-गृह से मुक्त होने पर अपनी ग्लनि को व्यक्त करती है—"भगवान की दया से नरक से छुटकारा मिला। ओह! कैसी नीच कल्पनाओं से हृदय भरा जाता था—संध्या में बैठ कर मनुष्य समाज की अशुभ कामना करना, उसे नरक के पथ की ओर चलने का संकेत बताना – फिर उसी से अपनी जीविका!"[1]

यमुना—जिसका नाम तारा था—निरंजनदेव की अवैध संतान!—जिसे माता-पिता का स्नेह न मिल सका—जिसके भावी जीवन की आशायें धूमिल हो उठी थी—जो वेश्यालयों में नारी जीवन की संत्रस्त-स्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर चुकी थी—वह केवल अनाथ किशोरी थी—जिसका कोई प्रश्रय नहीं था – और न किसी पर भार बन कर अपने दायित्व को सोंपना चाहती थी। उसने मंगल की उदात्त—भावनाओं और कर्तव्यशीलता के प्रति मन ही मन श्रद्धा व्यक्त की थी। सहज रूप से उसके नैतिक-साहस के प्रति स्वयं को समर्पित कर चुकी थी।

जब उसके प्रणय का संसार भग्न हुआ—उसका विश्वास प्रतारणा कर गया तो टूट सी गई। उसे समाज के अपवादों का भय नहीं था और न अपने जीवन की आशाओं के सूख जाने की चिन्ता ही। वह उस क्षण भी दुर्बल भारतीय नारी की तरह अपने भाग्य को कोस कर रह गई किन्तु उसने अपने विश्वासमय प्रेम पर कीचड़ नहीं उछाला। उसने आत्मबल के साथ अपनी चाची से मंगल के संदर्भ में यही कहा—"पर क्या इसी के लिये मंगल भाग गया? कदापि नहीं, उसके मन से मेरा प्रेम ही चला गया। चाची, जो बिना किसी लोभ के मेरी इतनी सहायता करता था,

१. कंकाल—पृ० सं० ४०

वह मुझे इस निस्सहाय अवस्था में इसीलिए छोड़ कर कभी नहीं जाता । इसमें कोई दूसरा कारण है ।"[१]—वह अपने विश्वास को संजोये हुए निकल पड़ी । न किसी से याचना की और न किसी की ओर करुणा भरी दृष्टि से प्रश्रय माँगा । उसमें आत्मबल और धैर्य का अपूर्व सम्मिश्रण था । इस भारतीय नारी में नैतिकता थी—अपने धर्म के सम्बल पर टिके हुए उसने जीवन की आग्रहशीलता छोड़ कर मृत्यु के अंक में जाना स्वीकार कर लिया—किन्तु दुर्दैव ने उसकी कठोर तपस्या के लिये उसे यहाँ भी बचा लिया ।

यमुना सर्वस्व लुटा कर अपने विश्वास के साथ प्रतारणा करने के लिए तत्पर नहीं हो सकती थी उसका धर्म उसे यही कहता था कि—विश्वास हत्या के पश्चात् उसे जीने का अधिकार नहीं है । उसके मन मे विलास, भोग, एवं वैभव की आकाँक्षा नहीं थी—अन्यथा अपने रूप-सौंदर्य के बल पर किसी से भी सम्पृक्त हो सकती थी । उसे तो अपने नैतिक-मूल्यों को संरक्षण देकर अपने सत्य-विश्वास को व्यक्त करना था । भारतीय संस्कृति नारी को पीड़ाओं का अथाह क्षार-नीर पीने के लिए विवश करती है—उसी परम्परा में तपस्विनी यमुना भी दुःख-सागर में डूब जाने वाली सामान्य नायिका थी—जिसे अपना विश्वास टूट जाने का दुःख नही था । मंगल के अविश्वास के प्रति उसके मन में आक्रोश नहीं था और न वह विद्रोहिणी बन कर ही अपनी वेदना किसी से कहना चाहती थी—वह तो दीपशिखा की तरह बलिदान करते हुए जग में आलोक भर देना चाहती थी । वह अपनी अन्तर्वेदना को भगवान की साक्षी के साथ व्यक्त करते हुए अपने सहज निर्माल्य हृदय का उद्घाटन करती है—मंगल ! भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शय्या पवित्र है । कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़ कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया, और न कलुषित हुई......।[२]

मंगल के जाने के पश्चात् तारा ने अपनी आत्म-हत्या कर ली थी—और यमुना नाम से नव जीवन का आरम्भ किया था—कर्म की उपासिका बन कर । वह किसी के प्रश्रय पर न जीकर कर्म और श्रम के बदले अपना आहार का संचय करना ही धर्म समझती थी ।[३] जब उसने पुनः मंगल को पाया—तो इस पर खीज व्यक्त नहीं की—अपितु अपने हृदय पर पत्थर रख कर श्रम-साधिका की तरह जीवन जीने के लिए अपने-आपको उससे विलग रखना चाहा । विजय अपनी निर्माल्य भावनाओं से यमुना के संतप्त जीवन को नहला देना चाहता था किन्तु उस वेदना की जीवन्त

---

१. कंकाल—पृ० सं० ७०
२. „ „ ७२
३. „ „ ७३

प्रतिमा ने उस प्रस्ताव को कभी नहीं स्वीकारा। वह तो सम्बन्धों के जगत् में यदि स्नेह पाना चाहती थी तो अपनी सद्भावना के अनुसार—विजय बाबू ! मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ—है किसी के पास इतनी निस्वार्थ-स्नेह-सम्पत्ति ! जो मुझको दे सके ?"[१]

वह सभी से निर्लिप्त होकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहती है। न विजय के प्रति उसका समर्पण है और न मंगल के प्रति ही आक्रोश ! अपनी समस्त पीड़ाओं को जन-सेवा में लगा कर तपस्विनी की तरह जीवन व्यतीत करने की आग्रहशीलता है। देवार्चन और उसकी व्यवस्था में सादगीपूर्ण जीवन जीते हुए—वह निष्काम भावना से किशोरी से कहती है--

"बहूजी ! मैं अब कहीं नहीं जाना चाहती, यहीं वृन्दावन में भीख मांग कर जीवन बिता लूंगी।"[२] उसने अपने जीवन-क्रम को ही परिवर्तित कर लिया—स्वामी कृष्णशरण के सानिध्य में रह कर वह जीवन—उद्देश्य को सार्थक बनाना चाहती थी। उसने अपने विश्वास के स्वरूप को सत्य प्रमाणित करने के लिए अनासक्त भाव से त्यागमय जीवन बना लिया। उसके अपरिमित धैर्य का उदाहरण नहीं है--जो अपने मंगल से मिलने पर भी अपनी पीड़ा को व्यक्त नहीं कर सकी—यह उसकी विवशता नहीं—आत्म संकल्प का परिचायक है ! विजय से घण्टी के सम्बन्ध के संदर्भ में उसकी क्षीण-भावना का परिचय करा देती है; विजय की वैचारिकी से वह प्रभावित है—और यही कारण है कि विजय के अपराध को मौन-भाव से स्वीकार लेती है।[3] विजय के जीवन और भवितव्य को सुखद करने की आकांक्षा से अपने-आपको संकटापन्न कर लेती है।[४]—उसके मन में निगूढ़ श्रद्धा-भावना उसे इस कर्म के लिए प्रेरित करती है। जब उसकी चाची उससे पुनः मिलती है तो—वह अपनी अकथ पीड़ाओं की व्यथा को झेलते हुए सहर्ष उस पुरुष्कार को भी प्राप्त करने में गौरव का अनुभव करती है—"मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा नहीं कर लिया..............चाची ! यदि उसका यही पुरस्कार है तो मैं उसे स्वीकार करती हूं।"[५] यमुना ने प्रेम में दीपशिखा की तरह जलना स्वीकार किया किन्तु अधिकार की याचना कभी नहीं की। वह दासी

---

१. कंकाल—पृ० सं० १३६
२. कंकाल—पृ० सं० १४८
३. कंकाल—पृ० सं० २१४
४. कंकाल—पृ० सं० २२५
५. कंकाल—पृ० सं० ३४५

बन कर जी सकती थी—किन्तु प्रेम के विश्वास के साथ, स्वाभिमान व गौरव के साथ किन्तु अविश्वास व प्रतारणा की भूमिका बन कर पराधीनता की जिन्दगी स्वीकार करना उसे रुचिकर नहीं था।

यमुना ने त्याग व तपस्यामय जीवन व्यतीत किया—अपने नैतिक मूल्यों की सुरक्षा कर आदर्श उदाहरण उपस्थित किया। मंगल को गाला के साथ सम्बन्धों में बंधने पर भी अपनी आक्रोशमयी वाणी का प्रस्फुटन नहीं किया—वस्तुतः वह पृथ्वी बन गई थी।[1]

गाला—

गाला प्रसादजी के पात्रों में अपना विशिष्ट ही स्थान रखती है। मानव को वातावरण ही उसे परिवर्तित नहीं कर सकता है—अपितु संस्कारों की अमिट छाप उसकी वृत्तियों पर पूर्ण प्रभाव डालती है। गाला की माता पर-जो अत्याचार हुए और उसने अपनी आंखों से जिस दुर्दान्त दृश्य को देखा था—उसे वह कभी विस्मृत न कर सकी। दस्युराज बदन का पितृत्व सुख उसे मिला—किन्तु वह अपने आपकोद स्यु कहलाना स्वीकारती नहीं थी—"तुम यह क्यों नहीं कहते कि हम लोग मनुष्य है।"[2] यह उत्तर गाला ने नये को दिया था। नये (विजय) के समक्ष उसने अपने अतीत की कथा के पृष्ठों को खोलकर रख दिया था। गाला सहज हृदया, सरल प्रकृतिशीला एवं स्वाभिमानिनी थी— उसने अपनी कर्तव्य-भावना के संदर्भ में कहा:—

"समीप के प्राणियों में सेवा-भाव, सब से स्नेह सम्बन्ध रखना, यह क्या मनुष्यता के लिए पर्याप्त कर्तव्य नहीं है।"[3] वह मानवता की सेवा में अपने आपको विस्मृत कर देना चाहती है। अपनी समस्त पीड़ाओं को इस एक सुख में समर्पित कर देने को तत्पर है। वह वदन को पिता के तुल्य ही मानती है-उसने अपने मन से घृणा को दूर निकाल फैंका। गूजर-समुदाय और उनके व्यवहार में जीती हुई गाला निश्छल मन, और निर्भीक हो गई—उसे पुरुष के प्रति किसी प्रकार की आशंका नहीं है।

गाला सेवा-कर्तव्य की भावना से मंगल के निकट आगई थी-और उसके साथ ही अध्यापन-कार्य में रत हो गई थी। वह मंगल से निश्छलमना मन ही मन प्रेम करने लगी थी—किन्तु उस प्रेम को कभी व्यक्त नहीं कर सकी। वन में रहकर भी उसने नारी-मन की गहन पीड़ामय-अनुभूतियों का अध्ययन कर लिया था। वह मंगल से

---

१. कंकाल—पृ० सं० ३६२
२. कंकाल—पृ० सं० २४४
३. ,, ,, २७०

यमुना-कांड के संदर्भ में यमुना द्वारा विजय की सहायता को प्रेम की पीड़ामय अनुभूति सिद्ध करते हुए कहती है:—'स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह भी उसका प्रेमी हो ! स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है । विधाता का ऐसा ही विधान है ।"[१]

गाला ने नारी-हृदय में शिशु भाव को स्वीकारते हुए उसे निरीह प्राणी के रूप में माना है । वह नारी के मन की विकलता को भली-भांति पहचानती है । उसने नारी के हृदय में छिपी हुई अन्तर्वेदना और प्रणय के प्रति समर्पण भाव को पढ़ा था—वह स्वयं भी मंगल के प्रति समर्पण भाव को व्यक्त कर देना चाहती थी । विजय की अपेक्षा मंगल को स्वीकारने में—यही कारण था कि उसके समक्ष विजय अपराधी और उलझा हुआ व्यक्तित्व था—जब कि मंगल सेवाभावी के रूप में उसे मिला । वह भी मानवीय-सेवा में रम जाना चाहती थी ।

अपने पिता वदन की मृत्यु का समाचार पाकर वह अपने घर लौट जाती है और दाह-संस्कार में भाग लेती है । दस्यु राज वदनसिंह की सम्पदा के प्रति उसे मोह नहीं है । वह उस धन को किस उपयोग में लगा सकेगी ? और इस भार का वहन कैसे कर सकेगी ? अतः सहज रूप से सारी सम्पदा नये को देने की इच्छा से कहती है:—

"मैं तो यह धन का सन्दूक न ले जा सकूंगी, तुम इसे ले लो ।"[२]

नये की अस्वीकृति के कारण उसे सारी सम्पदा लानी होती है—किन्तु उसके मन की सेवावृत्ति ने उस सम्पदा को मानव-सेवा में लगा देने की प्रेरणा दी और उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह पाठशाला के हित उस सम्पदा को अर्पित कर देगी । उसकी त्यागमयी भावना उसके व्यक्तित्व का विकास करने में सहायक होती है ।

मंगल की रुग्णावस्था में गाला ने पतिव्रता स्त्री की तरह अहर्निश मंगल की सेवा में अपने आपको अर्पित कर दिया—उसका मन मंगल के स्वास्थ्य-लाभ की कामना में नियामक शक्ति की प्रार्थना करता रहा-उसने अपने कर्तव्य-धर्म का निर्वाह इस प्रकार किया कि सभी के समक्ष उसकी भावना व्यक्त हो गई ।

गाला सरल हृदया, भावनाशील, प्रेम की उपासिका, सेवाभाविनी स्त्री थी—जिसने अपने मानवीय धर्म के पक्ष को प्रतिष्ठापित किया ।

---

१. कंकाल— पृ० सं० ३०२
२. ,, ,, ३२५

गोस्वामी कृष्णशरण

प्रसादजी के इस उपन्यास में यह पात्र सर्वाधिक सशक्त पात्र है—जिसे दिव्य उदात्त आदर्श-पात्र कहा जा सकता है। घोर-नैतिक पतन के स्पर्धामय वातावरण में—जहाँ निरंजनदेव का मानसिक-पतन होता है—वहाँ वृन्दावन के अध्यात्म संत भौतिकता के संत्रस्त ताप से दूर रह कर अपना साधनामय जीवन जीने के लिए आग्रहशील दिखाई देते हैं। कंकाल के सभी संत्रस्त एवं संघर्षशील पात्रों के लिए यह स्थान मानसिक उलझनों से पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व से ग्रसित तनाव को दूर एवं हल्का करने के लिये केन्द्रीय स्थान बन जाता है—सभी पात्र यहाँ बैठकर मानसिक शान्ति प्राप्त करने का अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। विद्रोही विजय, विखण्डित पलायनवादी मगल, आत्मबल से पतित निरंजनदेव, पश्चाताप के क्षणों को धुनती हुई सरला स्वाभिमानिनी यमुना व स्नेहशीला गाला, घण्टी, आदि सभी पात्र इस स्थान पर एकत्रित होकर अपने मानस के अशान्त प्रश्नों को उगल देना चाहते हैं। स्वामी कृष्ण शरण ने अपने मन की वृत्तियों पर दमन न करके उनका शमन कर लिया है, तथा श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेम में आसक्त होकर इस सृष्टि को लीलामय स्वीकारते हैं। उनका चिन्तन सुलझा हुआ तथा धर्म की अन्ध रूढ़ियो से भिन्न है। न वे किसी धर्म-विशेष की नीतियों का विरोध करना चाहते हैं और न अपने सिद्धान्त ही आरोपित करना चाहते हैं। गोस्वामी कृष्ण शरण शुद्ध हृदय, सात्विक-विचार सम्पन्न, अनाथ एवं प्रतारित व्यक्तित्वों की अपनी करुणा बाँटने के लिए सदा ही आग्रहशील दिखाई देते हैं। मानव-सेवा में ही उस पर ब्रह्म का सदेश सिद्ध करते हैं। सामाजिकों को नैतिक मार्ग के दिशाबोध के लिये कटिबद्ध से दिखाई देते हैं। उनके विचारों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुये जन-समुदाय टेकरी पर एकत्रित होने लगा — किन्तु वह उस भीड़ को इसी सीमा तक स्वीकारने के लिये सहमत हैं— कि उनसे अज्ञानमय अंधकार को ज्ञान-ज्योति से आलोकित कर उन्हें दिशा दे सकें - वे उन्हें अपने साथ सम्पृक्त नहीं रखना चाहते हैं। जब विजय ने घण्टी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गोस्वामी से धार्मिक-व्यवस्था चाही तो—उन्होंने अपनी नैतिक व्याख्या देकर सहज-धर्म की बात को कहा :—"मेरा तो एक ही आदर्श है। तुम्हें जानना चाहिये कि परस्पर प्रेम का विश्वास कर लेने पर यादवों के विरुद्ध रहते भी सुभद्रा और अर्जुन के परिणय को पुरुषोत्तम ने सहायता दी। यदि तुम दोनों में परस्पर प्रेम है तो भगवान की साक्षी देकर तुम परिणय के पवित्र बंधन में बंध सकते हो।"[1]

मानसिक शुद्ध भावनाओं के सामंजस्य के लिए वे पवित्र-बंधन की संज्ञा देते

---

१. कंकाल पृ० सं० २००

थे—जाति एवं वर्ग बन्धन की सीमाओं का कोई महत्व नहीं था। गोस्वामी धर्म की मौलिकता में निष्ठा रखते हैं न कि आड़म्बरमय प्रचारात्मक स्थिति के प्रति 'धर्म-संघ' की स्थापना के संदर्भ में मंगलदेव से गोस्वामीजी स्पष्ट शब्दों में अपना निर्णय व्यक्त कर देते हैं :—

"परन्तु तुम मेरा सहयोग इसमें न प्राप्त कर सकोगे, मुझे इस आडम्बर में विश्वास नहीं है, यह मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ। मुझे फिर कोई एकान्त कुटिया खोजनी पड़ेगी।"[1]—आड़म्बरमय प्रचारात्मक जीवन आत्म-विज्ञापन का साधन है, यश का उपकरण है किन्तु मानसिक शान्ति को भ्रष्ट कर मानव को कर्तव्य से च्युत कर देता है—सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त विशेष के प्रचार के लिए वे अपने आप को अर्पित नहीं करना चाहते थे।[2]—जब मंगल और निरंजनदेव का प्रतिहठ देखा तो—उन्होंने स्वीकृति अवश्य दे दी किन्तु स्वयं को असम्पृक्त रखा।

यमुना को प्रश्रय देकर उसे आत्म-तनया की तरह आश्वस्त किया। जब मंगल के पास उसे रोते हुए देखा तो गोस्वामी जी ने मंगल को प्रायश्चित करने का आदेश दिया जब यमुना ने विजय के अपराध को अपने ऊपर ले लिया तो सभी ने यमुना को अपराधिनी कहा किन्तु स्वामीजी का मानस यमुना को सदा ही निर्माल्य माना और उसे निरपराधिनी करुणामयी मूर्ति की संज्ञा दी। यमुना के अपराध को असिद्ध करने के लिए भावनात्मक ही नहीं अपितु आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया।

जब मंगल की रुग्णावस्था में—गाला ने शुद्ध मानस से सेवा की तो स्वामीजी ने अपना आशीर्वाद देते हुए कर्तव्य-भावनाशील होने के लिए प्रेरित किया।[3] अन्त में गाला के साथ मंगल को बांधने में भी सहयोग दिया।[4]

गोस्वामी कृष्णशरण वस्तुतः एक आदर्शपात्र के रूप में सामाजिकों की अनुभूति प्राप्त करने में सफल सिद्ध हुए हैं—अपने त्यागमय, कारुणिक मानस से पीड़ित मानवता को अमृतधारा बहाने में संकल्प सिद्ध रहे और आडम्बरमय वातावरण से अपने आपको विलग रह कर मानवीय मूल्यों को संरक्षण प्रदान किया।

इरावती

इरावती प्रसादजी का ऐतिहासिक एवं अपरिसमाप्त उपन्यास है। यदि यह उपन्यास संयोग से पूर्ण हो जाता तो—सर्वाधिक सशक्त आदर्शनिष्ठ पात्र देने में सफल

---

१. कंकाल पृ० सं० ३१३
२. „ „ „ ३१३
३. „ „ „ ३३८
४. „ „ „ ३५५

सिद्ध होते किन्तु दुर्भाग्य ही है कि—हिन्दी साहित्य में इन पात्रों का पूर्ण व्यक्तित्व नहीं आ पाया। पात्रों की मानसिक अन्तर्द्वन्द्वता के लिए प्रसादजी सिद्धहस्त रहे हैं—ऐसे ही पात्रों की सर्जना के लिए इरावती की पृष्ठभूमिका भी उपयुक्त कही जा सकती है। इरावती के पात्रों का पूर्ण विकास अपूर्णता के कारण हो नहीं पाया—अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि किस पात्र का कितना नैतिक मूल्य अथवा नैतिक विघटन भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है। जहाँ तक कथा की सर्जना हो सकी है—और जिन पात्रो का समावेश हो सका है—उनमें प्रायः पात्र अपना उद्देश्य लेकर आये हैं—और सभी के मानस में कर्तव्य-भावनाशील रहने की प्रेरणा है। इन—पात्रों में अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी प्रमुख पात्र कहे जा सकते हैं—जो अपने लक्ष्यों की सिद्धि के लिए सतत संघर्षशील दिखाई देते है। उपन्यास के पात्रों का विवरण इस प्रकार है:—

पात्र

वृहस्पतिमित्र :	सम्राट
इरावती :	अग्निमित्र की प्रणयिनी
अग्निमित्र :	दण्डनायक का पुत्र
पुष्यमित्र :	दण्डनायक
कालिन्दी :	—
कामन्दिकी :	—
महास्थविर :	बौद्ध आचार्य
धनदत्त :	श्रेष्ठि प्रवर
मणिमाला :	—

केयूरक आदि अन्य पात्र।

इरावती

इरावती इस उपन्यास की मुख्य नायिका है—जो पीड़ा की प्रतिमूर्ति है—जिसने जीवन में शैशव से जीवन्त स्थिति तक संघर्षमय यातनाओं के झेलते हुए यायावरी जीवन व्यतीत किया—ऐसे पात्रों का विशृंखल हो जाना नैसर्गिक है—किन्तु प्रसाद का आदर्शवाद अनेक विसगतियों को झेलने की शक्ति प्रदान करता हुआ इस पात्र को विखण्डित नहीं होने देता—वह अपनी पीड़ाओं के साथ अन्य किसी को संत्रासित नहीं करना चाहती है—तभी तो प्रिय से कहती है:—"अग्नि! मैं जीवन रागिनी में वर्जित स्वर हूँ। मुझे छेड़कर तुम सुखी न हो सकोगे।"[1] न उसने अपने माता-पिता के सानिध्य में स्नेह पाया और न प्रेम करके ही भावनाशील रह सकी—

---

१. इरावती—पृ० सं० ११

उसे तो नियति ने हर क्षण नृत्य करने के लिए विवश किया—और उसने भी अपने आत्मबल को सुरक्षित रखते हुये भाग्य के हाथ नृत्य किया—वह अपने अग्निमित्र से सहज रूप में वेदना को व्यक्त करती है:—

"देवता के सामने नाच चुकी, अब देखूँ अदेवता—अनात्म मुझे कौन नाच नचाता है ? घबराओमत अग्निमित्र, मैं कदाचित् तुम्हारे लिये अपने को प्रस्तुत करती होऊँ।"[१]

देवदासी बनकर उसे जीवन में नृत्य करना पड़ा—जो अनन्त स्वाभिमान के गौरवपूर्ण क्षण जीने की कामना करती थी—उसे समाज की विसंगतियों ने इतना विवश कर दिया कि—वह अपने प्रेम की पीड़ा को देवता के समक्ष नृत्य करते हुए संगीत की लय में उसे विलीन कर देना ही श्रेयस्कर मानने लगी। लास्य में ही आत्मिक-शान्ति का अनुभव प्रतीत करती है। जब उसे बौद्ध-बिहार में प्रव्रज्या जीवन व्यतीत करने के लिये भेजा गया तो वह कृत्रिम जीवन जीने को प्रस्तुत नहीं हुई—उसमें सुधार लाने का प्रयास किया गया तो उसने महास्थविर से यही कहा:—
"परन्तु मैं नहीं सुधर सकती। आर्या ! मुझे क्षमा कीजिये। मेरे लिए निर्वासन ही उचित है।"[२]

वह आडम्बरपूर्ण जगत् में कृत्रिम नियमों की स्थिति में अपने-आपको धकेलने के लिये कभी विवश नहीं हो सकती थी। वह अपनी भावनाओं को संत्रस्त नहीं कर सकती थी—अपनी सहज वृत्ति की हत्या कर देना—उसकी बौद्ध क्षमता से बाहर की बात नहीं थी। उसने बौद्ध-बिहार में जाकर आत्मशान्ति का अनुभव नहीं किया अपितु बंधन में बंधकर पोखर की तरह दुर्गन्धायित होने लगी—वह उस बंधन को तोड़कर मुक्त होजाना चाहती थी। वह संकेतों पर नृत्य कर अपनी आत्मपीड़ा को व्यक्त कर सकती थी—बंधन में बंधकर जीवन को कुण्ठित कर देना आत्म-हत्या की संज्ञा देती थी। वह संघर्षशीला युवती पराजित नहीं होना जानती थी अपितु विद्रोहिणी बन कर अपने-आप को मुक्त कर लेना चाहती थी—उसने इसी कारण बिहार की दीवारों को लाँघ कर नदी के प्रवाह में छलांग लगा ली थी। वह अपने प्रेम के लिए हृदय में स्थान नहीं रखना चाहती थी—सम्राट् की याचना पर उसने सहज स्वर में कहा था—

---

१. इरावती—पृ० सं० ११
२. ,, ,, ,, ७३

"प्रेम के लिए हृदय सूख गया है। मैंने इधर बरसों तुम्हारे विहार में संयम और शील की शिक्षा पायी है। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। मैं जन्म की दरिद्र अकिंचन! मेरे लिए यह सब विभव, विलास केवल कुतुहल उत्पन्न कर सकते हैं, आकर्षण नहीं।"[1] सम्राट को इन शब्दों के साथ मन की भावना व्यक्त करते हुए अपने-आपको अनाशक्त व्यक्त करना चाहा। वह विभव-विलास के लिए अपने आपको पतित नहीं कर सकती थी। अपने आत्मसुख के लिए दोहरा जीवन जीना उसके लिए दुष्कर था। वह सम्राट के दायित्व की व्याख्या करते हुए कारुणिक शब्दों में नहीं अपितु आस्थावान आत्मबल के माध्यम से अपने आपकी सुरक्षा करते हुए कहती है:—"आप सम्राट हैं? तब भी मैं अपने आपको सुरक्षित नहीं समझती! आपको मालूम नहीं कि मैं आरम्भ की देवदासी हूँ..............फिर ओह मैं अन्धकार की, शून्य की उपासिका भिक्षुणी! मुझे काम-सुख की प्रवंचना में फसाना, धर्म होगा?"[2]

उसने आत्मसुख के लिए वैभव एवं विलासिता की आकांक्षाओं को ठुकरा दिया था। उसके हृदय में कोमल भावनाओं की अनुभूति के लिए स्थान नहीं था। वह यदि इन मृदुल भावनाओं को बहलाने का संकल्प ही रखती तो अग्निमित्र से दूर रहने का प्रयत्न नहीं करती—वह अपने आपको किसी दूसरे के हाथों में भी नहीं अर्पित करना चाहती। जब अग्निमित्र उसे सम्राट के सैनिकों से बचाने के लिए संघर्ष करने लगा तो उसके हृदय में अपने प्रति रक्त पात होने की ग्लानि थी—वह अग्निमित्र को रोकते हुए कहती है:—"नहीं मेरे लिए रक्तपात की आवश्यकता नही; मैं चलती हूं।"[3]

इरावती अपने स्वार्थ के लिए किसी अन्य व्यक्ति को द्विविधा में ड़ालकर आत्मशांति का अनुभव नहीं कर पाती है—वह अपने सुख के लिए किसी के भी भवितव्य को संकटापन्न नहीं करना चाहती—चाहे वह उसका प्रियतम अग्निमित्र ही क्यों न हो?—उसके मानस में आत्मशांति के लिए उत्कट लालसा है—और उसकी प्राप्ति के लिए उसने त्यागमय जीवन जीना स्वीकृत कर लिया। किन्तु वह उस सुख को परम्परागत नियमों में आबद्ध नहीं रखना चाहती। उसके हृदय मे अपने अग्निमित्र के लिए उत्कट प्रेम की अभिव्यंजना है किन्तु उसके मार्ग में वाधक बन कर वह उसे अभिव्यक्त नहीं करना चाहती।

इरावती के आदर्शों की रक्षा कहां तक हो सकी? और उसने अपने जीवन में

---

१. इरावती पृ० सं० ९६
२. यथोपरि पृ० सं० ९७
३. " " ८१

किन मूल्यों की स्थापना की—यह भविष्य के ही गर्भ में रह गया किन्तु फिर भी यह आशा की जाती है कि इरावती के आदर्श नैतिक-मूल्यों के सम्बल पर अवश्य टिके रहे होंगे।

अग्निमित्र—

'इरावती' नाटक का नायक अग्निमित्र दण्डनायक पुष्यमित्र का पुत्र विद्रोही प्रकृति का व्यक्तित्व है—नाटक की अपूर्णता के कारण इस पात्र का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है किन्तु जिस सीमा तक लेखक पात्र को-लेकर ले गया है-उसे दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह पात्र आदर्श-परम्पराओं के अस्तित्व को संरक्षित रखता हुआ सामने आता है। वह इरावती से पृथक् होने के संदर्भ में अपने सरल हृदय को रखता हुआ कहता है:—"इरा! यह असम्भव है। मैं तुमसे अपनी असमर्थता का विवरण देना चाहता हूँ—जिस अवस्था में मुझे तुम से अलग होना पड़ा।"[1]

अग्निमित्र भावुक हृदय एवं आदर्श प्रणयी है-वह इरावती के संधान के लिए स्थान-स्थान पर भटकता हुआ देव-मंदिर में पहुँचता है और उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कुमार के द्वारा देवदासी इरावती पर अत्याचार करने पर वह क्षुब्ध हो उठता है—कुमार के द्वारा बन्दिनी बनाये जाने पर वह कुमार के प्रति विद्रोही हो उठता है तथा बचाने का संकल्प भी करता है। इरा के देवदासी बनाये जाने के संदर्भ में पूछता है:—"किन्तु आज मैं एक प्रश्न करूँगा गुरुदेव! मैं जब उसे बचाने गया तब आपने मुझे क्यों रोका? और वह मन्दिर में नाचती ही रहे इसके पीछे कितना नैतिक समर्थन है आपको?"[2]

वह सम्भवतः इस आडम्बर को सहन नहीं कर सकता है। उसे प्राचीन अन्ध-परम्पराओं के प्रति कुण्ठा है—अनस्तित्ववादी स्थितियों को वह स्वीकार नहीं सकता है। उसका विद्रोही मन विकृत-स्थितियों के प्रति विद्रोही है और उन्हें विशृंखल कर देना चाहता है। जब गुरुदेव उसे मंदिर का उपासक बनने के लिए कहते हैं तो वह स्पष्ट उत्तर दे देना चाहता है:-"किन्तु आर्य, मैं मन्दिर का पुजारी बन कर जीवित न रह सकूँगा।"[3]

अग्निमित्र वीर साहसी एवं कर्तव्यपरायण निष्ठावान युवक—उसके मन में

---

१. इरावती—पृ० सं० ११

२. यथोपरि „ „ २१

३. „ „ „ २२

शासन द्वारा की जारही अनैतिकता के प्रति क्रांतिकारी विचार धारा--और दूसरी ओर इरा के व्यवहार से पीड़ित मनस्थिति--किन्तु वह इन दोनों स्थितियों को झेलने की शक्ति रखता है। वह राष्ट्रप्रेमी है किन्तु शासकों की अनैतिकता को सहन नहीं कर सकता है। वह संकल्पशील युवक अपने आत्मबल और बुद्धि-चातुर्य के बल पर विसंगतियों को समाप्त कर देना चाहता है। वह अपने पौरुष पर स्वाभिमान रखता है—उसने सम्राट से वीरता के संदर्भ में दुस्सहास के साथ कहा:—

"सम्राट ! इसकी परीक्षा ले लें, मनुष्य व्याघ्र चाहे जिससे द्वन्द्व करा कर मेरा पुरुषार्थ देख लिया जाय।"[१]

वह इरा से स्नेह करता है—उसके स्नेह के कारण कभी-कभी अपने कर्तव्य के प्रति भी विश्रृंखल हो उठता है—और अपनी विजय-यात्रा को स्थापित कर देता है उसके पिता अग्निमित्र और इरा के सम्बन्ध से पीड़ित हो जाते हैं तो वह वीर युवक अपने पिता दण्डनायक पुष्यमित्र से कहता है:—'मैं जानता हूँ कि अब तक मैं कहाँ होता ? परन्तु जब एक अत्याचारी सम्राट का इतना नैतिक समर्थन आप करते हैं तब क्या एक पुत्र के लिए कुछ न करेंगें ?"[२]

वह अपने पिता की कर्तव्य-भावना के प्रति भी नैतिकता का मूल्य नहीं स्वीकारता है—अपितु उसे अनैतिक-कर्तव्य की संज्ञा देता है। वह विलासी क्रूर अनैतिक वादी पंगु शासक के प्रति कर्तव्यशील होना नैतिक कर्तव्य नहीं मानता है:—अपितु स्वयं को भी उस अनाचर का भागी सिद्ध करता है—इसीलिए वह विद्रोही है—सम्राट् को राष्ट्र की संज्ञा नहीं दे पाता है—जहाँ तक उसकी नैतिकता और शौर्य का प्रश्न है—वह अपने धर्म का पालन करता हुआ दुर्ग की रक्षा के संदर्भ में कहता है:— "आज तुम लोगों की परीक्षा का दिन है। आधे लोग द्वार पर रहें और आधे यहाँ। जब तक राजकीय सेना न आ जाय—द्वार रक्षा होनी चाहिये, मैं तुम लोगों के साथ हूँ।"[३]

अग्निमित्र क्रांतिकारी नैतिक पक्ष का समर्थन करने वाला कर्तव्यशील युवक है—वह उदात्त कहा जा सकता है। यदि यह उपन्यास पूर्ण हुआ होता तो स्कन्दगुप्त की तरह आदर्शपात्र सिद्ध हो सकता था—यद्यपि अग्नि के हृदय में प्रणय की तीव्र संवेदनशील भावनाओं का अतल सागर लहरा रहा है—किन्तु वह कर्तव्य के नैतिक पक्ष के बलिदान होने के लिए भी प्रस्तुत है।

---

१. इरावती—पृ० सं० ३०
२. यथोपरि—पृ० सं० ५२
३. " " " १३६

कथा साहित्य के आदर्श पात्र

चम्पा

'आकाशदीप' कहानी की नायिका चम्पा उनके मुक्त हृदय की आदर्श पात्रा है। चम्पा का जीवन जिसमें ममता के स्नेह का अभाव, पिता की हत्या के कारण प्रतिहिंसा की अग्नि एवं सीमाहीन जीवन जीने की ललक है। वह अपनी सहज इच्छाओं की सृष्टि में जीवन जीना चाहती है। स्वाभिमानिनी नारी के हृदय में प्रणय और प्रतिशोध का अन्तर्द्वन्द्व अपनी तीव्रता लिए हुए आरोह-अवरोह की स्थितियों के मध्य उसे धकेल देता है। वह पोताधिपति के द्वारा वन्दिनी बनाली जाती है, किन्तु उसकी भावनाओं के अनुसार उसके समक्ष समर्पण करने को प्रस्तुत नहीं है। अपने दुस्सहास एवं आत्मबल के माध्यम से स्वयं मुक्त हो जाती है और जलदस्यु बुद्धगुप्त को भी मुक्त करा लेती है – वैभवमय सृष्टि में पहुँचकर भी उसे आत्म-शान्ति की अनुभूति नहीं प्राप्त होती है—वह आजीवन अपने कर्तव्य के अधूरे संकल्प की अग्नि में जलती रहती है। लेखक ने उसे आदर्शनिष्ठ मानते हुए कहा है :—"यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीप-निवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।"[1] उसके मन में वैभव के प्रति तृष्णा नहीं थी। वह तो सहज प्रेममय जीवन जीना चाहती थी। उसकी सृष्टि में ममता और स्नेह का साम्राज्य था—वह आदर्श द्वीप की अधिष्ठात्री थी। अपने आत्मबल और साहस पर पूर्ण बिश्वास था। जलदस्यु को मुक्त करने पर भी उससे भयभीत नहीं हुई—तथा उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा :—'क्या स्त्री होना कोई पाप है।"[2] वह किसी की कृपा पर जीवन को अवलम्बित नहीं कर सकती थी। वह अपने प्रियतम बुद्धगुप्त में भी स्नेह का पारावार उमड़ते हुए देखना चाहती थी। उसका जीवन साथी अकरुण हो—वह कभी स्वीकार नहीं कर सकी। बुद्धगुप्त को आत्मदर्शन

---

१. आकाशदीप पृ० सं० ११
२. यथोपरि ,, ४

कराते हुए उसने भाव व्यक्त किये :—"नहीं, नहीं; तुमने दस्युवृत्ति तो छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरूण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो।"[1] वह आर्य-संस्कृति की समुपासिका उसके आदर्शों के पद-चिन्हों पर चलनेवाली मानवता के हित उत्सर्ग करने वाली त्यागमयी वृत्ति थी। उसने अपने हृदय से प्रतिहिंसा की अग्नि निकाल कर समुद्र की अतल गहराईयों को समर्पित कर दी थी। वह अपने प्रियतम से निस्सीम प्रेम करती थी—किन्तु उसके प्रति घृणा को भी अव्यक्त नहीं रखना चाहती :—"विश्वास ? कदापि नहीं बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ ! मैं तुम्हें घृणा करती हूं; फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ।"[2] प्रणय की आग में दीपशिखा की तरह जलते हुए उसने अपने जीवन की समस्त तृष्णाओं का विसर्जन कर दिया। वह आदर्श-प्रणयिनी की तरह आजीवन अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में आकाश-दीप जलाती रही ! अपनी ममतामयी सृष्टि से विलग होकर उसने जीना स्वीकार नहीं किया। चम्पा-द्वीप से भारत की ओर लौटते हुए अपने प्रियतम के समक्ष विदा की अश्रुमय घड़ियों में उसने कहा :—"बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल हैं। कोई विशेष आकांक्षा हृदय मे अग्नि के समान प्रज्व-लित नहीं है। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ ! विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"[3] उसने अपने प्रेम की ज्वालाओं का निरीह-सरल हृदय प्राणियों की सेवा में सम्पृक्त कर आत्म-सुख का अनुभव किया।

ममता

ममता प्रसाद की पीड़ामयी मूर्ति अपने वैधव्य जीवन में भी विविध-विसंगतियों के मध्य नैतिक-मूल्यों के संरक्षण में आत्म-सुख का अनुभव करने वाली करुणामयी पात्रा है—जिसके मानस में राष्ट्रीय आस्था है, अस्तित्व के प्रति निष्ठा है और आत्म-सम्मान को ईमानदारी के साथ निभाने की आत्मशक्ति है। ममता ने स्वर्ण-थाल को ठुकराते हुए अपने पिता चूडामणि से निर्वेद के साथ कहा :—'वह रोहतास-दुर्गपति के मन्त्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था, परन्तु वह विधवा थी :—हिन्दू विधवा संसार में सबसे तुच्छ निरा-श्रय प्राणी है—तब उसकी विडम्बना का कहाँ अंत था ?"[4] उसके जीवन में किसी

---

१. आकाशदीप पृ० सं० ११
२. ,, ,, ५
३. ,, ,, १८
४. ममता (आकाशदीप पृ० सं० २३)

प्रकार की महत्वाकांक्षा अथवा तृष्णा का प्रश्रय नहीं है—वह साध्वी स्त्री की तरह जीवन जी कर अपनी पीड़ा का तर्पण करना चाहती है। अपने सुखद भवितव्य के लिए उसमें लालसा नहीं हैं, स्वार्थ के लिए नैतिकता का परित्याग नहीं कर सकती हैं। संतोष शीला ने अपने पिता से कहा :—"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिताजी ! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये ! पिताजी हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?"[1] ब्राह्मण-संस्कृति की सूत्रधारिणी ममता ने अपने-आप को नैतिकता के पतन से बचाया—साथ ही अपने पिता को भी अनर्थ से बचने के लिए प्रेरित कर राष्ट्रीय अस्तित्व की सुरक्षा की। वह अपना दु:खद जीवन तपश्विनी की तरह निर्जन के किसी कोने में बैठ कर आत्मशान्ति के साथ व्यतीत करना चाहती थी। ब्राह्मण-संस्कृति की उपासिका ने अपने धर्म को विस्मृत नहीं किया, म्लेच्छ सम्राट की याचना पर उसके विवेक ने कहा :—मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना का पालन करना चाहिये। परन्तु यहां.................नहीं, नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं.................कर्तव्य करना है।

वह अपने राष्ट्र पर आक्रमण करने वाले रक्तपिपासु पर किसी भी प्रकार की दया दिखाना स्वीकार नहीं सकती—किन्तु उसका दृष्टिकोण सीमाओं की परिधियाँ तोड़ कर मानवतावाद का स्पर्श कर गया था। किसी भी संत्रस्त जीव के प्रति दया करना—उसका धर्म था—पीडित के प्रति सम्वेदनशील होना कर्तव्य था। उसने आहत सम्राट को अपनी झौंपड़ी में शरण देकर कर्तव्य को निभाया। इस कर्तव्य-भावना के प्रति उसमें किसी प्रकार का अहं नहीं था—उसने अपनी झौंपड़ी को प्रसाद नहीं होने दिया—अपनी भावनाओं की सिद्धि के साथ आत्म-मुक्ति प्राप्त करली। ममता एक आदर्शनिष्ठ पात्रा के रूप में हृदय में श्रद्धा भाव जगा देती है।

लज्जा

'स्वर्ग के खंडहर' आख्यायिका की नायिका लज्जा—जिसने अनेक पीड़ाओं के बोझिल दबाव के पश्चात् भी अपने-आप को असन्तुलन की स्थिति से बचाकर कर्तव्य-भावना के प्रति सापेक्ष्य रखा। जिस युवक ने अपनी विलासमयी भावनाओं के प्रवाह में लज्जा के शील को बिखण्डित कर—उसे समाज में पददलित होने के लिए भटका दिया—किन्तु उसने कभी भी अपनी पीड़ा को विज्ञापित नहीं किया—अपितु अपनी जीवन-दशा को अभिनव गतिमान दे बैठी। प्रेम की संतप्त ज्वालाओं को सिमेटे हुए

---

१. ममता (आकाशदीप) पृ० सं० २४
२. ,, ,, ,, २६

उसने स्थविर के आश्रम में शरण लेकर आत्मशान्ति को प्राप्त करना चाहा किन्तु वहाँ भी उसे कर्तव्य ने आ घेरा। अपने प्रियतम की बालिका को सुरक्षा देने का अवसर मिला। प्रतिवाद का उत्तर देते हुए उसने कहा :—

"स्थविर ! किसी दुखी को आश्रय देना क्या गौतम के धर्म के विरूद्ध है ? मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूं कि देवपाल ने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया फिर भी मुझ पर उसका विश्वास था।"[१] अपने प्रियतम के अविश्वास को व्यक्त करके भी वह प्रतिशोध की आग में जल कर अपने कर्तव्य से विचलित नहीं हो सकती थी—उसने बालिका को संरक्षण दिया और उसके कारण अपवादों को झेलते हुए उसने धर्म-संघ को छोड़ने का निश्चय कर लिया। कर्तव्य के सामने धर्मसंघ तुच्छ था—उसने मानवतावादी भावना को व्यक्त करते हुए कहा:—"तब यही अच्छा होगा कि मैं भिक्षुणी होने का ढोंग छोड़कर अनाथों के सुख-दुःख में सम्मिलित हो जाऊँ।"[२] उसने धर्म की यथार्थ महत्ता को स्वीकारा। वह धर्म के नाम पर आरोपित जिन्दगी जीते हुए आडम्बरवाद नहीं चाहती थी—दीन-दुःखी तथा अनाथों की सेवा को ही सत्य धर्म का रूप मानती थी। उसने अपने कर्तव्य को निभाया-तथा यवन-सम्राट के समक्ष भी अपने रहस्य को छिपा कर नहीं रखा। उसने सम्राट् से स्पष्ट शब्दों में मानवतावाद की अपील की। पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की कामना उसमें न थी—वह तो पृथ्वी को मनुज-धरा के रूप में ही देखना चाहती थी:—"स्वर्ग ! ....पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानव-जाति के लिये जीने दो, अपनी आकांक्षा के कल्पित स्वर्ग के लिये, क्षुद्र स्वार्थ के लिए, इस महती को, इस धरती को, नरक न बनाओ, जिसमें देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय शेख !"[३]

मानव-जीवन की वृत्तियों में संस्कार सुरक्षित रखने तथा करुणामय जीवन के हित वह एक ऐसी सृष्टि की कल्पना करती थी—जिसमें मनुज मनुज होकर जीवन जीता रहे—यदि उसने देवता बनने का प्रलोभन किया तो अधिकारों के वेग के कारण सम्पूर्ण सृष्टि पैशाचिकी नृत्य करने लगेगी। लज्जा का आदर्शवाद स्पृहणीय है।

पद्मा

भारतीय संस्कृति में भी रूढ़ियों के नाम पर अनेक बलिदान दिये गये हैं—जो स्वस्थ परम्परायें थीं—उनमें विपन्नता एवं कुंठा को आपूरित कर मानवता को विवश

---

१. स्वर्ग के खंडहरों में (आकाशदीप पृ० सं० ४६
२. यथोपरि—पृ० सं० ४७
३. " " " ५१

कर दिया गया —ऐसी ही विवशता की कहानी दक्षिण-मंदिर की देवदासी की है-जिसे प्रतिमा के समक्ष अर्पित कर दिया गया—और अब उसका जीवन पर अधिकार नहीं है—कर्तव्य है—मंदिर में दर्शन करने वालों का मनोरंजन करना मेरा कर्तव्यहै; मैं देवदासी हूँ ।[१] उसके जीवन में आकांक्षाओं का शून्य आकाश है—लालसायें हैं, हृदय हैं –और उसमें भावनाओं का संतरण है—किन्तु संस्कृति की परम्पराओं के मध्य देवदासी अपना परिचय इन्हीं शब्दों में देती है:—

"देवता के लिए उत्सर्ग कर दी गई हूं ।"[२] उसे जीवन में प्रेम मिला—उसके हृदय में वासना को उभारा गया किन्तु वह अपने साथ आत्मवंचना को प्रस्तुत नहीं है । वह अपने प्रियतम से—सहज शब्दों में अपने आपको बलिदान करने की इच्छा से कहती है:—देवता का निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है; पहले इसका तो प्रायश्चित करो । मुझे केवल देवता के चरणों में मुरझाये हुये फूल के समान गिर जाने दो ।"[३]

देवदासी को किशोर-युवक का स्नेह मिलता है—उसे पाकर वह आनन्दित हो उठती है; उसकी कामनायें दिव्य आकांक्षाओं की ओर भागना चाहती है किन्तु वह अपनी सस्कृति की सीमाओं को तोड़ कर कहीं नहीं जा सकती । अपने देवता के प्रति उसने जिन दूषित भावनाओं को जन्म दे दिया था—उन्हीं की अग्नि में अपने आपको प्रायश्चित के साथ जला देना चाहती है किन्तु परम्परागत आदर्शों की हत्या करने को प्रस्तुत नहीं है ।

मोनी

'बनजारा' कहानी की पात्रा मोनी वन्य-संस्कृति की प्रतीक है—जो जंगल से जनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके बिचौलियों के हाथों में सौंप देती है । यही उसकी जीविका का निर्वाह है, वह यत्न करके संचय करती है—और बनजारों को बेच देती है । उसके मन में सहज भावनाओं का समावेश है—वह आहत की सेवा कर अपने कर्तव्य में आनन्द का अनुभव करती है—किन्तु सहसा उसके मन में विवेक जागृत हो उठता है—और वह बनजारों को सामान लदवाना बंद कर देती है क्योंकि:— "जंगल में वहीं सब तो हम लोगों के भोजन के लिए है, उसे बेच दूँगी, तो खाऊँगी क्या ?"[४] मोनी ने वन्य संस्कृति के महत्व को समझा—साथ ही अनेक प्रलोभनों के उपरांत भी अपनी नैतिकता से पतित नहीं हो पाती है ।

---

१. देवदासी (आकाशदीप पृ० सं० ११२
२. यथोपरि— ,, ,, ,, ११२
३. ,, ,, ,, ,, ११५
४. बनजारा (आकाशदीप—पृ० सं० १४७

विलासिनी

प्रसादजी ने उच्चवर्ग अथवा मध्यम-वर्ग के पात्रों को ही आदर्शनिष्ठ बनने की मंत्रणा नहीं दी--अपितु समाज जिसे हेय व घृणित दृष्टि से देखता है--उस पात्र को भी जीवन्त शक्ति प्रदान कर संवर्ष की भूमिका के लिए प्रस्तुत किया। वैश्या का जीवन सर्वथा हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है—जो अपनी भ्रू-भंगिमा पर वैभव का आनन्द लूटना ही व्यसन समझती है--जिसका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं, जो किसी एक की होकर नहीं रह सकती—वह वैश्या भी कुल वधु बनने की आकांक्षा को लेकर आदर्श प्रतिष्ठापित करने के लिए साधनालीन हो गई। अपने सरकार को हृदय से चाहा, और वैभव नष्ट होने पर भी अपनी समस्त सम्पदा अर्पित करनी चाही—किन्तु ठोकर मिली—और उसी वेदना में सर्वस्व त्याग कर मानव सेवा में लग गई। वह कहती है:--"परन्तु वेश्या का व्यवसाय करके भी मैंने एक ही व्यक्ति से प्रेम किया था। मैं और धर्म नहीं जानती, पर अपने सरकार से जो कुछ मिला, उसे मैं लोक-सेवा में लगाती हूँ। मेरे तालाब पर कोई प्यासा नहीं रहने पाता। मेरी जीविका चाहे जो रही हो, मेरे अतिथि-धर्म में बाधा न दीजिये।"[1]

विलासिनी ने अतिथि-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया, मानवता की सेवा के लिए वह स्वयं समर्पित थी—और इसी क्रम में उसे अनुभव हो गया था कि जीवन में विलास का नहीं सेवा का महत्व है:—"सरकार! मैंने गृहस्थ-कुलवधु होने के लिए कठोर तपस्या की है। इन चार बरसों में मुझे विश्वास हो गया है कि कुलवधु होने में जो महत्व है वह सेवा का है, न कि विलास का।"[2]

विलासवती के हृदय में कुलवधु होने की आकांक्षा थी—उसके लिए उसने सरकार को अपने यौवन, रूप-सौंदर्य तथा वैभव से आकृष्ट कर आधिपत्य प्राप्त करना चाहा—किन्तु वह उस पद को नहीं प्राप्त कर सकी। कुलवधु की आकांक्षा ने उसके जीवन को साधनामय बना दिया और वह अपनी वृत्ति को छोड़ कर निस्वार्थ भाव से मानवता की सेवा में तत्पर हो गई। उसने सेवा भाव से उस महत्व को प्राप्त कर आदर्श-मूल्यों में गरिमामय अध्याय जोड़ दिया। उसने सिद्ध कर दिया कि सेवाभाविनी वैश्या भी कुलवधु के अस्तित्व को प्राप्त कर सकती है।

बुद्धगुप्त

क्षत्रिय वंशज भारत-निवासी जलदस्यु बुद्धगुप्त वीर महत्वाकांक्षी व्यक्तित्व के रूप में अवतरित हुआ। चम्पा के साथ बन्धन मुक्त होने पर वह अपने आपको कुलीन

---

१. चूड़ीवाली (आकाशदीप)--पृ० सं० १६१
२. चूड़ीवाली ,, ,, १६१

बताता हुआ अपना परिचय देता है साथ ही दस्यु-वृत्ति को दुर्भाग्य कहता है:—"मैं भी ताम्रलिपि का एक क्षत्रिय हूं चम्पा ! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बन कर जीवन बिताता हूँ ।"[१] उसने दस्युवृत्ति को सहज रूप में नहीं अपनाया था - वह वीर साहसी नवयुवक रहा किन्तु स्थितियों ने उसे इस कर्म के प्रति विवश कर दिया था। वह सहृदयता के मूल्यों को भुला कर क्रूर बन गया था—उसके मानस में प्रतिहिंसा की भावना व्याप्त हो गई थी। यहां तक कि वह ईश्वर नाम की किसी संज्ञा को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था किन्तु चम्पा के सौंदर्य और संवेदनशील भावनाओं ने उसकी क्रूरता को विचलित कर दिया था—वह उसके समक्ष पूर्ण रूप से समर्पित था—चम्पा को प्रेम करने लगा था—और उसके प्रेम को स्वीकारते हुए उसने अपनी दुर्बलता को व्यक्त किया—चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, में उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है।"[२]

चम्पा को प्राप्त करने के लिए उसने अपने व्यक्तित्व को झुका लिया था। वह चम्पा के प्रेम के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता था न कि अधिकार ! उसके मानस में व्यभिचार का लेश भी नहीं था—वह तो चम्पा के हृदय पर विजय प्राप्त करना चाहता था—न कि उसके सौंदर्य का पान करने के लिए विवश था। उस दुर्दान्त व्यक्तित्व के लिए चम्पा अप्राप्य नहीं कही जा सकती किन्तु वह अपने सिद्धान्तो की हत्या नहीं कर सका और उस देवी की भावनाओं पर अधिकार करने के लिए प्रयत्नशील भी नहीं हुआ—वह तो उपासक बन कर यही कहता है:—"तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"[३] वह उससे बिलग रह भी नहीं सकता—उसे देवी के रूप में स्वीकारता है। वह चम्पा को अपने साथ ले जाना चाहता है—उसके चरणों में अतुल वैभव समर्पित कर देना चाहता है—अपने देश में पहुंचकर सानन्द जीवन व्यतीत करने की उसमें उत्कट इच्छा है—और इसी की पूर्ति के लिए चम्पा के समक्ष प्रस्ताव रखता है:—"चलोगी चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी जन्म भूमि के अङ्क में ? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें।"[४]

यहां यह कहा जा सकता है कि आकाशदीप का यह पात्र अपनी जन्मभूमि के

---

१. आकाशदीप पृ० सं० ८
२. आकाशदीप पृ० सं० १७
३. आकाशदीप—पृ० सं० ११
४. आकाशदीप—पृ० सं० १७

प्रति कर्तव्यनिष्ठ है, उसके प्रति भावनाशील है, भारत के अभाव में वह नहीं रह सकता-इसीलिए उसने चम्पा से प्रेम की कसक अपने हृदय में संजोकर कर्तव्य का निर्वाह किया— किन्तु यह उसके त्याग अथवा कर्तव्य का प्रतीक नहीं कहा जा सकता है अपितु पराजय की प्रतिक्रिया मात्र है।

गूदड़सांई

आज 'संत' नाम से एक आड़म्बरपूर्ण व्यक्ति सामने आकर घृणा के भाव उत्पन्न कर देता है किन्तु कितने ही सात्विक-वृति के साथ अल्हड़पन में जीने वाले पागल-सरीखे व्यक्ति वस्तुतः संत होते हैं— जिन्हें यह समाज नहीं पहचानता है – ऐसा ही एक पात्र गूदड़सांई है – जो मोहन के पिता से गूदड़ी के छीने जाने के संदर्भ में सहजता के साथ चैतन्य का स्वरूप व्यक्त करता है:—इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूँ—रखता हूं फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए; उनके मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी जो छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान ही दया करते हैं।"[1]

गूदड़सांई सरल एवं सात्विक हृदय का संत है—उसकी मान्यता है कि भगवान बाल-स्वरूप में आकर उसके साथ खिलवाड़ करते हैं—और वह उनके साथ खेलता है। जब बच्चे उसके चीथडों से बनी गूदड़ी को खैंच-खैचकर भागते हैं तो—वह भी उनके पीछे दौड़ता है—और निर्मालय-हृदय बच्चों के साथ खेलता रहता है। वह प्रत्येक बच्चे के हृदय में भगवान को देखता है—और अपने भगवान से सहज रूप में बातें करता है। संत का दृष्टिकोण कितना व्यापक हो गया था—वह इस सृष्टि को ईश्वर-मय मानता था—दीन-हीन जनों में अपने करुणाकर के दर्शन कर पाता था।

उसका भगवान करुणानिधि है—वह स्वर्ण मुद्रायें अथवा अतुलित-वैभव सम्पदा को कभी नहीं लूट सकता है—क्योंकि उनका आधार घृणा और कलुषित वृत्ति है, वह तो चीथडों से ही प्रेम कर सकता है—क्योंकि उन पर दया करने वाला इस ससार में कोई नहीं है—उनके साथ तो भगवान ही खेल सकता है। गूदड़सांई का दर्शन आदर्शनिष्ठ और सहज रूप में प्रस्तुत होता है।

नूरी

नूरी अपनी कहानी की नायिका है—जो मध्यकालीन संत्रासित स्थितियों से पीड़ित है—बन्धनहीन होकर अपने ही साम्राज्य में जीना चाहती है। वह याकूब के प्रति समर्पित है— अपने प्रेम-प्रसंग के संदर्भ में प्रेम की विशदता को व्यक्त करते हुए

---

१. प्रतिध्वनि— पृ० सं० १४ (गूदड़साईं)

कहती है—"दोनों लोकों से बढ़कर।"[1] उसका प्रेमी याक़ूब काश्मीर की परतन्त्रता से पीड़ित है—वह अकबर की हत्या करने के लिए कृत संकल्प है किन्तु नूरी उसे इस कृत्य से बचाने के लिए अपनी कसम तक दे डालती है। वह उसे अकबर की कुदृष्टि से बचाना चाहती है। नूरी अनेक वर्षों के पश्चात् जब मुक्त हुई तो—उसने अपनी प्रणय-पीड़ा को जन सेवा में लगा दिया था। सराय में रूग्ण व्यक्ति के प्रति संवेदनशील होते हुए उसने अपनी कर्तव्य भावना को व्यक्त किया:—'मैं लंगरखाने में रोटियाँ बाँटती हूँ। मेरा नाम नूरी है। जब तक तुम्हारी पीड़ा अच्छी न होगी मैं तुम्हारी सेवा करूंगी। रोटियाँ पहुँचाऊँगी, जल रख जाऊँगी। घबराओ नहीं। यह मालिक सबको देखता है।"[2] वह मानव-सेवा के लिए तत्पर थी—किसी भी असहाय रूग्ण को देखकर उसकी सेवा में तल्लीन रह कर अपने जीवन की विगत-मधुर-स्मृतियों को विस्मृत कर देना चाहती थी। वह अपने प्रेमी के लिए बंदिनी बनाई गई - इसके अतिरिक्त उसका कोई अपराध नहीं था—और इसी कारण उसने घुटनपूर्ण यातनामय जीवन जीना स्वीकार किया। उसने अपने प्रेमी को मुक्त रखने के लिए उसकी भावनाओं को दबाने की चेष्टा की—एक क्षण उसने यहाँ तक कह दिया—आप चाहे काश्मीर को प्यार करते हो; पर कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जो आपको प्यार करते हो!"

नूरी ने पीड़ा के अतिरिक्त क्या पाया ? प्रेम के एक क्षण ने उसके जीवन का मधुमय सौरभ लूट लिया और उसे अंधी-कोठरी में ढकेल दिया—किन्तु वह उस क्षण को विस्मृत न कर सकी—उसी पीड़ा में शाश्वत रूप से जलती रही। वह अभागिन् अपने प्रेम को कर्तव्यमान कर मानवीय-प्रेम में ढालने का प्रयत्न करने लगी—और इसी क्रम में उसे उसका प्रणयी मिला किन्तु उसे वह पहचान न सकी—अब उसे यह विदित हुआ कि वह अपने प्रणयी की सेवा में रत है तो—उस क्षण की विह्वलता में कुछ न कह सकी—और जब उसे चेतना आई तो सर्वस्व लुट चुका था।"—नूरी उसका सिर हाथों पर लेकर उसे लिटाने लगी। साथ ही अभागे याक़ूब के खुले हुए प्यासे मुँह में, नूरी की आँखों के आँसू टपाटप गिरने लगे।"[3]

नूरी ने आदर्श-प्रणय की भूमिका में अपने अस्तित्व का त्याग कर दिया और उस पीड़ा में दीपशिखा की तरह जलती रही।

याक़ूब

काश्मीर का शहजादा युवक याक़ूब वीर, उत्साही तथा भावुक व्यक्तित्व

---

१. इन्द्रजाल—नूरी—पृ० सं० ५४
२. „ „ „ ६४
३. „ „ ६६

रहा। उसे अपनी जन्म-भूमि काश्मीर का पराधीन होने का अत्यन्त कष्ट था—वह उसकी मुक्ति के लिए स्वयं का बलिदान करने को प्रस्तुत था—अपने राष्ट्र प्रेम के संदर्भ में नूरी से कहता हैं:—पागल! मेरे सामने एक ही तस्वीर है। फूलों से भरी, फलों से लदी हुई, सिन्ध और झेलम की घाटियों की हरियाली! मैं इस प्यार को छोड़कर दूसरी ओर..................।"[1] वह अपनी जन्मभूमि से असीमित प्रेम करता है—और उसकी मुक्ति को अपना धर्म समझता है। मुक्ति ही नहीं अपितु उसके मानस में प्रतिहिंसा की अग्नि धधक रही है—वह अकबर की हत्या कर देना चाहता है—इस मार्ग के मध्य नूरी का प्रेम बाधक बना हुआ है—वह नूरी को बहुत प्रेम करता है किन्तु जन्मभूमि के प्रेम के सामने नूरी का प्रेम उसे तुच्छ प्रतीत होता है और वह नूरी से कह देता है:—"नूरी मैं तुम्हारे प्यार को लौटा देने के लिए आया हूँ।"[2] न वह नूरी से ही विश्वासघात कर सकता है और न अपनी कर्तव्य भावना से विलग ही होना चाहता है। यह उसका दुर्भाग्य रहा कि—उसके प्रयत्न कभी सफल नहीं हुए और उसे हर क्षण निराशा ही हाथ लगी। जब वह बन्दीगृह से मुक्त होकर आया तो नूरी का प्रेम उसके हृदय से लुप्त नहीं हुआ था—उसने अपनी वेदना व्यक्त करते हुए नूरी से कहा:—"मैंने अकबर के सामने तलवार उठाई और लड़ा भी, जो कुछ मुझसे हो सकता था वह काश्मीर के लिए मैंने किया.................. अपने प्यार करने वाले को देखना चाहता था।"[3] याकूब भावनाशील व्यक्तित्व होते हुए भी कर्तव्यनिष्ठ पात्र के रूप में सामने आया है।

छोटा जादूगर

'छोटा जादूगर' कथा का यह वह पात्र है—जो अपनी सहज जादूगरी से पाठकों के हृदय पर विजय प्राप्त करने में सफल हुआ है। यह वह भारतीय बालक है—जिसके मन में देश-प्रेम के प्रति श्रद्धा और शैशव से ही दायित्व निभाने की शक्ति है—जो कर्तव्यशील होकर अपने आदर्शों को स्थापित करता है। अपनी कर्तव्य भावना को लेखक से सहज रूप में कहता है:—"तमाशा देखने नहीं दिखाने निकला हूँ। कुछ पैसे ले जाऊँगा, तो माँ को पथ्य दूँगा। मुझे शरबत न पिलाकर आपने मेरा खेल देख कर मुझे कुछ दे दिया होता, तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती।[4]

यह मनस्वी बालक दीन अवश्य है किन्तु याचक की तरह किसी के आगे

---

१. इन्द्रजाल—नूरी—पृ० सं० ५५
२. " " " ५८
३. " " " ६५—६६
४. इन्द्रजाल—छोटा जादूगर—पृ० सं० ४१

हाथ फैला कर करुणा पर नहीं जीना चाहता अपितु श्रम के माध्यम से स्वावलम्बन-पूर्ण जीवन जीता हुआ अपने कर्तव्यों की भूमिका निभाना चाहता है उसे अपने पिता पर गौरव है—जो देश की स्वतन्त्रता के कारण जेल में है—और स्वयं भी पिता का भागीदार बनना चाहता है किन्तु उसके सामने रुग्ण माता का जीवन कर्तव्य का मुँह फैलाये हुए सामने खड़ा है। वह स्वाभिमान के साथ अपना इतिहास लेखक को बताता है—उसके स्वर में कहीं भी दैन्य अथवा कारुणिक भाव नहीं है—अपितु दृढ़ संकल्पों का सामर्थ्य है। जब वह खेल दिखा कर जल्दीं ही लौटना चाहता है तो लेखक के प्रश्न का उत्तर देता है:—माँ ने कहा है, कि आज तुरन्त चले आना। मेरी घड़ी समीप है।[1]—इस वाक्य में कर्तव्यशीलता—अपरिमित धैर्य और आत्मशक्ति का सम्बल है। वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं हो सका—प्रत्येक क्षण माँ की आज्ञा को स्वीकार करता हुआ नैष्ठिक जीवन जीता रहा। मातृत्व का अभाव किसी भी शिशु के लिए अत्यन्त कारुणिक एवं दुखद घटना होती है किन्तु प्रसाद का यह पात्र इस क्षण भी अपनी आस्थाओं को विखण्डित नहीं कर सका—और अपने साहस व आत्म बल का परिचय दिये बिना नहीं रह सका। प्रसादजी ने इस आदर्श-पात्र की रचना करके अपने आदर्शवाद के अस्तित्व को चिर सुरक्षित कर लिया।

राधे

'विरामचिन्ह' कथा का यह सामान्य-पात्र—जो परिगणित जाति का है—अपनी दीन वृद्धा माता का इकलौता पुत्र—जिसका जीवन ताड़ी के नशे में ही सदा उन्मादित रहता रहा वह भी धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोही हो उठा—वह उस देव प्रतिमा के मंदिर में प्रवेश करने को कटिबद्ध हो गया—जो सभी का नियामक है। वह चौकीदार से कहने लगा—"अकेले-अकेले बैठकर भोग-प्रसाद खाते-खाते बच्चू लोगों को चरबी चढ़ गई है। दरशन नहीं रे—तेरा भात छीन कर खाऊँगा। देखूँगा कौन रोकता है?"[2] उसके मन में सवर्णों द्वारा किये जारहे शोषण, अनाचार व असमानता के प्रति क्षोभ हो उठा था। उसके विद्रोही भावनाओं की भूमिका सवर्णों का एकाधिपत्य था—जो आडम्बरपूर्ण जीवन जीते हुये किसी भी दीन के साथ सहानुभूति नहीं रखते थे। अपनी माता के निषेध करने पर वह अपनी तीव्र भावनाओं में शोषण के अनाचार को व्यक्त करता हुआ प्रश्न कर बैठता है:—"इन मन्दिर वालों ने अपनी झूठन भी तुझे दी ?"[3] उसके हृदय में एक तीव्र ज्वाला थी—

---

१. इन्द्रजाल (छोटा जादूगर) पृ० सं० ४५
२. इन्द्रजाल—विराम-चिन्ह—पृ० सं० १८६
३. „ „ „ „ „ १८७

संकल्प था—हठधर्मिता भी कही जा सकती है—किन्तु उसने प्राण देकर अपने व्रत को पूर्ण किया।

राधे की माँ

राधे की माँ—जो वृद्धा हो चुकी थी—अपना सुख-दु:ख के साथ निर्वाह करके जीवन जीती थी। उसे भगवान के प्रति गहन आस्था थी—जबकि उसने अपने जीवन में कभी देव-प्रतिमा का दर्शन नहीं किया था और न प्रसाद की झूठन ही प्राप्त की थी—उसे वह अपना अधिकार नहीं मानती थी—अपितु कुकर्मों का फल ही स्वीकारती थी। यद्यपि वह नैवेद्य चढा कर ही भोजन करती थी—किन्तु मानसिक भावना से ही। अपने विद्रोही पुत्र राधे को समझाते हुये वह कहती है:—"राधे बेटा, आज तक तूने कौन से अच्छे काम किये हैं जिसके बल पर मन्दिर में जाने का साहस करता है।"[1]

वृद्धा ने अपने पुत्र को रोकना चाहा—उसे उसकी जाति और कर्मों के प्रति सजग किया; वह अपने धर्म से अर्थात् कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहती थी—उसके मन में देव दर्शन की तीव्र लालसा थी—किन्तु उसे अधिकार नहीं मानती थी—जब राधे पर आक्रमण हुआ और उसमें राधे की मृत्यु हो गई थी तो वृद्धा चीख पड़ी—"राधे की लोथ मंदिर में जायगी।"[2]—और उसने अपने बेटे की कामना को पूर्ण करना चाहा किन्तु मंदिर की देहरी पर विराम चिन्ह बन कर रह गई।

लैला

'लैला' प्रसाद की कहानी 'आंधी' की सामान्य नायिका है—जिसके सरल हृदय में अनुराग की सहज-भावना विद्यमान है—जो प्रेम की तीव्र भावना लिए अपने प्रेमी से मिलने के लिये प्रतिक्षण विश्वास के साथ जी रही है। वह निश्छलमना है—अपने प्रेमी के पत्र को हर किसी से पढ़वा कर अजीब से सुख की अनुभूति करती है किन्तु जब उसका विश्वास छला जाता है, उसकी आस्थायें टूट जाती हैं—और वह प्रतारित होकर भीषण आग में जलती हुई प्रतिहिंसा को जन्म दे बैठती है—तब अपने मानस की वात्यायित स्थिति को व्यक्त करती हुई सहज भाव से कहती है:—"वह जो तेज हवा चलती है, जिसमें बिजली चमकती है, बरफ गिरती है, जो बड़े-बड़े पेड़ों को तोड़ डालती है।..........................हम लोगों के घरों को उड़ा ले जाती है ....।"[3]

---

१. इन्द्रजाल बिरामचिन्ह पृ० सं० १८७

२. ,, ,, ,, ,, १८७

३. आंधी—पृ० सं० ३६

अपना विश्वास ! जिसके सम्बल पर उसकी आशाओं का पर्वत खड़ा हुआ था—टूट कर गिर पड़ा तो—वह हत्या के लिए विवश हो उठी । वह प्रणयिनी थी—अपने प्रेम के लिए उसमें उत्सर्ग की उत्कट भावना थी—समर्पण की इच्छा और आकांक्षाओं की कामना थी—फिर भी वह हिंसामय वातावरण के लिए प्रस्तुत न कर सकी स्वयं को—अपितु अपने प्रिय के दर्शन के लिए लालायित हो उठी और वहाँ जा पहुँची—जहाँ उसका अविश्वासी प्रिय परिवार के साथ था । उसका पत्र उसके सामने फैंक कर उसने निर्भीकता के साथ अपना पत्र सुना और कहा:—"ठीक तो है ! मैंने सुन लिया । अब आप उसको फाड़ डालिये ! तब आपको चाश्धारी दिखाऊँ ।"[1]

लैला ने अपने प्रेम को कलुषित नहीं होने दिया—अपनी प्रतिशोधात्मक भावना को व्यक्त कर वह अपने प्रेमी के जीवन को दुःखान्त नहीं बनाना चाहती थी । मूंगे की माला बच्ची के गले में पहिनाकर वह अश्रुपूरित नयनों के साथ वहाँ से चल दी । उसने अविश्वास के प्रति एक भी शब्द व्यक्त नहीं किया—अपितु अपनी पीड़ा को सदा के लिए समाप्त कर देने की इच्छा से आत्म-हत्या का अनुसरण कर लिया ।

मधुवा

मधुवा सामान्य-वर्ग का अनाथ बालकों का प्रतिनिधि पात्र है—जिसका शैशव दुराक्रान्त हो गया है—जिसकी आशायें धूमिल हो उठी और हृदय-हीन लोगों के मध्य झिड़कियाँ एवं गालियाँ सुनता हुआ अपनी विवश जिन्दगी जीने के लिए बाध्य है । जिन अनाथ-बालकों को जीवन में कभी किसी का स्नेह नहीं मिल सका—जो नैतिक-शिक्षा से वंचित रह कर केवल दास-कर्म करने के लिए विवश हैं—उनका प्रतिनिधि पात्र मधुवा भी संत्रस्त है । वह अमीर के घर में रहता हुआ भी भूखा ही रह पाता है—किन्तु उस बन्दी-गृह से मुक्त होने के लिए लालायित है । मधुवा शराबी युवक से कहता है:—"मैंने दिन भर से कुछ खाया नहीं ।"[2]—वह उस युवक के साथ ही उस घर से निकल पड़ता है । मधुवा के मानस में भले-बुरे की पहचान स्नेह ही है । वह सम्पदा से किसी को महान् मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है । अकर्मण्य शराबी से वह स्वयं को सम्पृक्त कर लेना चाहता है । वह किसी की दया पर नहीं जीना चाहता हैं—कर्म के प्रति श्रद्धावान है, जब शराबी युवक उसे निकाल देना चाहता है, काम करने की बात कहता है तो मधुवा उत्तर देता है: "तब कोई काम करना चाहिये ।"[3]

---

१. आंधी—पृ० सं० ४५
२. मधुवा- (आंधी)—पृ० सं० ६२
३. „ „ „ ६७

वह श्रम करके स्वतंत्र रूप से जीना चाहता है। वह किसी भी प्रकार का कर्म करना स्वीकार कर लेता है--उसे स्वावलम्बन पर जीना रुचिकर है--स्नेहमय वातावरण में जीना भी एक सुख है।

वह उस शराबी युवक के साथ रह कर श्रम की दो रोटियाँ खाने में सुखी है किन्तु दासता को नहीं स्वीकार सकता, वह कहता है :—कहीं भी रह सकूंगा, पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूंगा।"[1]

मधुवा सरल हृदय, स्वाभिमानी बालक है, वह दासतापूर्ण वातावरण में रह कर झिड़कियाँ सुनना कभी नहीं स्वीकार सकता। मधुवा आदर्शनिष्ठ सामान्य-पात्रों में अपना अस्तित्व रखता है।

फिरोजा

फिरोजा जीवन के प्रति आस्थावान् पात्रा है—उसके मन में धर्मान्धता की क्रूरता नहीं—अपितु आत्मविश्वास एवं सहयोग तथा करुणा का समन्वय रूप है। मानवता की गरिमा को अनुभूत करने वाली इस पात्रा ने बलराज को आत्महत्या करने से बचाकर उसे जीवन का अस्तित्व समझाया और उसे आस्थावान् बनने में सक्रिय सहयोग दिया। वह अपने प्रणयी अहमद के प्रति पूर्ण समर्पित है, तथा विश्वस्त है। राजा तिलक के द्वारा परतंत्रता से मुक्त किये जान पर वह कृतज्ञता से भर जाती है। अपने प्रणयी की वीरता और उसके साहस के प्रति मुग्ध है, वह व्यक्ति के व्यक्तित्व से स्नेह करती है न कि उसकी अनुदात्तता अथवा क्रूर प्रकृति से। जब वह अहमद को अनैतिक-कार्य से रोकती हैं और वह उसकी उपेक्षा करता है तो भावनाओं को कुचल कर कह देती है :—"मैं बिकी हूं अहमद ! तुम भला मेरे हाथ क्यों बिकने लगे ? लेकिन तुमको मालूम है कि तुमने अभी राजा तिलक को मेरा दाम नहीं चुकाया।"[2] वह अहमद के प्रणय को ठुकरा कर उसके अमानवीय व्यक्तित्व से दूर चले जाना चाहती है। जब वलवन उससे अहमद के प्रतिरोध की योजना के संदर्भ में कहता है तो—वह स्वयं अपनी भावना को व्यक्त करती है—"अहमद की छाया से तो मुझे भी बचना है।"[3]—किन्तु जब द्वन्द्व-युद्ध में अहमद मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो—वह जीवन भर उसकी कब्र को साफ करते हुए आदर्श प्रणयिनी की तरह जीवन व्यतीत कर देती है।

---

१. मधुवा (आँधी) पृ० सं० ६८
२. दासी ,, ,, ९९
३. ,, ,, ,, १०१

इरावती

इरावती राजा तिलक की बहिन और बलराज की प्रणयिनी है। वह अपने सत्य संकल्प से कभी विचलित नहीं होना चाहती। अविश्वास उत्पन्न कर जीवन-सुख का उपभोग करने की अपेक्षा वह दासता स्वीकारने में आत्मतुष्टि का अनुभव करती है—वह भ्रांत बलराज की प्रार्थना को अस्वीकारते हुए कहती है :—तुम्हारे पुरुषार्थ के लिए बहुत सी महत्वाकांक्षायें हैं। उन्हें खोज लो। मुझे भगवान की शरण में छोड़ दो। मेरा जीवन, अनुताप की ज्वाला से झुलसा हुआ मेरा मन, अब स्नेह के योग्य नहीं।"[1]—वह अपने स्वामी—जिसकी क्रीत दासी है—उसके साथ प्रतारण करने को प्रस्तुत नही है। सत्य की हत्या कर अपना प्रेम प्राप्त नहीं करना चाहती—उसका धर्म और कर्तव्य यही है कि—वह विश्वास के साथ जीवन जी सके। अहमद की वासनाजन्य प्रवृत्ति को दुत्कारते हुए यही कहती है :—"मैं, मैं नहीं रही; मैं दासी हूं, कुछ धातु के टुकडों पर बिकी हुई हाड़-मांस का समूह, जिसके भीतर एक सूखा हृदय पिंड है।"[2]—न उसके मानस में प्रेम की लालसा है, न सम्पदाओं के प्रति इच्छा और न भोगवाद की कामना ही—वह तो कर्तव्य की धुरी पर घूमते रहना ही अपना धर्म और आदर्श समझती है।

बलराज

बलराज स्वयं दास-जीवन के प्रति हीन-भावना से ग्रस्त युवक है, वह इरा को प्राप्त करना चाहता है किन्तु दया-भाव पर नहीं। अपनी विवशताओं के मध्य परतंत्रता से मुक्त होने के लिए विकलता है :—

"कुछ भी नहीं फिरोजा? हमारी धार्मिक भावनायें बंटी हुई हैं, सामाजिक जीवन दंभ से और राजनीतिक क्षेत्र कलह और स्वार्थ से जकड़ा हुआ है। शक्तियाँ हैं, पर उनका कोई केन्द्र नहीं। किस पर अभिमान हो, किसके लिए प्राण दूं?"[3] बलराज मानवीय गुणों से सम्पन्न उत्साही वीर युवक है—स्वाभिमान से जीना चाहता है। वह मानव-निर्मित रूढ़-परम्पराओं को विश्रृंखल कर देना चाहता है। इरा के विपन्न जीवन की व्यथामयी विवशता की करुण-कथा सुन कर मौन नहीं रहता अपितु अपना आक्रोश व्यक्त करता है :—"इरावती! ....पशुओं के समान मनुष्य भी

---

१. दासी (आंधी पृ० सं० ८४)
२. ,, ,, ,, ९४
३. ,, ,, ,, ७५

बिक सकते हैं ....तुम नहीं जानती हो कि तुमको खोजने के लिए ही मैंने यवनों की सेवा की।"[1]

बलराज में राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान, मानवता के प्रति उदात्तभावना तथा इरा के प्रति प्रेम की आदर्श-भावना रही। उसने अहमद का प्रतिरोध करके यह सिद्ध कर दिया कि—मानवीय गुण सभी प्रकार के व्यामोह तोड़ कर मानव को धर्म के प्रति आस्थावान् बना देते हैं।

तिलक

राज तिलक—जिसने स्वाभिमान का सौदा कर लिया और वैभव को प्राप्त कर लिया—वही प्रायश्चित के क्षणों में जीता हुआ अपनी वेदना को कह रहा है :—मैंने आकाँक्षा का नशा पी लिया है। वही मुझे वेवश किये हैं ....मैं भी हिन्दुस्तान का ही एक कंगाल था। प्रतिदिन की मर्यादा वृद्धि........................जाने दो! एक बनावटी गम्भीरता! छलपूर्ण विनय........................फिर मैं तुमसे अपनी सहृदयता क्यों प्रकट करूं?"[2]

तिलक ने जो कुछ किया—उसके प्रति वह स्वयं अवनत था—उसके मन में उस कलंक को धो डालने की भावना थी, भारतीय संस्कृति के सारस्वत तत्व उसमें विद्यमान थे। वह जिस स्वतन्त्रता में जी रहा था—वह उसकी परायत्तता थी। उसके मन में करुणा एवं प्रेम था—उसने बलराज और फिरोजा को बिना किसी मूल्य के दासता से मुक्त कर दिया था। जब वह हिन्दुस्तान लौट कर आया तो—उसका मानस पश्चात्ताप से भर उठा था—भूल स्वीकारते हुए उसने कहा :—

"मेरी दुखिया इरावती! मुझे क्षमा कर! में तुझे भूल गया था।"[3]

घीसु

घीसू अपने सीमित साधनों से आजीविका का निर्वाह करने वाला सामान्य पात्र है। उसके मानस की दया ने उसके साथ बिन्दो को कर दिया—किन्तु वह अपने धर्म पर चलता हुआ जीवन को पूर्ण कर चला किन्तु विकृति को स्थान नहीं दे पाया। अन्तिम क्षणों में उसके शब्द थे बिन्दो! क्षमा करना! मैंने तुम्हें बड़ा दुःख दिया! अब मैं चला, लो यह बचा हुआ पैसा! तुम जानो..............।[4]

---

१. दासी (आंधी पृ० सं० ८५)
२. ,, ,, ,, १०१
३. ,, ,, ,, ७६
४. ,, ,, ,, १०३
५. घीसू ,, ,, ११६

घीसू ने बदनाम विन्दो को धर्म-भावना के कारण अपने घर में स्थान दिया—और न चाहते हुए भी उसके निमित्त चार आने प्रतिदिन के त्याग किये। उसे विन्दो के प्रति कोई लगाव नहीं था—किन्तु उसकी दया का प्रतिफल उसे मिला था—जिसे उसे निभाना था। उसका अल्हड़पन और हंसी के क्षण एक सामान्य सी घटना ने छीन लिये थे। प्रसाद का यह पात्र कितना आदर्शपूर्ण कहा जा सकता है—यह प्रश्न विवादास्पद भले ही हो किन्तु उसका नैतिक पक्ष इतना प्रबल है कि उसके जीवन की अन्य असमानतायें उभर नहीं पाती हैं। वह एकाकी था—विन्दो के साथ उसके मन में भी विकृतियों का उभरना सहज था—किन्तु वह मूक साधक सा जीवन जीता रहा।

राधा

राधा—प्रसाद के उन पात्रों में स्थान रखती है—जो अपने आदर्श को सुरक्षित रखने के लिए संघर्षों के वातावरण में जीने की आत्मशक्ति रखती है—राधा का विवाह धनकुबेर के अकर्मण्य पुत्र से होने चला तो उसने निरपेक्ष भाव से कहा—"हाँ महादेवी! जब गुरुजनों की आज्ञा है, तब उसे तो मानना पड़ेगा।"[1]—वह भारतीय संस्कृति की परम्पराओं को विशृंखल करने के लिए सहमत नहीं थी अपितु उनके लिए टूट जाना ही धर्म समझती थी किन्तु असंस्कृत व्यवस्था को स्वीकारने के लिए भी सहमत नहीं थी। नग्न साधु के दर्शन नहीं करने का कारण व्यक्त करती है:—"नहीं पिताजी! वह स्वयं दुर्विनीत है। जो स्त्रियों को आते देख कर भी साधारण शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकता, वह धार्मिक महात्मा तो कदापि नहीं।"[2] उसके मानस में धर्म के प्रति आस्था थी—किन्तु जो धर्म शिष्टाचार की मर्यादाओं को विखण्डित करता हो—उसके प्रति वह श्रद्धा व्यक्त नहीं कर सकती। जब धनकुबेर उसकी मान्यता को सहन नहीं कर सका और राधा को घर से निष्कासित करना चाहा-तो वह आत्मबल को नहीं खो सकी—अपितु धैर्य व संकल्प के साथ नैतिक पक्ष को प्रस्तुत किया—"मैं धनकुबेर की क्रीतदासी नहीं हूं। मेरे गृहिणीत्व का अधिकार केवल मेरा पदस्खलन ही छीन सकता है।"[3]—वह स्वयं पर विश्वस्त थी—आचरण की विश्वसनीयता ने ही उसे संकल्पशीलता व आत्मबल दिया था। वह पराजित नहीं हुई—अपितु घर में अकेली रह कर कर्तव्य का निर्वाह करती रही-घर को सभी छोड़ गये किन्तु गृहिणी ने घर नहीं छोड़ा, कर्तव्य को विस्मृत नहीं किया और धर्म की सुरक्षा की। जब नन्दन मूर्छित कलश को अपने साथ लेकर घर लौटा तो आश्चर्य

---

१. व्रत भंग-आंधी—पृ० सं० १२६
२. ,, पृ० सं० १३३
३. ,, पृ० सं० १३४

चकित हो गया किन्तु राधा ने कहा—"हाँ स्वामी ! मैं अपने घर में हूं। गृहिणी का कर्तव्य पालन कर रही हूं।"[1]

राधा का जीवन संघर्ष की स्थितियों में संतप्त होकर भी कर्तव्य भावना से विचलित नहीं हुआ—अपितु प्रसादजी के इस पात्र ने नारी-समाज के लिए नैतिक-बल प्रस्तुत किया।

विजया

विजया समाज की वह पात्रा है—जिसके यौवन के साथ विलासी युवक खिलवाड़ करके उसे भटकने को छोड़ देते हैं। विधवा विजया अपने बच्चे के साथ भटक रही है—और पराजित कमल उसे अपना अन्तिम रुपया देता है तो—वह स्वाभिमान के साथ कहती है—"आज तुम अपने पाप का मूल्य दिया चाहते हो—वह भी एक रुपया।"[2]

वह उस मनुष्य के मानस में जीवन जीने की आस्था को जगा देती है---जो मृत्यु के द्वार तक पहुंच गया था---वह उसे विश्वास देकर श्रम के साथ स्वावलम्बन जीवन-जीने का संकल्प भर देना चाहती है:—

"थोड़े से परिश्रम से हम लोग एक अच्छी गृहस्थी चला लेंगे।"[3]

विजया में जीवट है, और श्रम के साथ जीने की लालसा है, पराजित क्षणों में जीना उसे नहीं भाता। सुन्दरी ने कमल का दृढ़ता के साथ हाथ पकड़ कर उसे जीवन का मार्ग प्रदर्शित किया तो कमल को अनुभव हुआ—"चांदनी निखर आई है, बादल हट गये हैं।"

विजया पराजित क्षणों में जीने वाले व्यक्तित्व के लिए आशीर्वाद थी। प्रसाद जी ने इस पात्र के माध्यम से सिद्ध किया कि—भिक्षा-वृत्ति के माध्यम से संत्रस्त जीवन जीने की अपेक्षा विधवा अथवा परित्यक्ता को अपना जीवन किसी ऐसे व्यक्तित्व से सम्पृक्त कर लेना चाहिये—जो अपने स्तर पर टूट चुका हो!

मधूलिका

कोशल की कृषक-कन्या मधूलिका ने कोशल-उत्सव पर नरेश के साथ खेत में बीज बिखेरे और पुरस्कार में प्राप्त स्वर्ण मुद्राओं को सिर के लगाकर उसी पर

---

१. व्रत-भंग—आंधी पृ० सं० १३६
२. " " १५८
३. विजया-आंधी—पृ० सं० १५८

न्यौछावर कर दिये। जब उससे कारण पूछा गया तो उसने स्वाभिमान के साथ कहा—'देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"[१]—उस कुल-गौरव संरक्षिका ने अपने वंशजों के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए राजा को भी तर्कशून्य कर दिया—वह अनुग्रह पर जीने के लिए विवश नहीं थी—और न अपने कुल-गौरव को बेच ही सकती थी। उसे दुःख अवश्य था—किन्तु अपनी भूमि को प्राप्त करने के लिए वह विद्रोहिणी नहीं बनना चाहती अपितु राष्ट्रीय-परिवेश में अपनी भावनाओं को सम्पृक्त करती हुई कर्तव्यभाव को व्यक्त करती है।" नहीं, वह कौशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"[२]

वह अपनी भावनाओं का विसर्जन करने के लिए प्रस्तुत है किन्तु राष्ट्र—धर्म को विखण्डित करना उसे स्वीकार नहीं। वह मगध के राजकुमार की प्रार्थना को ठुकरा कर अपने दुःख में किसी को भी सम्मिलित न करने के लिए संकल्पशील है। उसमें कुल गौरव के संरक्षण एवं मान को सुरक्षित रखने का संकल्प है तो दुखमय क्षणों में जीने का साहस भी; राष्ट्र धर्म के नियमों को विखण्डित न करने की प्रतिज्ञा है—और उसके लिए आत्म-विसर्जन की भावना भी। नारी-सुलभ उसकी भाव-प्रवणता ने अरुण के समक्ष समर्पण कर दिया—और अपने प्रिय के लिए उसकी योजना को भी स्वीकारा तथा सहयोगिनी सिद्ध हुई किन्तु वैयक्तिक प्रेम से भी बढ़कर उसके राष्ट्र धर्म ने उसे प्रेरित किया—और वह अपने कर्तव्य को सत्य-संकल्प के साथ निभाने के लिए सेनापति से कहने लगी:—"पगली नही यदि वही होती तो इतनी विचार वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बांधलो! राजा के पास ले चलो।"[३]

वह अपने प्रेम के अस्तित्व से भी अधिक राष्ट्र-प्रेम को महत्व देकर कुल-गौरव परम्परा को सुरक्षित रख सकी। कुल-मर्यादा ने वैयक्तिक-सुखों के पर्वत को लुढ़का दिया—उसने अरुण के साथ विश्वासघात किया किन्तु अपने-आप के साथ नहीं कर सकी—एक ओर राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बचाया तो दूसरी ओर अपने प्रेम को विश्वस्त करते हुए पुरस्कार के रूप में राजा से कहा:—'तो मुझे भी प्राण-दण्ड मिले।"[४]

मधूलिका ने अरुण के साथ प्राण-दंड का पुरस्कार प्राप्त किया। वह अपने

---

१. पुरस्कार-आंधी—पृ० सं० ९८
२. " " २०१
३. " " २०२
४. पुरस्कार आंधी पृ० सं० २१६

प्रेमी के साथ मर कर अपने आदर्श को और भी गरिमामय बना गई। मधूलिका में त्याग एवं वलिदान की भावना स्वाभिमान के साथ जीवित रही।

अरुण

मगध का राजकुमार अरुण महत्वाकांक्षी एवं सरल हृदय व्यक्तित्व रहा—वह मधूलिका के स्वाभिमान-संकल्प पर मुग्ध हो उठा—उसमें भी स्वाभिमान के साथ जीने की लालसा रही थी—वह मधूलिका की झोंपड़ी में पहुँच कर उससे कहता है:—"सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ............।"[1] वह सहृदय व्यक्तित्व मधूलिका को प्राप्त करने के लिए लालायित अवश्य है, किन्तु हृदय की भावनाओं पर विजयी होकर। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध है किन्तु आन्तरिक सौंदर्य पर मधूलिका के द्वारा प्रार्थना ठुकराये जाने पर भी वह अपने प्रेम की हत्या नहीं कर सका—और अपने सैनिकों के साथ मधूलिका की झोंपड़ी में आगया तथा उससे कहा—"मधूलिका! बाहु वल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता?"[2]

अरुण भावुक वीर है, उसके मन में महत्वाकांक्षाओं का विस्तार है। वह निर्वासित अवस्था में भी दीन-भावना को जन्म नहीं दे सका—अपितु कोशल के जर्जर राष्ट्र को अधिकार में लेने की योजना का श्रीगणेश कर बैठा। उसमें अपरिमित उत्साह व संकल्प था—यह उसकी निर्भीकता के साथ श्रावस्ती पर आक्रमण की भूमिका से सिद्ध हो जाता है। वह अपने संकल्प को छिपाकर नहीं रखता है—अपितु मधूलिका को सारी योजना से अवगत करा देता है। मधूलिका के मानस में नवीन आशाओं का संचार करता हुआ अपने शौर्य का विश्वास व्यक्त करते हुए कहता है:—"चार पहर और विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा—और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा मधूलिके!"[3]

वह महत्वाकांक्षी वीर युवक अपनी योजना में सफल नहीं हुआ—उसका कारण मधूलिका ही थी किन्तु मधूलिका के अविश्वास को उसने अपने शब्दों में व्यक्त नहीं किया और न उसके प्रेम में घृणा को ही स्थान मिला—अपितु मौन साधक की तरह प्रेम के दण्ड को प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत हो गया। मधूलिका द्वारा प्राणदण्ड

---

१. पुरस्कार-'आंधी'—पृ० सं० २०१
२. ,, ,, ,, ,, २०५
३. ,, ,, ,, ,, २०६-२१०

पुरस्कार में माँगे जाने पर उसकी हंसी ने व्यक्त कर दिया कि वह एक आदर्श प्रेमी था—उसके मन में असफलता के संदर्भ में आक्रोश नहीं था।

बेला

बेला 'इन्द्रजाल' कहानी की नायिका है—जिसमें सरलता और क्रूरता दोनों का समन्वय है—जहाँ अपने प्रेमी गोली की संगीतात्मकता में लय होने की सुकुमारता है तो भूरे की हत्या के लिए कृपाण उठा लेने की शक्ति भी है। कबीले के सरदार का आदेश मानकर भूरे को पति भी कहती है तो उससे मुक्त होने की लालसा भी उसमें विद्यमान है। वह ठाकुर की क्रीतदासी बन कर वैभव के आनन्द में डूब जाने पर भी अपने गोली के प्रेम को नहीं भुला सकी—और ठाकुर को धोखा देकर गोली के साथ भाग आई। यह उसके सरल जीवन के निश्छल प्रेम का प्रतीक है—उसे वैभव की रस्सियाँ भी नहीं बांध सकी।

नन्दराम

नन्दराम आदर्शनिष्ठ मानव है—जिसके मन में दया, प्रेम और समानता की वृत्तियाँ पल्लवित हैं। वह वीर, साहसी और निर्भीक व्यक्तित्व है तो साथ ही परोपकारी आदर्शनिष्ठ भी। सलीम के दम्भी व अविश्वसनीय व्यवहार पर भी उसकी याचना को न ठुकरा कर मानवता के पक्ष का समर्थन करते हुए उसे ले आता है:—'ओहो! भले आदमी ऐसी-ऐसी बातो से भी कोई अपना घर छोड़ देता है? अच्छा, आओ, मेरे ऊँट पर बैठ जाओ।"[1]

वह प्रेमा से उस विदेशी युवक के आतिथ्य के लिए कहता है—तथा उसे हिन्दू कह देता है—सलीम के प्रतिवाद का उत्तर देते हुए कहता है:—ओहो! हिन्दुस्तानी भाई! हम लोग हिन्दुस्तान में रहने वालों को हिन्दू सा ही देखते हैं—तुम बुरा न मानना।"[2] यह उसके उदात्त मन का परिचायक है,—जो वर्ग भेद की सीमाओं को तोड़ चुका है, धार्मिक दीवारों को गिरा चुका है, नैतिक-आधारों पर जीने वाला नवयुवक हिन्दू होते हुए भी सलीम को मानवीय दृष्टि से देखता है। प्रेमा के प्रति अनैतिक आचरण करने पर उसे अन्य लोग जब मारते हैं तो वह कहता है:—ठहरो अमीर! यह हम लोगों का शरणागत है।"[3]—उसके आदर्श का कोई उत्तर नहीं है। अपराधी को भी क्षमा कर देना उसकी महान उदारता है। भारतीय संस्कृति में

---

१. सलीम इन्द्रजाल पृ० सं० २८
२. ,, ,, ,, ३०
३. ,, ,, ,, ३५

प्राण जाने पर भी प्रण नहीं छोड़ा जा सकता है––ठीक उसी प्रकार नन्दराम ने भी सलीम को प्राण दान दिया और अपने नैतिक-धर्म को सुरक्षित रखा।

प्रेमा

प्रेमा नन्दराम के आदर्श-प्रेम में रंगी हुई नायिका है—जो अपने प्रियतम के आदर्शनिष्ठ सिद्धान्तों पर अनुसरण करती रहती है। जब नन्दराम प्रवास में जाता है तो—वह उस गाँव के सभी व्यक्तियों में वर्ग-भेद को भुलाकर समानता के स्तर पर जीवन जीते हुए मानव-सेवा में लगी रहती है। उसके मन में अन्य भारतीय स्त्रियों की तरह धर्मान्ध रूढ़िवादिता अथवा अस्पृश्य-भावना नहीं हैं – वह अपने भगवान का प्रसाद सभी को वितरित करती है। जब सलीम उसे दूषित-दृष्टि से देखता है तो भी वह उसके प्रति घृणा के भाव नही लाती अपितु उसके अपराध को क्षम्य करती हुई कहती है—"सलीम ! तुम्हारे घर पर कोई नहीं है, तो वहाँ जाकर क्या करोगे ? यहीं पर पड़े रहो !"[1] प्रेमा का हृदय करुणा से आपूरित है––ईर्ष्या–द्वेष व प्रति-शोध की भावना से मुक्त उसका जीवन आदर्श-परम्पराओं पर आधारित था। वह सामान्य नायिका नहीं कही जा सकती—अपितु प्रसाद के आदर्शनिष्ठ उदात्त नायिकाओं में अपना स्थान रखती है। प्रेमा का जीवन व उसके आदर्श विश्व की स्त्रियों के लिए करूणामय सन्देश प्रसारित करने में सक्षम है—उसने अपने व्यवहार से धर्मान्ध सलीम का हृदय परिवर्तित कर दिया।

नन्हकूसिंह

व्यक्ति को समाज कुछ भी संज्ञा दे— किन्तु व्यक्ति के आदर्श उससे विखण्डित नहीं हो सकते हैं। समाज ने जिसे 'गुंडा' कह कर पुकारा—वह देवता निकला — ऐसा नन्हकूसिंह अपनी भावनाओं के विशृंखल होने के पश्चात् जीवन का क्रम बदल बैठा किन्तु उसके हृदय की स्वच्छता मलिन नहीं हो सकी––स्वाभिमान विखण्डित न हो सका—वह काशी का गुंडा कहला कर भी जीवन-पर्यन्त संकल्पशील रहा:— 'नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जूआ खेलने लगे, उसी दिन समझना वह मर गये।'[2]—वह अपनी दीनता में भी किसी का अनुग्रह स्वीकारने को प्रस्तुत नहीं हुआ। उसके जीवन में भी मान्यतायें और सिद्धान्त थे–वह नीति-धर्म को छोड़ना कभी नहीं स्वीकार कर सका। उसने काशी की वाराङ्गना से हमेशा गीत सुने किन्तु अपने आपको गिराया नहीं—वह इस बात को कहते हुए अपनी भावनाओं को व्यक्त कर गया

---

१. सलीम (इन्द्रजाल) पृ० सं० ३६

२. गुन्डा ,, ,, १४२

"मैं चिर कुमार ! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैंकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों ? तुम जानती हो ! मैं स्त्रियों का घोर विरोधी हूँ और पन्ना.................।"[१]

नन्हकू अपने जीवन में पराजित प्रेमी होकर स्त्रियों का विरोधी बन गया था—और उसने चिर-कुमार रहने का संकल्प ले लिया था—और इस व्रत का आजीवन निर्वाह किया। अपने प्रेम और कर्तव्य को वह प्रतिशोध में नहीं बदल सका—अपनी नैतिकता को उसने कलंकित नहीं होने दिया—अपितु राज-परिवार का सुरक्षा के लिए वह कह बैठा:—"राज-परिवार का एक बिना दाम का सेवक।"[२]—उसने राजपरिवार को फिरंगियों के षड़यन्त्र से मुक्त कराने के लिए संकल्प ले लिया। उससे कर्तव्य के संदर्भ में पूछे जाने पर उसने कहा:—"मैं मर सकता हूँ"[३] अपने बलिदान से भी वह राजपरिवार को बचाने के लिए तत्पर हो उठा।

नन्हकूसिंह गुंडा होते हुए भी आदर्श गुंडा रहा—उसने नैतिक-कर्तव्य का पालन करते हुए अपने प्राण दे दिये—वीरता के साथ बलिदान कर दिया—स्वयं के अस्तित्व का, किन्तु धर्म को विश्रृंखल न होने दिया, शौर्य पर कलंक का धब्बा न आने दिया तथा अपने प्रेम को उज्जवल पृष्ठ दे गया—जिस पर उसके हृदय की विशालता एवं त्याग के चित्र सदा अंकित रहेंगें।

नन्हकूसिंह परिस्थितियों से संत्रस्त होकर गुंडा बन गया था—किन्तु अपने धर्म और संस्कृति की परम्पराओं को विश्रृंखल नहीं होने दिया— और न जीवन में अनैतिकता का उदय ही होने दिया।

सुजाता

सुजाता का निश्छल प्रेम-व्यवहार और स्पष्ट सत्यवादिता तथा दमन चक्र के विरुद्ध अपने-आपका विसर्जन विचित्रता लिये हुए सामाजिकों के समक्ष आया है—उसके मन में भी सामान्य संस्कृति से सम्पृक्त कुलवधु की तरह जीवन-आदर्श स्थापित करने का संकल्प रहा किन्तु विवशताओं ने उसे संकल्प-विहीन कर भ्रांत कर दिया। वह धर्म-संघ की दुष्प्रवृत्तियों के षड़यन्त्र में इस तरह फँसा दी गई कि—वह कुलवधु के आदर्श से च्युत हो गई। आर्य मित्र की प्रणय-अभ्यर्थना का वह प्रायश्चित भरे शब्दों में उत्तर देते हुए कहती है :—"किन्तु, आर्यमित्र ! मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं—कहाँ से लाऊँगी ? वह

---

१. गुंडा (इन्द्रजाल) पृ० सं० १५४
२. " " " " १५७
३. " " " " १५७

वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधुर-कुसुम सा हृदय-रस भरा हो, कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूंगी।"[1]

उसके पास सरल-हृदय है, स्वच्छ व्यवहार है, उसके आदर्श मूल्य हैं किन्तु कुलवधु सी शुचिता नहीं है, वह अपने सुख-वैभव के लिए अपने प्रियतम के साथ प्रतारणा नहीं कर सकती है—उससे विलग रह कर वह अपनी आग में स्वयं जलते रहना स्वीकार करती है किन्तु प्रिय को ताप नहीं पहुँचाना चाहती। वह आर्यमित्र से मोह तोड़ने के लिए कहती है: "जब तुमने संघ का बंधन भी तोड़ दिया है, तब तुम मुझ पामरी के मोह का बंधन भी तोड़ डालो।"[2]

संघ में सुरक्षा तथा आत्म-संयम की भावना से प्रेरित होकर उसने स्थान पाया था—किन्तु धर्म ने उसे क्या दिया? नैतिकता के मूल्यों की रक्षा कहाँ तक हो सकी। उसने अपने हृदय की तीव्र भावनाओं को स्पष्ट करते हुए प्रिय से कह दिया:—हां, आर्यमित्र मैं भैरवी हूं।"[3]

सुजाता का निश्छल व्यवहार—प्रिय को छल नहीं सका। आत्म सुख, भवितव्य के सभी स्वप्न विखण्डित हो गये—वह पदस्खलित होकर भी अपने नैतिक-मूल्यों को विघटित नहीं कर पाई। महास्थविर के दुराचरण का विरोध करते हुए वह विद्रोहिणी हो गई—और उस अधर्म को विनष्ट करने के लिए अपने आत्मबलिदान के संदर्भ में कहा—"तो मरूंगी स्थविर, किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बरपूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई भी धर्म खड़ा नहीं रह सकता।।[4]

सुजाता ने धर्म के आडम्बरपूर्ण काल्पनिक भ्रम को तोड़ने के लिए अपना विसर्जन कर दिया किन्तु आदर्श को नष्ट नहीं होने दिया।

सालवती

सालवती वह नायिका है—जिसका कुल कभी किसी के अनुग्रह पर नहीं जी सका—अपितु श्रम-साधना के आधार स्वाभिमान के साथ जीवन जीता था। कुलपुत्र आर्य धवलयश – जो आर्थिक स्वतन्त्रता में विश्वास व्यक्त करता था—उसका दुहिता सालवती लज्जा-पिण्ड लेकर आई—और सदा नीरा के कूल पर बैठी हुई अपनी

---

१. देवरथ (इन्द्रजाल) पृ० सं० १७५
२. ,, (,,) ,, १७५
३. ,, (,,) ,, १७६
४. ,, (,,) ,, १७८

भावनाओं में विकल थी। पिता ने उस स्वर्ण-खंड को नदी में फैंकने का आदेश दिया तो उसने कहा :—"मैंने भी पुष्करिणी में से कुछ मिट्टी निकाली है। उसी का यह पारिश्रमिक है।"[1]—पिता ने उसे यथार्थ का अनुभव कराया तो वह मन ही मन मुस्करा उठी—और स्वर्ण-खंड को नीरा के प्रवाह में अर्पित कर दिया। वह किसी के अनुग्रह पर जीकर कृतज्ञता का भार नहीं ले सकती थी—क्योंकि कृतज्ञता परतंत्रता के भाव उत्पन्न करती है—और पराधीनता का जीवन घृणित है—उसने प्रतिज्ञा की :—"नहीं पिताजी ! मैं अनुग्रह न चाहूंगी"[2]—आर्य धवलयश के दिवंगत हो जाने के पश्चात् स्वावलम्बन के साथ जीवन जिया। मगध के कुमार द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर दार्शनिकों के उत्तर के अन्त में उसने स्वाभिमान के साथ उत्तर दिया :— "क्यों नहीं, बज्जियों का एक तो स्थिर सिद्धान्त है ही। अर्थात् हम लोग वज्जिसंघ के सदस्य हैं। राष्ट्रनीति में हम लोगों का मतभेद तीव्र नहीं होता।"[3]

उसके मन में राष्ट्र-धर्म और एकता के भाव के प्रति पूर्ण सजगता थी—वह वज्जियों के स्वाभिमान को सुरक्षित रख सकी कुलपुत्रों ने उसके कण्ठ से मधुर गीत सुनना चाहा—और उसके बदले उसे उपहार देना चाहा—किन्तु उस स्वाभिमानिनी ने यही उत्तर दिया :—"बड़ी कृपा है; किन्तु मैं किसी के अनुग्रह का दान नहीं ग्रहण करती।"[4] सालवती ने कुलपुत्रों की अभ्यर्थना के अनुसार स्वयं को सुन्दरी प्रतियोगिता में सम्मिलित किया और विजय प्राप्त की किन्तु जिस देवी पद पर उसे प्रतिष्ठित किया गया—वह उसके लिए वरदान नही अभिशाप सिद्ध हुआ—कुलवधु के पद से वंचित हो कर उसे केवल अपमानित क्षण जीने के लिए विवश होना पड़ा—अंत में उसे कहना पड़ा :—"देवियों ! मुझे क्षमा करें, मैं प्रायश्चित करूंगी।"[5]

सालवती का जीवन जिस स्वाभिमान और कुल-गौरव की परम्परा के अनुसार आगे बढ़ा था—वह संघर्षों की पृष्ठभूमि पर जाकर बिखर गया—किन्तु किसी के अनुग्रह को स्वीकार नहीं कर सका।

प्रसाद-साहित्य में अनेक ऐसे सामान्य-पात्र हैं जो अपने व्यक्तित्व के कारण उदात्तता की सीमा का स्पर्श कर गये हैं, सभी पात्रों का विश्लेषण किया जाना असम्भव है—क्योंकि विस्तार की आशंका रहती है—अत: प्रमुख पात्रों का विश्लेषण-सारणी के अनुसार प्रस्तुत करते हैं।

---

१. सालवती इन्द्रजाल पृ० सं० १८२
२. ,, ,, ,, १६५
३. ,, ,, ,, २०३
४. ,, ,, ,, २०५
५. ,, ,, ,, २२२

पात्र-नाम	श्रेणी	उदात्त या अनुदात्त	सिद्धान्त	प्रमुख गुण	प्रवृत्ति
मनु	आदर्शनिष्ठ	उदात्तानुदात्त	व्यक्तिवादी	अनासक्ति	आनन्द की खोज में
श्रद्धा	,,	उदात्त	मानवतावादी	चिंतनशील	नारीत्व का प्रतीक
इड़ा	,,	उदात्तानुदात्त	भौतिक-वाद	व्यवस्था	सद् की ओर
महाराणा प्रताप	,,	उदात्त	नैतिकनिष्ठ	धर्मपरायण	स्वायत्तता के प्रतीक
बिम्बसार	,,	,,	अध्यात्म-वाद	अनासक्त	सद् की ओर
अजातशत्रु	यथार्थवादी	उदात्तानुदात्त	अधिनायकवादी	दर्पयुक्त	पश्चाताप की ओर
उदयन	आदर्श	,,	व्यक्तिवाद	पश्चाताप	सद् की ओर
प्रसेनजित्	आदर्श	,,	व्यक्तिवाद	पश्चाताप	,,
विरुद्धक	यथार्थ	अनुदात्त	स्वार्थवाद	विद्रोही	असद् की ओर
गौतम	आदर्शनिष्ठ	उदात्त	ब्रह्मनिष्ठ अहिंसावाद	अनासक्त	शान्ति के प्रतिपादक
देवदत्त	आदर्शहीन	अनुदात्त	ईर्ष्यालु	धर्मान्ध	असद् की ओर
वासवी	आदर्श	उदात्त	करुणाशील	क्षमापरायण	सद् की ओर
छलना	आदर्शहीन	अनुदात्त	सौत-डाह	महत्वाकांक्षिणी	असूया से युक्त
पद्मावती	आदर्श	उदात्त	पति-परायणा	धैर्य-शीला	सद् की ओर
वासवदत्ता	,,	,,	पतिपरायणा	सत्यवादिनी	,,
मल्लिका	,,	,,	मानवतावादी	क्षमाशीला	,,
ध्रुवस्वामिनी	,,	उदात्तानुदात्त	अधिकारवादी	विद्रोहिणी	,,
कोमा	,,	उदात्त	मानवतावादी	प्रणयिनी	,,

पात्र-नाम	श्रेणी	उदात्त या अनुदात्त	सिद्धान्त	प्रमुख गुण	प्रवृत्ति
मंदाकिनी	आदर्श	उदात्त	सुधारवादी	स्पष्टवक्ता	सद् की ओर
रामगुप्त	आदर्शहीन	अनुदात्त	पलायनवादी	क्लीब	असद् की ओर
चन्द्रगुप्त	आदर्श	उदात्त	कर्तव्यपरायण	त्याग	सद् की ओर
शकराज	आदर्शहीन	अनुदात्त	अधिनायकवादी	कामुक	असद् की ओर
शिखर-स्वामी	,,	,,	स्वार्थ-परायण	नीति-विरुद्ध	,,
स्कन्दगुप्त	आदर्श	उदात्त	त्यागमय-राष्ट्रवादी	कर्तव्यशील	सद् की ओर
गोविन्दगुप्त	,,	,,	राष्ट्रवादी	शौर्य-सम्पन्न	,,
पर्णदत्त	,,	,,	कर्तव्यशील-न्याय वादी	सेवा-व्रती	,,
चक्रपालित	,,	,,	नीति-वादी	सन्मित्र	,,
बन्धुवर्मा	,,	,,	राष्ट्र-वादी	त्यागमय	,,
भीमवर्मा	,,	,,	,,	शौर्यसम्पन्न	,,
मातृगुप्त	,,	,,	भावनाशील	प्रकृति-प्रेमी	,,
प्रपंचबुद्धि	आदर्शहीन	अनुदात्त	आडम्बरवादी	भ्रांत	असद् की ओर
भटार्क	,,	,,	स्वार्थवादी	देशद्रोही	,,
शर्वनाग	,,	उदात्तानुदात्त	,,	प्रलोभनशील	,,
पुरगुप्त	,,	अनुदात्त	पलायनवादी	बुद्धिहीन	,,
देवकी	आदर्श	उदात्त	ममतामयी	क्षमाशील	सद् की ओर
अनन्तदेवी	आदर्श-हीन	अनुदात्त	अधिनायकवाद	स्वार्थ-तत्पर	असद् की ओर
जयमाला	आदर्श	उदात्त	राष्ट्रवाद	त्यागमयी	,,

पात्र-नाम	श्रेणी	उदात्त या अनुदात्त	सिद्धान्त	प्रमुख गुण	प्रवृत्ति
देवसेना	आदर्श	उदात्त	राष्ट्र-वाद	आदर्श-प्रेमिका	सद् की ओर
विजया	आदर्शहीन	अनुदात्त	पलायन-वाद	असूया-युक्त	असद् की ओर
रामा	आदर्श	उदात्त	मानवता-वाद	कर्तव्यशीला	सद् की ओर
कमला	,,	,,	राष्ट्र-वाद	पीड़ामयी	,,
जनमेजय	,,	उदात्तानुदात्त	व्यक्ति-वाद	प्रतिहिंसा	,,
सुरमा	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थ-वाद	प्रतिशोध	असद् की ओर
आस्तीक	आदर्श	उदात्त	मानवता-वाद	शान्ति-युक्त	सद् की ओर
काश्यप	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थ-वाद	लोभी	असद् की ओर
तुरकाषवेय	आदर्श	उदात्त	राष्ट्र-वाद	अनासक्त	सद् की ओर
वेदव्यास	,,	,,	मानवता-वाद	करुणाशील	,,
मणिमाला	,,	,,	,,	कर्तव्यशील	,,
राज्यश्री	,,	,,	अहिंसा-वाद	त्याग	,,
हर्षवर्धन	,,	,,	,,	,,	,,
नरेन्द्रगुप्त	आदर्श-हीन	अनुदात्त	व्यक्तिवाद	कामुक	असद् की ओर
शान्तिदेव	,,	उदात्तानुदात्त	स्वार्थवाद	भ्रांत	सद् की ओर
पुलकेशिन	आदर्श	,,	मानवतावाद	वीर	,,
चाणक्य	,,	उदात्त	राष्ट्रवाद	नीति-निपुण अनासक्त	,,
चन्द्रगुप्त	,,	,	,,	वीर एवं न्याय-प्रिय	,,
नन्द	आदर्शहीन	अनुदात्त	अधिनायकवादी	विवेक शून्य व कामुक	असद् की ओर

पात्र-नाम	श्रेणी	उदात्त या अनुदात्त	सिद्धान्त	प्रमुख गुण	प्रवृत्ति
राक्षस	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थवाद	वीर	असद् की ओर
वररुचि	आदर्श	उदात्तानुदात्त	मानवतावाद	विद्वान्	सद् की ओर
आम्भीक	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थवाद	देशद्रोही	असद् की ओर
सिंहरण	आदर्श	उदात्त	राष्ट्रवाद	देश-प्रेम	सद् की ओर
पर्वतेश्वर	,,	उदात्तानुदात्त	व्यक्तिवाद	वीर	असद् की ओर
सिकन्दर	,,	,,	अधिनायकवाद	विश्वविजेता	,,
फिलिप्स	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थवाद	प्रतिशोध	,,
मौर्य-सेनापति	,,	,,	व्यक्तिवाद	असहिष्णु	,,
सिल्यूकस	आदर्श	उदात्तानुदात्त	अधिनायकवाद	वीर	सद् की ओर
दाण्ड्यायन	,,	उदात्त	मानवतावाद	अनासक्त	,,
अलका	,,	,,	राष्ट्रवाद	दृढ़-संकल्प	,,
सुवासिनी	आदर्शहीन	अनुदात्त	व्यक्तिवाद	प्रतिशोध	असद् की ओर
कल्याणी	आदर्श	उदात्त	राष्ट्रवाद	साहस	सद् की ओर
कार्नेलिया	,,	,,	मानवतावाद	सत्य-प्रेम	,,
विशाख	,,	,,	,,	कर्तव्यशील	,,
प्रेमानन्द	,,	,,	,,	शान्ति-क्षमाशील	,,
नरदेव	आदर्शहीन	उदात्तानुदात्त	व्यक्तिवाद	कामुक	असद् की ओर
देवनिरंजन	,,	अनुदात्त	स्वार्थवाद	आडम्बरी	,,
यमुना	आदर्श	उदात्तानुदात्त	मानवतावाद	पीड़ामयी	सद् की ओर

पात्र-नाम	श्रेणी	उदात्त या अनुदात्त	सिद्धान्त	प्रमुख गुण	प्रवृत्ति
मंगल	आदर्श	उदात्तानुदात्त	पलायनवाद	भ्रांत	सद् की ओर
विजय	,,	अनुदात्त	मानवतावाद	विद्रोही	,,
स्वामीकृष्णशरण	,,	उदात्त	,,	सात्विक	,,
गाला	,,	,,	,,	सेवा-व्रत आदर्श-प्रणय	,,
घंटी	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थवाद	स्वच्छ-हृदय	असद् की ओर
तितली	आदर्श	उदात्त	मानवतावाद	कर्मशील	सद् की ओर
मधुवन	,,	उदात्तानुदात्त	पलायनवाद	दण्ड-भीरु	सद् की ओर
शैला	,,	उदात्त	मानवतावाद	परोपकार	सद् की ओर
इन्द्रदेव	,,	,,	एकात्मवाद	अनासक्त त्याग	,,
राजकुमारी	आदर्शहीन	उदात्तानुदात्त	व्यक्तिवाद	संकल्पहीन	असद् की ओर
श्यामदुलारी	आदर्श	,,	,,	धर्मान्ध	सद् की ओर
अनवरी	आदर्शहीन	अनुदात्त	स्वार्थवाद	आचरणहीन	असद् की ओर
माधुरी	,,	,,	,,	लोभ	,,
रामनाथ	आदर्श	उदात्त	मानवतावाद	करुणा	सद् की ओर
सुखदेव	आदर्शहीन	अनुदात्त	व्यक्तिवाद	आचरण-हीन	असद् की ओर
मैना	,,	,,	स्वार्थवाद	अविश्वास	,,
बीरु	,,	,,	,,	शोषक	,,
श्यामलाल	,,	,,	,,	भ्रष्ट	,,
चम्पा	आदर्श	उदात्त	मानवतावाद	करुणा	सद् की ओर

पात्र-नाम	श्रेणी	उदात्त या अनुदात्त	सिद्धान्त	प्रमुख गुण	प्रवृत्ति
अरुण	आदर्श	उदात्तानुदात्त	व्यक्तिवाद	सहिष्णु	सद् की ओर
राधा	"	उदात्त	मानवतावाद	कर्तव्यतत्पर	"
मधूलिका	"	"	राष्ट्रवाद	अमर-प्रेम	"
विजया	"	अनुदात्त	व्यक्तिवाद	कर्म-शील	"
ममता	"	उदात्त	राष्ट्रवाद	कर्तव्य	"
सुजाता	"	उदात्तानुदात्त	चरित्र-वाद	साहस	असद् की ओर
प्रेमा	"	उदात्त	मानवतावाद	क्षमा	सद् की ओर
तूरी	"	उदात्तानुदात्त	भावना-वाद	प्रेम	"
लैला	"	"	"	त्याग	"
फिरोजा	"	"	मानवतावाद	कृतज्ञता	"
इरावती	"	"	भावना-वाद	पवित्रता	"
नन्हकूसिंह	"	उदात्त	मानवतावाद	बलिदान साहस	"
बलराज	"	उदात्तानुदात्त	भावना-वाद	प्रेम	"
नन्दराम	"	उदात्त	मानवतावाद	कर्तव्य एवं धर्म	"
अग्निमित्र	"	"	"	उत्साह	"
इरावती	"	"	भावना-वाद	कलाप्रेम	"
महास्थविर	"	उदात्तानुदात्त	व्यक्तिवाद	धर्मान्धता	"

पद्य-साहित्य के आदर्श पात्र

पद्य-साहित्य के आदर्श पात्र

प्रसाद-साहित्य में आदर्श-पात्रों का कहीं भी अभाव नहीं है—उनके सृजन का मूल उद्देश्य ही भारतीय संस्कृति के नैतिक-मूल्यों की पुनर्स्थापना करना है। गद्य-साहित्य में आदर्शवाद के नैतिक-धर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए पर्याप्त अवसर सुलभ हुआ है—प्रसाद सर्व प्रथम कवि और उसके पश्चात् गद्य-लेखक थे—अतः गद्य-साहित्य में उनकी दृष्टि का पूर्ण विकास होना नैसर्गिक था किन्तु पद्य-साहित्य के पात्र भी उसी पृष्ठभूमि पर चलते हैं—जिसके लिए उनके मन में संकल्प है। प्रसाद के पद्य-साहित्य में चिंतन पूर्ण रूप से उभर कर आया है, पात्र अपने व्यक्तित्व को गँवा कर वृत्तियों के प्रतीक बन गये—फिर भी उनका आदर्श गौण नहीं हो सका। कामायनी, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक एवं अन्य कविताओं के पात्र आदर्शवाद की भूमिका को लेकर आये हैं।

कामायनी

कामायनी महाकाव्य की कथावस्तु अत्यल्प है—कथा किसी निश्चित इतिहास पर आधारित नहीं है, अपितु कथा के आधार सूत्र भारतीय साहित्य के विभिन्न-ग्रंथों में बिखरे पड़े हुए हैं—जिन्हें प्रसादजी ने एक सूत्रता में बांध कर कल्पना-शक्ति से समुचित रूप से कथा का रूप दिया है। प्रसादजी ने स्वयं उल्लेख किया है:—"हाँ कामायनी की कथा—शृंखला को मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोडी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार नहीं छोड़ सका हूँ।"[1] प्रसादजी ने कामायनी के कथा-विकास के लिए अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया और फिर उसे एक निश्चित योजनाबद्ध रूप दे सके। 'कामायनी' महाकाव्य होते हुए भी पात्रों की बहुतायत लिए हुए नहीं है–केवल ८ पात्र हैं। मनु, श्रद्धा, इड़ा, आकुलि-किलात, कुमार मानव, असुर, पुरोहित, काम और लज्जा—ये पात्र कामयनी में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आये हैं।

---

१. कामायनी आमुख पृ० सं० १०

काम और लज्जा अदैहिक पात्र हैं—जो वृत्तियों के विश्लेषण के लिए उभारे गये हैं—इनका व्यक्तित्व चारित्रिक दृष्टि से विचारणीय नहीं है। अन्य पात्रों में मनु, श्रद्धा और इड़ा–ये तीन पात्र ऐसे हैं जो प्रतीक-पात्र होते हुए भी व्यक्तित्व की सुरक्षा करने में सफल सिद्ध हुए हैं। कुमार-मानव जो श्रद्धा-मनु का पुत्र है—वह सामान्य पात्र है, ठीक इसी प्रकार असुर-पुरोहित एवं आकुलि—किलात भी सामान्य पात्र है। यद्यपि प्रसादजी ने अपने पात्रों को ऐतिहासिक संज्ञा दी है किन्तु यदि इन्हें प्रतीक रूप में स्वीकार किया जावे तो उन्हें आपत्ति नहीं है :—"इसीलिए मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"[1]

कामायनी के प्रतिपाद्य-पात्रों में विकास हो पाया है और आदर्शवाद की पुष्टि भी। सम्पूर्ण महाकाव्य में हमें ये पात्र मिलते हैं :

पात्र

मनु
श्रद्धा
इड़ा
मानव
असुर-पुरोहित
आकुलि-किलात
काम
लज्जा

मनु

कामायनी के नायक मनु महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार उदात्त नायक के रूप में आये हैं—जिन गुणों की एक धीरोदात्त नायक से अपेक्षा की जा सकती है—वे समस्त गुण मानवतावाद के प्रतीक मनु में सन्निहित हैं। कामायनी का मनु अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। मनु महान साधक, तपस्वी, दार्शनिक, पूर्ण गृहस्थ तथा आनन्दवाद की जिज्ञासा के लिए पूर्ण रूप से सजग है। डा० द्वारिका प्रसाद ने मनु को चार रूपों में देखा है—वे ये हैं :—ऋषि मनु, गृहस्थ मनु, प्रजापति मनु, और आनन्द के अधिकारी मनु।[2] मनु के चारित्रिक-विकास को दृष्टिगत रखते हुए डा० देवी प्रसाद गुप्त ने भी चार रूप इस प्रकार स्वीकार किये हैं :—

---

१. कामायनी आमुख पृ० सं० ७

२. कामायनी काव्य, संस्कृति और दर्शन पृ० सं० २२७

१. प्रलय काल के अनन्तर देव-सृष्टि के ध्वंशावशेष के रूप में बचे हुए मनु, जो पुष्ट शारीरिक गठन एवं देव-अंशीय व्यक्तित्व धारण किये हुए चिन्ताग्रस्त दिखाई देते हैं।

२. श्रद्धा को जीवन संगिनी बनाकर गृहस्थ निर्माण करते हुए मनु, जो वासनातिरेक में अविवेकी बन कर, श्रद्धा को निर्जन प्रदेश में छोड़ कर चले जाते हैं।

३. सारस्वत प्रदेश में इड़ा के सम्पर्क में प्रजा-पालन करते हुए मनु, जो कालान्तर में विलास-प्रवृत्ति के कारण असफल हो जाते हैं।

४. श्रद्धा के पुनर्सम्पर्क से आनन्द की खोज में रत मनु जिन्हें सफलता मिलती है।[1] हिन्दी साहित्य के विभिन्न आचार्यों ने मनु के व्यक्तित्व विश्लेषण के संदर्भ में उन्हें अनेक रूपों में देखा। डा० फतहसिंह ने उन्हें तीन रूपों में स्वीकार किया है।[2] स्वयं प्रसाद ने मनु के संदर्भ में कहा है :—यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के महयोग से मानवता के विकास का रूपक है तो बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है।[3]

कामायनीकार ने मनु के बाह्य एवं आन्तरिक व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकास के लिए अवसर दिया है, किन्तु फिर भी मनु चारित्रिक-दृष्टि से अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सक्षम नही हो सका। प्रलय-दृश्य के पश्चात् मनु की उपस्थिति से काव्य का आरम्भ हुआ है। मनु का वाह्य व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था—पूर्ण पुरुष की तरह उर्जस्वित सौंदर्य का चित्रण हुआ है।[4]

मनु सकल शरीर में विद्यमान मनस्तत्व के प्रतीक है। मनु का अर्थ ही मनन करना है। कहा भी गया है कि—"मन्यते अनेन इति मनु !—अर्थात् मनन करने वाला मनु—मनुष्य है। मन का कार्य मनन है—मानव रागात्मक वृत्तियों की ओर सदैव अवबोधन करने के लिए उत्सुक रहता है। चिन्ता-सर्ग के आरम्भ में मनु स्वाभाविक-प्रवृत्ति को लिए हुए चिन्तनशील दिखाई देते हैं। मनु का अपरिमित ओजस्वी

---

१. आधुनिक प्रतिनिधि हिन्दी महाकाव्य पृ० सं० १८६
२. कामायनी सौंदर्य पृ० सं० १४७
३. कामायनी आमुख ,, ७
४. अवयव की दृढ़-मांस पेशियां
उर्जस्वित था वीर्य-अपार,
स्फीत शिराएं, स्वस्थ रक्त का
होता था जग में संचार।"—कामायनी महाकाव्य-चिन्ता-सर्ग पृ० सं० १२

व्यक्तित्व चिन्तातुर होकर देव-सृष्टि के अतीत के संदर्भ में विवेचन करना चाहता है।[1]

आदर्शनिष्ठ मनु अतीत की देव-सृष्टि के विनाश के कारणों का मनन करते हैं। वे अपनी सृष्टि को देव-सृष्टि मानते रहे--फिर यह विश्रृंखल कैसे हुई ? देवताओं का ससार भी क्या विनाशशील है ?--इसी कारण प्रलयकालीन निशा का आगमन हुआ।[2] मनु स्वयं को देव-सृष्टि का ध्वशांवशेष प्रतीक मान कर उसको जर्जर-दम्भ कहते हैं।[3] सुशीला भारती ने मनु के संदर्भ में उल्लेख किया है :--"मनु भी अकेले जीवन से उद्विग्न हो जाते हैं, उन्हें अकेलापन शूल-सा चुभने लगता है।

जीवन-साथी की इच्छा प्रबल हो उठती है। चिन्ता करते हुए मनु ने अपने-अतीत के सत्य-स्वरूप को स्पष्ट शब्दों में उद्भाषित करते हुए सभी को परिवर्तनशील सिद्ध किया है :--

देव न थे हम और न ये हैं.
सब परिवर्तन के पुतले;
हां, कि गर्व-रथ में तुरङ्ग सा
जितना जो चाहे जुत ले।।[4]

मनु अपने जीवन की उद्विग्नता सुनाने के लिए विकल हो उठे और यह स्वाभाविक है कि हर व्यक्ति अपने मानस की पीड़ा को व्यक्त करने के लिए विकल रहता है। प्रलयकालीन निशा के पश्चात् मनु ने सृष्टि के नियमों पर गहन अध्ययन-मनन किया--और इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि हम कुछ नहीं हैं--हमारा अस्तित्व

---

१. चिन्ता-कातर बदन हो रहा
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।" —कामायनी-चिन्ता-सर्ग पृ० सं० १२

२. स्वयं देव थे हम सब तो फिर
क्यों न विश्रृंखल होती सृष्टि।
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि। —कामायनी चिन्ता सर्ग पृ० सं० १७

३. आज अमरता का जीवित हूं
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ;
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्र मय सा विष्कम्भ।" —कामायनी-चिन्ता-सर्ग पृ० सं० २६

४. कामायनी आशा सर्ग पृ० सं० ३३

किसी अदृश्य-शक्ति के हाथों में नियन्त्रित है--जिसे व्यक्त किया जाना दुर्लभ है। इसी संदर्भ में मनु ने कामायनी के आशा-सर्ग में कहा है :—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।।[1]

मनु के चरित्र मे व्यक्ति-चेतना का बाहुल्य है। निज-जीवन के आरोह-अवरोह से विकल मनु एकांत में बैठ कर अपने अस्तित्व की समीक्षा में रत हो जाते हैं तो कभी प्रकृति की समीक्षा में तो कभी अदृश्य शक्ति के रहस्य की व्याख्या में खो जाते हैं तो फिर कभी उस अनन्त रमणीय से प्रश्न कर बैठते हैं :—

देव ! बता दो, अमर-वेदना
लेकर कब मरना होगा ?"[2]

प्रलय में विनष्ट विलास-प्रधान देव जाति के ध्वंशावशेष मनु सृष्टि के विनाश क्षणों की पर्याप्त चर्चा कर जड़ नहीं होते अपितु व्यक्ति-चेतना से प्रेरित होकर पुनः तप की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हुए। कर्म की प्रधानता को स्वीकार कर मनु नियमित जीवन के सूत्रों को रचने लगे।

तप में निरत हुए मनु, नियमित—
कर्म लगे अपना करने;
विश्व रङ्ग में कर्म जाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने ।।[3]

चिन्तातुर मनु आस्थावादी हैं—निर्जन एकांत में श्रद्धा के दर्शन कर मुग्ध हो उठते हैं। मनु नारी को श्रद्धा के रूप में देखता है और जीवन के लिए मधुमय प्रेरक मानता है, यद्यपि कामायनी का मनु चंचल, विलासी, एवं वासनाशील है किन्तु प्रसादजी ने मनु की नारी के प्रति श्रद्धा व्यक्त कराते हुए कहलाया है:—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।।[4]

---

१. कामायनी आशा सर्ग पृ० सं० ३४
२. ,, ,, ३६
३. ,, ,, ४१
४. कामायनी-लज्जा सर्ग—पृ० सं० ११४

श्रद्धा को प्राप्त कर मनु अपनी चिन्ताओं से विमुक्त हो जाता है। जहाँ वह अपनी एकांत उद्विग्नता से पीड़ित था, वहाँ उसके मानस में आमोद के पुष्प खिल उठते हैं। वह श्रद्धा के प्रति अपनत्व को सहज रूप में व्यक्त कर देता है—उसे प्राप्त कर वह अपनी सभी जिज्ञासाओं को समाप्त कर देना चाहता है:—

श्रद्धा ! पुण्य-प्राप्य है मेरी
वह अनन्त अभिलाषा;
फिर इस निर्जन में खोजे
अब किसको मेरी आशा ?[1]

मनु स्वायत्त लालसा वृत्ति वाला घोर व्यक्तिवादी पात्र है—जो अपने स्वार्थ-पक्ष को ही सर्वाधिक महत्व देता है, कभी कभी तो वह अपने आप को सम्पूर्ण सृष्टि से पृथक् मानता हुआ कह देता है:—"अलग एक आकाश बना" अपनी इच्छित वस्तु पर मनु अधिकार कर स्वेच्छा से भोग भोगने के लिए संकल्पशील है और उसकी असफलता पर वह स्वयं को सभी से काट लेना चाहता है—श्रद्धा से पृथक् होकर मनु कहता है:—

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुःख पाने दो स्वतंत्र;
"मन की परवशता महा दुःख
मैं यही जपूँगा महा-मंत्र"[2]

मनु सदा स्वेच्छाचारी व्यक्ति रहा—अपनी वासना की तृप्ति के लिए श्रद्धा से सम्पृक्त हुआ। गर्भिणी श्रद्धा से भोगवाद के चरम स्तर की बात करता हुआ अपने सुख को प्रधान मान कर कहता है:—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।[3]

मनु श्रद्धा से अलग होकर सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा पर अधिकार की भावना को व्यक्त करते हैं—यहाँ तक कि मनु इड़ा के साथ व्यभिचार करने को तत्पर हो उठते हैं और प्रजा के विद्रोह के कारण आहत हो जाते हैं—श्रद्धा के

---

१. कामायनी कर्म सर्ग—पृ० सं० १२१
२. „ ईर्ष्या-सर्ग—पृ० सं० १६२
३. „ पृ० सं १०६

पुनर्मिलन से मनु का व्यभिचरित मन विकृतियों को छोड़ कर सन्मार्ग की ओर चलने के लिए आग्रहशील होकर कहता है:—

आँख बन्द कर लिया क्षोभ से
दूर-दूर ले चल मुझको
इस भयावने अंधकार में—
खो दूँ कहीं न फिर तुझको।[१]

मनु का जीवन यहीं से परिवर्तित हो जाता है, उसका अहं विखण्डित होकर गिर पड़ता है, अधिकार-भावना और व्यक्ति-चेतना का दर्प नष्ट हो जाता है। अपने जीवन की समस्त वासनाओं को समाप्त कर निवृत्ति के मार्ग का अनुसरण करना चाहते हुये आनन्द प्राप्ति के मार्ग की ओर चलने के लिए श्रद्धा से कहता है।[२] यहाँ ही उसके मानस की द्वैत-भावना समाप्त हो जाती है और उसे पूर्णता का भान होने लगता है:—

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।।[३]

मनु आरम्भ में स्वयं को विस्मृति का अचेत स्वरूप अथवा ध्वंश स्तूप मानता है।[४] व्यक्ति-चेतना और अहं उसमें पूर्ण रूप से भरा हुआ है।[५] व्यक्तिवाद की प्रधानता के साथ इच्छित वस्तु पर साधिकार की भावना है—तभी तो मनु इड़ा से कह देता है:—"इड़े मुझे वह वस्तु चाहिये जो मैं चाहूँ।"[६] मनु के जीवन में आवेगों का पूर्ण प्रवाह है।[७] मनु जो आरम्भ में यथार्थवादी है—वही अंत में पूर्ण आदर्श-

---

१. कामायनी निर्वेद सर्ग—पृ० सं० २२६
२. यह क्या श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल,
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल
मिटते असत्य से ज्ञान लेश
समरस अखण्ड आनन्द वेश।। —कामायनी दर्शन सर्ग-पृ० सं० २६२
३. कामायनी—पृ० सं० ५५
४. यथोपरि—पृ० सं० १६६
५. ,, ,, ,, २०६
६. ,, ,, ,, २३६
७. ,, ,, ,, २४६

वादी बन जाता है, सभी प्रवृत्तियों से स्वयं को हटाकर निवृत्ति के मार्ग का अनुसरण कर आनन्द प्राप्त करने के लिए संकल्पशील है। यद्यपि इस पात्र के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है किन्तु आदर्श-पात्र के दृष्टिकोण से मनु अन्ततः इस स्तर पर आ पहुँचा—जहाँ निष्ठा व्याप्त है।

श्रद्धा

गन्धर्व देश की कन्या कला-प्रेम के कारण इधर-उधर घूमती हुई हिमगिरि की उपत्यका में आकर्षणवश चली आती है। सहसा जल-प्लावन की घटना के कारण उसका जीवन एकाकी व निरुपाय हो उठता है—वह यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को देखकर मानव के अस्तित्व की आशा में प्रमुदित हो उठती है—किन्तु जब उसने मनु के असहाय निराशा से भरे व्यक्तित्व को देखा तो वह उसके मानस में उत्साह को जागृत करते हुए कहती है कि तप ही जीवन का सत्य नहीं है—अपितु मानव-मन में आशा आकांक्षाओं का तरल व्यापार विद्यमान है।[1] श्रद्धा का आरम्भिक व्यक्तित्व गरिमामय आकर्षण लिए हुए मनु के हृदय से अवसाद को हटाकर उसके चैतन्य को जागृत करने के लिये संकल्पशील दिखाई देता है। श्रद्धा मनु से कहती है—तप तो एक माध्यम भर है। नवीनता और सृष्टि ही जीवन का सत्य है। तुम व्यर्थ ही अपने मानसिक-भार से विपन्न हुये अनुत्साहित हो रहे हो—स्वयं को बंधन हीन कर मुक्त दृष्टि के साथ प्रकृति की ओर देखो—वह अनुक्षण नवीनता को लिये हुये भी सारस्वत रूप से विद्यमान है। इस विपन्नावस्था से तुम्हारा नैराश्य दूर करने के लिये मैं अपना कर्तव्य-धर्म प्रस्तुत करती हूँ—अपना हृदय उदारता के साथ खोल कर तुम्हारे रचनात्मक कार्यों में सहयोग देना स्वीकार करती हूं। हे अमृत संतान! भयभीत न होओ, उठकर आगे बढ़ो—सभी समृद्धियां स्वतः खिंची चली आयेंगी।[2] तुम देवसृष्टि

---

१. तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आल्हाद।

—कामायनी श्रद्धा सर्ग पृ० सं० ६३

२. डरो मत अरे! अमृत संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आयेगी सकल-समृद्धि।।

—कामायनी श्रद्धा सर्ग पृ० सं० ६६

के अवशिष्ट प्रतीक हो, अपनी ध्वंश संस्कृति के बिखरे हुये शक्तिकणों को समन्वित करो मानव को चैतन्य करके-मानवता के विजयिनी होने का संकल्प सिद्ध करो [1]।

मनु और श्रद्धा सहयोगी बनकर जीवन-यात्रा के पथ पर अग्रसर होते हैं — उनके हृदय में कामना की अन्तः सलिला उमड़ने लगती है--वासना का उदय होता है—श्रद्धा मनु से कहती है:—

किन्तु बोली--"क्या समर्पण आजका है देव !
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव !
आह, मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान !
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हो प्राण ?"[2]

श्रद्धा मनु के साथ रह कर भी गृहस्थ-नारी की तरह अपना धर्म निभाती है। पशु, धान्यादि एकत्रित करने में लगी रहती है—उसके मानस का प्रेम बाल-शिशुओं के प्रति सदा उमड़ता रहता है। वह प्रेम से उन पशु-शिशुओं को दुलराती है सहलाती है। उसके हृदय में ममत्व एवं स्नेह आपूरित है। प्रकृति की रमणीयता में मनु और श्रद्धा एक-दूसरे के निकट आते हैं और अपने-हृदय का दान कर देते हैं। नारी पुरुष के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित हो जाती है। श्रद्धा आदर्श पात्रा है, नायिका है, वह अपने मनु को अंधकार से निकाल कर नैराश्य-पथ से हटाकर भविष्य से भयभीत और काम से संकुचित मनु को प्रेरक सदेश देते हुये आश्वस्त करती है:—

काम मंगल से मण्डित श्रेय ?
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भव धाम ।।[3]

श्रद्धा भारतीय संस्कृति के गरिमामय गुणों से अन्वित है। वह अपना प्रेम करुणा, एवं अगाध विश्वास मनु को समर्पित कर उसे जीवन-पथ पर चलने के लिए प्रतिक्षण आस्थावान् बनाती है तथा मनु को पूर्ण रूप से विजयी और शक्ति-सम्पन्न

---

१. शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय;
समन्वय उसका करें समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

—कामायनी श्रद्धा सर्ग पृ० सं० ६७

२. कामायनी वासना सर्ग--पृ० सं० १०२

३. ,, पृ० सं० ५४

बनाने के लिए प्रेरणा देती रहती है। श्रद्धा में नारीत्व की पूर्ण भावना का उदय होता है और वह अपनी सहचरी लज्जा के साथ जीवन-प्रवाह में बह जाने के लिए मनु को सर्वस्व अर्पित कर देती है। श्रद्धा का व्यक्तित्व यहाँ से पूर्ण विकास की ओर अग्रसर हुआ। वह प्रेम, त्याग, एवं करुणा की मूर्ति बन गई—उसमें ममत्व-भाव जागृत हो चले। मनु का किलात के साथ पैशाचिक कृत्य देख कर वह ग्लानि से भर उठती है—वह हिंसा में विश्वास नहीं रखती। मनु के अनैतिक व्यवहार से खिन्न होकर वह उससे अनेक प्रश्न कर बैठती है। मनु को उदारचेता बनाने के लिए श्रद्धा कहती है:—

> औरों को हँसते देखो मनु,
> हंसो और सुख पाओ;
> अपने उर को विस्तृत कर लो—
> सब को सुखी बनाओ।[1]

श्रद्धा मनु से प्रश्न करती है—क्या अपने सुख के लिए दूसरे प्राणियों की बलि चढ़ाना समुचित है? सृष्टि के हर प्राणी को जीने का अधिकार है यदि कल ही परिवर्तन हो जाये तो—फिर इस संसार में कौन रह सकेगा? किसी देव के निमित्त बलि चढ़ाना भी कितना बड़ा धोखा है—और यह प्रतारणा भी केवल अपने सुख के लिये?"[2] वह मानवता के प्रति चिन्तित हो उठती है, यदि इसी प्रकार नव-मानवता का निर्माण हुआ तो वह प्राणवान् नहीं अपितु शवता को लिये हुये आयेगी।[3] श्रद्धा का हृदय करुणा, दया से आपूरित है, वह मनु के आचरण का विरोध करती है और

---

१. कामयानी—पृ० सं० १३२

२. कल ही यदि परिवर्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा?
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा।
और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते।
कितना धोखा! उसीसे तो हम
अपना ही सुख पाते। —कामायनी कर्म सर्ग—पृ० १३७

३. मनु क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत! बची क्या शवता! —कामायनी कर्म सर्ग—पृ० सं० १३८

हिंसात्मक प्रवृत्तियों से दूर रहने के लिये प्रेरणा देती है। स्वयं भी इस संसार में सुख के साथ जीओ और अन्य व्यक्तियों को भी सुख के साथ जीने दो—इसी मंत्र का उच्चारण करती है।

मनु अपनी ज्वाला लिये हुये घर से बाहर चले गये किन्तु श्रद्धा आदर्श गृहिणी की तरह अपनी व्यवस्था में लग गई। वह कभी तकली कातती तो कभी वस्त्र तैयार करती—इसी प्रकार अहर्निश कर्म में लगी रहती। अपने समय को कर्म की व्यस्तता में व्यतीत कर देती। गर्भालसा पीड़ित श्रद्धा अपने आत्मबल को नष्ट नहीं होने देती साहस के साथ मनु के आगमन पर प्रश्न करती है कि मेरा घर शून्य है और तुम भ्रांत फिरते रहते हो—तुम्हें ऐसा क्या अभाव है ?"[1]

मानव को हिंसक से रक्षा करने के लिये शस्त्र उठाना, धर्म स्वीकृति देता है किन्तु निरीह प्राणियों के विनाश के लिये शस्त्र उठाना कहाँ तक न्याय संगत है ?—मैं इस प्रश्न को नहीं समझ पाई कि जो उपयोगी बन कर इस संसार में जी रहे हैं—उनका अन्त क्यों किया जावे ?[2] श्रद्धा मनु के हिंसक व्यक्तित्व को करुणामय बनाने के लिये संकल्पशील हो उठती है। वह उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए हर क्षण प्रेरित करती है—किन्तु मनु तो ईर्ष्याभाव से भरा हुआ है—वह कभी भी अपने अहं को विखण्डित करने के लिए प्रस्तुत नहीं है किन्तु श्रद्धा भी उन स्त्रियों में से नहीं है—जो आँख बन्द कर अनैतिकता को सहन करती रहे। वह उपयोगी पशुओं के संदर्भ में कहती है:—

"वे जीवित हों मांसल बन कर
हम अमृत दुहें, वे दुग्ध-धाम"[3]

---

१. उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार।
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार ?

—कामायनी ईर्ष्या सर्ग—पृ० सं० १५२

२. अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ।
वे क्यों न जीयें, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।।

—कामायनी ईर्ष्या सर्ग—पृ० सं० १५४

३. कामायनी ईर्ष्या सर्ग—पृ० सं० १५५

वह मानववादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है—यदि हम पशु से ऊँचे हैं तो उनके रक्षक सिद्ध हों।[१] न कि उनके विनाश का कारण बनें।

क्लान्त, ईर्ष्या से परिपूर्ण मनु को श्रद्धा हाथ पकड़ कर अपना नवीन घर दिखाने को ले जाती है—उस क्षण उसमें कितना उत्साह और विश्वास भरा हुआ है? उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है।[२] किन्तु मनु उसे सहन नहीं कर सके।

श्रद्धा का व्यक्तित्व चिंतनपूर्ण रहा—वह सफलता के कल्पित गेह को निराशा के वातावरण में देखने लगती है।[३] वह एकांत को सीमा का रूप देती है।[४] श्रद्धा का उदार व्यक्तित्व मनस्विता लिये हुए है। वह भावी संतति के लिए अपने-आप को व्यस्त कर लेती है। मनु के ऐन्द्रिय सुख में श्रद्धा सहयोगिनी नहीं बनना चाहती। मनु श्रद्धा को छोड़ कर चले जाते हैं—गर्भावस्था की पीड़ा को सहन करते हुए भी श्रद्धा टूट नहीं पाती है। यद्यपि पति-परित्यक्ता श्रद्धा विकल हो उठती है, उसकी समस्त आशायें विखण्डित हो जाती हैं—वह अपने प्रिय के विरह में अश्रु प्रवाह करती है किन्तु समस्त पीड़ाओं को हृदय में संजोये हुए अपने दायित्व के प्रति कर्तव्यशील रहती है। मनु के द्वारा उत्पन्न पुत्र के पालन-पोषण में श्रद्धा लगी रहती है—यही उस

---

१. वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव-जलनिधि में बने सेतु। —कामायनी ईर्ष्या सर्ग—पृ० सं० १५५

२. मैंने जो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर,
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर। —कामायनी ईर्ष्या सर्ग पृ० सं० १५७

३. किन्तु जीवन कितना निरुपाय?
लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह। —कामायनी पृ० सं० ६४

४. सुख-समीर पाकर, चाहे हो
वह एकांत तुम्हारा;
बढ़ती है सीमा संसृति की
बन मानवता-धारा। —कामायनी पृ० सं० १४२

गृहिणी का धर्म बन गया था। वह अपने आप से पराजित नहीं होती है, दायित्व से नहीं भागती है, अपितु कर्तव्य-भावना से प्रेरित रहते हुए विकल-वेदना को पुत्र-प्रेम से दुलार कर आश्वस्त रहती है।

जब स्वप्न में श्रद्धा मनु की विपदाओं का दर्शन करती है तो वह आशंकाओं से विकल हो कर उसे खोजने को निकल पड़ती है। श्रद्धा आहत मनु को पाकर उसे आश्वस्त करते हुए कहती है—तुम मेरे हो!—तुम्हें व्यर्थ में भयभीत नहीं होना चाहिये।"[1]

वह जीवन के सुख-दुःख को खेल की संज्ञा देती है—उसका चिन्तन व्यापक रूप ले लेता है—वह अपनी संकीर्णताओं को छिन्नकर अपने द्वार उन्मुक्त-भाव से सभी के लिए खोल देना चाहती है।[2] उसने अपने नारीत्व को गरिमा की दृष्टि से देखा और शक्तिमयी शीतल छाया की अनुभूति करती है।[3] श्रद्धा मे सहृदयता पूर्ण रूप से व्याप्त है। उसके मन मे जीवन के प्रति घनिष्ठ आस्थायें हैं—

उल्लास भरा अन्तस्तल
मेरा निवास अति मधुर-कांति
यह एक नीड़ है, सुखद शांति।

---

१. श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
आँखों में विश्वास भरे;
मानों कहती—तुम मेरे हो।
अब क्यों कोई वृथा डरे। —कामायनी—निर्वेद सर्ग पृ० सं० २२७

२. आते-जाते, सुख, दुख, दिशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल,
फिर झलमल सुन्दर तारक-दल,
नभ-रजनी के जुगनू अविरल।
यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे! उन्मुक्त द्वार। —कामायनी- दर्शन सर्ग पृ० सं० २४२

३. नारी माया ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल,
फिर कौन क्षमा कर दे निश्चल,
जिससे यह धन्य बने भूतल,
तुम क्षमा करोगी यह विचार,
मैं छोड़ूँ कैसे साधिकार? —कामायनी—दर्शन सर्ग पृ० सं० २४६

श्रद्धा में समर्पण शीलता है, सौहार्द्र और सहयोग की भावना है, उसके मन में मानव-सेवा करने की लालसा है :—

सेवा कर पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी।

जहाँ मनु घोर वैयक्तिकता के पक्षपाती हैं तो श्रद्धा उसी स्तर की विरोधिनी है।

श्रद्धा आस्थामयी नारी है—उसके मन में विश्व-कल्याण की भावनायें है, वह समस्त मानवता को मंगलमय दृष्टि से देखती है। विधाता की सकल सृष्टि को पूर्ण रूप से देखने की इच्छा उसके मानस में बलवती है। सीमाओं का भेद तोड़कर बिषमताओं को समाप्त करने की तीव्र लालसा ही उसके जीवन का लक्ष्य है।[1] वह आशाबाद की प्रवर्तिका सुख-संतोष के साथ जीकर भी संग्रह की भावना का समर्थन नहीं कर पाती अपितु समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है।[2] वह इस समष्टि को प्रकृतिमय, कर्मयुक्त मानती हुई जड़-चैतन्य की स्थिति को व्यक्त करते हुए समन्वय-सिद्धान्त को व्यक्त करती है।[3] श्रद्धा प्रसाद की आदर्शनिष्ठ स्त्री-पात्र है—जिसका दायित्व गृहस्थ को सफलता के साथ चलाना ही नहीं है—अपितु विश्वास एवं प्रेम के साथ आगे बढ़ते हुए मानवतावाद के मगलमय सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। सुशीला भारती ने श्रद्धा के संदर्भ में उल्लेख किया है—

"श्रद्धा प्रेम और त्याग की साक्षात् मूर्ति है। वह मनु के दुर्व्यवहारो को भुलाकर, उसे सहारा देते हुए समतल भूमि पर पहुँचा देती है। मनु के हृदय में नवीन

---

१. विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटे सागर बिखरे ग्रह पुंज
और ज्वालामुखियां हों चूर्ण। —कामायनी—श्रद्धा सर्ग पृ० सं० ६०

२. सुख अपने संतोष के लिये
संग्रह मूल नहीं हैं,
उसमें एक प्रदर्शन जिसको
देखें अन्य वही है। —कामायनी-कर्म सर्ग पृ० सं० १४१

३. एक तुम यह विस्तृत भू-खंड,
प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनंद। —कामायनी—श्रद्धा सर्ग पृ० सं० ६४

चेतना का संचार होता है। वे आत्म प्रकाश से शक्तिशाली बन जाते हैं ....श्रद्धा मनु को समतल भूमि पर लाकर इच्छा, ज्ञान और कर्म लोकों का परिचय कराती है।"[1]

श्रद्धा प्रसाद के आदर्शवाद की सफल सृष्टि है। दिव्य आदर्शनिष्ठ उत्तम नायिका के रूप में श्रद्धा को स्वीकार किया जा सकता है।

इड़ा

कामायनी की स्त्री पात्र इड़ा बुद्धि का प्रतीक है। श्रद्धा हृदय का प्रतिनिधित्व कर नव-मानवता का संदेश प्रसारित कर जीवन को आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है किन्तु इड़ा बुद्धि पर शासन कर मानव को भौतिकता की ओर ले जाती है। प्रसाद ने प्राक्कथन में लिखा है, इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्।[2] इड़ा मनुष्य पर शासन करने वाली है। कामायनी में इड़ा को सारस्वत प्रदेश की रानी कहा गया है। मनु जब श्रद्धा के मानवतावाद के सिद्धान्त से विक्षुब्ध होकर सारस्वत प्रदेश को जाते हैं तो वहाँ इड़ा से उनका परिचय होता है। इड़ा का सौंदर्य-चित्रण करते हुए कवि ने कर्म एवं भोगवाद का समन्वय स्वरूप चित्र उसमें चित्रित किया है।[3]

इड़ा साहसशील नारी है—तथा उसके मन में संकल्पों की दृढ़-भूमिका है। वह संत्रस्त निराशा से परिपूर्ण मनु के मन को कर्मवाद की पृष्ठ भूमि पर अग्रसर होने के लिये नव-संदेश प्रदान करती है। इड़ा की ही प्रेरणा से मनु जीवन-यात्रा पर बढ़ने के लिये कृत संकल्प होते हैं। इड़ा अपनी मानवता को भौतिकता की चरम सीमा पर पहुँचा देने के लिए सहमत है। अपनी बुद्धि के माध्यम से वैज्ञानिक उपकरणों के साथ इड़ा और मनु चरम-विकास में सहयोगी बन जाते हैं। इड़ा तर्क मयी बुद्धि को

---

१. कामायनी इतिहास और रूपक पृ० सं० १३७

२. कामायनी प्राक्कथन

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग-विराग ढाल;
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा ज्ञान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान;
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये;
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल। —कामायनी इड़ा सर्ग—पृ० सं० १७८

ही जीवन में सुख पाने के लिये प्रधान मानती है—वह विकास के सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए मनु से कहती है:—

हाँ तुम ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उनको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय,
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय,
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक-विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन,
सब का नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।[1]

इड़ा मनु को पूर्ण रूप से बुद्धिवादी बना देती है—तथा मन में स्वयं निर्णायक-शक्ति संचित करके—उसके लिए सम्बल प्रदान करती है। इड़ा यथार्थवादी पात्र है—वह जीवन में सुख प्राप्त करने के लिए भावना-पक्ष को छोड़ कर कर्मवाद की पक्ष-पातिनी है तथा भौतिकता के चरम विकास के साथ मानव को सुखमय रचना चाहती है।

इड़ा का मनु से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है किन्तु उसके लिये उसके मन में पश्चाताप की ज्वाला है, वह अपने सहज स्वार्थ के लिए मनु एवं श्रद्धा को भ्रांत नहीं कर देना चाहती है, जब श्रद्धा क्रंदन करती हुई मनु का संधान करने में रत है—उस समय इड़ा ही श्रद्धा और मानव को प्रश्रय देकर मनु तक लेकर आती है। वह अपने प्रियतम को श्रद्धा के हाथों में समर्पित कर देती है। उसे अपने अतीत के लिये गहन पश्चाताप है

जब श्रद्धा मानव को छोड़कर मनु के लिए ज्ञान-पथ पर अग्रसर होती है तो अपने दायित्व को इड़ा के अंक में समर्पित कर देती है। इड़ा उस दायित्व को बिना किसी प्रतिवाद के स्वीकार करती है।

महाराणा प्रताप

भारतीय इतिहास का उज्ज्वल पृष्ठ मध्ययुगीन काल का सूर्य महाराणा प्रताप राष्ट्र-भक्त पात्रों में अपना सर्वोच्च स्थान रखता है। प्रताप ने आदर्श-मूल्यों की सुरक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया और संघर्षों के बीहड़ वन में सदा के लिए अपना स्थान बना लिया। मुगल-सम्राट अकबर की नीति के समक्ष

---

१. कामायनी इड़ा सर्ग—पृ०सं० १८१

सभी क्षत्रिय-नरेश अपने स्वाभिमान को ठोकर मार कर समझौतावाद की ओर अग्रसर हो उठे-यहां तक कि भारतीय संस्कृति के नैतिक-मूल्यों को भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेंट कर दिया—ऐसे संक्रान्ति काल में भारत-सम्राट् का विरोध करना सहज बात नहीं थी—किन्तु मेवाड़ के सूर्य उर्जस्वित् व्यक्तित्व प्रताप ने आत्मबल का परित्याग नहीं किया—अपितु स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए मर-मिटना स्वीकार किया। प्रताप के व्यक्तित्व का रूप प्रसाद ने चित्रित करते हुए उसे आर्य-तेज, देश-भक्त, जननी का सत्य पुत्र, आदि कहा है।[1]

महाराणा प्रताप अकबर का विरोधी था—अकबर को पराजित करने के लिए प्रतिक्षण संकल्पशील था—किन्तु संस्कृति-परम्परा के प्रतिकूल किसी भी कार्य के लिए वह सहमत नहीं था। यवन-नवाब की बेगम को बंदी बनाये जाने पर उसका आक्रोश बिखर पड़ता है।[2] वह अपने सैनिकों के समक्ष यही कहता है कि श्रेष्ठ व्यक्तित्व के धनी मनस्वी जन सत्य को छोड़ कर वीरता के उपासक नहीं कहला सकते हैं।[3]

महाराणा प्रताप का उदात्त व्यक्तित्व था - वे अपने नैतिक विचारों पर किसी प्रकार की कालिमा को स्थान नहीं देना चाहते थे और न ही वे अपने सैनिकों से यह अपेक्षा करते थे कि वे अनैतिक कार्य की ओर प्रवृत्त हों। नारी पर अत्याचार

---

१. कहो कौन है ? आर्य जाति के तेज सा ?
देशभक्त, जननी का सच्चा पुत्र है,
भारतवासी ! नाम बताना पड़ेगा
मसि मुख में ले अहो लेखनी क्या लिखे ?
उस पवित्र प्रातः स्मरणीय सुनाम को।
नहीं, नहीं, होगी पवित्र यह लेखनी
लिखकर स्वर्णाक्षर में नाम प्रताप का।

——महाराणा का महत्व——पृ० सं० ६

२. आर्यनाथ ने कहा—"किया किसने
उसे बंदी ? स्त्री को क्षत्रिय देते दुःख नहीं।

——महाराणा का महत्व——पृ० सं० १०

३. छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले
छोर-सिन्धु में, क्या बुधजन का काम है ?
परम सत्य को छोड़ न हटते वीर हैं।

——महाराणा का महत्व——पृ० सं० १२

करना—उसे संत्रस्त करना अथवा रणनीति के लिये शत्रु-नारी को बंदिनी बनाना कायरता का प्रतीक था। महाराणा प्रताप ने बेगम को ससम्मान उसके स्वामी के पास भेजने का संदेश दिया तथा अपने सैनिकों को इस प्रकार के अनैतिक कृत्य से सदा बचने के लिये आदेश दिया।[1]

उनके उदात्त चरित्र से यवनी भी मुग्ध हो गई—उसने कभी ऐसे उदात्त पुरुष की कल्पना भी नहीं की थी--नबाब के समक्ष उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया। स्वयं नबाब भी ऐसे उदारचेता देव तुल्य व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त किये बिना नहीं रह सका। शत्रु के लिये यवन ने स्पष्ट शब्दों में--उसे मातृभक्त, देशभक्त, त्यागी एव तपस्वी शब्दों से व्यवहृत किया।[2] वह प्रताप के व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझ गया था कि--महाराणा स्वाभिमान के साथ जीने वाला व्यक्तित्व है, वह पराधीनता के साथ किसी भी सुख की कामना नहीं करता है, अपना बलिदान तक करने को प्रस्तुत है।[3] महाराणा प्रताप ऐतिहासिक पात्रों में आदर्शवादी उदात्त नायक हैं।

---

१. शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिये, बिना एक भी दुख दिये।
सैनिक-लोगों से मेरा संदेश यह
कहिये, कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुःख दें, चाहे हो शत्रु की
शत्रु हमारे यवन--उन्हीं से युद्ध है।
यवनी गण से नहीं हमारा द्वेष है।

—महाराणा का महत्व--पृ० सं० १२

२. जन्मभूमि के लिए, प्रजा सुख के लिए,
इतना आत्मोत्सर्ग भला किसने किया?
दुग्ध-फेन-निभ शय्या को यों छोड़ कर
सूखे पत्ते कौन चबाता है—कहो!
मातृभूमि की भक्ति, देशहित-कामना,
किसको उत्तेजित करती है, वे कहाँ?

—महाराणा का महत्व—पृ० सं० १५

३. मुग्धे! इतने पर भी तुम परिचित नहीं
कुलमानी, दृढ़, वीर महान प्रताप से!
भला करेगा संधि कभी वह यवन से?

—महाराणा का महत्व—पृ० सं० १८

चित्रकूट

चित्रकूट कविता में प्रसादजी ने राम बनवास के उस दृश्य को चित्रित किया है–जहाँ भरत राम से मिलने के लिए सोत्साह आते हैं। कविता में राम, लक्ष्मण, भरत एवं सीता के व्यक्तित्व को चित्रित किया गया है। राम उदारचेता मनस्वी माननीय व्यक्तित्व हैं—वे एक सफल गृहस्थ व्यक्ति की तरह वन में सीता से उसके भावों को झंकृत करते हुए भय के संदर्भ में प्रश्न कर लेते हैं।[1] राम ही आदर्श-व्यक्तित्व से पूर्ण नहीं है अपितु सीता भी आदर्श-पत्नी की तरह अपने प्राण-पुरुष के साथ आजीवन रहने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ है।[2] दाम्पत्य जीवन के सुखमय आदर्श को प्रसादजी ने इस कविता में व्यक्त किया है।

राम अपने में श्रेष्ठ अथवा अधिकार-भावना को नहीं चाहते अपितु सभी के साथ विश्वबन्धुत्व की भावना से निस्संकोच जीवन जीने के लिए संकल्पशील थे। उन्होंने लक्ष्मण को अपने पास बिठाकर हृदय की समस्त पीडा को व्यक्त करने का आग्रह किया।[3] राम ने अपने सहज व्यवहार से लक्ष्मण की शंका को सुना।[4] राम अपने जीवन में शत्रु-भाव नहीं रखते थे– वे किसी को भी शत्रु कैसे कहते?[5] लक्ष्मण के क्रोध को शान्त करते हुए उसे विष वृक्ष से उतरने की मंत्रणा देते हैं।[6] राम का चरित्र उदात्त दिव्य नायक सा कहा जायेगा।

---

१. बोले राघव—प्रिये! भयावह—से इस वन में
शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में,
कहा जानकी ने हँसकर—उसको है क्या डर
जिसके पास प्रवीण धनुर्धर ऐसा सहचर।

२. नाथ! यह क्या कहते हैं?
नारी के सुख सभी साथ पति के रहते हैं,
कहो उसे प्रियप्राण! अभाव रहा फिर किसका
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका।'

—चित्रकूट "कानन-कुसुम" पृ० सं० ९७

३. राघव ने सस्नेह कहा—कहो क्या बात है
कानन हो या गेह, लक्ष्मण तुम चिरबन्धु हो,
फिर कैसा संकोच? आओ, बैठो पास में
करो न कुछ भी सोच, निर्भय होकर तुम कहो।

४. कहा राम ने—'वत्स, कहो क्या बात है
सुने भला कुछ, कैसा यह उत्पात है।

५. कौन! कहो तो स्पष्ट, कौन अरि है यहां?

६. कहा—उतर आवो लक्ष्मण उस वृक्ष से
हटा शीघ्र उस भ्रम-पूरित विष वृक्ष से।

—'चित्रकूट—कानन-कुसुम' पृ० सं० १२०

शिल्प–सौंदर्य

सूर्य मल्ल का व्यक्तित्व विरोधाभास लिए हुए है। जहाँ उसमें अदम्य शौर्य, प्रतिहिंसा-पूरित क्रोध की भीषण ज्वाला प्रतिशोध के लिए संकल्पशील है उसी हृदय में साहित्य एवं शिल्प सौंदर्य के प्रति अपरिमित प्रेम-भावना भी। जिस समय यवनों ने निष्करुण भाव से आर्य संस्कृति के प्रतीकों को भग्न करना आरम्भ किया—ठीक उसी समय हिन्दू-शौर्य भी प्रतिशोध के लिए संकल्पशील हो उठा। ऐसे वीर पुरुषों में अग्रणी हुआ सूर्यमल—जिसने मुगल-साम्राज्य के शिल्प-सौंदर्य को नष्ट करने का कार्य अपने हाथ में लिया – मोती मस्जिद के प्रांगण में खड़े होकर जब शिल्प पर हाथ उठाया तो सूर्यमल का आक्रोश सहसा विगलित हो उठा। संस्कृति का समुपासक कला का विरोधी कैसे हो सकता है?—सूर्यमल के हाथ रुक गये और वह उस शिल्प-सौंदर्य को नष्ट नहीं कर सका।[1]

सूर्यमल की प्रतिहिंसा करुणा में परिवर्तित हो गई—उसका क्रोध प्रेम का स्वरूप ले बैठा। धार्मिक अन्धता के कारण शिल्प को नष्ट करना कला का अपमान करना था—यवनों ने उनकी संस्कृति को ध्वंश कर दिया था किन्तु एक कला-प्रेमी इतनी बड़ी निर्ममता स्वयं नहीं कर सकता था।[2] सूर्यमल का कला-प्रेम भारतीय संस्कृति की विचारधारा का आदर्श पृष्ठ है।

---

१. सूर्यमल्ल रुक गये,
हृदय भी रुक गया
—भीषणता रुक कर करुणा सी हो गई।
कहा—'नष्ट कर देगें यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की
सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही
हो जायगी लुप्त। बड़ा आश्चर्य है
आज काम वह किया शिल्प सौंदर्य ने
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता—'शिल्प सौंदर्य–"कानन कुसुम पृ.सं. १०६

२. प्रति सर्वत्र अहो वर्जित है; सत्य ही
कहीं वीरता बनती इससे क्रूरता
धर्म जन्य-प्रतिहिंसा ने क्या क्या नहीं
किया, विशेष अलिष्ट शिल्प—साहित्य का
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के
साधन, सुन्दर ग्रंथ जलाये वे गये..............।

—शिल्प-सौंदर्य—कानन कुसुम पृ० सं० १०६

वीर बालक

यवनों की धर्मान्धता एवं भीषण असह्य अत्याचार मानवता के इतिहास में दुर्दिन भरे अध्याय हैं---जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता है किन्तु इस आर्य धरा ने भी ऐसे उज्ज्वल पृष्ठ दिये हैं जो आदर्शनिष्ठ ही नहीं अपितु अनाचार के क्रूर हाथों को भी कम्पित कर बैठे–अपने निस्सीम धैर्य और कर्तव्यभावना के सम्बल पर। जोराबर और फतेहसिंह नामक वीर बालकों को यवनराज ने धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य करना चाहा—इसके लिए उन्हें अनेक यातनायें दी किन्तु वीर-बालकों का यही उत्तर था कि जो ईश्वर करेगा वही होगा।[1]

दोनों बालक दीवार में चुने जा रहे थे—और यवन उन्हें धर्म-परिवर्तन अर्थात् इस्लाम धर्म स्वीकारने के लिए विवश कर रहे थे किन्तु संकल्पशील बालकों ने प्राण देना स्वीकार किया। कर्तव्य के धनी दोनों बालक अपने राष्ट्र, व धर्म के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए आदर्श स्थापित कर गये।[2] —स्वयं कवि भी उनके अदम्य साहस

---

१. यवन ! क्यों व्यर्थ मुझे समझा रहे
वाह—गुरु की शिक्षा मेरी पूर्ण है,
उनके चरणों की माया हृत्पटल पर
अंकित है वह सुपथ मुझे दिखला रही,
परमात्मा की इच्छा जो हो, पूर्ण हो,

—'वीर बालक' कानन कुसुम पृ० सं० १२०

२. निष्ठुर यवन अरे क्या—
तू यह कह रहा ?
धर्म यही है क्या इस निर्मम शास्त्र का।
कोमल कोरक युगल तोड़ कर डाल से
मिट्टी के भीतर तू कुचला चाहता
हाय धर्म का प्रबल भयानक रूप
महापाप को भी उल्लंघन कर गया
कितने गये जलाये, वध कितने हुए,
निर्वासित होकर कब-कब नहीं
बलि चढ़ गये, धन्य देवी धर्मान्धते—

—वीर बालक 'कानन कुसुम पृ० सं० १२१

एवं दृढ़व्रत को देखकर उनके माता-पिता व आर्य धरा के प्रति कृतज्ञ हो गया।[1]

कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण का उदात्त चरित्र प्रस्तुत किया है। प्रसाद तो आदर्शवादी व्यक्ति रहे—इतिहास के उन पृष्ठों से उन्हीं चरित्रों का अंकन किया जो उनकी भावना का स्पर्श कर पाते थे—श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति सदेश—जैसा कि गीता में कहा गया है—उसी के अनुसार कवि ने कुरुक्षेत्र में कहलाया। श्री कृष्ण अर्जुन के कातर-भाव को स्वार्थ-वृत्ति कह कर अनार्य धर्म की संज्ञा देते हैं।[2] अर्जुन से ऐसी कातरता छोड़ने का आग्रह करते हैं।[3] कर्म के प्रति आसक्ति अवश्य हो किन्तु उसके फल के प्रति नहीं।[4] श्री कृष्ण पार्थ से कहते हैं कि रण—विमुख होना मरण से भी अधिक अकीर्तिकर है[5] अर्जुन के मन में कर्तव्य-भावना को प्रेरित कर उसे कर्म के प्रति उत्साहित करना—श्री कृष्ण का महान् कार्य रहा है।[6]

---

१. जोरावर और फतहसिंह के, धन्य हैं—
जनक और जननी इनको, यह भूमि भी।
— वीर बालक कानन–कुसुम पृ० सं० १२१

२. यह अनार्यों की प्रथा सीखी कहाँ से पार्थ ने
धर्मच्युत होना बताया एक छोटे से स्वार्थ ने।

३. छोड़ दो इसको, नहीं यह वीर जन के योग्य है,
युद्ध की ही विजय लक्ष्मी नित्य उनके भोग्य है।

४. कर्म जो निर्दिष्ट है, हो धीर, करना चाहिये,
पर न फल पर कर्म से कुछ ध्यान रखना चाहिये।

५. रण–विमुख होंगे, बनोगे वीर से कायर कहो,
मरण से भारी अयश क्यों दौड़कर लेना चहो।।

६. उठ खड़े हो, अग्रसर हो कर्मपथ से मत टरो।
क्षत्रियो! चित्त धर्म जो है, युद्ध निर्भय हो करो।
—कुरुक्षेत्र 'कानन–कुसुम पृ० सं० ११५–११६

नैतिक दर्शन

नैतिकता क्या है ?

जीवन में नैतिकता का बड़ा भारी महत्व है। नैतिकता के अभाव में जीवन का उतना ही महत्व है—जितना समाज में अनुपयोगी पशु जीवन का। नैतिकता कोई उपाधि अथवा प्राप्त की जाने वाली संज्ञा का नाम नहीं है, अपितु मानव-जीवन की नैसर्गिक-प्रकृति के साथ उदात्त-भावना से समन्वित कर्तव्य-धर्म पर गतिमान रहने की स्थिति का नाम नैतिकता दिया जा सकता है।

नैतिक शब्द का मूल 'नीति' है, और शास्त्रीय-व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'णीञ् प्रापणे' से निर्मित हुआ है। 'नी' का अर्थ-ले जाना है—अर्थात् मानव को सत्य-दिशा की ओर ले जाना। विद्रूप, विसंगतिपूर्ण वृत्तियों से हटा कर सद्वृत्तियों अथवा सत्य के पंथ की ओर मानव को प्रशस्त करना नीति का कार्य है। नीति दिशाबोधदायिनी है, सन्मार्ग बोधिका है और सोद्देश्य जीवन का विकास करने वाली है। नीति से समन्वित दृष्टि का नाम नैतिक है। मानव-जीवन के चारित्रिक-विकास में नैतिक-शिक्षा प्रथम अध्यापिका है—जो उसे समाज में रहने के लिये निर्देश देती है।

नैतिक शिक्षा चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण की वह प्रक्रिया है—जो पशु-जीवन और मानव-जीवन के मध्य एक विभाजन रेखा खींचती है। हरबार्ट के शब्दों में हमारी शिक्षा का अंतिम लक्ष्य नैतिकता ही होना चाहिये। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार तो नैतिकता का ज्ञान ही वास्तविक शिक्षा है। शिक्षा का व्यावसायिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है—वह एक मध्यम स्तर की शिक्षा से भी सम्भव है किन्तु नैतिक-शिक्षा तो मानवीय सभ्यता और संस्कृति की आधार-शिला है।

महात्मा गांधी ने भी नैतिकता को ही सर्वोच्च साधन-प्रणाली बताया है—क्योंकि नैतिक-आचरण ही व्यक्ति को ईश्वर-तुल्य बनाता है और मनुष्य तथा समाज जो कुछ चाहता है, वह सुन्दर, व्यवस्थित तथा समान स्तर पर तभी उपलब्ध हो सकता है जबकि मानव तथा समाज की मान्यतायें, आदर्श-नीति-परक हों। नैतिकता का अभाव ही सम्पूर्ण समस्याओं के जन्म का प्रमुख कारण है। यदि व्यक्ति नैतिक हो

जावे तो सभी समस्यायें स्वतः ही हल हो जायेंगी। नैतिक आचरण मनुष्य को प्रकाश निर्माण एवं सम्पूर्ण मानव-समाज को कल्याण के पथ पर अग्रसर करता है—अतः सामान्य-जन में नैतिक और अनैतिक का ज्ञान और उसकी उपादेयता व्यक्त करना उनके जीवन के लिये भी और संपूर्ण समाज के लिये भी अनिवार्य है।

आधुनिक-शिक्षा अनुपयोगी इसलिये है कि उसमें परिचय-मूलक ज्ञान का तो विकास होता है किन्तु भावनाओं और समाजमूलक कार्यों की ओर प्रवृत्ति का सम्यक् विकास नहीं हो पाता है। नैतिकता जीवन का एक उदात्त भाव है—उस भाव का विकास करने के लिये नैतिकता का ज्ञान आवश्यक है किन्तु आचरण-हीन ज्ञान तो पाखण्ड मात्र होता है—अतः नैतिक ज्ञान को चरित्र और व्यवहार में तभी ढ़ाला जा सकता है—जबकि वह ज्ञान मानव के अन्तस्थ भावनाओं की गहराईयों में पहुँचा दिया जावे। इसके लिये सम्यक् वातावरण, सम्यक् प्रकृति, सम्यक् धारणा, सम्यक् संकल्प एवं सम्यक् चिंतन का समन्वयवादी स्वरूप होना आवश्यक है। इन वृत्तियों का विकास नीति-धर्म पर आधारित है।

सृष्टि इच्छा-शक्ति का परिणाम है। मानव में दो प्रकार की इच्छा सक्रिय रहती हैं—१. वास्तविक इच्छा और २. अवास्तविक इच्छा। इच्छा ही स्वयं के लिये अपने स्तर की सृष्टि का निर्माण करती है और वह ही व्यावहारिक-जीवन में सफलता एवं असफलता का कारण भी है। अतः सामान्य-जन में मूल सद् इच्छाओं को दृढ़ बनाना एक अनिवार्य धर्म होना चाहिये।

भारतीय विद्वानों ने सदा ही नीति को अनिवार्य तत्व स्वीकारा है—और उसे धर्म की परिधि में बांधने का प्रयास किया है। आचार्यों ने सम्पदा से भी अधिक महत्व नैतिकता को दिया है। कहा भी गया है:—

"वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्।"

मानव-जीवन के लिए चारित्रिक-संचय को ही श्रेष्ठ माना गया है, सम्पदा के नष्ट होने पर पुनः प्राप्ति की सम्भावनायें बनी रहती है किन्तु चरित्र हत्या अथवा नैतिक पतन के हो जाने पर अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है—उसे पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

मनुस्मृतिकार ने भी कहा है:—

"एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

वैदिक वाङ्मय, उपनिषद्, स्मृति शास्त्र, पुराण-साहित्य एवं साहित्य की विविध विधाओं में नैतिकता का शाश्वत् संदेश प्रसारित हुआ है। भारतीय-संस्कृति आदर्शमूलक है— अतः साहित्यिक-परिप्रेक्ष्य में नैतिकता का समावेश नैसर्गिक ही है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'नैतिक-दर्शन' के संदर्भ में गहनता से विचार किया है। 'डा० रिकमेन' ने कहा है कि "नैतिकता किसी मनुष्य में उपजाई नहीं जा सकती—यह तो अपने ढंग से तथा अपने समय में विकसित होती है, किन्तु भारतीय-शिक्षा-शास्त्र के अनुसार तो मनुष्य को जन्मजात नैतिक माना गया है। नैतिकता व्यक्ति के स्वभाव का एक अंग मानी गई है, बल्कि परिवार और समाज ही उसे अनैतिक बनाते हैं। जो सबके और अपने हित में हो—वही सर्वोच्च नैतिकता बालक के लिये ग्राह्य होती है।

'डयूबी' के अनुसार अनुभवों के पुनर्निर्माण तथा सतत् विकास का नाम ही शिक्षा है और अनुभवों का सतत् प्रयास और निर्माण समाज में होना चाहिये—अतः आवश्यक है कि शालायें समाज का लघुरूप हों। 'डयूवी' के अनुसार संसार में प्रक्रिया तथा परिवर्तन सतत् चलता रहता है—अतः मूल्य कभी आदर्श रूप में स्थिर नहीं रह सकते—अतः नैतिकता का निर्णय बड़ी कठिन समस्या है। किन्तु हमारे विचार से ड्यूवी जीवन-प्रवाह के मूल शाश्वत-सत्य तक नहीं पहुँच पाया है। परिवर्धित मूल्य अवश्य ही स्थायी मूल्य नहीं होंगेः—किन्तु प्रेम, शांति, करुणा, सेवा, सहयोग एवं राष्ट्रधर्म आदि तो स्थायी मूल्य हैं। अतः सामाजिकों में इन भावों की प्रतिष्ठा करना ही नैतिकता का आधार है। जीवन परिवर्तनशील नहीं है—जीने की प्रणालियां और समाज की व्यवस्थायें परिवर्तनशील हैं—अतः नैतिक-व्यवहार परिवर्तनशील हो सकते हैं किन्तु नैतिकता सदा ही अपरिवर्तनीय होती है। यह स्थायी तत्व ही संयुक्त रूप से मानवीय तत्व में परिवर्तित हो जाता है—अतः पशुता से भिन्न मानवता का निर्माण ही नैतिकता है।

भारत में ही नहीं अपितु विश्व के प्रायः सभी विकसित समाजों में उपरोक्त नैतिकता की प्रतिष्ठा को मानव-विकास का आधार माना जाता रहा है। नैतिकता तथा आध्यात्मिकता से हमारा तात्पर्य उन मूल्यों से हैं जिन्हें मानवीय व्यवहारों से सम्बन्धित करने पर जीवन उज्ज्वल तथा उन्नत बनता है। पशुता से मानवता की ओर अग्रसर होने वाला मार्ग ही नैतिकता है।

डा० गंगाधर भट्ट की मान्यता है कि:—"समाज की बिगड़ती हुई अवस्था को तथा बढ़ती हुई दुराचारिता को रोकने के लिए नीति की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सृष्टि के आरम्भ काल से ही नीति के नियमों की आवश्यकता मानव-समाज को रही होगी।

नीति का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक-व्यवस्था को स्थापित करना तथा लोक-रक्षा कर मर्यादा को प्रतिष्ठापित करना है।"[1]

---

1. संस्कृत काव्यों में नीति-तत्व—पृ० सं० १२

अतः यह निष्कर्ष सत्य ही कहा जायेगा कि मानव को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने वाली नैतिकता है—और इसकी स्थापना सर्वजनहिताय है।

समाज और नैतिकता

समाज और नैतिकता का सम्बन्ध घनिष्ठ है। कोई भी समाज बिना नैतिक-व्यवस्था के जीवित नहीं रह सकता। जटिल-समाज, पारस्परिक-निर्भर रत समाज एवं सहयोगी और सहकारी समाज के लिए तो एक समान नैतिक-नियम और सिद्धान्त अनिवार्य हो जाते हैं। कोई भी सामाजिक आविष्कार चाहे—वह कितना ही उत्तम क्यों न हो—वह एक अच्छे और स्वस्थ समाज का विकास नहीं कर सकता—जब तक वैयक्तिक ईमानदारी, नैतिकता व अनुशासन आदि सहयोगी न हों।

व्यष्टि की नैतिकता पर समष्टि के विकास का मूल्यांकन निर्भर है। यदि किसी राष्ट्र का व्यक्ति आदर्श की स्थितियों से रहित है तो—वहाँ मानवीय प्रवृत्तियां पनप नहीं सकती हैं—प्रेम, शान्ति व करुणा प्रवाहित नहीं हो सकती है और न हीं पारस्परिक सहयोग की भावना ही जन्म ले सकती है। निर्माण के लिए नैतिकता ही सर्वोच्च आधार है। व्यक्ति का नैतिक-धर्म ही समाज की समृद्धि का आधार है।

समाज में नैतिकता व्याप्त है और नैतिक-आधार पर ही समाज टिका हुआ है—अन्यथा आधुनिक सभ्य समाज की अपेक्षा बर्बर एवं अकरुण समाज का स्वरूप देखने को मिलता।

साहित्य और नैतिकता

साहित्य और नीति-दर्शन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्य का मूल उद्देश्य ही नैतिक समर्थन करना है जहाँ हम साहित्य' शब्द पर विचार करते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँच पाते है कि हित का सम्पादन करने की वृत्ति जिसमें व्याप्त हो—वह साहित्य है। हित सम्पादन की वृत्ति बिना नीति के सम्भव नहीं है—नीति ही कवि को आदर्शवाद की ओर प्रेरित करती है। साहित्य का धर्म-समाज को असद् से सद् की ओर, अन्धकार से आलोक की ओर, अनृत् से सत्य की ओर ले जाना है, दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर सद्वृत्तियों की ओर प्रेरित करना है—और यह सब कुछ नीति पर निर्भर है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब नीति शास्त्र के माध्यम से ही सद् की जोर प्रवृत्त किया जा सकता है तो पृथक् से साहित्य के अस्तित्व को एतदर्थ क्यों स्वीकार किया जावे ? यदि नीतिशास्त्र को ही इस संदर्भ में स्वीकार किया जायेगा तो वह शुष्क उपदेश अथवा धर्मादेश की भाँति निष्क्रिय हो जायेगा। समाज उसे हृदयंगम नहीं कर सकेगा और न सद् प्रवृत्ति की ओर अपने-आप को प्रवृत्त ही कर सकेगा—नीरसता एवं भाव प्रवणता के न होने के कारण सामाजिक उससे दूर

ही रहेगा — अतः यह कार्य साहित्य के माध्यम से कान्तासम्मित उपदेश की तरह सम्भव है। निष्कर्षतः यही कहा जायेगा कि साहित्य के अभाव में नीतिशास्त्र खारे जल-वाले तड़ाग की तरह हैं–जिसके कूल पर पहुँच कर भी यात्री प्यासा ही लौट पड़ता है।

जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है—वह भी नैतिक समर्थन के अभाव में स्वयं को सशक्त नहीं रच सकता है। युग बोध मात्र का चित्रण ही समर्थ साहित्य का उद्देश्य नहीं हो सकता है—यथार्थ की अभिव्यक्ति अथवा रचना—शिल्प का विकास ही सफल साहित्य नहीं कहला सकता—यद्यपि आधुनिक साहित्य अति यथार्थ के पक्ष का प्रबल आग्रहशील है और इसी कारण कुण्ठा, संत्रास, अनस्तित्व की बाढ़ सी आगई है और मानव कर्तव्य-आलोक से हट कर स्वार्थ के अन्धकार में भटकने लगा है। आश्चर्य का विषय है कि रचनाकार अपने जीवन में कर्तव्य एवं दायित्व धर्म के प्रति आग्रहशील है किन्तु उसकी कलम आदर्शवाद और नैतिकता को रूढ़िवादिता की संज्ञा देकर जीवन के इतिहास से काट देने के लिए संकलपशील है। इस विरोधाभास को समझ पाना कठिन हो रहा हैं, यह नहीं कहा जा सकता है कि लेखक की कलम ईमानदारी के पथ से हट कर षड़यन्त्र के आवेग के साथ क्यों अभिसन्धि कर रही है। आज का प्रबुद्ध साहित्यकार श्मसानी पीढ़ी तक आ पहुँचा और नग्न-सत्य को स्वीकार ने के लिए सहमत है किन्तु केवल बौद्धिक-स्तर पर सैद्धान्तिक रूप से, जीवन की प्रक्रिया में नहीं। युगबोध की चर्चा मात्र से समाज को नई व्यवस्था नहीं दी जा सकती है, समाज को स्वस्थ रखने के लिए उसे सद् प्रवृत्ति की ओर ले जाने के लिए दिशाबोध की आवश्यकता है—केवल अस्वीकृतियों से दिशाबोध का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता है। चाहे इसे पूंजीपतियों का षड्यन्त्र कहा जाये अथवा बुद्धिजीवियों का विसंगति पूर्ण खेल—जो संस्कृति निष्ठ मान्यताओं का उन्मूलन कर 'नये' के नाम पर समाज से प्रतारणा करना चाहते हैं - उन्हें सत्य एवं शिव के पथ से विलग कर देना चाहते हैं।

प्रश्न है सुधार का अथवा व्यवस्था का—जिसके नियमन के लिए परिवर्तन की बात की जानी चाहिये, न कि नकारात्मक स्थिति को जन्म देना चाहिये। जिस राष्ट्र में नैतिकता सूत्रों से विलग होकर साहित्य सर्जना होगी—वह देश अधिक दिन तक अपने मूल्य स्थापित नहीं कर सकता है और न ही किसी के लिए प्रेरक ही अपितु वह स्वयं अन्ध-कूप में गिर कर किसी दिन करुणा की याचना करने लगेगा। जिस देश के व्यक्ति के पास नैतिक-मूल्य नहीं हैं–उस समाज में असमानता, विद्वेष, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, मुक्तभोग तथा युद्ध की विभीषिकायें होगी न कि प्रेम, शान्ति, करुणा, त्याग की उदात्त भावनायें। अतः साहित्य को केवल मनोरंजन अथवा चिंतन का विषय ही नहीं बनाया जा सकता अपितु उसे नैतिकता का आधार देना ही होगा।

साहित्य नीति के प्रति प्राग्रहशील नहीं रहता है अपितु सहज रूप से उसमें विकास के सूत्र बिखर जाते हैं—और वही मानव-जीवन के लिए प्रेरक बन जाते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने काव्य का मूल उद्देश्य मानते हुए कहा हैं कि कवि—यश, अर्थ, व्यवहार, अमंगल-विनाश, सद्यः परनिर्वृत्ति, तथा कान्तासम्मित उपदेश की भावना से प्रेरित करते हुए सृजन-प्रक्रिया में संलग्न होता हैं।[1]

काव्य में सत्य, शिव एवं सौंदर्य तत्व को स्वीकारा गया है। कवि अपने काव्य में त्याग एवं आदर्श की पृष्ठ भूमि पर यथार्थ को चित्रित करता हुआ उसे प्रेरक बनाता है.....तथा अनुकरणीय रच देता है। आचार्य मम्मट ने कवि की सृष्टि को पृथक् रूप से स्वीकारा है—जिसमें सुख-दुःख की अनुभूति के अतिरिक्त रस की प्रधानता होती है और आनन्दानुभूति की भावना प्रधान रहती है। कवि की सृष्टि ही अनुपम होती है—जिसमें उसके स्थायी मूल्य होते हैं।[2] काव्य में कल्याण भावना मूलक शिव तत्व को स्वीकारा गया है और यही काव्य का मूल उद्देश्य है। भगवद्गीता में भी शिवतत्व को स्वीकारते हुए कहा है :—

कर्मणैव हि संसिद्धिमाश्रिता जनकादयः।
लोक सग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।"[3]

डा० गंगाधर भट्ट ने इन तीनों तत्वों के समन्वय को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि:—भारतीय वाङमय में सत्यम्, शिवं एवं सुन्दरम् की भावना का सुन्दर समन्वय स्थापित करने का प्रयास सफलता से किया गया है। इन तीनों तत्वों को काव्य की उत्तमता के लिए अनिवार्य अङ्ग के रूप में, महामनीषियों द्वारा अंगीकृत किया गया है..............

'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।—गीता१७।१५

अर्थात् वही काव्य उत्तम माना गया है, जो उद्वेग कर न होकर सत्यम्, शिवम्, तथा हितम् की पूर्ण प्रतिष्ठापना करता हो।[4]

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।
—मम्मट कृत काव्य प्रकाश—१ उल्लास

२. नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्रताम्।
नव रस रुचिरां निर्मिति मादधती भारती कवेर्जयति।
—काव्यप्रकाश–मंगलाचरण पद्य।

३. श्रीमद्भगवद्गीता—३।२०

४. संस्कृत काव्य में नीति तत्व—पृ० सं० २८

कवि रचना के निर्माण के लिये विषय का चयन करता है तो उसके समक्ष कथा प्रधान नहीं रहती है अपितु अपना मौलिक उद्देश्य रहता है—अपने उद्देश्य के अनुसार वह विषय का चयन कर पाता है। आदर्शपरक मूल्यों की स्थापना के लिये ही उसका सृजन नहीं होता है—मूल्य तो सहज रूप से उभर आते हैं। कवि सृजन-संदर्भ में हृदय एव बुद्धि पक्ष लेकर चलता है। हृदय पक्ष के माध्यम से कथा के सौकुमार्य और रस प्रवाह का संचार करता है किन्तु बुद्धि-पक्ष उसे नैतिकता की ओर आकर्षित करता है। नैतिक सूत्र सृजन में कवि को आदर्शवादिता की ओर ले जाता है। हृदय पक्ष यथार्थ को चित्रित करता है किन्तु बुद्धि पक्ष आदर्शवाद की स्थापना करता है और इन दोनों के सामञ्जस्य का नाम ही साहित्य है।

जहाँ साहित्य है वहाँ नैतिकता है वहीं साहित्य-भावना है—इसे कभी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। केवल नीति पर यदि सृजन किया जायेगा तो वह नीति-शास्त्र का रूप ले लेगा—जैसे-शुक्रनीति, दण्डनीति, चाणक्यनीति, विदुरनीति व कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि।

नीतिशास्त्र का पृथक् अध्ययन करने से व्यक्ति समुचित निर्देश अवश्य ग्रहण कर सकता है किन्तु व्यवहार में उसे सम्पृक्त करना कठिन होगा—और यही नीति साहित्य से अन्वित होकर व्यक्ति-चेतना का स्पर्श करेगी तो—वह व्यक्ति क्रियान्विति में उसे सहजता के साथ अपना लेगा तथा व्यवहार-नीति को जीवन में स्थान दे सकेगा।

जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है—वह भी साहित्य के माध्यम से सुगमता पूर्वक हृदयंगम की जा सकती है। हितोपदेश, मित्रलाभ की रचना नीति-शिक्षा को सुगमता से ग्रहण किया जा सके—इसी उद्देश्य से हुई है और इसके परिणाम श्रेयस्कर निकले हैं। व्यक्ति-चेतना को झंकृत करने के लिये नीति अनिवार्य सूत्र है—जो उसे कर्तव्य-भावना के प्रति सजग करता है, उसे अधिकार-भावना की ओर सचेष्ट करता है, दायित्व के प्रति आग्रहशील करता है। मानवीय-गुणों के विकास के लिये नैतिक-साहित्य अनिवार्य है—और साहित्य के लिये नीति-तत्वों की विद्यमानता आवश्यक है।

वही साहित्य सफल साहित्य एवं शाश्वतता को लिए हुये होगा—जो मानव को दिशा-निर्देश दे सके—हर युग में उसके विकल-प्राणों में चेतना को स्फूर्त कर सके।

डा० भट्ट ने साहित्य और नीति के अटूट सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कहा है—इस तरह इन दोनों के मौलिक उद्देश्यों में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। दोनों ही मानव-विकास को लेकर आगे बढ़ते हैं। जिस प्रकार काव्य जीवन से अनुप्राणित होता है उसी प्रकार नीति भी जीवन का आधार है। इससे जीवन

के दो अङ्ग परस्पर विरोधी कभी नहीं हो सकते। काव्य को जीवन के लिए मानने वाले विद्वान् काव्य में नीति तत्व को आवश्यक तत्व मानते हैं। प्राचीन मनीषियों के आधार पर नीति से समन्वित उत्कृष्ट काव्य चतुर्वर्ग-फल प्राति का कारण होता।[1]

नीति-तत्व

आचार्यों ने नीति को स्वीकारते हुए उसे प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त किया है—व्यवहार, धर्म और राज्य। इसी दृष्टि से नीति का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१. आचार-व्यवहार-नीति
२. धार्मिक-नीति
३. राष्ट्रनीति एवं राजनीति

नीति के आधार तत्व क्या हो सकते हैं? जिसके आधार पर नैतिकता की संज्ञा दी जा सके। नीति के तत्व वे ही हो सकते हैं - जिनका समर्थन आत्मा और मानवता करे। समाज जिसे स्वीकृत करे—यह सम्भव है कि युग के प्रगतिशील चरणों के साथ स्वीकृत तत्वों में परिवर्धन हो सकता है। प्रमुख तत्व इस प्रकार गिनाये जा सकते है:—

१. चातुर्वर्ण्य
२. आश्रम-व्यवस्था
३. गृहस्थ-धर्म
४. ब्रह्मचर्य
५. ब्राह्मण
६. विश्वबन्धुत्व
७. पवित्रता
८. आशावाद
९. सत्य
१०. नारी
११. वैवाहिक-जीवन
१२. पारिवारिक जीवन में नैतिकता
१३. पारस्परिक सहयोग
१४. व्यक्ति का दायित्व
१५. कर्तव्य-भावना

---

१. संस्कृत काव्यों में नीति तत्व--पृ० सं० २२

१६. अतिथि-सत्कार
१७. साधुता
१८. वैराग्य
१९. परोपकार
२०. करुणा
२१. सुख-दु:ख पूर्ण संसार
२२. शील
२३. दारिद्र्य में धर्म
२४. शरणागत के प्रति धर्म
२५. क्षमा भावना
२६. त्याग शीलता
२७. संतोष भावना
२८. धैर्य साहस
२९. कर्म दृढ़ता
३०. विश्वास एवं कृतज्ञता
३१. स्वाभिमान
३२. शौर्य
३३. प्रेम
३४. राष्ट्र प्रेम
३५. धर्म भावना
३६. पातव्रत्य धर्म
३७. शासक
३८. प्रतिज्ञा पालन
३९. शत्रु व्यवहार
४०. आत्म दर्शन आदि ।

एक अन्य समालोचक ने नीति तत्वों को इस प्रकार गिनाया है:—धर्म, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर-भक्ति, ईश्वर का अस्तित्व, ईश्वर की एकता, प्रार्थना, ईश्वर की महिमा, मन्दिर, मस्जिद, एवं गिर्जाघर, यज्ञ, बलि, संस्कार प्रमुख-देवताओं का विवेचन, विश्वास और आस्थायें, सत्य, अहिंसा, परोपकार, पारिवारिक-नीति, असत् पर सत् की विजय, प्रवृत्ति और निवृत्ति, राजनीति और धर्मनीति, राष्ट्रनीति आदि ।

तत्वों की असंख्य गणना की जा सकती है किन्तु मूल आधार—आस्थायें,

विश्वास, शुचिता, कर्तव्य एवं मानवता है। प्राय: साहित्य में इन तत्वों का समावेश होना आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति के साथ नैसर्गिक रूप से ये तत्व जुड़े हुए रहते हैं—यह बात पृथक् है कि किस पात्र में किस स्तर तक इनका विकास हो पाया है—और यह विकास किस सीमा तक उपयुक्त कहा जा सकता है।

पात्रों के चारित्रिक-विकास के साथ इन तत्वों का समावेश रहता है—अवसर पर इन तत्वों का विश्लेषण हो सका या नहीं—यह पृथक् प्रश्न है। पात्रों के माध्यम से हम साहित्य में नैतिक-दर्शन की पृष्ठ भूमि पर विचार कर सकते हैं—साथ ही लेखक का मतव्य भी ध्यातव्य है—वह पात्रों के साथ समानान्तर रूप से चलता है—उसकी विचारधारायें नैतिकता का समर्थन कहाँ तक कर पाती हैं।

प्रसाद साहित्य में नैतिक-दर्शन

प्रसादजी ने केवल युगबोध का चित्रण करना ही अपने सृजन का उद्देश्य नहीं स्वीकृत किया था—अपितु संत्रस्त मानवता के आर्तनाद को सुनकर उसे अभिनव व्यवस्था एवं दिशाबोध कराने के उद्देश्य से रचना में लगे हुए थे। किसी भी ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक कथा को—सांस्कृतिक मूल्यों के साथ उठाया तथा उसे मानवता के आदर्श गुणों के साथ सम्पृक्त किया। प्रसाद-साहित्य ने नैतिक-मूल्यों का संवर्धना की तथा नष्ट अस्तित्वों की पुन: प्रतिष्ठा करने के लिए संकल्पसिद्धि को अपनाया। सम्पूर्ण वाङ्मय का अनुशीलन करने पर प्रसादजी का विशद् सांस्कृतिक दृष्टिकोण आकाश की तरह व्याप्त हुआ दिखाई देता है। विश्व-मानवता की पीड़ा से सन्त्रस्त प्रसाद ने विश्वबन्धुत्व, वर्ग-संघर्ष की समाप्ति, करुणा, परोपकार, अपरिमित त्याग-भावना, आदर्शपरक प्रणय, कर्तव्यशीलता एवं दायित्व को समझने की दृष्टि को विस्तार दिया। प्रसाद-साहित्य के पात्र अपने प्राणों का विसर्जन करके भी आदर्श मूल्यों का संरक्षण करते दिखाई देते हैं। भारतीय-संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं के साथ प्रसादजी का चिन्तन नैतिक दर्शन की ओर विश्व-मानवता को आकर्षित करने में सक्षम होता है। भारतीय संस्कृति भिन्नता में जीते हुये भी एकत्व की पक्षपातिनी है, प्रसादजी ने भी इस मूल तत्व को अपनी रचनाओं में सर्वत्र स्थान दिया है। मानवता के उच्च आदर्शों को सुरक्षित रखने के लिये—करूणा, स्वार्थहीन-सेवा, संयम, सत्यव्रत, अहिंसा, आत्म-सम्मान नारी सम्मान व जागरण, त्याग-भावना व क्षमा-शीलता, आदि का सहज चित्रण हुआ है।

प्रसाद-साहित्य का सर्वाधिक उच्चादर्श राष्ट्र-प्रेम है—मातृभूमि के प्रति उदात्त श्रद्धापूर्ण भावना का उदय और देश के लिये प्रणय का विसर्जन, एवं प्रतिहिंसा को संज्ञाशून्य करने की अपूर्व शक्ति पात्रों में दिखाई देती है। डा० हरीन्द्र ने प्रसाद के नैतिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये उल्लेख किया है—"पाश्चात्यों ने रस को नाटक

का तत्व न मानते हुये उद्देश्य को नाटक का प्रमुख तत्व माना है। प्रसादजी के नाटक केवल रस को ही दृष्टि में रखकर दत्तचित्त नहीं है अपितु महदुद्देश्यों की व्यंजना करना भी उनका, समान रूप से, महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि प्रसाद साहित्य की अन्तरात्मा के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद केवल युग-प्रवर्तक साहित्यकार ही नहीं, अपितु इतिहास के असाधारण अन्वेषक, भारतीय संस्कृति के प्रबल-पोषक, आर्य-ऋषियों के उदात्त और समन्वयवादी धर्म के समर्थक तथा भारतीय परम्परा के मानवतावादी दार्शनिक थे।"[1]

प्रसादजी ने मानवता को सुखमय एवं समृद्धिपूर्ण बनाने के लिये भारतीय-संस्कृति के नैतिक-मूल्यों को संरक्षण प्रदान किया। असत् से सत् की ओर मानवता का पंथ प्रशस्त करना कवि का उद्देश्य रहा। भारतीय हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास कृत रामचरित मानस के पश्चात् ऐसा सर्वात्मवाद पूर्ण सशक्त सृजन प्रसाद-साहित्य के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। लोक-चरित्र के पुनर्मूल्यांकन के लिये प्रसादजी ने सक्षम एवं सबल स्वर दिये हैं। अब हम उन बिन्दुओं पर चर्चा कर लेना चाहते हैं— जिनके माध्यम से प्रसाद-साहित्य का नैतिक-दर्शन अपने मूल्यों की स्थापना कर पाता है।

राष्ट्र-धर्म

प्रसाद-साहित्य में राष्ट्रीय-प्रवृत्ति को विशद् रूप से स्थान मिला है। प्रसाद-युग अंग्रेजों की दासता से अत्यन्त क्षुब्ध था—जन-मानस निराशा के अंध-सागर में निमज्जित था कहीं-कहीं जन चेतना आक्रोश लिये हुये राष्ट्रीय-परिवेश में अपना उत्सर्ग करने के लिये संकल्पशील है। इस राष्ट्रीय-भावना के संदर्भ में प्रसाद के पात्र त्याग, एकता तथा आत्मोत्सर्ग की भावना लिये हुये अपने धर्म का निर्वाह करते हुये दिखाई देते हैं। प्रसाद शताब्दियों से परतंत्रता की पीड़ा से क्षुब्ध भारतीयों में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये आग्रहशील हैं। ऐसे-पात्रों में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, देवसेना, बन्धुवर्मा, जयमाला, अलका, कल्याणी पर्णदत्त, रामा आदि अनेक व्यक्तित्व हैं—जिन्होंने राष्ट्रीय परिवेश में अपने अस्तित्व को सुरक्षित किया है। राष्ट्रीय एकता के लिये चाणक्य सीमा-भेद तोड़ देना चाहते हैं।[2] राष्ट्र की भावी विपत्तियों के प्रति

---

१. प्रसाद का नाट्य-साहित्य परम्परा एवं प्रयोग—पृ० सं० २४१

२. तुम मालव हो और यह मगध, यही तुम्हारे मान का अवसान है, परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में, आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे—(चन्द्रगुप्त प्र० अं०—पृ० सं० ५१)

चिन्तित है। सम्पूर्ण आर्यावर्त की सुरक्षा के लिये चाणक्य संकल्पशील है। सिंहरण और चन्द्रगुप्त आर्यधरा को विदेशी शासकों से पददलित होने से बचाने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं।[1] आर्यावर्त की एकता के व्यापक दृष्टिकोण को सिंहरण अलका के समक्ष प्रस्तुत करता है।"[2]

राष्ट्र के किसी भी भाग पर आक्रमण को सिंहरण समग्र आर्यावर्त पर आक्रमण समझता है।[3] अलका राष्ट्र के लिये अपना जीवन दान कर देने को प्रस्तुत है।[4] चन्द्रगुप्त नाटक की कल्याणी स्त्री होते हुये भी अपने राष्ट्र के सम्मान के लिये युद्ध में जाने को संकल्पशील है।[5] जन्म भूमि के लिये आत्म-त्याग की भावना को प्रस्तुत करते हुये सिंहरण ने कहा—'जन्म भूमि के लिये ही यह जीवन है, फिर जब आपसी सुकुमारियाँ इसकी सेवा में कटिबद्ध हैं तब मैं पीछे कब रहूँगा।"[6] अलका राष्ट्र के हित के लिये अपने पिता के प्रति ही विद्रोहिणी बन जाती है।[7] अलका समस्त आर्यावर्त के प्रति श्रद्धानत है—वह अपने राष्ट्र प्रेम को व्यक्त करती है।[8] प्रसादजी ने अलका के मुख से राष्ट्रगीत कहला कर उसे पूर्ण रूप से राष्ट्र के हित समर्पित कर दिया है।[9] आम्भीक जैसा देशद्रोही पात्र भी प्रायश्चित के साथ राष्ट्र भक्त हो जाता

---

१. गुरुदेव ! विश्वास रखिये यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे। —चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ५१

२. परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है, यही क्या समग्र आर्यावर्त है इसलिए मैं .... चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ५१

३. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ५२

४. यथोपरि—पृ० सं० ५२

५. „ „ „ ६६

६. „ „ „ ७१

७. "कुल-पुत्रों के रक्त से आर्यावर्त की भूमि सिंचेगी। दानवी बनकर जननी जन्मभूमि अपनी संतान को खायेगी। महाराज ! आर्यावर्त के सब बच्चे आम्भीक जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे।" —चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ७७

८. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ८१

९. हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोचलो,
प्रशस्त पुण्य-पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।

—चन्द्रगुप्त—पृ० सं० १७७

है ।[१] स्कन्दगुप्त नाटक की जयमाला अपने पति को विदेशी शासकों से युद्ध करने भेज देती है और स्वयं दुर्ग रक्षा का भार ले लेती है ।[२] यही जयमाला राष्ट्र के हित अपने क्षत्रिय-धर्म का स्मरण कर बलिदान के लिये प्रेरणा देती है ।[३] भीमवर्मा राष्ट्र के सम्मान के लिये स्वार्थ, वैभवमय राज्य के अधिकार का त्याग कर नैतिकता के आदर्श-परक मूल्य प्रस्तुत करता है ।[४] चक्रपालित, देवसेना, बन्धुवर्मा, जयमाला आदि सभी पात्र राष्ट्रीय-परिवेश में स्वयं को ढालते हुये राष्ट्र धर्म के लिए दृढ़व्रती दिखाई देते हैं ।

कमला राष्ट्र-प्रेम के कारण अपने पुत्र तक का मोह परित्याग कर देती है—उसे बंदी बनाने के लिये कहती है ।[५] स्कन्दगुप्त आर्य-राष्ट्र के लिये जीवन भर एक सैनिक बन कर अपना कर्तव्य निर्वाह करना चाहता है ।[६] प्रसादजी का एक सामान्य सैनिक भी राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है वह भटार्क की नीच भावना को तिरस्कृत करता है ।[७] सैनिक अपने नैतिक आचरण से भ्रष्ट नहीं होना चाहता—वह मगध-सेना नायक का पद ठुकरा देता है ।[८] एक अन्य सैनिक अपनी कर्तव्य-भावना को व्यक्त करते हुये कहता है:—"आर्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार महाबलाधिकृत को भी नहीं है ! हम सब प्राण देने आये हैं, खेलने नहीं ।"[९] शर्वनाग भी प्रायश्चित

---

१. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० १७८

२. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ४२

३. वीर ! स्त्रियों की ब्राह्मणों की पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना क्षात्र धर्म है । —स्कन्दगुप्त—पृ० सं ४४

४. समस्त देश के कल्याण के लिए एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो ! भाभी ! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को । देखो—हमारा आर्यावर्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें । —स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ६७

५. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ७०

६ आर्य ! इस गुरु भार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ और आर्य-राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ—आप इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कन्दगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश सेवा से. कभी विचलित न हो !" - स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ७५

७. यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यहीं उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो । —स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ८९

८. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ९०

९. ,, ,, ,, ९६

के क्षण जीता हुआ स्वयं को राष्ट्र धर्म में नियोजित कर लेता है ।[१] विजया-जिसके मानस में प्रतिशोध की आग जल रही है—वह भी देश-सेवा के लिये अपना संचित धन दान करने के लिये प्रस्तुत हो जाती है ।[२] पर्णदत्त राष्ट्र को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिये सूखी रोटियाँ एकत्रित करते हैं[३] और देवसेना आहत सैनिकों के पालन के लिये गीत गाकर धन संचय करती है ।[४] देवसेना के द्वारा प्रसादजी ने राष्ट्र धर्म के चरम लक्ष्य की सिद्धि को व्यक्त किया है ।[५] स्कन्दगुप्त का राष्ट्रीय धर्म इतना उदात्त बन गया कि वह स्वयं नैतिक आदर्श की प्रतिमा बन गया ।[६]

स्कन्दगुप्त नाटक का मातृगुप्त जन्म-भूमि के गौरव के प्रति श्रद्धानत है—उसे मातृभूमि का विरह आत्म-पीड़ा की अनुभूति दे रहा है—वह अपने अस्तित्व को मातृभूमि का उपहार मानता हुआ कह रहा है:—

"काश्मीर ! जन्मभूमि ! जिसकी धूलि में लोट कर खड़े होना सीखा । जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुये थे—वही छूट गया ! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न !"[७] प्रसादजी ने राष्ट्रीय-परिवेश में सभी पात्रों को मातृभूमि के प्रति श्रद्धानत रहने का नैतिक आदेश दिया । आर्य-धरा पर सर्वस्व निछावर कर 'भारत की जय' का गीत गाते रहें ।"[८] छोटा जादूगर स्वाभिमान के साथ अपने पिता के लिए कहता है कि—'जेल में हैं' "देश के लिए ।" वह स्वयं मातृभूमि के हित के लिये जेल में जाने के लिये प्रस्तुत है ।[९] याकूबखाँ अपने काश्मीर

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १०७
२. ,, ,, ,, १२७
३. ,, ,, ,, १३१
४. ,, ,, ,, १३२
५. "मैं अपने लिए ही नहीं मांगती देव ! आर्य पर्ण दत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं वे सब निरवलम्ब हैं । किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड ! उन सबकी इसी आश्रम में सेवा होती है ।" —स्कन्दगुप्त—पृ० सं १३४
६. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० १३६,
७. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० २२
८. हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष ।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ।।
—स्कन्दगुप्त पृ० सं० १४५
९. इन्द्रजाल (छोटा जादूगर–४०)

के लिये प्रेम का भी उत्सर्ग करने को तैयार है।[1] सालवती कुलपुत्रों के अनुत्तरित होने पर मगध-महामंत्री से कहने लगी—"राष्ट्र नीति में हम लोगों का मतभेद तीव्र होता।[2] ममता अपने सुखी भविष्य को ठोकर मार कर राष्ट्र के मूल्यों का विक्रय नहीं कर सकी।[3] तिलक तुर्कों का गुलाम होकर भी अपने राष्ट्र को विस्मृत नहीं कर सकी—राष्ट्र प्रेम के प्रति वह प्रायश्चित के क्षणों के साथ निष्ठावान है।[4] मधूलिका अपने सुख के लिये राष्ट्र के नियमों को भंग करने के लिये सहमत नहीं है।[5] राष्ट्र-प्रेम के समक्ष आदर्श-प्रेम भी पराजित हो जाता है—मधूलिका अरुण के प्रणय की उपेक्षा करते हुये अपने राष्ट्र को विप्लव से बचाने के लिये दौड़ पड़ती है।[6] आत्म-बलिदान करके भी फतेहसिंह ने राष्ट्र-मूल्यों को संरक्षण प्रदान किया।[7] मल्लिका वैधव्य जीवन जीते हुए भी राष्ट्रीय-परिवेश से पृथक् नहीं हो सकी—शासक के प्रति घृणा के भाव रहते हुए भी उसने राष्ट्र के प्रति सर्वस्व बलिदान कर दिया।[8]

प्रसादजी का सृजन-प्रक्रिया में मूलतः यही उद्देश्य था कि वे राष्ट्रीय-भावनाओं को मानवीय चेतना में स्फूर्त रूप से भर सके। स्कन्दगुप्त ने अपने राष्ट्र-धर्म का कर्तव्य पालन करते हुए आजीवन कौमार्य-व्रत रखने का निर्णय कर लिया। विदेशी-जातियों को आर्यधरा से बाहर निकालने के लिए—स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, जनमेजय का नागयज्ञ आदि नाटकों में राष्ट्रीय परिवेश से युक्त पात्रों को जन्म दिया। पुरुष पात्र ही नहीं अपितु स्त्री-पात्रों की भी ऐसी रचना की—जिनमें राष्ट्रीय भावनायें प्रखरतम रूप से भरी जा सके। चन्द्रगुप्त की अलका, कल्याणी, ध्रुवस्वामिनी की मदाकिनी अजातशत्रु की मल्लिका स्कन्दगुप्त में देवसेना, विजया, जयमाला व ममता आदि अनेक ऐसे आदर्श स्त्री-पात्रों की सृष्टि ने राष्ट्रीय-परिवेश में नैतिक-भूमिका निभाई। प्रसादजी ने सिद्ध कर दिया कि मानव के लिए सर्व प्रथम राष्ट्र है और उसके लिए अपने जीवन के आदर्शनिष्ठ प्रेम का भी बलिदान किया जा सकता है—अपने वैभवमय स्वार्थों का परित्याग करते हुए आत्म-विसर्जन के लिए हर क्षण प्रस्तुत रहना चाहिये। राष्ट्र-प्रेम को स्वाधीनता के साथ सम्पृक्त कर निभाया जा सके—यही धर्म है, स्वाभिमान है,

---

१. इन्द्रजाल (नूरी–५८)
२. ,, (सालवती–२०२)
३. आकाशदीप (ममता)
४. आंधी (दासी—पृ० सं० ८०)
५. पुरस्कार (आंधी–पृ० सं० २०१)
६. यथोपरि—पृ० सं० २१४
७. वीर बालक—(कानन-कुसुम—पृ० सं० १३०)
८. अजातशत्रु

सुख है तथा मानवीय कर्तव्य है । वेदों में जिस प्रकार मातृभूमि की अमरता के लिए मर-मिटने का संदेश दिया गया है[1] उसी प्रकार हमें प्रसाद-साहित्य में भी मिलता है ।

मानवता

प्रसाद-साहित्य मानवता का संदेश प्रचारित करने के लिए संकल्पशील है । विश्व के अधुनातन वातावरण में जो स्वार्थ-तत्परता एवं व्यक्तिवाद की घिनौनी भावना उभर कर आगई है—उन विसंगतियों को समाप्त करने के लिए प्रसादजी ने मानवतावाद की सशक्त स्वरों में पुनः प्रतिष्ठा स्थापित की है । मानव ने आज घोर स्वार्थमय वैयक्तिकता के अंधकार में नैतिक-मूल्यों को खो दिया है । अपने कर्तव्य-धर्म से हट कर केवल अधिकार-सुख भोगने की लालसा उसमें विद्यमान रह गई है । नैतिक मूल्य—करुणा, प्रेम, समानता, सत्यवादिता, अहिंसा एवं क्षमा को भुला सा दिया गया है । प्रसाद के पात्र इस आदर्श की पुनः स्थापना कर सम्पूर्ण विश्व को सुख शांति मय देखना चाहते हैं । स्कन्दगुप्त नाटक का पात्र मातृगुप्त मंगलमय भावना को व्यक्त करते हुए कहता है:—

"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ।।"

प्रसाद का मानवतावादी दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं है अपितु देशकाल और धर्म की परिधियों को तोड़कर विश्वबन्धुत्व की भावना को व्यक्त करता है । 'कामायनी' की श्रद्धा मनु को निरुपाय और निराशामय देखकर, सहचर बन जाती है— केवल मानवीय दृष्टिकोण को लेकर ।[2] एक प्राणी दूसरे प्राणी के प्रति हृदय-शून्यता को

---

१. "त्वज्जातास्त्वयि चरंति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पंचमानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः
उधन् सूर्यो रश्मिभिरातनोति ।।" —अथर्ववेद–१२।१।१५
उपहूता पृथिवी माता उपमां पृथिवी माता ह्वयताम् । —यजुर्वेद २।१०
नमो मात्रे पृथिव्यै अहं मातरं पृथिवीं हंसिषं
मा मां माता पृथिवी हिंसीत् । —तै० सं० १।८।१५

२. दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहो अवलंब;
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ।। —कामायनी श्रद्धा–६४

व्यक्त करता है—इससे कवि क्षुब्ध है।[1] स्वार्थ-तत्परता के साथ शोषण की प्रवृत्ति को मानवतावाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।[2] 'सुख से जीओ और जीने दो'—सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रसाद सम्पूर्ण मानवता का हृदय विश्वजनीन एवं उदात्त रूप में देखना चाहते हैं।[3] संकीर्णता से हट कर सीमा हीन मानवता की उदात्तता के पक्षपाती हैं।

प्रसाद जीव मात्र पर दया करने की दृष्टि रखते हैं। मानवता को मानव तक ही नहीं अपितु उसे प्राणी मात्र तक करुणामय रहने का संदेश देते हैं—'दुर्बल के रक्षक राम हैं।"—यह नहीं अपितु मानव है—इसे प्रमाणित करना चाहते हैं। निरीह प्राणियों को इस संसार में जीने का अधिकार है; उनकी हिंसा अमानवता है।[4] पुरुषों के निर्यभ हृदय में करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित करने की दृष्टि से प्रसाद की श्रद्धा कहती है:—

दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास[5]।

---

१. यह विराग सम्बन्ध हृदय का
कैसी यह मानवता ?
प्राणी को प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता। —कामायनी-कर्म-१३२

२. मनु क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत बची क्या शवता। —कामायनी-कर्म-१३९

३. औरों को हँसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ। —कामायनी-कर्म-१४०

४. पर जो निरीह जी कर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ:
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ॥ —कामायनी—पृ० सं० १५४

५. कामायनी—पृ० सं० ६५

मानवता के पूर्व विकास के लिए सत्य भावों की दिव्य भूमिका को जन्म देकर सीमाओं की रेखायें मिटा देना चाहते हैं। मानवता के मूल्यों को कोई भी विधान बंदी नहीं बना सकता है— तभी तो श्रद्धा कहती है:—

आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बंद।

मानवता मानव को कर्तव्य के लिए प्रेरित करती है—जहां वह राग-द्वेष, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा व घृणा आदि सभी वृत्तियों को भुला देता है। प्रसाद की मल्लिका जीवन की सभी कटुताओं को भुलाकर अपने शत्रु को जीवन-दान देती है—साथ ही मानव-कल्याण के लिए शासक को संकल्पशील रचती है।[1] वह मानवता की कसौटी-पवित्रता एवं करुणा को स्वीकारते हुए अधिनायक-वादी अजातशत्रु के हृदय में कर्तव्य भावना को जागृत कर समस्त मानवता को उपकृत करती है।[2]

मनुष्य और पशु का अन्तर केवल धर्म ही है—अर्थात् कर्तव्य भावना। यदि कर्तव्य-भावना से मानव च्युत है तो वह मानव नहीं अपितु पशु है, अपनी पाशविक वृत्ति को धर्म के नियन्त्रण से दबाये रखता है। मानव को कभी किसी का अपकार नहीं करना चाहिये—उससे अन्य व्यक्ति की आत्मा को कष्ट पहुँचता ही है किन्तु स्वयं की आत्मा भी कलुषित होती है।[3] मानव जीवन का उद्देश्य सत्कर्म करना और सेवा-भावना के माध्यम से अपने कुकर्मों का प्रायश्चित करना है।[4] भोगवाद उसका लक्ष्य नहीं है अपितु करुणा और स्नेह से सन्त्रस्त मानवता के प्रति सम्वेदना ही उसके जीवन का उद्देश्य है। वैयक्तिकता तथा अहंवाद को भग्न कर समानता के स्तर पर जीवन जीने की दृष्टि का नाम ही मानवता है। आज धन के प्रति जो अंधी स्पर्धा चल रही है—उस संदर्भ में प्रसादजी मानवता को उससे दूर ही रखना

---

१. अतीत के बज्र कठोर हृदय पर जो कुटिल रेखा चित्र खिच गये हैं—वे क्या कभी मिटेंगे ? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिये, जो भविष्य में उज्ज्वल होकर दर्शकों के हृदय को शांति दें। दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिये। — अजातशत्रु—पृ० सं० ८६

२. मनुष्य का कर्तव्य है—उपकार, करुणा, सम्वेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं। — अजातशत्रु पृ० सं० ६०

३. 'आनन्द ! दूसरों का अपकार सोचने से अपना हृदय भी कलुषित होता है।" —अजातशत्रु पृ० सं० ६५

४. "जीवन इस लिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित करो।" —अजातशत्रु पृ० सं० ११४

चाहते हैं। उनकी दृष्टि में धन देश का है, और अन्न पर समाज का अधिकार है। प्रत्येक मानव दो रोटी पा सके—यही उनका सदेश है। दरिद्रों की भोजन व्यवस्था का दायित्व इसी मानवता का है।[१] 'स्कन्दगुप्त' का पर्णदत्त और देवसेना मानवता की सेवा के लिए कृत-संकल्प है। असमानता, अस्पृश्यता तथा वर्ग भेद को प्रसाद समाप्त कर देना चाहते हैं। महात्मा गौतम इस भेद को समाप्त कर मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं—

"यह दम्भ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है। क्यों राजन्! क्या दास, दासी, मनुष्य नहीं हैं? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राज-कुमारियों की ही संतान इस सिंहासन पर बैठी हैं.........यह छोटे-बड़े का भेद क्या अभी इस संकीर्ण हृदय में घुसा है कि निकल नहीं सकता?"[२] प्रसादजी मानवता को उसी रूप में स्वीकारते हैं जबकि उसमें कल्याण-भावना सन्निहित हो।[3]

प्रसाद का विदेशी पात्र यवन-सेनापति सिल्यूकस भी मानवतावादी है—वह चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा करता है।[४] मानवतावादी दृष्टिकोण के संदर्भ में धर्म और देश दीवार नहीं बन सकता है। जनमेजय के नागयज्ञ में वेद-व्यास समस्त मानवता को कल्याणमय देखना चाहता है।[५] ठीक इसी प्रकार विशाख का प्रेमानन्द मानवतावाद का पक्षपाती है।[६] महाराणा प्रताप यवनी बेगम को ससम्मान उसके शिविर में भेज कर अपनी उदात्त भावना का परिचय देते हैं।[७] प्रेमा यवन सलीम के प्रति करुणाशील होकर उसके दुःखों के प्रति सम्वेदना व्यक्त करती है।[८] राज्यश्री

---

१. देव सेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है, देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम भूखों के लिए—रख छोड़ा है, वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं।" —स्कन्दगुप्त—५/१३२

२. अजात शत्रु पृ० सं० ३/१२५

३. "सूक्ष्म रूप से जो कल्याण-ज्योति मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक से अधिक श्रद्धा करता हूँ। विपथगामी होने पर वही संकेत कर के मनुष्य का अनुशासन करती है—यदि उसकी पशुता ही प्रबल न हो गई हो तो। आंधी पृ० सं० ३३

४. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १।८३

५. जनमेजय का नागयज्ञ

६. विशाख

७. महाराणा का महत्व

८. सलीम कहानी

में समस्त मानवता को दुःख रहित, करुणामय, प्रेम से आपूरित, द्वेषरहित देखने की कामना प्रकट करते हैं।[1] आकाशदीप की चम्पा मानवता की सेवा के हित अपने स्वार्थों का परित्याग कर सेवा-व्रत जीवन व्यतीत करना स्वीकार कर लेती है।[2] ममता अपने शत्रु विजातीय यवन-सम्राट को शरण देकर मानवता का धर्म निभाती है।[3] विशाख समाज के विरुद्ध तत्वों के प्रति संघर्ष कर के कर्मशील होता है। कंकाल का मंगल तारा को वेश्यालय से मुक्त कराने का संकल्प लेकर मानवता को व्यक्त करता है।[4] तितली चौबे की सहायता करना अपना धर्म समझती है, और रामनाथ ने तितली का पालन-पोषण कर के मानवता के धर्म का निर्वाह किया। प्रसाद जन-सेवा को ही धर्म की संज्ञा देकर मानव-समाज को पीडितों की सेवा के लिए प्रेरित करते हुए स्वामी कृष्ण शरण से कहलाते हैं—"पुरुषोत्तम ने लोक-संग्रह किया था, वे मानवता के हित में लगे रहे, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सदैव युद्ध करते रहे। अपने किये हुए अन्याय के विरुद्ध तुम्हें अपने से लड़ना होगा। उस असुर को परास्त करना होगा।"[5] मानव अपने मन की आसुरी वृत्ति को समाप्त कर के धर्म तत्पर हो जाये—यह सब से बड़ी मानवता है।

आज समाज में जितनी विपन्नतायें, विसंगतियाँ, अभाव और कुण्ठायें खड़ी हुई हैं—जिस असन्तोष के सहस्रों फन रक्त-क्रांति की विष भर श्वांसें छोड़ रहे हैं—ये और कुछ नहीं संत्रस्त मानवता की पुकार है। आज स्थान स्थान पर उपद्रव, आन्दोलन, हिंसा एवं लूट-मार की जिन वृत्तियों का जन्म हो रहा है—उनकी पृष्ठ भूमि में असमानता एव दारिद्रय है।[6] यदि समाज मानवतावादी दृष्टिकोण को स्वीकारते हुए प्रेम और करुणा को बहा दे तो मानवता इस अशान्ति को छोड़कर संतोष के साथ जीना आरम्भ कर दे। प्रसाद ने कामायनी में कहा है:—

---

१. करुणा कादम्बिनी बरसे—
   दुःख से जली हुई धरणी प्रमुदित हो सरसे।
   प्रेम-प्रचार रहे जगतीतल दया दान दर से।
   मिटे कलह शांति प्रकट हो अचर और चर से। —राज्यश्री पृ० सं० ८२
२. आकाश दीप पृ० सं० १५
३. आकाश दीप (ममता-कथा)
४. कंकाल (उपन्यास)
५. कंकाल पृ० सं० १६३
६. संसार में जितने हलचल हैं, आदोलन हैं वे सब मानवता की पुकार हैं। जननी अपने झगड़ालू कुटुम्ब में मेल कराने के लिए बुला रही है। उसके लिए हमें प्रस्तुतहोना है। —कंकाल पृ० सं० ३५१

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय ![1]

प्रसादजी का साहित्य मानवतावादी है—इसी कारण भारतीय संस्कृति के आदर्शपरक मूल्यों का अस्तित्व सुरक्षित रखने में प्रसाद सफल सिद्ध हुए हैं। प्रसादजी इस विश्व से युद्ध की विभीषिका, वर्ग भेद, असमानता, ईर्ष्या, द्वेष, रक्तक्रांति को समाप्त कर प्रेम एवं करुणा का साम्राज्य देख ने को उत्सुक हैं। चम्पा द्वीप की कल्पना-उनकी मानवतावादी सृष्टि है—जिसमें निश्छल व्यवहार और आदर्शपरक नैतिक मूल्यों का अस्तित्व है।

नारी प्रतिष्ठा

वैदिक-काल से ही नारी को समाज में प्रतिष्ठित स्थान मिला है। अथर्ववेद में स्त्री के अधिकारों के संदर्भ में कहा है:—

शिवाभव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वभ्य: शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ।।३।२८।३
इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे।
गार्हपत्याय जागृहि एना पत्या तन्वं सं ।।१४।१।२१

अर्थात् हे स्त्री ! तू पुरुषों, गायों घोड़ों तथा गृह सम्बन्धी सर्व स्थानों के लिए और हमारे लिए कल्याणकारक बनकर घर में आ। यहां तेरी सन्तति के हित वृद्धि हो ! घर के गार्हपत्य कामो में तू जागरूक रह। मनुस्मृतिकार ने तो यहां तक कह दिया कि जहां स्त्रियों की प्रतिष्ठा है वहां देवता निवास करते हैं।[2] वेदव्यास ने नारी की परिभाषा करते हुए कहा है कि—जो भोग, काम, ऐश्वर्य तथा सुख से स्पृहाहीन होकर पति के साथ रहती है व धर्म भागिनी है।[3] वैदिक युग में स्त्रियों के अध्ययन व उपनयन आदि के सूत्र भी मिलते हैं।[4]—वैदिक युग की परम्परा के अनुसार

---

१. कामायनी -६७

२. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। —मनुस्मृति—३।६

३. न भोगेषु न कामेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्म भागिनी।
—महाभारत अनुशासन पर्व १४६।५५

४. पुरायुगेषु नारीणां मौञ्जीबंधनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सविक्रया: प्रत्यहं जपः ।।

प्रसादजी ने भी नारी की सत्ता को स्वीकार किया है।[1] पतिहीन विधवा नारी का जीवन भयानक कहा गया हैं।[2] विधवा नारी का जीना भी दुष्कर कहा गया है।[3] मध्ययुगीन संस्कृति ने नारी के अस्तित्व को मिटा दिया तथा उसे उपभोग्या मात्र मान लिया। आधुनिक युग में प्रसादजी ने उस नारी को श्रद्धा की संज्ञा देते हुए पीयूष-स्रोतस्विनी कहा है।[4]

प्रसादजी ने नारी को गरिमामय दृष्टि से देखा है, उसके भीतर आशा, विश्वास, क्षमा, श्रद्धा, कल्याण-भावना त्याग-संकल्प एवं मानवता के दर्शन किये हैं—तभी तो नारी की इतनी सुन्दर परिभाषा कर पाये:—

हे सर्वमंगले ! तुम महती
सबका दुःख अपने पर सहती।
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा-निलय में हो रहती।।

प्रसादजी ने नारी को कोमलता का प्रतीक माना है।[5] प्रसादजी ने नारी का आदर्शवादी स्वरूप चित्रित किया है। प्रसाद-साहित्य में हमें अनेक नारी-पात्र मिलते है—इनमें से कुछ पात्र उदात्तता, त्याग एवं समर्पण की भावना से समन्वित हैं तो कुछ पात्र दुर्बलता लिये हुए भो हैं। उदात्त स्त्री पात्रों ने गरिमामय आदर्शों की सुरक्षा कर भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित किया है। आदर्शनिष्ठ स्त्री पात्रों मे देवसेना[6],

---

१. तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में
कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता सम्बन्ध बनी
अधिकार और अधिकारी की।। —कामायनी इड़ा सर्ग

२. भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसन महत्। —रामायण–उत्तरकांड–२५।४३

३. पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत्।
—महाभारत–शांति-पर्व १४८।८

४. नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में। —कामायनी लज्जा सर्ग

५. कामायनी दर्शन सर्ग

६. अजातशत्रु–पृ० सं० १२५

श्रद्धा[1], वासवी[2], मल्लिका[3], जयमाला[4], राज्यश्री[5], कार्नेलिया[6], यमुना[7], तितली[8], शैला[9], नूरी[10], ममता[11], मधूलिका[12], इरावती[13], फिरोजा[14], राधा[15], प्रेमा[16], सुजाता[17], चम्पा[18], मंदाकिनी[19], कोमा[20], रामा[21], अलका[22] आदि अनेक पात्र अपना गरिमामय अस्तित्व रखते हैं।

ध्रुवस्वामिनी भारतीय नारी है किन्तु उसे बेचा नहीं जा सकता—वह अपना अधिकार समझती है।[23] नारी नारीत्व का मूल्य पहचानती है, अपने पति के लिए सर्वस्व समर्पण करने को प्रस्तुत है किन्तु उसका रक्षक ही जब उसकी रक्षा नहीं कर

---

१. कामायनी
२. अजातशत्रु
३. अजातशत्रु
४. स्कन्दगुप्त
५. राज्यश्री
६. चन्द्रगुप्त
७. कंकाल
८. तितली
९. ,,
१०. नूरी (कहानी)
११. ममता ,,
१२. पुरस्कार ,,
१३. इरावती
१४. दासी
१५. व्रत-भंग
१६. सलीम (कहानी)
१७. देवरथ ,,
१८. आकाशदीप
१९. ध्रुवस्वामिनी
२०. यथोपरि
२१. स्कन्दगुप्त
२२. चन्द्रगुप्त
२३. "अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते।" —ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० २७

पाता तो—वह विद्रोहिणी हो जाती है, पारम्परिक मूल्यों का विघटन कर देना चाहती है। अपने सम्मान को बचाने के लिए आत्महत्या के मार्ग का चयन करती है।[1] शकराज की प्रणयिनी कोमा स्त्री जाति के मान को नष्ट होते हुए नहीं देख सकती—वह उसे अनर्थ की संज्ञा देती है।[2] वह अनुदात्त हृदयहीन व्यक्ति को ठुकरा कर अपने प्रेम की हत्या कर लेती है किन्तु स्त्री जाति के प्रति अन्याय को सहन नहीं करती।[3] नारी के हृदय की विशालता और पवित्रता भी प्रसाद-साहित्य में उपलब्ध है—नारी स्वयं को तुच्छ की संज्ञा देकर अपने लिए किसी को संकट में नहीं डालना चाहती।[4] नारी प्राचीन परम्पराओं के प्रति आस्थावान् हैं किन्तु धर्मान्धता के नाम पर पैशाचिक-कृत्यों को सहन करना—यह असह्य है। ध्रुवस्वामिनी राक्षस-विवाह की मान्यता को भंग कर देना चाहती है।[5] स्त्री-अपने हृदय पर नियन्त्रण नहीं रख पाती—स्वामी के साथ स्वयं को भी समाप्त कर देने की उसमें चाह है। कोमा शकराज के शव के लिए ध्रुवदेवी से याचना करती है।[6] स्त्रियों के बलिदान की समाज किस स्तर तक उपेक्षा करता है—यह मन्दा के द्वारा कहलाया है।[7] नारी का क्या अस्तित्व है ? और उसकी क्या गरिमा है ? उसके अधिकारों के संदर्भ में पुनः नैतिकता के साथ विचारना चाहिये।[8]

प्रसाद के स्त्री-पात्रों में आदर्शमय प्रेम और त्याग की भावनाओं के पूर्ण दर्शन होते हैं। जयमाला अपने पति को सहर्ष रण में भेज कर अपूर्व धैर्य एवं कर्तव्य का परिचय देती है।[9] अपने पैतृक राज्य का राष्ट्र के लिए उत्सर्ग कर देना सहज नहीं है।[10] अपने पति की मृत्यु के साथ स्वयं भी सती हो जाती है।[11] कमला मानवता

---

१. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० २८
२. यथोपरि ,, ४३
३. ,, ,, ४६
४. ,, ,, ४८
५. ,, ,, ५३
६. ,, ,, ५५
७. स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है और सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। —ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ५५
८. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ६३
९. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६८
१०. ,, ,, ६६
११. ,, ,, ६७

एवं राष्ट्र के हित के लिए अपने कुपुत्र भटार्क को मार देना चाहती है। अपने ही अंश को पिशाच की संज्ञा देती है।[1] देवकी का अपूर्व धैर्य नारी की सहनशीलता का प्रतीक है, वह अपनी सौत अनन्तदेवी से किसी प्रकार का घृणा-भाव मन में नहीं रखती।[2] देवसेना राष्ट्र के लिए स्वयं को समर्पित कर देती है और अपने आदर्श प्रणय का बलिदान भी।[3] विजया को देखकर उसके मन में सामान्य स्त्रियों की तरह ईर्ष्या भावना नहीं है। देव सेना में अपूर्व साहस का संचय था—वह श्मसान में विजया के साथ चली जाती है।[4] आदर्श-प्रणयिनी की तरह अपनी अन्तर्वेदना को व्यक्त कर उसी में सुख का अनुभव करती है।[5] वासबी आदर्श स्त्री है—छलना से उसे कोई घृणा या ईर्ष्या नहीं है, अपितु समय-समय पर वह उसे सचेत करती है[6] अपने पति के साथ वानप्रस्थ ग्रहण करती है।[7] वासवी विदुषी है, संसार के चक्र को समझती हुई अपने प्रति बिम्बसार की सेवा ही अपना कर्तव्य समझती है।[8] प्रसाद के स्त्री-पात्रों में घृणा एवं क्रोध के स्थान पर करुणा व क्षमाशीलता की उदात्त भावनायें हैं; वासवी द्वारा छलना को क्षमा किया जाना[9] और देवकी द्वारा शर्वनाग एवं अनन्त देवी को क्षम्य करना[10] इसके उदाहरण है।

प्रसाद के स्त्री पात्र उदात्त हृदय, जीवन-सत्य को समझने वाले तथा अनासक्त विचार धारा में जीते हुए भी गार्हस्थ्य धर्म में कर्तव्य शील है। सत्य के प्रति आस्था, अन्याय के प्रति विद्रोह, रूढ़ियों को तोड़ने का साहस एवं क्षमाशीलता की शक्तियों को संजोये हुए हैं। रामा अपने पति शर्वनाग के दुराचरण का विरोध करती है।[11] नूरी

---

१. स्कन्दगुप्त ,, ७०
२. ,, ,, ६२
३. ,, ,, ६४
४. ,, ,, ८६
५. "कष्ट हृदय की कसौटी है। तपस्या अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या? सब क्षणिक-सुखों का अन्त न हो—इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य।"
—स्कन्दगुप्त पृ० सं० १४८
६. अजातशत्रु पृ० सं० २७
७. यथोपरि ,, ३८
८. ,, ,, ८३
९. ,, ,, १३७
१०. ,, ,, ७८
११. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ३१

अपने प्रेम के लिए आजीवन यातनायें भोगने को तत्पर हो जाती ।[1] मधूलिका अपने अरुण के लिए उसके साथ ही प्राण-दंड का पुरस्कार चाहती है ।[2] राधा अपने धर्म को स्वीकरती हुई घर में अकेली रहकर संघर्षमय जीवन व्यतीत करती है ।[3] सामान्य सी पात्रा लैला प्रेम की असफलता पर आक्रोश की अपेक्षा मृत्यु को स्वीकार लेती है ।[4] यमुना विसंगतियों के साथ जीवन जीते हुए भी स्वाभिमान को नहीं झुकाती ।[5] गाला अपने मंगल के लिए अन्तर्जातीय विवाह को स्वीकार करतीं है ।[6] तितली दु:खमय दिनों में स्वाभिमान के साथ जीकर सिद्ध कर देती है कि नारी कमजोर नहीं है—वह पुरुष की तरह स्वावलम्बन पूर्ण जीवन जीने की क्षमता रखती है ।[7] शैला विदेशी युवती होते हुए भी भारतीय-संस्कृति के प्रति आसक्त होकर परोपकार तथा मानव सेवा में लगी रहती है ।[8] राज्यश्री का अपूर्व परित्याग उदारता और विश्व-बन्धुत्व तथा क्षमाशीलता का परिचायक है ।[9] इरावती का सत्य-संकल्प स्पृहणीय है ।[10] प्रेमा की करुणा एवं सहानुभूति मानवता को नयी दिशा देने में सशक्त है ।[11]

प्रसाद के स्त्री-पात्रों में अनन्तदेवी, छलना, सुवासिनी, सुरमा जैसी स्त्रियाँ भी हैं जिनके हृदय मे सौतिया डाह व ईर्ष्या तथा प्रतिशोधात्मक भावनायें भरी हुई हैं । किन्तु ये सभी पात्र महत्वाकांक्षा के अन्धे वातावरण में जीते हुए भी अन्तत: आदर्श-मुखोन्वाद की ओर ही प्रवृत्त होते हैं, पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए अपने दुष्कृत्यों के लिए क्षमा-याचना करती हुई दिखाई देती हैं । प्रसादजी के नारी-पात्रों ने नैतिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए आत्म-त्याग की भावना को स्वीकृत किया है । कर्तव्यपरा-यण, उदार हृदय, मानवता के सिद्धान्तों के संरक्षण में तत्पर, ममतामय, करुणा एवं परोपकार की भावनाओं से आपूरित इन स्त्री-पात्रों ने सृष्टि के विकास के लिए अपना गरिमामय अस्तित्व स्थापित किया है । स्त्रियों ने पुरुष को सद् वृत्ति की ओर प्रेरित

---

१. नूरी (कहानी)
२. पुरष्कार (,,)
३. व्रत-भंग (,,)
४. आँधी (,,)
५. कंकाल (उपन्यास)
६. यथोपरि (,,)
७. तितली (,,)
८. तितली (,,)
९. राज्यश्री (नाटक)
१०. दासी (कहानी)
११. सलीम (,,)

करने के लिए तथा मानवता के मूल्यों के हित आत्म-स्वार्थ का परित्याग करते हुए संघर्षों के मध्य जीवन जीने का संकल्प लिया है। कामायनी की श्रद्धा पुरुष के समक्ष समर्पित हैं और आकांक्षाहीन नव-सृष्टि के विकास के लिए संकल्पशील दिखाई देती हैं, अपने मनु को असद् मार्ग से हटाकर सद्-वृत्ति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है। नारी के बिना गृहस्थ जीवन अपूर्ण है, मानवता असुरक्षित है, नारी पीड़ामय है, करुणामय है—और यह वह देवी है जो विश्व में शान्ति की पीयूष धारा बहाने में समर्थ है। वैदिक-सूत्रों ने भी इसी आदर्श को स्थापित किया है।[1]

धार्मिक आस्थायें

'धृ' धारणे धातु से धर्म शब्द बना है। धर्म का अर्थ कर्तव्य अथवा धारणा से है। सद्वृत्ति की ओर धारणा प्रवृत्त करना ही धर्म है। धर्म का उद्देश्य मानव-सेवा है, करुणा का प्रवाह है, क्षमा का संचार है, स्वय को अन्य के लिए समर्पित कर देना है किन्तु कालान्तर में धर्म शब्द रुढ़ हो गया और हिंसा, विद्वेष एवं प्रतिशोध तथा व्यभिचार का आवरण डाल कर विलास करने लग गया—तब धर्म' शब्द विचारणीय हो गया। और कहा जाने लगा कि अमुक धर्म उपयुक्त नहीं है—यह असत्य है क्योंकि धर्म तो शाश्वत सत्य है—उसके नियम विश्रृंखल हो सकते हैं। जिस वृत्ति से कल्याण का अभ्युदय हो वह धर्म है।[2] मानवीय स्वभाव पर जो अनुशासन कर सकता है—वह धर्म है।[3] धर्म के संदर्भ में अनेक मान्यतायें है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सभी धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आओ![4]

---

१. शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥ —अ०।३
गृहाश्रमात्परं नास्ति यदि भार्या वशानुगा।
तथा धर्मार्थकामानां त्रिवर्गफलमश्नुते। —दक्षस्मृति।
असहायस्य लोकेऽस्मिन् लोकयात्रा-सहायिनी।
म० भा० आ० प०। १२।१४४।१४

२. "यतोऽभ्युदय निःश्रेयसे सिद्धिः स धर्मः"—वैशेषिक सूत्र १।१।२

३. धर्म मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, न करे तो मनुष्य और पशु में भेद ही क्या रह जाय? —कंकाल पृ० सं ११०

४. सर्वान्धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहम्त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्ष्यामि मा शुचः। —श्रीमद्भगवद्गीता

अन्यलोग सत्य को ही धर्म मानते हैं ।[१] आपत्तिकाल में जो धारणा होती है—वही धर्म है ।[२] प्रसादजी ने धर्म के संदर्भ में विशदता के साथ विचार किया है । कंकाल के ब्रह्मचारी धर्म का संदेश प्रचारित करते हुए गाते हैं—

कस्यचित्किमपि नोपहरणीयं मर्मवाक्ममपिनोच्चरणीयम्,
श्रीपतेः पदयुग स्मरणीयं लीलयाभवजलं तरणीयम् ।।[३]

रूढ़िग्रस्त धार्मिक—परम्पराओं को प्रसादजी कभी स्वीकारने को सहमत नहीं है । उनके हिन्दू संस्कार भी दूषित धर्म को नहीं स्वीकारते हैं । विजय उनका यथार्थवादी पात्र है जो धर्म के आडम्बर को दूर कर देने के लिए रूढ़ियों को तोड़ देने की बात कहता है ।[४]

धर्म को आडम्बर से दूर रखने के लिए—प्रसादजी उसे शुद्ध श्रद्धामय रूप देना चाहते है । धर्म श्रद्धा से अन्वित होना चाहिये न कि कृत्रिम व्यवहार एव आचार-विचारो से[५] धर्म का सम्बन्ध उपासना से ही नहीं अपितु सामाजिक व्यवस्था से भी उसे सम्बद्ध मानते हैं—और उसके लिए समय-समय पर परिवर्तनों को भी स्वीकारने के लिए सहमत हैं ।[६] धर्म मूलतः एक है, उसकी विभिन्न शाखायें अपनी पृथक्-पृथक् मान्यतायें लिए हुए व्याप्त है ।[७] धर्म का मूल उद्देश्य शासन की स्थापना,

---

१. नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
नहि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ।
—महाभारत—आ० प० ७४।१०५

२. आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः ।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ।
—म० भा० आ० प०—१५५।१४

३. कंकाल पृ० सं० १२४

४. जो हमारे दान के अधिकारी हैं धर्म के ठेकेदार हैं, उन्हें इसीलिए तो समाज देता है कि वे उसका सदुपयोग करें—परन्तु वे मन्दिरों में, मठों में बैठे मौज उड़ाते हैं उन्हें क्या चिन्ता कि समाज के कितने बच्चे भूखे नंगे और अशिक्षित हैं । —कंकाल पृ० सं० १३२

५. किन्तु मैं आड़म्बर नहीं चाहता । व्यक्तिगत श्रद्धा से जितना जो कर सके, उतना ही पर्याप्त है । कंकाल पृ० सं० २२६

६. मानना पड़ेगा, धर्म-सम्बन्धी उपासना के नियम चाहे जैसे हों—परन्तु सामाजिक परिवर्तन उसके माननीय हैं । —"कंकाल" पृ० सं० २७३

७. सभी धर्म समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत हो रहे हैं और होंगे । हम लोगों को हठ धर्मी से उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुंह नहीं फेरना चाहिये । हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएं हैं ।" स्कन्दगुप्त पृ० सं० ४।११८

समाज पर नियन्त्रण अथवा राजनैतिक नहीं है—केवल जीव मात्र की रक्षा करना है।[1] प्रसाद साहित्य में धर्म, ईश्वर-भक्ति, यज्ञ-कर्म, उपासना, राष्ट्र धर्म, मानव धर्म आदि अनेक रूपों में वर्णित हुआ है। प्रसादजी पर सनातन धर्म का पूर्ण प्रभाव है किन्तु साथ ही बौद्ध धर्म के प्रति भी उनकी गहन निष्ठा है। धर्म के संदर्भ में कवि ने असद् पर सद् की विजय, परोपकार, करुणा, सेवा-धर्म आदि को समाहित किया है। अहिंसा का परम धर्म कहा गया है। हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा का विधान भी धर्म ही कहा गया है। ईश्वर की उपासना के अतिरिक्त मानव-धर्म को अत्यधिक महत्व दिया गया—मानव की सद्वृत्ति को श्रेष्ठ धर्म माना गया है। सामाजिक-व्यवस्थाओं के सदर्भ में भी धर्म को ही आधार माना गया है।

ध्रुवस्वामिनी के पुनर्विवाह के संदर्भ में व्यवस्था देता हुआ पुरोहित विवाह का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करता है।[2] राजा का धर्म न्याय कहा गया है।[3] आडम्बर धर्म नहीं है. गेरूवे वस्त्र धारण करना धर्म नहीं है अपितु चित्त शुद्धि धर्म है।[4] कृतज्ञता को भी धर्म कहा गया है।[5] अहिंसा को धर्म कहा गया है।[6] धर्म-वही है जो प्राणी मात्र पर करुणा का जल सिंचित कर सके। प्रसादजी ने रूढिग्रस्त

---

१. भगवान ने प्राणि-मात्र को बराबर बनाया है और जीव-रक्षा इसीलिए धर्म है। —स्कन्द गुप्त ४।११६

२. "प्राणी मात्र के अन्तस्तल में जाग्रत रहने वाले महान् विचारक धर्म की आज्ञा, मैं न टाल सकूंगा। अभी जो प्रश्न अपनी गंभीरता में भीषण होकर आप लोगों को विचलित कर रहा है, मैं ही उसका उत्तर देने का अधिकारी हूं। विवाह का धर्मशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है।
—ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० ६०

३. "राजा का परम धर्म न्याय है।" अजात शत्रु १।२५

४. आज मुझे विश्वास हुआ कि केवल काषाय वस्त्र धारण कर लेने से ही धर्म पर एकाधिकार नहीं हो जाता—यह तो चित्त शुद्धि से मिलता है:—
अजात शत्रु २।८०

५. मूर्ख ! अभागा कौन है ? जो संसार के सब से पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है और भूल जाता है कि सब के ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्व शक्तिमान् है ! वह या मैं" ? —स्कन्द गुप्त पृ० सं० २।६३

६. "निरीह प्राणियों के वध में कौनसा धर्म है ? ब्राह्मण ! तुम्हारी इसी हिंसा नीति और अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया"—
स्कन्दगुप्त पृ० सं० ४।११७

धर्म पर तीव्र प्रहार करते हुए कहा है—जो धन के लोभ से बेचा जा सके और खरीदा जा सके—वह धर्म नहीं अधर्म कहा जायेगा।[1] धर्म का सम्बन्ध हृदय और ज्ञान से है न कि बुद्धि के वितण्डा युक्त तर्कों अथवा सम्पदा से। कर्मकाण्ड की दूषित प्रणालियों का विरोध करते हुए प्रसाद ने 'बलि' का निषेध किया। यज्ञ-प्रणाली को वे स्वीकारते हैं किन्तु उसमें की जाने वाली हिंसा के वे समर्थक नहीं हो सकते। जनमेजय के नागयज्ञ में प्रसादजी ने कर्मकाण्ड पद्धति का घोर विरोध किया है—इसी प्रकार कामायनी में पशु-बलि के प्रति श्रद्धा का विद्रोह इस तथ्य को व्यक्त करता है कि प्रसाद का धर्म मानव-हिताय है न कि दुःखवाद की अभिवृद्धि के लिए।

ब्राह्मण

आर्य-संस्कृति में ब्राह्मण का अत्यन्त महत्व रहा है। राजनीति, समाज, धर्म आदि सभी व्यवस्थाओं में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा थी और वहीं इस समाज का नियामक माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण के लिए कहा गया है:—

"तद्वयेव ब्राह्मणे नेष्टव्यं यत् ब्रह्मवर्चसी स्यात्।"[2]

ब्राह्मण का जीवन अध्यात्मपरक तथा तपस्यामूलक होता रहा है। ऋत ही उसकी सम्पदा और मगल-कामना ही उसका कर्म व तपस्या ही उसका जीवन कहा गया हैं। वैदिक-ग्रन्थों में भी ब्राह्मण की प्रतिष्ठा थी। चारों वर्णों में ब्राह्मण को श्रेष्ठ माना गया—उसे नियन्ता का मुख कहा गया है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[3]

प्रसाद-साहित्य में ब्राह्मण-संस्कृति का पर्याप्त विश्लेषण हुआ है। कवि ने ब्राह्मण के सत्य स्वरूप को स्वीकर किया है—उसे गौरवान्वित किया है तथा उसके आडम्बर स्वरूप की कठोर शब्दों में भर्त्सना की है। प्रसाद ने ब्राह्मण शब्द को नैतिक-

---

१. "जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिये। वह धर्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं। धर्म वृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के कांटेदार जाल फैलाये गये हैं और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रखा—उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है। इसीलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण।"
—स्कन्दगुप्त पृ० सं० ४।११८

२. शतपथ ब्राह्मण १।६।३।१६

३. ऋग्वेद—१०।९०।१२

मूल्यों का अधिष्ठाता कहा है—उसे धर्म का नियामक माना है तथा समाज का व्यवस्थापक कहा है। ध्रुवस्वामिनी का पुरोहित ब्राह्मण स्पष्ट कहता है कि राजनीति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु आचरण-व्यवस्था के प्रति ब्राह्मण मौन नहीं रह सकता है—'शिखर ! मुझे अब भी बोलने दोगे या नहीं ? मैं राज्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता। वह तुम्हारी राजनीति जाने। किन्तु इस विवाह के सम्बन्ध में तो मुझे कुछ कहना ही चाहिये।[१] ब्राह्मण का धर्म सत्य की अभिव्यक्ति करना है औ उस धर्म के लिए प्राणों का उत्सर्ग करना भी श्रेयस्कर है। धार्मिक सत्य की उपेक्षा ब्राह्मण नहीं कर सकता है – वह अपने धर्म के प्रति निर्भीक तथा स्पष्ट-वक्ता है:— 'तनिक भी नहीं। ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। तुम्हारे वधिक मुझे धार्मिक सत्य कहने से रोक नहीं सकते।[२]— जनमेजय के नागयज्ञ' नाटक में काश्यप लोभी ब्राह्मण को भ्रष्ट कहा गया है और तुरकाषवेय को त्यागी, उदार, तपस्वी, राष्ट्रभक्त एवं सत्य का पोषक माना गया है। ब्राह्मण निसर्गतः राष्ट्र एवं मानव-समाज का हितचिन्तक है, वह अपने आदर्शों के सम्बल पर राष्ट्र को नैतिकता की शिक्षा देता है। यदि राष्ट्र का शासक धर्म से विचलित हो तो ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह उस धर्म हीन शासक को सत्ता से च्युत कर सके।

ब्राह्मण का सम्मान आवश्यक है। जिस राष्ट्र में ब्राह्मण का सम्मान नहीं वह आचरणहीन है।[३] ब्राह्मण को अवध्य कहा गया हैं।[४] ब्राह्मण का अपमान किये जाने पर उसकी कोपाग्नि ज्वालामुखी का रूप ले लेती है—नन्द के द्वारा चाणक्य की शिखा खेंचने का आदेश अनैतिक था।[५] ब्राह्मण स्वाभिमानी रहा है—चाणक्य कहता है—"त्याग और क्षमा तप और विद्या तेज और सम्मान के लिए हैं, लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग ब्राह्मण नहीं बने हैं।[६] जब ब्राह्मण प्रतिज्ञा कर लेता है तो वह संकल्पशील होता है।[७] ब्राह्मण सम्राट-वर्ग के आचार्य रहे हैं—उन्होंने शासकों को सद्धर्म की नीति दी है।[८] ब्राह्मण त्यागी, अनासक्त एवं लोभ शून्य हैं—वे चारणों की तरह शासकों की वंदना करना नहीं स्वीकार सकते, दाण्ड्यायन

---

१. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ६३
२. यथोपरि— पृ० सं० ६३
३. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ५७
४. ,, ,, ६६
५. यथोपरि—पृ० सं० ६८
६. ,, ,, ७३
७. ,, ,, ८१
८. ,, ,, ८६

सिकन्दर की क्रूरता के आगे नतमस्तक होकर आशीर्वाद नहीं दे सका--वह सत्ब्राह्मण-त्व का प्रतीक है ।[1] ब्राह्मण शक्तिमान् एवं विवेकशील होता हुआ भी शासन के प्रति अनासक्त रहता है वह तो अपना धर्म यही समझता है कि शासकों को धर्म के पन्थ पर चलने को प्रेरित करे ।[2] राजनीति से ब्राह्मण का कोई मोह नहीं है किन्तु आपद् काल में उसे नियामक होना पड़ता है, चाणक्य नियामक होता हुआ भी वानप्रस्थ की ओर जाने के लिए उत्सुक है, वह पूर्ण निरासक्त है ।[3] ब्राह्मण के मन में प्रतिशोध व प्रतिहिंसा स्थायी नहीं होती है—चाणक्य नन्द से कहता है—"हम ब्राह्मण हैं तुम्हारे लिए भिक्षा मांग कर तुम्हें जीवन-दान दे सकते है ।"[4] चाणक्य अपने खोये हुए ब्राह्मणत्व को पुनः संसार से विरक्त कर ब्रह्म-उपासना के क्षेत्र की ओर ले जाने को संकल्पशील है ।[5]

ब्राह्मण का मूल धर्म विश्व के मंगलमय होने की कामना करना है—वह अपनी तपस्या, ज्ञान और सत्यधन को मानवता के लिये समर्पित कर स्वयं को पुण्य-वान समझता है ।[6] ब्राह्मण क्षमा का भंडार कहा गया है, वह किसी के दुःख को सहन नहीं कर सकता—उसके मानस में छिपी करुणा पीडित मानवता को स्नेह से नहला देने के लिये उत्सुक है । चाणक्य मौर्य सेनापति को दण्ड दिये जाने की व्यवस्था के संदर्भ में कहता है—'राजा न्याय कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ८७
२. ,, ,, १२६
३. ,, ,, १५२
४. ,, , १५५
५. चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हूँ । मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था । आनन्द-समुद्र में शान्ति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र मेरे द्वीप थे, अनन्त आकाश बितान था, शस्यश्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी । बौद्धिक विनोद मेरा कर्म था, संतोष धन था । उस अपनी ब्रह्मण की, जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया ? सौहार्द्र के स्थान पर कुचक्र ! फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान में भय ! ज्ञानामृत के परि-वर्तन में कुमंत्रणा ! पतन और कहाँ तक हो सकता है ? ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार छीन लो ! यह मेरा पुनर्जन्म होगा ।
—चन्द्रगुप्त पृ० सं० १७१
६. चन्द्रगुप्त—पृ० सं १८९

है।"[1] भारतीय ब्राह्मण कितना सात्विक, अनासक्त एवं गरिमामय है वह विश्व-मानवता के कल्याण के लिये किस सीमा तक चिन्तनशील है ? यह चाणक्य के इन शब्दों से व्यक्त होता है: -"सुखी रहो सिल्यूकस ! हम भारतीय ब्राह्मणों के पास सबकी कल्याण-कामना के अतिरिक्त और क्या है ? जिससे अभ्यर्थना करूँ ? मैं आज का दृश्य देखकर चिर-विश्राम के लिये संसार से अलग होना चाहता हूँ।"[2] प्रसाद साहित्य में एक-दो पात्रों को छोड़ कर अन्य ब्राह्मण-पात्रों को उदात्त एवं आदर्शनिष्ठ कहा गया है। भारतीय-संस्कृति की परम्परा के अनुसार ब्राह्मणों में—जप, तप, उपवास, कर्म ध्यान, दया, क्षमा, अनासक्ति भाव माने गये हैं।

जपोपवासनियम कर्मध्यान रसस्सक्ष।
दान्तः क्षमी निस्पृहश्च तपोनिष्ठः स उच्यते ।।[3]

ब्राह्मण को महान माना गया है—उसके उदात्त व्यक्तित्व एवं निष्ठाओं से समाज को दिशाबोध मिलता है। यदि ब्राह्मण समाज को उचित निर्देशन देकर सत्पथ की ओर प्रेरित करे तो वह राष्ट्र निश्चित ही आदर्शनिष्ठ होगा। प्रसादजी ने ब्राह्मण को अमृत-वृति से निर्वहण करने वाला कहा है:—शासक भी उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।—मातृगुप्त ने ब्राह्मण की गरिमा को स्पष्ट करते हुये कहा है:—"ब्राह्मण क्यों महान् हैं ? इसीलिये कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। इसी के बल पर बडे-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे वे और तपस्वी ऋत और अमृत वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुये सायं प्रात: अग्निशाला में भगवान से प्रार्थना करते थे—"सर्वे सुखिन: सन्तु।"[4]

ब्राह्मणत्व को नैतिकता का प्रतीक मानते हुये उसके भीतर जिन विद्रूपताओं का समावेश हो गया है—तदर्थ कवि चिन्तातुर है।

प्राक्काल में ब्राह्मण जाति-परम्परा से नहीं, अपितु त्याग-तपस्या एवं ब्रह्म-तेज के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त करते थे। शुक्रनीति में भी कहा गया है कि गुण एवं कर्मों के माध्यम से जातिकरण किया जाता था:—

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न,
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुण कर्मभिः।

---

१. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० २००
२. ,, ,, ,, २०३
३. शुक्रनीति १।७५
४. स्कन्दगुप्त ४।११८

ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, दान, प्रतिग्रह आदि कर्म कहे गये हैं। ब्राह्मणों ने भारतीय साहित्य एवं संस्कृति को गौरवमय पृष्ठ दिए हैं। चाणक्य अर्थशास्त्र का आचार्य कहा गया है।[1] दाण्ड्यायक महान् दार्शनिक सिद्ध हुआ है।[2] वर रुचि पाणिनि के व्याकरण पर भाष्य लिख रहा है।[3] पुरोहित धर्म-शास्त्र का अव्यवसायी है।[4] प्रसाद-साहित्य में ब्राह्मणों के व्यक्तित्व एवं धर्म को लेकर विशद् विवेचन हुआ है। प्रसादजी ने ब्राह्मण को मन्त्र द्रष्टा, शासकों का नियामक, यज्ञ कर्ता, तथा मानवतावादी कहा है। वह भारतीय संस्कृति के नैतिक-मूल्यों को जन्म देने वाला तथा समाज से उनका पालन कराने वाला कहा गया है।

रणनीति

सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक नैतिकता के अतिरिक्त नीति के संदर्भ में प्रसादजी ने रण-नीति पर विशेष रूप से विश्लेषण किया है। प्रसाद के नाटकों में धर्म-युद्ध को लेकर अनेक कथा-सूत्रों का प्रणयन हुआ है। इस नीति की पृष्ठ भूमि में वृहद् आर्यावर्त की कल्पना है। प्रसाद सीमा-भेद एवं प्रान्तीयता का विखण्डन कर के समस्त मानवता को भी नहीं तो आर्यावर्त के समाज को एक छत्र रूप में देखना चाहते हैं। अधिनायकवाद अथवा रक्तपात या युद्धोन्माद की स्थितियों को नहीं स्वीकारते हैं—वे तो धर्म के लिए युद्ध की स्वीकृति देते हैं। अपन अधिकारों एवं स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए शस्त्र उठाने को सहमत है और उसके लिए प्राणों के उत्सर्ग को मानव-धर्म की संज्ञा देते हैं। जहाँ युद्धोन्माद को लेकर शासक महत्वाकाँक्षा के संदर्भ में विजय-यात्रायें करते हैं—प्रसाद उन्हें भीषण रक्त-पात और मानवता-विहीन दृष्टिकोण कहते हैं। युद्ध-यात्राओं की प्रचुरता उनके नाट्य-साहित्य व इरावती उपन्यास में देखने को मिलती है।

चन्द्रगुप्त का नायक चाणक्य युद्ध को अस्वीकारता हुआ भी उसे धर्म की

---

१. अध्ययनं अध्यापनं यजनं तथा दानम्,
प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मन:।
पराणां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रह:। —मनुस्मृति—१०।७५।७६

२. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० १०३

३. यथोपरि—पृ० सं० ८८

४. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० १११

संज्ञा देता है। वह आर्यावर्त के विच्छिन्न राष्ट्रों की एक सूत्रता में ग्रथित करना चाहता है। वाह्य-जातियों के आक्रमण से राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए मानवतावाद को स्वाभिमान से जीने के लिए प्रेरित करता है। प्रसाद के अधिकांश शासक पात्र आर्य-धरा को हूण-शक एवं यवनादिक अन्य विदेशी बर्बर जातियों से पद-दलित होने पर युद्ध का आह्वान करते हैं। यद्यपि उस युग में विजय-यात्राओं को धार्मिक सम्बन्धों से जोड़ने का प्रयास किया गया है। अश्वमेध-यज्ञ की भूमिका को लेकर भीषण रक्त-पात किया जाना शौर्य का प्रतीक समझा जाता था—किन्तु प्रसाद इस धर्मान्धता को नैतिक संज्ञा नहीं देते। यहां तक कि समुद्रपर्यन्त भूमि को विजित कर शासकगण स्वयं को धन्य समझते थे। प्रसाद ने युद्धों के संदर्भ में भी धर्म को सर्वाधिक महत्व दिया है। धर्म की उपेक्षा कर किये गये युद्ध को पैशाचिक बर्बरता के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता है।

युद्ध की पृष्ठभूमि में अमानवतावाद का आधार नहीं होना चाहिये। राष्ट्र की रक्षा, स्वाभिमान एव मर्यादाओं के सरक्षण के लिए युद्ध का जन्म हुआ न कि पैशा-चिक-विनाश के लिए। जन-सामान्य को पीड़ित कर अथवा राष्ट्र की सम्पदा को क्षतिग्रस्त कर युद्धोन्माद की विजय-यात्रायें अनैतिक ही कहलायेंगी। चन्द्रगुप्त अपने राष्ट्र की नैतिक-परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए स्वाभिमान के साथ कहता है—

"वे हमी लोगों के युद्ध हैं—जिसमें रण-भूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है।"[1]—इससे स्वत: स्पष्ट है कि युद्ध आतंक को लिए नहीं होते थे—उनकी भी मर्यादायें होती थी—जिनका पालन करना धर्म तथा नैतिक कर्तव्य माना जाता था। युद्ध धर्म के लिए है अधर्म एवं विनाश के लिए नहीं। युद्धों की भूमिका में द्वेष तथा ईर्ष्या नहीं होने चाहिये क्योंकि ऐसे युद्ध मानवतायाद के विनाश के लिए होते हैं। चन्प्रगुप्त के द्वारा प्रसादजी इस तथ्य को स्पष्ट कराते हैं 'हम लोग युद्ध करना जानते हैं द्वेष नहीं।"[2] हर्षवर्धन विजय-यात्राओं के क्रम में जब पुलके शिन से संघर्ष करता है तो उसके शौर्य की प्रशसा करता हुआ—युद्ध को रोक देता है। यह मानवता का सर्वोत्तम उदाहरण है[3]—जहाँ गुणों की श्लाघा स्वतंत्र रूप से व्यक्त की जा रही है। उसे युद्धोन्माद नहीं हैं, वह रक्तपात की प्रक्रिया से दूर रहना चाहता है, और न उसके संकल्पों में विस्तारवादी नीति ही।

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १४५
२. यथोपरि पृ० सं० १६३
३. राज्यश्री पृ० सं० ४४

चन्द्रगुप्त मौर्य सिल्यूकस को भारत से बाहर निकालने के लिए युद्ध करता है न कि अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए। स्कन्दगुप्त स्वयं को एक कर्तव्य-शील सैनिक मानता हुआ युद्ध-कर्म में प्रवृत्त होता है—उसे शासन अथवा अधिकारों की आकांक्षा नहीं है—वह तो अपने राष्ट्र को विदेशी आक्रमणों से बचाने के लिए इस भीषण कर्म में प्रवृत्त हुआ है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी वह खिंगिल को क्षमा कर देता है, उसे भारत से बाहर चले जाने का आदेश देता है। आज शासक और सत्तायें युद्ध-नीति में कर्तव्य एवं धर्म का परित्याग कर अभिसन्धि के साथ अवसर का लाभ उठाने में नहीं चूक पाते किन्तु स्कन्द के मानस में ऐसी कोई वृत्ति नहीं है। चन्द्रगुप्त मौर्य सिकन्दर के घायल होने पर उसे मारता नहीं है—अपितु उसे भारत से बाहर जाने के लिए अवसर देता है। भारतीय विजेताओं में ही नहीं अपितु रक्तपिपासु महान् सिकन्दर भी पर्वतेश्वर को बन्दी बना कर उसकी हत्या नहीं करता है। उसके साथ राजाओं की तरह व्यवहार करना स्वीकार करता है। सिल्यूकस चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा करता है—और अन्त में उसी के साथ युद्ध भी होता है।

ध्रुवस्वामिनी नाटक का चन्द्रगुप्त शकराज को द्वन्द्व युद्ध के लिए आमन्त्रित करता है—उसे पराजित कर देता है यहाँ तक कि उसकी मृत्यु हो जाती है किन्तु वह उसके राज्य का अधिग्रहण नहीं करता और न उसकी प्रणयिनी कोमा की ओर विकृति के साथ देखता।—यह युद्ध भी नारी के धर्म को सुरक्षित रखने के लिए था। यद्यपि रामगुप्त का धर्म था कि वह अपने राष्ट्र एवं स्त्री की सुरक्षा स्वाभिमान के साथ कर सके किन्तु उसने धर्म के विरुद्ध आचरण किया—जिसके परिणाम स्वरूप उसे राज्य के अधिकारों से च्युत होना पड़ा। शासक के लिये धर्म-युद्ध अनिवार्य माना गया है। अजातशत्रु की विजय-यात्रायें युद्धोन्माद थी—उसे धर्म की संज्ञा नहीं कही जा सकती है। महाराणा प्रताप खान-खाना की बेगम को बंदी बनाये जाने पर अपने-आप में ग्लानि से भर उठते हैं। वे इसे धर्म नहीं कहते—अबलाओं को बन्दी बना कर वीर अपने शौर्य का परिचय नहीं अपितु कायरता पूर्ण कार्य करता है।

प्रसाद के युद्ध-पात्रों में कुछ ऐसे पात्र भी हैं—जो अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भीषण रक्त-पात की प्रक्रिया में सन्नद्ध हैं किन्तु ऐसे पात्रों को प्रसाद अपना नैतिक समर्थन नहीं दे पाते हैं।

युद्ध में स्त्रियों को भाग लेने की स्थिति को भी व्यक्त किया गया है। चन्द्रगुप्त नाटक में कल्याणी और अलका स्वयं को धर्म-युद्ध के लिए प्रस्तुत करती हैं। स्कन्द गुप्त में देवसेना व जयमाला भी युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक में मंदाकिनी युद्ध के लिए प्रेरणा देती है। प्रसाद ने युद्ध-नीति में धर्म को प्रधान माना

है। युद्ध राष्ट्र की रक्षा, स्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा के लिए अथवा नैतिक आदर्शों के मूल्यों को संरक्षण प्रदान करने के लिए होना चाहिये न कि अपनी महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए। युद्ध एक धर्म है—उसमें अविश्वास एवं अभिसंधि को स्थान नहीं देना चाहिये। युद्ध में धर्म के लिए मर मिटना सैनिक का महान् धर्म कहा गया है।

वैवाहिक मान्यतायें

विवाह मानव-समाज का वह एक मूलभूत प्रश्न है—जो दो धाराओं के संगम का आधार है, कोमलता तथा कठोरता के समन्वय का सूत्र है, दाम्पत्य जीवन को आरम्भ करने के लिये प्रथम अध्याय है। यह एक व्यवस्था है—जिसे परम्परित रूप से समाज स्वीकार करता आया है। दो वृत्तियों के बंधन को लेकर चलने वाली इस व्यवस्था को भी नैतिकता के सम्बल की आवश्यकता है। समाज में विवाह के अनेक स्वरूप प्रचलित रहे हैं—माता-पिता की स्वीकृति से विधिवत् वैदिक-विवाह कहा गया है। इसमें वर एवं कन्या अन्य परम्परा के अनुसार माता-पिता की आज्ञा को स्वीकारते हुये बंध जाना ही धर्म मानते हैं। अन्य विवाहों में—गांधर्व-विवाह, राक्षस-विवाह, पिशाच-विवाह आदि का उल्लेख है। प्राचीन काल में स्वयम्बर प्रणाली का भी प्रचलन रहा है। गांधर्व-विवाह पद्धति प्राचीन काल से ही चली आ रही है।

प्रसाद का दृष्टि कोण

प्रसाद-साहित्य में 'विवाह' के प्रश्न को लेकर पर्याप्त विवेचन हुआ है—और अभिनव मान्यताओं की प्रतिष्ठा भी हो सकी है। प्रसाद ने 'प्रणय-विवाह' को सर्वाधिक मान्यता दी है। यद्यपि प्रसाद-साहित्य में अन्य-विवाहों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु अधिकांशतः प्रणय ही को स्थान मिल पाया है। देवसेना-स्कन्द,[१] विजया-स्कन्द,[२] विजया-भटार्क,[३] विजया-पुरगुप्त,[४] अलका-सिंहरण,[५] कल्याणी-चन्द्रगुप्त,[६] सुवासिनी-राक्षस,[७] सुवासिनी-चाणक्य,[८] ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त,[९] कोमा-शकराज,[१०]

---

१ स्कन्दगुप्त नाटक
२. यथोपरि ,,
३. ,, ,,
४. ,, ,,
५. चन्द्रगुप्त ,,
६. ,, ,,
७. ,, ,,
८. ,, ,,
९. ध्रुवस्वामिनी ,,
१०. ,, ,,

तितली-मधुवन,[१] इन्द्रदेव-शैला,[२] मंगल-यमुना[३] नूरी-युसुफ खाँ,[४] मधूलिका-अरुण,[५] चम्पा-अरुण,[६] इरावती-बलराज,[७] फिरोजा-अहमद,[८] इरावती-अग्नि-मित्र,[९] मनु-श्रद्धा,[१०] निरंजनदेव-रामा,[११] वाजिरा-अजातशत्रु,[१२] गौतम-मागन्धी,[१३] विरुद्धक-श्यामा[१४] मल्लिका बन्धुल[१५] बिम्बसार-वासवी[१६] चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया[१७] फिलिप्सकार्नेलिया[१८] पर्वतेश्वर-अलका,[१९] मातृगुप्त-मालिनी,[२०] उदयन-पद्मावती[२१] प्रेमानन्दराम[२२] सुरमा शांतिभिक्षु[२३] विजय-घंटी[२४] विजय-यमुना[२५] मंगल-गाला,[२६]

---

१. तितली—पृ० सं० २३
२. „ „ „ २९
३. कंकाल „ „ ५३
४. नूरी (कहानी) इन्द्रजाल पृ० सं० ६६
५. पुरस्कार „ „ „ ११६
६. आकाशदीप „ „ „ १४
७. दासी „ „ „ १०३
८. „ „ „ „ ८४ (आंधी)
९. इरावती उपन्यास पृ० सं० ५
१०. कामायनी „ , ५५
११. कंकाल „ „ २१
१२. अजातशत्रु नाटक
१३. यथोपरि „
१४. „ „
१५. „ „
१६. „ „
१७. चन्द्रगुप्त „
१८. „ „
१९. „ „
२०. स्कन्दगुप्त „
२१. अजातशत्रु „
२२. सलीम कहानी
२३. राज्यश्री नाटक
२४. कंकाल पृ० सं० १३६
२५. „ „ १०६
२६. „ „ ३२८

अनवरी-श्यामलाल,[1] रामसुख-राजकुमारी[2] शांतिभिक्षु राज्यश्री,[3] देवगुप्त-राज्यश्री[4] मल्लिका-विरुद्धक,[5] पुष्यमित्र-इरावती[6] कालिन्दी-अग्निमित्र,[7] लैला-रामेश्वर[8] देवनिरंजन-किशोरी,[9] जीवन-रोहिणी[10] विजया-कमल,[11] चन्द्रदेव-मालती[12] मुरली-मंगल,[13] नन्हकूसिंह-दुलारी[14] व जग्गैया-कामैय्या[15] आदि अनेक प्रणयी-युगल अपने व्यक्तित्व लेकर सामने आये हैं।

प्रसाद साहित्य में अनेक प्रकार के विवादों का उल्लेख है—उनमें प्रणय को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। प्रसाद असम विवाहों के पक्षपाती नहीं है और न उन प्रणय-विवाहों से सहमत—जो एक पक्षीय हों। प्रणय-विवाह हृदय की स्वीकृति भर है न कि बंधन में बंधकर जीवन जीने की विवशता—उसके लिए किसी प्रकार की परम्पराओं के निर्वाह की आवश्यकता नहीं है। मुक्त हृदय से एक-दूसरे को स्वीकारना ही विवाह है किन्तु सामाजिक व्यवस्था के अनुसार बंधन में बंधना आवश्यक है। कंकाल उपन्यास में प्रसादजी ने मंगल और तारा को एक-सूत्र में बंध कर रहने की स्वीकृति तो दी है किन्तु बंधन हीन रहने का नहीं—

"परन्तु सावधान! तुम दोनों का इस तरह रहना, कोई भी समाज हो अच्छी आँखों से नहीं देखेगा। चाहे तुम दोनों कितने ही पवित्र हो"[16]

---

१. तितली पृ० सं० ३२७
२. ,, ,, १३८
३. राज्यश्री नाटक ,, ४४
४. ,, ,, ,, ४८
५. अजातशत्रु ,, ,, ६०
६. इरावती पृ० सं० १४
७. ,, ,, ६१
८. आंधी ,, १०
९. कंकाल ,, १६
१०. ग्रामगीत आंधी पृ० सं० १४९
११. विजया आंधी ,, १५८
१२. परिवर्तन इन्द्रजाल ,, ७५
१३. चित्रवाले पत्थर इन्द्रजाल पृ० सं० १११
१४. गुंडा—इन्द्रजाल पृ० सं० १४५
१५. अनबोला—इन्द्रजाल पृ० सं० १०७
१६. कंकाल पृ० सं० ५८

हृदय की पवित्रता ही विवाह है—यदि समाज उसे नहीं भी स्वीकार सके तो भी भगवान की साक्षी देकर विवाह के बंधन में बंध जाना चाहिये। स्वामी कृष्ण शरण ने विजय और घंटी को एक-सूत्र में बंधने के संदर्भ में हृदय की पवित्रता को ही विवाह की कसौटी माना है।[1] विवाह-बंधन में बंधे रहना भी विसंगति है—इस संदर्भ में विषम-विवाहों पर तीक्ष्ण प्रहार भी किया गया हैं।[2] विवाह किसी का किसी के साथ बलात् नहीं किया जा सकता है। शैला मधुवन एवं तितली से विवाह के संदर्भ में स्पष्ट राय जान लेना चाहती है :—

मधुवन ! तुम पूरी तरह विचार करके यह ब्याह कर रहे हो न ! कोई तुमको बहका तो नहीं रहा है ?"[3]

प्रसाद ने विवाह को आवश्यक माना है। प्रणय करने के पश्चात् भी बंधन में बंधना अनिवार्य कहा गया है। एक-दूसरे का चयन युवक और युवती पर निर्भर है, विवाह में बंधने की प्रणाली भी—कैसी ही हो सकती है, किन्तु इस समाज में मुक्त रूप से रहना प्रसाद को स्वीकार नहीं हैं।[4] स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के पूरक बन कर रहे एक-दूसरे के सुख-दुःख में समभागी बनें। एक-दूसरे की भावनाओं को समझ कर विवाह के बंधन में बंधकर रहना नीतियुक्त सामाजिक व्यवस्था है।

---

१. मेरा तो एक ही आदर्श है। तुम्हें जानना चाहिये कि परस्पर प्रेम का विश्वास कर लेने पर यादवों के विरुद्ध रहते भी सुभद्रा और अर्जुन के परिणय को पुरुषोत्तम ने सहायता दी। यदि तुम दोनो में परस्पर प्रेम है तो भगवान की साक्षी देकर तुम परिणय के पवित्र बंधन में बंध सकते हो।
—कंकाल पृ० सं० २००

२. मैं तो प्राणी का प्राणी से जीवन भर के सम्बन्ध में बंध जाना दासता समझती हूं, उसमें आगे चलकर दोनों के मन में मालिक बनने की विद्रोह-भावना छिपी रहती है। विवाहित-जीवनों में अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हुए स्त्री-पुरुष दोनों ही देखे जाते है—यह तो झगड़ा मोल लेना हैं।
—तितली पृ० सं० १०२

३. तितली पृ० सं० २००

४. मैं कहती हूं कि पुरुष और स्त्री को ब्याह करना ही चाहिये। एक-दूसरे के सुख-दुःख और अभाव-आपदाओं को प्रसन्नता में बदलने के लिए सदैव प्रयत्न करता रहे। एक की कमी दूसरे को पूरी करनी चाहिये। इसीलिये तुम दोनो को मैं एक में बाँध देना चाहती हूं —तितली, पृ० सं० ३००

विवाह-मोक्ष

विवाह यदि पारस्परिक सहयोग-भावना एवं अधिकार रक्षा का है तो इसकी विपरीत अवस्था से उस वैवाहिक संस्था का टूट जाना भी आवश्यक है। धर्म विवाह के बंधन को इतनी जटिलतायें प्रदान कर चुका है कि उसमें दाम्पत्य जीवन कुण्ठाग्रस्त होता जा रहा है—ऐसी स्थिति में विसंगतियों से मुक्त होने के लिये नैतिक-समर्थन आवश्यक है। प्रसाद ने इस संदर्भ में विवाह-मोक्ष को स्वीकार किया है तथा पुनर्लग्न की व्यवस्था को भी स्वीकार किया है। ध्रुवस्वामिनी अपने पैशाचिक विवाह से त्रस्त है।[1] पुरोहित धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार वैवाहिक संस्था की व्याख्या करता है:—

नहीं, स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।[2] पैशाचिक विवाह के संदर्भ में—व्यवस्था बहुत ही आवश्यक है—बलात् विवाह अथवा बलात् व्यभिचार से स्त्रियों का जीवन दुःखमय हो जाता है। मनु ने पिशाच विवाह का लक्षण इस प्रकार किया है:—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाश्चाष्टमोधमः ।

—म० स्मृ० ३।३४

ऐसे विवाहों को अधम कहा गया है—और उनके लिए पुनर्विवाह की स्वीकृति दी जाती है। विवाह मोक्ष के संदर्भ में प्रसादजी ने व्यवस्था दी है कि पति के क्लीब हो जाने पर अधिकारों की सुरक्षा न करने कर समाज को अधिकार है कि वह उस पुरुष से स्त्री का सम्बन्ध विच्छेद करा कर पुनर्विवाह की स्वीकृति प्रदान कर दे।[3]

---

१. "रोष है, हाँ, मैं रोष में जली जा रही हूं। इतना बड़ा उपहास-धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक-परीक्षा, मुझसे बल पूर्वक ली गई है। पुरोहित ! तुमने जो मेरा राक्षस-विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है !" —ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ५३

२. ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ५४

३. विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रांतिपूर्ण बंधन में बांध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते, परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है और भी यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।" —ध्रुवस्वामिनी—पृ० सं० ६३

प्रसाद ने इस व्यवस्था के लिए नारद और पाराशर स्मृतियों का भी उल्लेख किया है।[1]

आदर्श-प्रणय

प्रसाद साहित्य प्रणय के संदर्भ में एक ऐसा पृष्ठ है—जो अपने आप में पूर्ण है। प्रेम के प्रश्न को लेकर अनेक पात्रों का सृजन हुआ और त्याग-बलिदान, पीड़ा, असीमित धैर्य तथा नैतिक-मूल्यों के निमित्त यायावरी-जीवन जीने को विवश हो गये किन्तु सहज उदात्तता तथा महाशयता को नहीं छोड़ पाये। सुख-वैभव की उपेक्षा करते हुये आदर्श पात्र प्रेम के लिये समर्पित हो गये। प्रेम भी अपनी महत्ता लिये हुये है, छिछलेपन की स्थितियों से बहुत दूर है। प्रेम स्वार्थ की गदली भावनाओं से परिवेष्ठित नहीं है। अपने प्रिय के निमित्त अपनी प्रणयशील भावनाओं के विसर्जन के लिये कर्तव्यशील दिखाई देते हैं। 'नूरी' कथा का पात्र याकूब खाँ जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने आदर्शनिष्ठ प्रेम की भावना को व्यक्त करता है:—

"हथकड़ियों से छूटने पर किसी अपने प्यार करने वाले को देखना चाहता था। इसी से सीकरी चला आया। देखता हूँ, कि मुझे वह भी न मिलेगा।"[2]

स्कन्दगुप्त नाटक की नायिका अपने प्रिय से प्रेम का प्रस्ताव नहीं कर पाती है, अपनी भावनाओं को स्वार्थ के आरोप से बचाने के लिये सचेष्ट है।[3] देवसेना स्कन्द के प्रति भावनाशील है, समर्पित है किन्तु अपने प्रणय का प्रतिदान नहीं लेना चाहती—वह विजया के निमित्त स्वयं का स्कन्द से दूर कर लेना चाहती है। पत्नी अथवा प्रणयिनी होने की अपेक्षा दासी बनकर अपने प्रणय को आश्वस्त कर लेने के लिये कृतसंकल्प है।[4] चन्द्रगुप्त नाटक की मालविका अपनी प्रणय-भावनाओं को प्रिय

---

१. अपत्यार्थम् स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षत्रमर्हति। (नारद)
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते (पाराशर)
—ध्रुवस्वामिनी—सूचना-७

२. इन्द्रजाल (नूरी कहानी) पृ० सं० ६६

३. लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।
—स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ६१

४. उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर उस महत्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।
—स्कन्दगुप्त—पृ० सं० १३४

की शय्या से ही आश्वस्त कर अपने निस्वार्थ-प्रेम, उदात्तता तथा त्याग के संकल्प को व्यक्त करती है। अपनी मधुर-स्मृतियों को बहलाकर पीड़ित नहीं होती है अपितु पीडा में भी सुख का अनुभव करती है।[1]

प्रसाद प्रणय-स्वातंत्र्य के पक्षपाती रहे हैं; भारतीय-स्मृति-साहित्य की परम्पराओं से बंध कर चलने की प्रवृत्ति पात्रों में नहीं दिखाई देती है अपितु प्रणय की उन्मुक्त-भावना को लेकर आदर्श प्रतिष्ठापित करने में समर्थ सिद्ध हुये हैं। प्रसाद ने प्रणय को सीमित नहीं रखा प्रत्युत् उसे विशद् एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। देश, काल, जाति, वर्ण एवं संस्कृति के बंधनों से मुक्त कर अपने पात्रों को सहज रूप से प्रणय क्षेत्र में प्रवेश करने की अनुभूति प्रदान की है। प्रसाद के प्रणयी-पात्र, त्याग, कर्तव्य एवं उद्दाम यौवन के प्रतीक लिये हुये हैं। प्रसाद के स्त्री पात्र सौंदर्य से मुग्ध कर किसी पर विजय प्राप्त नहीं करना चाहते अपितु अन्तर्मुखी वृत्ति से भावनाओं पर विजय प्राप्त करने का आत्म संकल्प रहा है। सौंदर्य एवं रूप के प्रकाश को क्षणिक मान्यता दी है—चन्द्रलेखा राजा के सौंदर्य को क्षणबोध की संज्ञा देती है।[2] प्रणय की अग्नि में जलकर प्रसाद के पात्र टूटने अथवा आत्म-हत्या करने के लिये विवश नहीं है—अपितु अपनी दुर्बल भावनाओं को व्यक्त करना भी स्वीकार नहीं करते—अपितु अन्तिम क्षण तक प्रणय की पीड़ामय मधुर-विकलता को सारस्वत रूप से संजोये रखना चाहते हैं।[3] प्रणय का सम्बन्ध हृदय से है न कि बुद्धि से—और यही कारण है कि प्रणय-क्षेत्र में भला-बुरा पहचानने की क्षमता नहीं रह पाती और न ही

---

१. यह चन्द्रगुप्त की शय्या है। ओह, आज मेरे प्राणों में कितनी मादकता है। मैं..................कहाँ हूँ? कहाँ स्मृति, तू मेरी तरह सो जा। अनुराग तू रक्त से भी रंगीन बन जा।"
—चन्द्रगुप्त—पृ० सं० १८६

२. राजन्! रूप की ज्वाला ने तुम्हें दग्ध कर दिया, कामना ने तुम्हें कलुषित कर दिया। क्या इसमें मेरा सहयोग था? नहीं इस सोने के रंग ने तुम्हारी आँखों में कमल रोग उत्पन्न कर दिया.................पर क्या यह रंग ठहरेगा?
—विशाख—पृ० सं० ६१

३ निकलमत बाहर दुर्बल आह।
पड़ रहे पावन प्रेम-फुहार,
जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर
प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर।
—चन्द्रगुप्त—१।५६

सीमाओं में बंधा रहना स्वीकारते हैं।[1] प्रणयी पात्रों में स्त्रियाँ भावनात्मक वृत्तियों में जीती हुई सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण के लिये प्रयत्नशील हैं, पुरुष-पात्र स्त्रियों की तरह आदर्शनिष्ठ नहीं रह सके—तभी तो चन्द्रगुप्त में कहा गया है कि—भ्रमर रूप का लोभी होता है, वह किसी एक का नहीं रह सकता है।[2]

प्रणय-पीड़ा को विश्वमय मानते हुये अपने सुख-दुखों को स्मृतियों के साथ समन्वित करते हुये प्रसाद के पात्र मधुर झंकृतियों में अपने-आप को तन्मय कर लेना चाहते हैं।[3] प्रणय-पिपाशा को संसार की चपल-स्मृति कहा गया है।[4]

प्रसाद का प्रणय-व्यापार स्वार्थ से दूर है अपितु सात्विक-विचारधाराओं पर अवलम्बित है। स्त्री अपने सौंदर्य अथवा रूप की स्वर्णाभ ज्योति से किसी को मुग्ध कर सकती है किन्तु किसी भी मन की कोमल भावनाओं पर विजय पाना असम्भव है। शृंगार, उद्दाम-यौवन एवं वासनात्मक व्यवहार से जीवन में भोगवाद की प्राप्ति की जा सकती है, क्षण भर के लिये मन को बहलाकर क्षणिक सुख का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है किन्तु प्रणय की मधुरता और विकलता का अनुभव नहीं। देवसेना विजया से कहती है:—"नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिये ही; परन्तु एक वस्तु और चाहिये। पुरुष को वशीभूत

---

१. प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त
प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय,
चीन्हने की न तनिक थी परवाह। —चन्द्रगुप्त—२।११०

२. मधुप कब एक कली का है !
पाया जिसमें प्रेम रस, सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से, मिलता भर अनुराग। —चन्द्रगुप्त—४।१६७

३. मधु-मन्दिर सा यह विश्व बना,
मीठी झनकार उठी।
केवल तुमको थी देख रही
स्मृतियों की भीड़ घनी
सखे ! यह प्रेममयी रजनी। —चन्द्रगुप्त—४।१६१

४. थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मन्थर-गति से;
किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला सी स्मृति ?
—अजातशत्रु—पृ० सं० ३।११२

करने के पहले चाहिये—धोखे की टट्टी।"[1] शृंगार के आकर्षण से अथवा उद्दाम यौवन की स्थितियों से वशीभूत किया हुआ मन निस्वार्थ प्रेम की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता है। प्रेम प्रार्थना अथवा अनुनय व विनय या याचना के माध्यम से सम्भव नहीं है, यह तो सहज व्यापार है। देवसेना अपने प्रणय-आदर्श के संदर्भ में कहती है—"हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है।"[2] देवसेना प्रेम में प्रार्थना अथवा याचना नहीं चाहती है। देवसेना अपने प्रणय की विकलता को जीते हुये सर्वस्व समर्पित करने के पश्चात् भी पश्चाताप की अनुभूति नहीं करती।"[3]

देवसेना प्रणय को सारस्वत रूप में स्वीकारती है, वह प्रणय को इस जन्म तक ही सीमित नहीं रखना चाहती अपितु जन्म-जन्मान्तर के लिए स्वीकारने को कृत-सकल्प है। वह कहती है—मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य।'[4] तितली उपन्यास की नायिका तितली भी मधुवन की अपवादों से भरी चर्चायें सुनकर भी उसके प्रति विश्वस्त है—वह कभी भी उसे अस्वीकारना नहीं चाहती है।

प्रसादजी ने अपने पात्रों को प्रणय के क्षेत्र में निष्ठा के साथ प्रवेश दिया है—जहां आत्मविश्वास, पवित्रता, दृढ़ संकल्प एवं निस्वार्थ-भावनायें विद्यमान हैं। प्रणय की आदर्श-वेदी पर अमर त्याग की जिनमें लालसा है, जन्म-जन्मान्तर के लिए प्रतिबद्ध होकर एक-दूसरे के प्रति समर्पण भाव हैं। प्रसाद ने प्रणय में स्वातंत्र्यवाद को जन्म देकर भी उसे निष्ठावान् बनाये रखने की दिशा में योगदान दिया है। प्रणय की स्वतन्त्रता का अर्थ मुक्त-भोग अथवा उच्छृंखलता नही है अपितु स्वेच्छा चारिता से पृथक् रह कर निष्ठा के साथ एक-दूरे को समझते हुए इस क्षेत्र में सहयोगी बने।

आश्रम-व्यवस्था

प्रसादजी ने भारतीय संस्कृति की आश्रम-व्यवस्था को उपयोगी एवं व्यावहारिक सिद्ध किया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम की स्थितियों को अपने साहित्य में चित्रित किया है। आश्रम-व्यवस्था मानव-जीवन को समुचित दिशा देने में समर्थ है—व्यक्ति को नैतिक-सम्बल एवं उदात्त बनाने की प्रक्रिया में रचनात्मक

---

१. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ४९
२. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ९१
३. आह वेदना मिली विदाई!
मैने भ्रम-वश जीवन-सचित,
मधुकरियों की भीख-लुटाई। —स्कन्दगुप्त—पृ० सं० १४७
४. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० १४८

सूत्र प्रदान करती है। चन्द्रगुप्त नाटक के आरम्भ में चाणक्य अपने ब्रह्मचर्य जीवन का उल्लेख करता है।[1]—जिससे स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि आश्रम में रह कर अध्ययन किया जावे और नियमानुसार अनुशासनबद्ध होकर शिक्षा ग्रहण की जावे। प्रसाद ने ब्रह्मचर्याश्रम का उल्लेख तो किया है किन्तु विशद् विवेचना नहीं की।

गृहस्थाश्रम प्रणाली को प्रसाद ने अनेक स्थानों पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्पष्ट किया है। गृहस्थ जीवन ही कर्तव्य एवं दायित्व की भूमिकाओं की ओर ले जाने मे समर्थ है, मानव को तपस्वी की तरह तपा कर उसे परीक्षण की घड़ियों में देखता है। कामायनी की श्रद्धा मनु को गृहस्थ जीवन की ओर आकर्षित करती है -- तथा सृजन के अभिनव सूत्रो की ओर ले जाना चाहती है। कंकाल उपन्यास का पात्र देवनिरंजन गृहस्थ भोगे बिना ही सन्यास की ओर प्रवृत्त हुआ किन्तु गृहस्थ के अभाव में उसे भ्रष्ट होना पड़ा। स्कन्दगुप्त में मातृगुप्त सद्‌गृहस्थ को नैतिक जीवन की संज्ञा देता है।[2]

आश्रम-प्रणाली का तीसरा अङ्ग है वानप्रस्थ आश्रम। भारतीय संस्कृति का उद्देश्य है कि मानव-जीवन भोगवाद को नैतिकता के साथ भोगकर राष्ट्र और समाज के लिए क्रिया-शील रहे किन्तु ५० वर्ष के पश्चात् वह भोगवाद से पृथक् होने का यत्न करे। अपने दायित्वों का भार उत्तराधिकारी के कंधों पर डाल कर अनासक्त होने की चेष्टा करे—इसी पद्धति का नाम वानप्रस्थ आश्रम है। मानव अपने जीवन उद्देश्य को समझ कर संसार की स्थितियों से मुक्त हो—तथा वाह्य हलचल की अपेक्षा अन्तर्मुखी वृत्ति को स्वीकृत करे। प्रसाद के अनेक पात्रों ने वानप्रस्थ को स्वीकार किया है। चाणक्य राज्यसत्ता आदि का मोह त्याग कर बिना गृहस्थ जीवन भोगे ही वानप्रस्थ धर्म की ओर प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार सम्राट स्कन्दगुप्त भी राज्य सत्ता के मोह को भंग कर अनासक्त भाव से वानप्रस्थ की ओर प्रवृत्त हुए। जीवन में संसार की भौतिकता के जटिल मोहपाश की अपेक्षा अनासक्तिमय जीवन जीना भारतीय परम्परा रही है। चाणक्य जैसे ब्राह्मण-पात्र का वानप्रस्थ-धर्म स्वीकारना गरिमामय होते हुए भी सहज बात कही जायेगी किन्तु स्कन्दगुप्त का यौवन की उद्दाम लालसाओं को विसर्जन करके अधिगत वस्तु को उपेक्षित कर वानप्रस्थ की ओर जाना उदात्त-नैतिकता का परिचायक

---

१. "सौम्य ! कुलपति ने मुझे गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है।"
—चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५५

२. किसी आर्य सद् गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र-आंगन सी भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी।" —स्कन्दगुप्त ११८

है । अजातशत्रु नाटक में सम्राट बिम्बसार अपने पुत्र कुणीक को राज्य-भार सौंप कर के वानप्रस्थ का आश्रय लेते हैं, साथ ही वासवी भी रहती है । वानप्रस्थ जीवन भी एक साधना है—जिसमें अन्तश्चेतना की वृत्तियों का विश्लेषण होता है । प्रसादजी ने इस संदर्भ में कहा भी हैं—"जीवन की सारी क्रियाओं का अन्त केवल अनन्त विश्राम में है । इस वाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपाशा जग उठे तब उसमें बिलम्ब क्यों करे ।"[1] —वानप्रस्थ जीवन ही श्रेष्ठ आश्रम पद्धति कही जा सकती है—जिसकी पृष्ठभूमि पर मानवतावाद के सूत्र स्थिर हैं ।

सन्यास आश्रम, आश्रम-व्यवस्था का अन्तिम चरण है—जिसमें व्यक्ति समस्त कर्तव्य एवं दायित्वों से मुक्त होकर वीतरागी बन जाये और स्वयं को इस सृष्टि से पृथक् ही स्वीकार कर ले—'प्रसादजी ने इस व्यवस्था को नहीं स्वीकारा है । इस व्यवस्था की अपेक्षा वानप्रस्थ की स्थिति की अधिक पसन्द करते हैं । ब्रह्मचर्य से सीधे ही सन्यास-आश्रम की ओर प्रवृत्त होने वाले व्यक्तियों को अपूर्ण ही माना जायेगा क्योंकि वे भोगवाद की अतृप्त आकांक्षाओं की लालसा को समाप्त नहीं कर सकते हैं । कंकाल का देवनिरंजन इस बात का प्रतीक है कि भोगवाद की स्थितियों के जीने के पश्चात् ही मानव अपनी अन्तर्मुखी वृत्तियों को निवृत्ति की ओर ले जा सकता है, वहिर्मुखी वृत्तियों पर सन्यास का आवरण डालकर वे अधिक दिन तक आत्म-प्रवंचना नहीं कर सकते हैं । कंकाल का देवनिरजन, विशाख का बौद्ध सन्यासी, राज्यश्री का शांतिभिक्षु आदि अनेक ऐसे पात्र हैं—जो सन्यास व्रत धारण करने के पश्चात् अभिनय के साथ कुछ दिन स्थिर रह सके · अन्त में नैतिक समर्थन को खो बैठे । जहां नैतिकता का ह्रास हो गया – वहां ही उस वृत्ति का खण्डन हो जाना सहज बात है । ऐसी स्थिति में सन्यास-व्रत को प्रसादजी ने स्पष्ट रूप से नहीं स्वीकारा है । चन्द्रगुप्त नाटक में मौर्य-सेनापति को काषाय वस्त्र ग्रहण करने के लिए चाणक्य अवश्य कहता है—मौर्य ! तुम्हारा पुत्र आज आर्यावर्त का सम्राट है—अब और कौन-सा सुख देखना चाहते हो ? काषाय ग्रहण कर लो, इस में अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा ।[2] यहां भी केवल काषाय ग्रहण करने को कहा है न कि सन्यास आश्रम में प्रवृत्त होने को । चन्द्रगुप्त का दाण्ड्यायन[3] स्कन्दगुप्त का प्रख्यात कीर्ति[4] ध्रुवस्वामिनी का मिहिर-

---

१. अजात शत्रु पृ० सं० ३७
२. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ४/२०१
३. चन्द्रगुप्त नाटक
४. स्कन्दगुप्त ,,

सेन[1], जनमेजय का नागयज्ञ का वेदव्यास[2], विशाख का प्रेमानन्द[3] आदि अनेक पात्र अनासक्तमय वानप्रस्थशील व्यक्तित्व हैं—इनमें से प्रख्यातकीर्ति बौद्ध भिक्षु होते हुए भी नैतिकता से पतित है।

अधिकार एवं लक्ष्य

मानव का इस संसार में जन्म क्यों होता है ? क्या जन्म का लक्ष्य भोगवाद ही है अथवा अधिकार-सुख है ? मानव सत्ता के मद में भ्रांत होकर अपने जीवन-लक्ष्य से भ्रष्ट होकर विकृतियों के मध्य भ्रमित होकर सुख को प्राप्त कर सकता है ?—प्रसादजी ने जीवन की उपादेयता और मूल जीवन-धारा पर गम्भीरता से चिन्तन किया है। काव्य, नाटक एवं कथा-साहित्य में प्रसाद के पात्रों ने गम्भीरता के साथ मौलिक चिन्तन को व्यक्त किया।

प्रसाद के पात्र कर्तव्यशील हैं अधिकार-लोलुप नहीं। अधिकार एवं सत्ता के लुब्ध पात्रों को प्रसाद ने नैतिक समर्थन नहीं दिया है, अपितु ऐसे पात्रों को प्रायश्चित के लिए प्रेरित कर उन्हें आदर्शमुखोन्वादी बनाने की दिशा में कार्य किया है। प्रसाद मानव का जन्म मानवता के लिए स्वीकारते हैं। शासक सत्ता के अधिकार—मद की ओर प्रवृत्त न होकर कर्तव्य-भावना की ओर प्रवृत्त हो—इसे स्वीकारते हैं। स्कंदगुप्त मानव-लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहता है:—

"अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार—लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं।"[4]

प्रसाद ने मानव को कर्ता एवं नियामक नहीं स्वीकारा है। उसमें स्वयं को नियामक मनाने की तीव्र स्पृहा अवश्य है—और यही वृत्ति मानव-मन को लोलुप बना कर उसे विनाश की ओर ले जाती है। अधिकारों से दूर रहने की बात करके भी प्रसादजी मानव को अधिकार-शून्य नहीं देखना चाहते हैं। अपितु उसे अधिकार-ग्रहण करने की ओर प्रेरित करते हैं—यहाँ स्पष्ट मंतव्य यही हैं कि अधिकार—मद में मानव को विवेक शून्य नहीं होना चाहिये अपितु अधिकारों से मानवता की ओर सम्प्रेरित होने की बात कही गई है-अधिकार मिलते नहीं अधिकार लिये जाते हैं : "नहीं

---

१. ध्रुवस्वामिनी नाटक
२. जनमेजय का नागयज्ञ ,,
३. विशाख ,,
४. स्कन्दगुप्त ।१।६

तो क्या रोने से, भीख मांगने से कुछ अधिकार मिलता है ? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा ? और यदि माँग कर मिल जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा ?"[१]—अधिकार प्रार्थना अथवा याचना के माध्यम से प्राप्य नहीं हैं। बलवान् व्यक्तित्व ही अधिकारों को प्राप्त कर सकता है—यदि अधिकार शून्य रहा गया तो रक्षा का भार श्लथ हो जायेगा और व्यवस्था विश्रृंखल हो जायेगी।

प्रसाद ने मानव को कर्ता अथवा नियामक नहीं स्वीकारा है और न उसे अधिकारों से विलग रखने को ही सहमत है और न ही अधिकार मद में कर्तव्यशून्य ही देखना चाहते हैं। मानव को सद्धर्म की ओर प्रेरित करने के संदर्भ में कविता को मूल मानते हुए मातृगुप्त से आत्मभिव्यक्ति इन शब्दों में व्यक्त की है :—क्यों ? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार हैं। कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है ? कविता ही न ![२]

प्रसाद मानव को वाह्याडम्बर एवं घटाटोप कृत्रिम व्यावहारिकता पूर्ण जगत् से हटा कर उसे अन्तर्मुखी बनाने की दिशा में सक्रिय दिखाई देते हैं। मानव सदवृत्तियों से हटकर असद् आचरण की ओर प्रवृत्त है, वह अन्धकार में डूबा रहना चाहता है, क्षणभंगुर संसार की नश्वर-स्थितियों में उलझकर जीवन उद्देश्य को खो देता है तथा ह्रासोन्मुखी हो जाता है। बिम्बसार के माध्यम से मानव वृत्ति का विवेचन इस प्रकार कराया हैं :—

"आह जीवन की क्षणभंगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख अब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करतीं है; किन्तु वह कब मानता है ? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है, अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता, नीचे से ऊँचे ही चढ़ना चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या ?'[३]

आकांक्षाओं के अन्धकार में भटकता हुआ आदर्शस्वरूप ही नहीं अपितु यथार्थ—व्यक्तित्व को भी खो बैठता हैं—भ्रमवश अहं का उपासक हो जाता है और

---

१. स्कन्दगुप्त ।१।१६
२. „ ।१।१०
३. अजातशत्रु १।२७

'इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य ! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन ! प्रलय हुआ ! परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है । स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शान्ति मरण है । प्रकृति क्रियाशील है । समय पुरुष और स्त्री को गोद लेकर दोनों हाथ से खेलता है । पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है । पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्प्रेक्षण है, स्त्री आकर्षण करती हैं । यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है ।"[१]

यह जगत् गतिशील एवं परिवर्तनशील है । सृजन से प्रलय तक परिवर्तन की असीमित बाढ़ है—और इसी परिवर्तन का नाम सृष्टि अथवा जीवन है यदि इस परिवर्तन में स्थिरता का समावेश हो जाये अथवा यह परिवर्तन—प्रक्रिया समाप्त हो जाये तो जड़ता की स्थिति आजायेगी —और इसी जड़ता का नाम मृत्यु है । चेतन और जड़ता को प्रसाद ने स्पष्ट करते हुए सृष्टि की प्रक्रिया को सहज–भाव से व्यक्त कर दिया है—पुरुष का अस्तित्व कुछ भी नहीं है वह स्त्री के हाथों उछाला गया पात्र मात्र है । अतः मानव को भोगवाद से शीघ्र ही अपने आप को मुक्त करते हुए वीतरागी हो जाना चाहिये । सम्राट बिम्बसार अपनी महिषी से कहता है :—संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है । पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता क्योंकि मनुष्य अपनी आत्मा का योग उसे भी समझता है ।"[२]

मानव वृद्धावस्था में भी अनासक्त नहीं हो पाता—उसे अपने संचित सुखों को भोगने की लालसा रहती हैं, वह मृत्यु से भी भयभीत रहता है तथा साथ ही अपने संचित-सुखों का परित्याग भी सहज रूप में करने को प्रस्तुत नहीं हो पाया । वह अपने परिवार, सत्ता तथा वैभव का त्याग करना कभी नहीं स्वीकारता—किन्तु प्रसादजी ने इस तथ्य को इस सहजता के साथ व्यक्त किया है, कि प्रत्येक सत्तालालुप व्यक्ति वीतराग की ओर प्रवृत्त होना स्वीकार ले ।" आत्मा वै जायते पुत्रः सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मानव को इस बात से सहमत होने के लिए प्रेरित करते हैं कि उसके सुखों का भोग यदि उसका आत्मज करता है तो वही सुख उसे भी प्राप्त होता है—फिर अशक्त होकर सत्ता व अधिकार सुख के लिए क्यों लालायित रहता है ? उसे वीतरागी हो जाना चाहिये । वृद्धावस्था तक सुखों के भोगने में आसक्त रहना उसकी जड़ता एवं लोलुपता का परिचायक है—यह सुख नहीं प्रत्युत दुःख है किन्तु मानव इसे समझ नहीं पाता ।

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १।२५
२. अजातशत्रु ,, १।३५

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना
दुःख भूल यह मूल महा;
चंचल मानव ! क्यों भूला तू,
इस सीढ़ी में सार कहाँ ?"[1]

नश्वर संसार में भौतिक-सुख कभी स्थायी सुख नहीं हो सकते—उनसे मानव मन को आनन्द की अवाप्ति नहीं होती—जिसे वह सुख मानता हुआ मायापाश में उलझता चला जा रहा है—वे सभी उसके विनाश में सहयोगी हैं न कि उसे आत्म-सुख की अनुभूति कराने में सक्षम सिद्ध हो सकते हैं। मानव स्वयं को भाग्यवादी मानता हुआ अपने-आपको अदृष्ट के सहारे छोड़ देता है, किन्तु प्रसादजी इस अदृष्टवाद का खंडन कर मानव को कर्मवाद की ओर प्रवृत्त करते हैं। बिम्बसार का सेवक अपने आत्मबल का परिचय देते हुए कहता है:—

"नहीं, महाराज ! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्म-कूप में कूद सकता हूं। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है—वह तो होगा ही—फिर कायर क्यों बनूं—कर्म में क्यों विरक्त रहूँ ?"[2]

प्रसाद-साहित्य का प्रत्येक पात्र कर्मवाद की ओर प्रवृत्त है, वह जीवन का प्रमुख लक्ष्य ही कर्म को स्वीकारता है, अकर्मण्य बनकर कायरतापूर्ण जीवन-जीने की स्थिति में अथवा भाग्य के वशीभूत होकर निष्क्रिय बैठना स्वीकार नहीं सकता है। आत्मसंकल्प एवं कर्मवाद से प्रेरित होकर पात्र अदृष्ट की उपेक्षा करता हुआ दिखाई देता है। मानव-सुख के संदर्भ में राजकुमार सिंहरण अलका से कहता है:—

"मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदयवाला हो जाएगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए सोच क्यों ? अनागत भविष्य के लिए भय क्यों ? और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा। फिर चिन्ता किस बात की ?"[3]

अतीत एवं भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त होता हुआ मानवीय व्यक्तित्व वर्तमान के लिए स्वयं दायित्वपूर्ण है, वह अपनी असफलताओं को किसी अन्य पर आरोपित नहीं कर सकता है। ईश्वर अथवा प्रकृति किसी को भी जन्म के साथ अधिकार अथवा महानता प्रदान नहीं करती है, अपितु हर प्राणी छोटे से बड़ा होता है। प्रसाद यहाँ आत्मबल एवं कर्मवाद को स्वीकारते हैं:—

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० १।४६
२. यथोपरि ,, १।३६
३. चन्द्रगुप्त ,, १।५२

"बालक ! मानव अपनी इच्छा शक्ति से और पौरुष से कुछ होता है। जन्म सिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्व भर में छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है।"[1]

आत्मबल के माध्यम से व्यक्ति अपना विकास करने में सफल होता है। मानव कर्तव्यशील होकर जीवन में नैतिक-मूल्यो का संरक्षण करता हुआ समाज के हित स्वयं को अर्पित कर दे। वह इस संसार में आसक्तमय होता हुआ भी अनासक्त सा रहे। जीवन की दुष्प्रवृत्तियों से हट कर सद् प्रवृत्ति की ओर प्रेरित रहे।

अधिकार के सदर्भ में प्रसाद ने अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यक्ति को दुराग्रहशील नहीं होना चाहिये, अपितु समाज की मान्यताओं के अनुसार परिवर्तनशील होना चाहिये :—

"अधिकार, चाहे, वे कैसे भी जर्जर और हल्की नींव के हों, अथवा अन्याय ही से क्यों न संगठित हों, सहज में नहीं छोड़े जा सकते। भद्रजन उन्हें विचार से काम में लाते हैं और हठी तथा दुराग्रही उनमें तब तक परिवर्तन भी नहीं करना चाहते, जब तक वे एक बार ही न हटा दिये जायँ।"[2]

पारिवारिक-जीवन

प्रसाद ने अपने साहित्य में केवल ऐतिहासिक तथा साँस्कृतिक संदर्भों के अतिरिक्त सामाजिक संदर्भ में विशद रूप से विवेचन किया है। सामाजिक संदर्भ में सम्बन्धों के धरातल को नैतिक व्यवस्था प्रदान कर उसे सगठित करने पर बल दिया है। तुलसी के मानस की तरह प्रसाद–साहित्य भी कर्तव्य एवं दायित्वों की भूमिका को लेकर सम्बन्धों के गरिमामय सूत्र स्थापित किये हैं। पाश्चात्य–युगीन सामाजिक व्यवस्था को प्रसाद ने अपना समर्थन नहीं दिया है। नारी–स्वातंत्र्य एवं रूढिग्रस्त परम्पराओं के विखण्डन के लिए प्रसाद ने क्रांति-स्वर दिये हैं किन्तु माता-पिता, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों की प्रस्तावना में आदर्शवाद को निष्ठा के साथ स्थान दिया है। बभ्रूवाहन में पितृ–धर्म की ओर संकेत करते हुए पिता की आज्ञाओं का पालन करना कर्तव्य स्वीकार किया है।[3] पिता को

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० १।५४

२. „ „ २।६१

३. क्षात्र धर्म मँह होय गुरु हुं सो करी लड़ाई,
देव व्रत से गये जौन कुल लही बड़ाई।
तेरो पितु हो सोई धर्म मँह दीक्षित ह्वै कै,
करी लड़ाई महारुद्र सौं साहस कै। -बभ्रूवाहन

पुत्र के लिए परम गुरु भी कहा गया है —और भारतीय परम्परा के अनुसार उसकी आज्ञा का पालन पुत्र-धर्म कहा गया है। पुत्र को पितृ-आज्ञा पालन करनी चाहिये — यही उसके जीवन का सत्य-धर्म है।[1] भारतीय संस्कृति ने सदा ही पितृ-धर्म को महत्व दिया है और पिता के लिए पुत्र का कर्तव्य निश्चित किया है, वह अपने जनक के आदेशानुसार पिता के हित कठिन से कठिन कर्म की ओर प्रवृत्त होने में संकल्पशील रहे—यही उसका आदर्श है। अजात शत्रु नाटक में अजातशत्रु अपने पिता के आदेशों की पालना न करते हुए बंदी जीवन बिताने के लिए विवश करता है किन्तु अन्तिम स्थिति में वह अपनी त्रुटि को सुधारता है।[2]

अजातशत्रु अपनी कर्तव्यहीनता का कारण दोषपूर्ण शिक्षा को मानता है—जिसने उसके संस्कारों को विकृत कर दिया—और उसमें महत्वाकांक्षा तथा मिथ्या अभिमान को भर दिया गया—वह अपने पिता से क्षमा-प्रार्थना करता हुआ प्रायश्चित करना चाहता है।[3] चन्द्रगुप्त भी चाणक्य द्वारा अपने पिता के अपमान को सहन नहीं कर पाता है। पुत्र का दायित्वपूर्ण धर्म है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे। स्कन्दगुप्त अपनी माता देवकी के प्रति सदा कर्तव्यशील रहा। माता-पिता भी अपनी संतति के लिए सदा सचेष्ट रहते हैं, माता अपने पुत्र की प्रशंसा से स्वयं को धन्य समझती है किन्तु कुपुत्र को पाकर वह अपने आपको बंध्या रहना अच्छा समझने लगती है। भटार्क की जननी कमला अपने पुत्र के कारण पीडित है।[4] अनन्तदेवी भी अपने पुरगुप्त की कुत्सित-वृत्तियों को स्वीकारने के लिये प्रस्तुत नहीं है।[5] कमला तो यहाँ तक कह देती है कि माता स्वयं पंकिला हो सकती है किन्तु अपने पुत्र को कुपुत्र रूप में नहीं देख सकती।[6] सरमा अपने पुत्र की निर्वीर्यता पर क्षुब्ध है।

---

१. पिता परम गुरु होता है, आदेश भी,
उसका पालन करना हितकर धर्म है। —करुणालय पृ० सं० १२

२. अजातशत्रु पृ० सं० १४३

३. मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था, केवल जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान अपने को विश्वभर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान .. ..।' —अजातशत्रु पृ० सं० १४३

४. पुत्र देश का सेवक होगा। म्लेच्छों से पद दलित भारत—भूमि का उद्धार कर के मेरा कलंक धो डालेगा। —स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६८

५. निर्वीर्य निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता ! लज्जा के गर्त में डूब जाते। —स्कन्दगुप्त पृ० सं० ८७

६. ओह नीच ! कृतघ्न ! कमला कलंकिनी हो सकती है परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता उसके रक्त में नहीं। —स्कन्दगुप्त पृ० सं० ६८

जननी अपने पुत्र को साहसी, वीर, दृढसंकल्पी तथा आत्माभिमानी के रूप में देखना चाहती है।[1]

अजातशत्रु की विमाता वासवी पुत्र रहित होते हुए भी कुणीक के सद्भविष्य के प्रति चिन्तित है, और वही उसके जीवन की रक्षा के लिए ममता लिए हुए अपने भाई के पास पहुंचती है। वासवी सभी बच्चों में समान स्नेह को उड़ेल देना चाहती है। उसका पारिवारिक दृष्टिकोण आदर्शमय है।[2] देवकी अपने स्कन्द को क्षमाशील तथा उदात्त चरित्रशील बनाना चाहती हैं।[3] अनन्तदेवी अपने निर्वीय पुत्र पुरगुप्त को साहसी एवं आदर्श निष्ठ बनाने के लिए संकल्पशील है।[4] किशोरी अपने विजय के लिए विकल है।[5] छलना अपने कुणीक को महत्वाकाँक्षी तथा कठोर शासक के रूप में देखना चाहती है।[6] किन्तु वासवी उसे करुणाशील तथा न्याय-प्रिय बनाना चाहती है।[7] माता की सेवा के लिए पुत्र-धर्म को भी प्रसाद-साहित्य में स्थान मिला है। स्कन्दगुप्त देवकी के सुख के लिए कृतसंकल्प है, वह जननी को श्रद्धा एवं स्नेह की दृष्टि से देखता है।[8] मातृ-धर्म में प्रसाद ने जननी को श्रद्धा का स्थान दिया है। माता-पिता अपने पुत्र के चारित्रिक-विकास के हित सदा सक्रिय रहें—प्रसाद इससे सहमत हैं। बिम्बसार एवं देवकी अपने कुणीक के विकास के लिए साग्रहशील हैं।[9] विरुद्धक की

---

१. तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता था, पर यह कलंक मैं नहीं सह सकती थी। तू उनसे लड़ कर वहीं मर जाता या उन्हें मार डालता, यह मुझे स्वीकार था। —जनमेजय का नागयज्ञ पृ० सं० ३३

२. बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में;
बन्धु वर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर।
—अजात शत्रु पृ० सं० २६

३. स्कन्द गुप्त पृ० सं० ७८
४. ,, ,, ६०
५. कंकाल पृ० सं० ११५
६. अजातशत्रु पृ० सं० २५
७. यथोपरि पृ० सं० २५
८. स्कन्दगुप्त पृ० सं० ७७
९. अजातशत्रु पृ० सं० २७

माता अपने पुत्र को महत्वाकाँक्षी बनाने में सचेष्ट है।[1] चाणक्य अपने पिता के अपमान से क्षुब्ध है।[2]

पुत्र पिता के अधिकारों का अधिकारी होता है। बिम्बसार अजातशत्रु को राज्य का दायित्व सौंपते हुए उसे आत्म-भोग की संज्ञा देता है।[3] प्रसेनजित् विरुद्धक को शूद्री-पुत्र होते हुए भी राज्य-भार सौंपता है।[4] भाई-बहिन के पावन सम्बन्धी के संदर्भ में भी प्रसाद जी ने आदर्श स्थापित किया है। राज्यश्री और हर्ष के सम्बन्ध आदर्शपरक हैं।[5] बहिन की रक्षा का भार भाई का धर्म कहा गया है। पद्मावती अपने सौतेले भाई कुणीक के सद्भविष्य के लिए कृतसंकल्प दिखाई देती है।[6] प्रसेनजित अपनी बहिन वासवी के अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष की स्थितियों में से निकलना स्वीकार कर लेता है।[7] आम्भीक जैसा नैतिक-विहीन भाई का चित्रण भी प्रसाद ने किया है[8]—ऐसे पात्रों में—माधुरी का इन्द्रदेव के प्रति स्वार्थमय सम्बन्ध[9] तथा राजकुमारी का मधुवन के प्रति स्वार्थमय सम्बन्ध[10] आदि उदाहरण हैं—जो कर्तव्यहीन हैं। इन पात्रों को प्रसाद ने अपना नैतिक समर्थन नहीं दिया है। भाई के प्रति धर्म का निर्वाह करने वाले पात्रों में स्कन्दगुप्त सर्वोपरि है[11] चन्द्रगुप्त का रामगुप्त के प्रति दुराचरण पर भी मौन रहना आदर्शनिष्ठा ही कही जायगी।[12] चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी से कहता है—यह नहीं हो सकता ! महादेवि ! जिस मर्यादा के लिए जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राज-दण्ड ग्रहण न कर के अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया उसका यह अपमान। मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़े।" पिता-पुत्री के सम्बन्धों

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ५४
२. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १७०
३. अजातशत्रु पृ० सं० २८
४. यथोपरि पृ० सं० १३१
५. राज्यश्री पृ० सं० ६०
६. अजातशत्रु पृ० सं० २४
७. यथोपरि पृ० सं० ६०
८. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५०
९. तितली पृ० सं० २८
१०. यथोपरि पृ० सं० ८७
११. स्कन्दगुप्त पृ० सं० १४६
१२. ध्रुवस्वामिनी पृ० सं० २६

पर भी प्रसाद मौन नहीं रहें, ममता अपने पिता से उत्कोच न लेने की अभ्यर्थना करती है,[1] अलका अपने पिता को धर्म न बेचने की सलाह देती है,[2] पुत्री को पुत्र के स्थान पर भी महत्व दिया गया है। जहाँआरा अपने पिता मुगल-सम्राट शाहजहां की सेवा में रह कर अपना कर्तव्य निभाती है। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध भी मुखर हुए हैं, गुरु को श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है—तथा उसके आदेश का पालन परम-धर्म कहा गया है। पति-पत्नी के सम्बन्धों की पृष्ठभूमि पर भारतीय नारी के आदर्शमय चित्र उपस्थित किये गये हैं। पति को ही ईश्वर माना गया है, उसके सुख-दुःख में पत्नी को समभागी बताया गया है। बिम्बसार की पत्नी वासवी, अपने पति के साथ वान प्रस्थ में रह कर उसके सुख के लिए कृतसंकल्प है।[3] जयमाला अपने पति के संकेत पर राज्य-त्याग करने को प्रस्तुत हो गई।[4] रामा अपने पति को चाहते हुए भी उसके दुराचरण की निर्भीकता के साथ भर्त्सना करती है।[5] तितली अपने मधुवन को सदाचारी मान कर उसके विश्वास पर जीना चाहती है किन्तु पति-धर्म के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं निकालती।[6] व्रतभंग की नायिका अपने घर में रह कर पत्नी को सार्थक सिद्ध करती है। कामायनी की श्रद्धा मनु को असद् से सद् की ओर प्रेरित करती है। पति-धर्म को अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए स्त्रियां पति की मृत्यु के साथ सती होकर पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह कर पाती हैं। प्रसाद ने दाम्पत्य-जीवन में एक-दूसरे को एक-दूसरे के प्रति कर्तव्यशील तथा निष्ठावान रहने पर बल दिया है। प्रसादजी ने पारिवारिक सम्बन्धों के संदर्भ में कर्तव्य को सर्वाधिक महत्व दिया है तथा निस्वार्थ बंधन में बंध कर एक-दूसरे के प्रति भावनाशील रहने के लिए संदेश प्रसारित किया है।

ईश्वर के प्रति आस्था

भारतीय संस्कृति ने समाज को सदा ही आस्थावान् रहने के लिए समय-समय पर अनन्त ज्योतिर्मय ईश्वर के प्रति जागृत रहने के लिए आध्यात्मिक सन्देश प्रसारित किये हैं। आर्यावर्त का मानव-समुदाय ईश्वर में विश्वास रखता है तथा विपत्तिकाल

---

१. आकाशदीप (ममता कहानी) ४२
२. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ७०
३. अजातशत्रु ,, ४५
४. स्कन्दगुप्त ,, ७४
५. यथोपरि ,, ४५
६. तितली ,, ७८
७. कामायनी—कर्म-सर्ग

में स्वतः ही उसके मुख से ईश्वर का नाम निकल जाता है—यह सांस्कृतिक देन है। प्रसादजी ने भी अपने पात्रों को ईश्वर के प्रति आस्थावान् रखा है। विचार-धारायें विभिन्न हो सकती है किन्तु जगन्नियन्ता को हर पात्र स्वीकारता है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकारते हुए प्रसादजी कहते हैं—"परमात्मा में विश्वास मनुष्य का कल्याण करता है, दुःख का एक मात्र कारण ईश्वर के प्रति अविश्वास है।"[१] प्रसाद ईश्वर में विश्वास को आत्म-सुख तथा अविश्वास को दुःख का कारण मानते हैं। ईश्वर के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहा है—"ईश्वर है, और वह सब के कर्म देखता है, अच्छे कर्मों का पारितोषिक और अपराधी को दण्ड देता है, वह न्याय करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा।"[२] ईश्वर के एक स्वरूप को अस्तित्वमय मानते हुए उसके विविध नामों तथा विभिन्न स्वरूपों का प्रसाद ने अपने साहित्य में समावेश किया है।

महाकाल[३], बिश्वम्भर[४], राम[५] और कृष्ण[६] के प्रति आस्था देखने को मिलती है। वैदिक कालीन देवताओं में इन्द्र[७] कुबेर[८], सविता[९], रुद्र[१०] एवं अपदेवता[११] का उल्लेख मिलता है। शाक्त देवी-देवताओं में सिंहवाहिनी[१२], छिन्नमस्ता[१३], शची[१४], लक्ष्मी[१५], तारा[१६] आदि की उपासना के सूत्र मिलते हैं।

विभिन्न देवी-देवताओं के संकेत देने पर भी प्रसाद ईश्वर के एकनिष्ठ अस्तित्व

---

१. आंधी पृ० सं० ११३
२. कामना नाटक ,, ५
३. स्कन्दगुप्त ,, ७५
४. यथोपरि ,, ६८
५. ,, ,, १२२
६. ,, ,, १२८
७. चन्द्रगुप्त ,, २२०
८. ध्रुवस्वामिनी ,, २०
९. चन्द्रगुप्त ,, २४४
१०. स्कन्दगुप्त ,, ४६
११. राज्यश्री ,, २७
१२. स्कन्दगुप्त ,, ३३
१३. ध्रुवस्वामिनी ,, २८
१४. स्कन्दगुप्त ,, ४६
१५. यथोपरि ,, १२६
१६. ,, ,, ८४

को स्वीकारते हैं। प्रसाद ने अवतारवाद को भी स्वीकारा है।[१] ईश्वर के द्वारा दीन-दलितों के उद्धार के संदर्भ में स्कन्दगुप्त के पात्र ईश्वर के प्रति आस्था को सत्य के साथ विश्वास में परिवर्तित करना चाहते हैं, ईश्वर क्या नाम मात्र ही है, अथवा उसकी सत्ता शाश्वत है ? —इस संदर्भ में पीडित अपने राम को खोज रहे हैं।[२] श्रीकृष्ण की रासमयी मुरली की माधुरी से अपने सुप्त मानस की जड़ता को जागृत करने के लिए उसे वेणु-वादन के माधुर्यभाव के हित प्रेरित करते दिखाई देते हैं।[३] इसी प्रकार देश की दुर्दशा के लिए भगवान को उद्धार करने हित प्रार्थना की गई है।[४]

प्रसाद ने ईश्वर को व्यापक सर्वविभु एवं अनादि कहा है,—ईश्वर ही सभी का अधिष्ठाता है, जनक है प्रणेता है तथा पतितो का उद्धारक है—उसके स्मरण-मात्र से पतित पावन हो जाते हैं।[५] प्रसाद धार्मिक दृष्टि से संकीर्ण नहीं है—ईश्वर के अस्तित्व के संदर्भ में उनकी मान्यता एकेश्वरवाद की पृष्ठभूमि पर है, वे विविधता की भित्तियों के भीतर भी परब्रह्म के अस्तित्व को हर जगह स्वीकार करते हैं।[६]

प्रसाद जी ने अपने सर्व-व्यापक विभु को करुणा का अपरिमित सागर कहा है। हर पीडित के आर्तनाद को जगत्पिता अपनी करुणा-वारुणी से स्निग्ध कर उसे आश्वस्त करते हैं। संत्रस्त-जीवन का एक मात्र आश्रय व जीवन का आधार ईश्वर के प्रति गहन निष्ठा है। विश्व की पीडित मानवता का एक मात्र उद्धारक ईश्वर को

---

१. उतारोगे अब कब भू-भार।
बार-बार क्यों कह रक्खा था लूंगा मैं अवतार। —स्कन्दगुप्त पृ० सं० ३८

२. हमारे निर्बलों के बल कहां हो ?
हमारे दीन के सम्बल कहां हो ?
नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या ? —स्कन्दगुप्त पृ० सं० ३९

३. बजा दो वेणु मनमोहन ! बजा दो !
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो। —स्कन्दगुप्त पृ० सं० १२३

४. देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे। —स्कन्दगुप्त पृ० सं० १४०

५. पिता सब का वही है एक
पतित पद्पद्म में होवे
तो पावन हो ही जाता है" —कानन-कुसुम पृ० सं० ६०

६. मस्जिद, पैगोड़ा, गिरजा, किस को बनाया तू ने
सब भक्त-भावना के छोटे-बड़े नमूने। —कानन कुसुम पृ० सं० ६

कहा गया है। विनय-भावना को लेकर ईश्वर के प्रति श्रद्धानत होना ही उसकी उपासना है। प्रसाद ने नवधा-भक्ति के स्वरूप को अपने साहित्य में स्थान दिया है।[१]

ईश्वर-आराधना के लिए प्रसाद ने सहज-व्यवस्था को स्वीकृत किया है, वह किसी रूढ़-पद्धति को महत्व नहीं देना चाहते—अपितु अपनी अन्तरात्मा तथा सुविधा के अनुसार श्रद्धानत रहने का संकेत करते हैं। ईश्वर के साकार रूप के साथ ही निराकार ब्रह्म की उपासना का भी चित्रण करते हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप ईश के विश्वमय स्वरूप का चित्रण कामायनी में हुआ है।[२] प्रसाद यद्यपि शैव थे किन्तु रूढिग्रस्त नहीं थे। वे सभी धर्मों की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए उसकी पृष्ठ-भूमि में सर्वव्यापक विभु के अस्तित्व को देखते हैं।

प्रसाद के पात्र ईश्वर के प्रति आस्थामय है, अपनी संकटापन्न स्थितियों में मानस को विखण्डित न करते हुये ईश्वर के प्रति विश्वस्त होकर अस्तित्व से विचलित नहीं हो पाते। देवकी की हत्या के षड़यन्त्र में—वह नारी अपने मानस की दुर्बलता को व्यक्त नहीं करती—अपितु रामा से यही कहती है:—

"शांत हो रामा। बुरे दिन कहते किसे हैं? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करे—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। इसलिये इस कठोर समय में भगवान् की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।"[३] जब परिवार, शासक

---

१. इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुःख के गर्त बीच अति दीन हो,
हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ?
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।
जगत्पिता! हे जगद्बन्धु! हे प्रभो!
तुम तो हो, फिर क्यों दुःख होता है हमें?
त्राहि-त्राहि करुणामय! करुणा-सद्म में
रखो, बचालो! विनती है पद्पद्म में। —करुणालय पृ० सं० २/२६

२. अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित
थी शून्य- भेदिनी सत्ता चित्,
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित,
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल। —कामायनी पृ० सं० २६०

३. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ६१

तथा अन्य सभी धर्म-विमुख हो जाये—उस समय कौन रक्षक होगा ?—ऐसी स्थितियों में मानव का टूट जाना नैसर्गिक है। किन्तु देवकी अपने मानस को दुर्बल नहीं बनाती है, तथा रामा को विश्वस्त करते हुए अपनी रक्षा का भार ईश्वर के हाथों में समर्पित करते हुए निश्चित भाव से कहती है:—"मेरी दशा ? मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने बचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया अपना स्निग्ध अंचल सब दुःखियों के आंसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिए रहती है।"[१]

ईश्वर में विश्वास रखते हुए—उस सर्व—व्यापक विभु को करुणामय, विपदासंहारक, विश्वासनिष्ठ कहा गया है—करुणानिधि संत्रस्त मानवता के प्रति दयालु हैं—प्रसाद के समस्त पात्र अपनी विपदाओं में ईश्वर के नाम पर विश्वास रखते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करने की दिशा में सक्रिय है।[२]

प्रसादजी ने अपने पात्रों को वह सम्बल प्रदान किया है—जिससे पात्र नैतिकता के सूत्र विश्रृंखल न कर सके—आपदाओं में अपनी मान्यताओं को सुरक्षित रखते हुए आदर्शनिष्ठ बने रहे। कर्तव्य-पालन की विषमताओं में—प्रसाद के पात्र पराजित होकर भी सत्पथ से हटते नहीं अपितु अपनी आस्था का सम्बल लिये हुए सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। शर्वनाग की पत्नी रामा अपने पति के दुराचरण की भर्त्सना करते हुए उसे ईश्वर से डरने की ओर संकेत करती है:—

'मूर्ख ! अभागा कौन है ? जो संसार के सब पवित्र-धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान है।"[3]

प्रसादजी परम आस्तिक साहित्यकार के रूप में व्यक्त हुए हैं। ईश्वर के प्रति आस्थामय रहकर मानव इस भौतिकी ससार की बेड़ियों को काटता हुआ सत्कर्म की ओर प्रवृत्त हो—तो वह जीवन्मुक्ति की दिशा को प्राप्त कर सकता है। प्रसादजी

---

१. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ६१

२. पालना बने प्रलय की लहरें।
   शीतल हो ज्वाला की आंधी,
   करुणा के घन घहरें।
   दया-दुलार करे, पल भर भी—
   विपदा पास न ठहरें !
   प्रभु का हो विश्वास सत्य तो
   सुख का केतन फहरें। —स्कन्दगुप्त—पृ० सं० ६२

३. स्कन्दगुप्त —पृ० सं० २।६३

ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, सत्ता में विश्वास व्यक्त करते हुए एकेश्वरवाद की पुष्टि करते हैं। उनकी मान्यता रही है कि—ईश्वर एक ही है किन्तु वह अनेक रूपों में स्वयं को व्यक्त करता है। जैसा कि उन्होंने कंकाल उपन्यास में कहलाया है:—"हमारा धर्म मुख्यत: एकेश्वरवादी है, विजय बाबू! वह ज्ञान-प्रधान हैं, परन्तु अद्वैतवाद का दार्शनिक-युक्तियों को स्वीकार करते हुए कोई वर्णमाला का विरोधी बन जाये - ऐसा तो कारण नहीं दीख पड़ता। मूर्ति पूजा इत्यादि उसी रूप में हैं। पाठशाला में सबके लिए एक कक्षा नहीं होती—इसलिए अधिकारी-भेद है। हम लोग सर्वव्यापी भगवान की सत्ता को नदियों के जल में, वृक्षों में, पत्थरों में सर्वत्र स्वीकार करने की परीक्षा देते हैं।"[1] इस प्रकार प्रसादजी ने "एकोऽहं द्वितीयो नास्ति" सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रसादजी ने समस्त संसार का पोषक ईश्वर को स्वीकार किया है, और उसकी सत्ता के प्रति आस्था रखना—धर्म कहा है। इस धर्म का पालन ही नैतिकता है और उसके विपरीत आचरण अधर्म है।

क्षमा

भारतीय-संस्कृति के परम्परागत नैतिक मूल्यों में क्षमा का सर्वाधिक महत्व है—और यह तत्व मानव को क्रोध, प्रतिहिंसा व घृणा के विपथ से हटाकर करुणा की ओर ले जाता है, तथा मानव-कल्याण के निमित्त क्षमा-भावना का उदय मंगलमय है। प्रसाद-साहित्य में कवि ने अपने पात्रों को क्षमा-शील बनने का अवसर प्रदान किया है। अजातशत्रु का गौतम, बिम्बसार, पद्मा, वासवी, मल्लिका, स्कन्दगुप्त में—देवकी, स्कन्दगुप्त, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी में—ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त में चाणक्य, राज्यश्री में हर्ष व राज्यश्री, कामायनी की श्रद्धा आदि अनेक पात्र अपनी क्षमा भावना को व्यक्त कर नैतिकता को सम्बल प्रदान करने में समर्थ हुए हैं। स्कन्दगुप्त शर्वनाग के भीषण-अपराध को क्षम्य करता हुआ उसे अधिकृत पद पर आसीन करता है:—"परन्तु मैं तुम्हें मुक्त करता हूं, क्षमा करता हूं। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैंकडों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगें। आजीवन तुम उसी यन्त्रणा को भोगो, क्योंकि रामा—साध्वी रामा—को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊंगा।"[2]

प्रसाद का स्कन्दगुप्त क्षमाशील व्यक्तित्व है—जो अपराधी को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहता है, अपितु उसके मानस को पश्चात्ताप करने का अवसर प्रदान कर संस्कारवान् बनाने की दिशा में कृतसंकल्प है। अपनी माता के अपराधी—व्यक्तियों

१. कंकाल—पृ० सं० १०५
२. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० २।७६

को भी वह दण्ड नहीं दे सका और न राष्ट्र के अपराधियों को हिंसात्मक मार्ग से दण्डित कर सका—अपितु मानवतावादी दृष्टिकोण के साथ क्षमा करता हुआ कहता है":—अनन्तदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो । जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है ।"[१]

प्रसादजी ने क्षमा को धर्म कहा है । उनकी मान्यता रही है कि व्यक्ति अपराध की ओर सहज रूप से प्रवृत्त होता है—यदि प्रथम बार उसे क्षमा नहीं किया गया अथवा कठोर दण्ड दिया गया तो—वह संस्कारवान् नहीं हो सकता है, उसकी वृत्ति में किसी प्रकार के सुधार की आशा नहीं की जा सकती है । स्कंद पर उसकी जननी देवकी के संस्कारों का प्रभाव था—स्वयं देवकी क्षमा की मूर्ति रही—उसने स्कंद के राज्याभिषेक पर भगवान से प्रार्थना करते हुए स्कंद से यही कहा:—"आज तुम्हारे शुभ-महाभिषेक में एक बूंद भी रक्त न गिरे । तुम्हारी माता की भी यह मंगल-कामना है कि तुम्हारा—दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे । आज मैं सब के लिए क्षमा प्रार्थिनी हूं ।"[२]

देवकी ने अपने अपराधी हिंसकों को भी क्षम्य कर दिया और स्कन्द से भी यही अपेक्षा रखती रही । भटार्क जैसा राष्ट्रद्रोही व्यक्तित्व भी अपने अपराधों का प्रायश्चित करता हुआ कहने लगा, मुझे क्षमा करो सम्राट ।"[३]

स्कन्द ने भटार्क की नीचता को सह्य करते हुए उसके शौर्य को सजीव रखने के लिए क्षम्य किया—तथा अपनी विमाता अनन्तदेवी तथा भाई पुरगुप्त को क्षम्य करता हुआ कहने लगा—माता सदा ही क्षमा की मूर्ति होती है और माता का हृदय भी क्षम्य होता है ।[४] चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य जहाँ क्रोध की क्रूर मूर्ति है, वहाँ करुणा, न्याय तथा क्षमा का देवता भी है । नन्द से प्रतिशोध लेने के लिए वह निकल ही उठा था—किन्तु उसी नन्द पर करुणा करते हुए कहता है:—"तब भी कुछ समझ लेना चाहिये नन्द ! हम ब्राह्मण हैं, तुम्हारे लिए, भिक्षा मांग कर तुम्हें जीवन-दान दे सकते हैं । लोगे ?"[५]

---

१. स्कन्दगुप्त पृ० सं० २।६४
२. " " " २।७४
३. स्कन्दगुप्त—पृ० सं० १४६
४. माता का हृदय सदैव क्षम्य है"..............।"
—स्कन्दगुप्त—पृ० सं० १४६
५. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० ३।१५५

चाणक्य ने ब्राह्मणत्व के प्रधान गुण क्षमा को सदा महत्व दिया। सिकन्दर को भारत से लौटते हुए क्षमा की दृष्टि से देखा। राक्षस को सदा क्षमा करते हुए उसे महामात्य के पद पर आसीन किया। मौर्य—सेनापति द्वारा हिंसात्मक मार्ग अपनाने पर भी चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से यही कहा:—"मैं प्रसन्न हूं वत्स! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैने आज तक जो किया, वह न करना चाहिए था, उसी का महाशक्ति केन्द्र ने प्रायश्चित करना चाहा। मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।'[1]

चाणक्य ने क्षमा-भावना को व्यक्त करते हुए ब्राह्मण-संस्कृति के गरिमामय सूत्रों के अस्तित्व का संरक्षण किया। जनमेजय के नागयज्ञ में—वेदव्यास, आस्तीक, तुरकाषवेय, उत्तंक आदि पात्रों ने क्षमावृत्ति को सहजता के साथ व्यक्त किया है।

अजातशत्रु में महात्मा गौतम, बिम्बसार, देवकी, मल्लिका आदि पात्रों ने क्षमा-तत्व को सहजता के साथ स्वीकार किया है। महाक्रूरपात्र मल्लिका के समक्ष अपनी हिंसात्मक भावनाओं का विसर्जन करते हुए कहता है:—"क्या? षडयन्त्र! अरे क्या मैं पागल हो गया था? देवी अपराध क्षमा हो।"[2] मल्लिका क्षमाशील स्त्री पात्रों में सर्वाधिक चारित्रिक महत्व प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध होती है। अपने पति के हत्यारे राजा प्रसेनजित, के जघन्य अपराध को सहजता के साथ क्षमा कर देती है। हिंसा का उत्तर प्रतिहिंसा नहीं है और न अपराध का दण्ड ही अपराध है, अपितु करूणा के माध्यम से हृदय पर विजय पाना ही इसका समाधान है। यह संसार ही नश्वर है, फिर प्रतिशोध कैसा?:—

अधीर न हो चित्त विश्व-मोह जाल में।
यह वेदना-विलोल-वीचिमय समुद्र है।
है दु:ख का भंवर, चला कराल-चाल में।
वह भी क्षणिक है, इसे कहीं टिकाव है नहीं।
सब लौट जायेंगें—उसी अनन्त काल में।
अधीर न हो चित्त विश्व मोह-जाल में।[3]

क्षमा-भावना मानवीय धर्म है, यह धर्म देवताओं का नहीं अपितु मनुज-समाज का अनिवार्य तत्व है। मल्लिका अजातशत्रु की क्रूर-भावनाओं को शान्त करते हुए कहती है:—

---

१. चन्द्रगुप्त—पृ० सं० २०१
२. अजातशत्रु—पृ० सं० ५८
३. यथोपरि—पृ० सं० ८९

"नहीं राजकुमार ! यह देवता का नहीं—मनुष्य का कर्तव्य है। उपकार, करूणा, सम्वेदना और पवित्रता-मानव-हृदय के लिए ही बने हैं।[1]

मल्लिका ने प्रसेनजित्, अजातशत्रु व विरूद्धक को क्षमा ही नहीं किया अपितु प्रायश्चित के क्षणों के साथ उन्हें सद्धर्म की ओर प्रवृत्त किया—तथा उन्हें कृतज्ञता के पथ की ओर प्रशस्त किया। महात्मा गौतम ने क्षमा को कल्याण का प्रतीक मानते हुए राजा प्रसेनजित् की क्षमाशील भावनाओं के समर्थन में कहा:— 'आज मुझे संतोष हुआ—कोशलनरेश ! तुमने अपराधी को क्षमा करना सीख लिया, यह राष्ट्र के कल्याण की बात हुई।"[2]

प्रसादजी ने क्षमा को अहिंसा का अस्त्र तथा सुधारवाद का प्रतीक कहा है। क्षमा की उदात्तता से अपराधी मन सदा के लिए सद्धर्म की ओर प्रवृत्त होने में सक्रिय हो सकता है।

अहिंसा

प्रसादजी वैदिक-संस्कृति एवं बौद्ध-संस्कृति के समन्वय अध्ययन को प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध हुए हैं। बौद्ध-संस्कृति के दु:खवाद की गहन अनुभूतियाँ उनके वाङ्मय में सर्वत्र परिलक्षित होती है। अहिंसा परमो धर्म: "सिद्धान्त को स्वीकारते हुए विश्व-मानवता को रक्त-पात से बचाने के लिए प्रसाद कृतसंकल्प दिखाई देते हैं। उनका प्रत्येक पात्र हिंसात्मक मार्ग को छोड़कर करुणाजन्य व्यवहार के हित प्रयत्न-शील है। युद्ध को आर्तत्राण व स्वाधीनता के संरक्षण के लिये अनिवार्य धर्म कहा है किन्तु उसके लिए भी नैतिक-संहिता के आचरण को स्वीकृत किया गया है। अपनी महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए अथवा अधिनायकवादी दृष्टिकोण की सफलता के लिए युद्ध की स्वीकृति नहीं दी है—अपितु उसे रक्त-पात की संज्ञा दी है और मानवता को भीषण रक्तपात एवं विनाश से बचाने के लिए अहिंसा को सर्वत्र स्वीकृत किया है। अकारण रक्त-पात को नीति-विरुद्ध कहते हुए चाणक्य ने अपने शिष्यों के समक्ष अहिंसा के सूत्र को स्वीकार किया है:—

"क्या यही मेरी शिक्षा है ? बालकों की सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अकारण रक्त-पात नीति-विरुद्ध है।"[3]

---

१. अजातशत्रु पृ० सं० ६१
२. " " " १२४
३. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५०

चाणक्य—जो सम्पूर्ण आर्यावर्त को एक-सूत्र में बंधा हुआ देखने के लिए कल्पना शील है, जिसके पिता को अपमानित कर देश से निकाल दिया गया है—जिसके पास सुयोग्य शस्त्रविद् शिष्य हैं—वह भी शस्त्र-व्यवसाय को वृत्ति के रूप में स्वीकारने को सहमत नहीं है, अपितु सामान्यजन की तरह जीवन जीने की लालसा रखता है; रक्त-पात के अपराध से अपने आपको बचाने की दृष्टि से यही कहता है :—"मैं शस्त्र-व्यवसायी नहीं बनूंगा—मैं कृषक बनूंगा।"[१]

हिंसा क्रूरता का प्रतिफल है और क्रूरता मानवीय प्रवृत्ति का नहीं अपितु पशुता का निदर्शन है, सामान्य व्यक्ति हो अथवा शासक—उसे करुणामय सृष्टि के लिए जन्म मिला है न कि जंगली सभ्यता से पशु-जीवन जीने के लिए। कुणीक के संदर्भ में उसकी बहिन जीवन उद्देश्य को व्यक्त कर रही है :—"मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र-पशु जगत् में क्या कम हैं ?"[२]

वासवी, एवं पद्मा अहिंसा-मार्ग की समर्थक हैं, शासक में प्रजा के प्रति करुणा के भाव देखने के लिए भावनाशील है, महात्मा गौतम के अहिंसा-मार्ग को सर्वत्र प्रचारित करने के लिए कृतसंकल्प दिखाई देती है। प्रसाद ने इन पात्रों के माध्यम से करुणा-संदेश को समस्त मानवता के लिए प्रसारित किया और सार्वजनीन सुख के लिये इसे अनिवार्य धर्म कहा। 'राज्यश्री' में भारत सम्राट हर्षवर्धन जो विजय-यात्रा के संदर्भ में निकला हुआ है—सहसा रक्त-पात को रोक कर मानवी-सृष्टि के हित के लिये अहिंसा के मार्ग को स्वीकारता हुआ चालुक्य-नरेश पुलकेशिन से अपने संकल्प को कहता हैं :—"परन्तु अब मैं युद्ध न करूंगा; व्यर्थ इतने प्राणों का नाश न होने दूंगा।"[३]

हर्ष ने मानवी सृष्टि के रहस्य को समझा तथा विवेक के साथ न्याय-पक्ष को स्वीकृत किया। मानव अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए असंख्य प्राणों का ग्राहक बन जाता है—यह अधिकार उसकी प्रमत्तता तथा अविवेकशीलता का कारण है। हिंसा मानव-धर्म नहीं अपितु पैशाचिक दुष्कर्म है। सुएनच्वांग भारतीय दर्शन से प्रभावित हो कर दस्यु से निर्भीकता के साथ कहता है—

"रक्त से किसकी प्यास बुझती है ? जानते हो !—पिशाचों की, पशुओं की, तुम तो मनुष्य हो !"[४]

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० ५६
२. अजातशत्रु ,, २४
३. राज्यश्री पृ० सं० ६४
४. यथोपरि ,, ६७

प्रसाद का हिंसात्मक मार्ग पर चलने वाला क्रूर पात्र अजातशत्रु जो धर्मान्धता एवं महत्वाकांक्षा से प्रेरित है, वह भी अंत में मल्लिका की प्रेरणा से अहिंसा के मार्ग को सहज रूप से स्वीकारता है। अहिंसा से तात्पर्य प्रसादजी का स्पष्ट है—'अकारण रक्तपात न किया जावे अथवा स्वार्थ-पूर्ति के हित मानव इस पैशाचिक कार्य में प्रवृत्त न हो—जहाँ धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक हो—वहाँ इसे पैशाचिक कृत्य नहीं कहा गया है अपितु धर्म की संज्ञा दी है। वैदिकी हिंसा का भी प्रसादजी ने समर्थन नहीं किया है—अपितु उसे भी धर्मान्धता का प्रतीक कहा है :—

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी ? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचारित हुआ, व्यक्ति सत्य में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्त-पात क्यों ?"[१]

समाज की रक्षा के लिए मानवी सृष्टि का उद्गम है, वह धर्म को स्वीकारता हुआ जीवों की रक्षा करे और प्राणी-वर्ग के विकास के लिए कृतसंकल्प रहे किन्तु वैदिकी हिंसा के माध्यम से धर्म की सिद्धि के लिए जीवों का विनाश करना मानवी-सृष्टि का धर्म नहीं कहा जा सकता है। प्रसादजी ने कामायनी में श्रद्धा के माध्यम से सभी को जीवन जीने का अधिकार है—इस तथ्य की पुष्टि की है:—

पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ,
वे क्यों न जियें उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।"[२]

कामायनी की श्रद्धा हिंसामयी सृष्टि से दूर रह कर मानवतावादी सृष्टि का उदय चाहती है। जिस सृष्टि में नर-संहार, रक्त-पात एवं अंध-परम्पराओं के अनुसार जीव-बलि की प्रथायें प्रचलित हों—वह मानवी सृष्टि नहीं कही जा सकती है—जहाँ आत्म-त्याग की अपेक्षा प्राण लेने की परम्परा हो—वह मानवी सृष्टि नहीं अपितु शवों का संसार मात्र है। आज विश्व में भीषण शस्त्रास्त्रों की अंधी भीड़ ने मानवता को निर्जीव बना दिया है—इस सृष्टि से करुणा, दया, ममता, स्नेह की स्थितियों का विसर्जन कर दिया है। आतंकित जगत् में मानव मानव से भयभीत एवं संत्रस्त है। विज्ञान की अभिनव उपलब्धियों ने मानव को शान्ति के पथ से हटाकर पशुवत् जीवन

---

१ स्कन्दगुप्त ,, ४।११७

२. कामायनी ,, १५८

जीने के लिए विवश कर दिया है।[1] प्रसाद की कामायनी मानवी-हिंसा का ही प्रतिवाद नहीं करती अपितु वह तो जीव-हत्या की विरोधिनी है। समस्त जगत् के जीवों के प्रति करुणार्द्र होकर उनके लिए जीवन-अधिकार की भावना को व्यक्त करती है।[2]

प्रसाद का अहिंसावादी सिद्धान्त भारतीय योग-दर्शन से अनुप्राणित है। योग-दर्शन में अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।[3] अशोक भीषण रक्तपात के पश्चात् स्वयं को अपराधी स्वीकारता हुआ पश्चाताप के क्षणों में जीता है तथा मानवता को करुणामय जीवन-दान देने के लिए कृत संकल्प हो जाता है प्रसाद का अहिंसावादी सिद्धान्त भारतीय दर्शन से प्रेरित है, बौद्ध दर्शन ने इसे अग्रसर किया और महात्मागांधी के अहिंसावाद ने इसे यथार्थमय स्वरूप प्रदान किया[4]

विशाख में प्रसाद ने जीवन उद्देश्य को व्यक्त करते हुए कहा है :—

"हाय-हाय ! मैंने क्या किया ? एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी। मैंने सोचा था कि नदी को अपने बाहुबल से सन्तरण कर जाऊँगा, पर मैं स्वयं बह गया। सत्य है परमात्मा की सुन्दर-सृष्टि को, व्यक्तिगत मानापमान, द्वेष और हिंसा से किसी को भी आलोड़ित करने का अधिकार नहीं है।"[5] मानव का धर्म परस्पर सहयोग एवं उदात्त भावना को लेक इस समाज को

---

१. मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी।
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना ही
हंत ! बची क्या शवता !
—कामायनी—कर्म सर्ग—पृ० सं० १४०

२. ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अलग जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही फीके ?
—कामायनी—कर्म सर्ग—पृ० सं० १३८

३. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः यमाः।
शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः।
—योगदर्शन—२।३१

४. छाया पृ० सं० ८४

५. विशाख पृ० सं० ८६

सुखमय करना है, न कि प्रसाद अथवा अधिकारों के वशीभूत होकर मानवी सृष्टि के साथ पशुवत व्यवहार करना। जब जीवनदान देने का अधिकार नहीं तो प्राणापहरण का क्या अधिकार है ? प्रसादजी ने विश्व-विजेता सिकन्दर को भी अहिंसात्मक मार्ग अपनाने के दृष्टिकोण को लेकर महर्षि दाण्ड्यायन से कहलाया है :—

"जयघोष तुम्हारे चारण करेंगें, हत्या, रक्तपात और अग्निकांड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं। विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है अलक्षेन्द्र ! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं। इसीलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगो।"[1]

प्रसादजी ने अहिंसावाद को अपना समर्थन देते हुए गांधीवादी विचारधाराओं को जीवन के लिए उपादेय सिद्ध किया है।

---

१. चन्द्रगुप्त पृ० सं० १।८७

समापन

समापन

हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक चरण में आदर्शवाद की स्थापना करने वाले तथा नैतिक मूल्यों के सशक्त समर्थकों में प्रसाद सर्वोपरि साहित्यकार हैं—जिन्होंने अतीत की प्राचीन परम्पराओं को नव-संस्कार की दृष्टि से देखा तथा मानवता के लिए उन्हें अभिनव रूप से प्रस्तुत किया। प्रसाद न तो भारतीय संस्कृति की रूढ़-परम्पराओं के प्रति दुराग्रहशील हैं और न ही पाश्चात्य जगत् के आधुनिकीवाद के प्रवाह में बहने के लिये आग्रहशील ही हैं। दो भिन्न संस्कृतियों के समन्वय के हित न पक्षपाती ही हैं और न विरोधी ही अपितु सत्य को स्वीकार कर सम्यक् दिशाबोध प्रदान करने के लिये कृत संकल्प दिखाई देते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि प्रसाद की रचनाओं का आधार एवं उद्देश्य प्राचीन इतिहास-प्रेम एवं संस्कृति की परम्पराओं का संरक्षण रहा है—किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रसाद ने जहाँ अपने सृजन का आधार प्राचीन इतिहास को स्वीकार किया है—वहाँ तितली, कंकाल व एक घूँट आदि रचनाओं के लिये आधुनिक परिवेश को भी आधार स्वरूप ग्रहण किया है। प्रसाद का मूल आधार मानवतावाद रहा है—जहाँ नीति पूर्ण जीवन जीने की व्यवस्था का जन्म है। नैतिक आदर्श का धरातल दुष्प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाना तो है ही किन्तु साथ ही मानव-मन के दृढ़-संकल्प और कर्तव्य-भावना को व्यक्त करना है। प्रसाद का नैतिक-धर्म उपदेश अथवा शिक्षा मात्र नहीं है—अर्थात् काल्पनिक आदर्श को आरोपित करना नहीं है अपितु व्यक्ति एवं समाज-सापेक्ष्य है। प्रसाद की नैतिक प्रवृत्ति ने साहित्यकार के साथ उन्हें अन्वेषक भी बना दिया—जिससे अपने सृजनशील पात्रों के आन्तरिक हृदयों में नैतिक-मूल्यों को परखने का अवसर भी प्राप्त हुआ। 'प्रेम-पथिक' के सृजन से ही उनकी विचार-धारा मानवतावाद की ओर प्रवृत्त होने लगी थी। प्रकृति-प्रेम को मानवी-रूप में अभिव्यक्त करने की लालसा ने उन्हें इस क्षेत्र में प्रेरित किया। 'झरना' और आँसू उनके जीवन की हलचल तथा पीड़ामय क्रन्दन को लेकर चलने वाली रचनायें कही जा सकती हैं किन्तु 'लहर' में

मानवतावाद के हित मार्ग प्रशस्त हुआ और 'कायायनी' की श्रद्धा ने मानवतावाद के अभिनव स्वरूप को व्यवस्थित मान्यता के साथ व्यक्त किया।

'कामायनी' पूर्ण रूप से मानवी सृष्टि को लेकर आगे बढ़ी है, कथावस्तु को एक सूत्र में ग्रथित कर मानव-मन को कर्म-क्षेत्र में आत्म-संकल्प के साथ अग्रसर होने का अवसर प्रदान किया—मानसिक वृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व को नैतिक सम्बल देकर आनन्दवाद की उस परम सीमा पर पहुँचाया—जहाँ वह अनासक्त भाव से जीवन जीता हुआ समस्त मानवता को विश्वबन्धुत्व की दृष्टि से देखने लगा और मानसिक क्रन्दन के ऊहापोह को समाप्त कर जीवन-जीने की दिशा मे व्यवस्था को जन्म दिया।

प्रसाद का प्रकृति प्रेम मानव-प्रेम में परिवर्तित हो गया। जीवन सत्य को समझने के लिए श्रद्धा ने पंथ प्रशस्त किया—जहाँ अणुवाद की विद्रूपता से बचकर मानव सुख-शान्ति के साथ सामाजिक जीवन जी सके।

प्रसाद के नाटक अतीत के स्वर्णिम अध्यायों को लेकर सांस्कृतिक चेतना के साथ आदर्शनिष्ठ नैतिक-मूल्यों को जाग्रत करने में सफल सिद्ध हुए हैं। प्रसाद का प्रत्येक नाटक और नाटक का प्रत्येक पात्र आदर्शवाद को स्थापित करने में सफल हुआ है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हम आदर्शवाद को सद्प्रवृत्ति के साथ सम्पृक्त कर देते हैं किन्तु असद् पात्र भी अपने धर्म के प्रति कृतसंकल्प है—और उस निमित्त आत्म-बलिदान से भी नहीं झिझकता—वह भी अपना मूल्य स्थापित करने में सफल सिद्ध हुआ है—चाहे परम्परागत नीति उसका समर्थन नहीं करती हो।

अजातशत्रु नाटक अहिंसा, विश्वप्रेम एवं मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिये अमर संदेश प्रसारित करता है, मानव अपने कर्तव्य से च्युत न हो—चाहे विपन्नावस्था में ही जीवन जी रहा हो, इसी प्रकार विशाख, अहिंसावाद, जनमेजय का नागयज्ञ अहिंसावाद एवं सहिष्णुता का पालन तथा वर्ग भेद की व्यवस्था को समाप्त करने की ओर संकेत करता है। स्कन्दगुप्त त्याग, आत्मबलिदान एवं राष्ट्र-प्रेम को संदर्भ में रखते हुये जीवन की नैतिक व्याख्या को प्रस्तुत करता है। चन्द्रगुप्त में ब्राह्मण संस्कृति की अनासक्त भावना, पावनता, कर्तव्यशीलता, स्वार्थ-परित्याग भावना तथा राष्ट्र की एकता के सुन्दर सूत्र मिलते हैं, साथ ही अहिंसा एवं सत्य का समर्थन भी सशक्त स्वरों में हुआ है।

ध्रुवस्वामिनी नाटक प्राचीन आदर्शनिष्ठ नैतिक मूल्यों के परीक्षण की प्रयोगशाला है— जहां रुढ़िग्रस्त मान्यताओं को विशृंखल कर सम-सामयिक दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु मानवतावाद की कसौटी पर कस कर अभिनव व्यवस्था को जन्म देना है—साथ ही उसे नैतिक-दृष्टि से मान्यता भी प्रदान कराना है। वैवाहिक संस्था के संदर्भ में प्रसाद ने समाज को एक नवीन दिशा प्रदान की और नारी-जगत्

की सदियों से चली आ रही संत्रस्त पीड़ा का उद्धार करते हुए उसे गतिशील बनाकर जीवन्त शक्ति के साथ समाज में उपस्थित किया।

इस प्रकार राज्यश्री, कामना व एक घूंट में भी प्रसाद ने नूतन स्वर दिये हैं। कंकाल व तितली में यथार्थवाद की विद्रूपदा को दिखाकर नैतिकता की ओर प्रशस्त किया है। प्रसाद ने व्यष्टि को समष्टिगत रखते हुये मानवतावाद की पुष्टि की। जाति, वर्ग, वर्ण एवं देश तथा सीमा आदि की भित्तियों को तोड़ कर विश्वजनीन बनने की ओर प्रेरित किया। "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आधार पर सम्पूर्ण जगत् को एक परिवार की तरह जीवन जीने के लिये नवीन सृष्टि की संरचना की। प्रसादजी ने मन को ही अधिष्ठाता कहा है—जो अपनी इन्द्रियों का नियामक है—जो सद् और असद् की वृत्तियों को बुद्धि के माध्यम से संचालित करता है। कठोपनिषद् के जीवन-सत्य को प्रसाद ने स्वीकृत किया है।[1] आदिकवि बाल्मीकि ने रामायण रचना से पूर्ण कारुणिक अनुभूति प्राप्त कर मानवतावाद को स्वीकृत किया था:—

"मा निषाद प्रतिष्ठा न्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

प्रसादजी ने भी विश्व-मानवता के क्रन्दनमय हाहाकार से पीड़ित होकर करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित करने का निश्चय कर लिया था। उनकी श्रद्धा दया, माया, ममता, स्नेह व क्षमा को बांटने के लिये द्वार खोले हुये बैठी है।[2] प्रसादजी का मुख्य आदर्श यही है कि मानव को असद् से सद् की ओर ले जाना। जैसा कि हमारी भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र है:—

असतो मा सद् गमय
तमसोमा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

---

१. आत्मान रथिनं बिद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। —कठोपनिषद्—३।५७-५८

२. दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास।
तुम्हारा हृदय रत्न निधिस्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।
—कामायनी श्रद्धा सर्ग—पृ० सं० ६७

भारतीय जीवन-पद्धति संतोष को ही महासुख स्वीकार करती रही है:—जैसा कि कहा भी गया है:—"संतोषमेव पुरुषस्य परमं निधानम् ।"

प्रसाद ने अपनी ओर से नैतिकता की अभिनव व्याख्या को आरोपित नहीं किया है, अपितु परम्परित सांस्कृतिक नैतिक मूल्यों को सामयिक चिन्तन के साथ प्रस्तावित किया है। प्रसाद व्यक्ति-सुख को समस्त मानवता के हाथों में बाँट देना चाहते हैं—जैसा कि आर्यावर्त संस्कृति की मुख्य भावना रही है:—

"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।।

प्रसाद ने अपने नैतिक मूल्यों के हित उन महर्षियों तथा चिन्तकों के सूत्र स्वीकार किये हैं—जिन्हें मान्यता मिल चुकी है। वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में प्रसाद ने मनुस्मृति के सूत्र को स्वीकार किया है:—

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न,
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिताः गुणकर्मभिः ।।

वर्ण-व्यवस्था गुण अथवा कर्म से ही स्वीकार करनी चाहिये न कि वंश-परम्परा के अनुसार। मध्य-युग के पूर्व से ही इस व्यवस्था को विकृत कर दिया और वंश-परम्परा के अनुसार अधिकृत होने की भावना ने जन्म ले लिया—यही कारण है कि समाज शनैः शनैः विशृंखल हो उठा और यह व्यवस्था आज दूषित हो चली। सत्य को स्वीकार करना ही चाहिये—जैसा कि कहा भी गया है:—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः ।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्य प्रतिष्ठितम् ।

समाज ने सत्य को ठुकराया और उसी समय से व्यवस्था में विकृति का उदय हो गया। वर्णव्यवस्था ही नहीं अपितु आश्रम व्यवस्था का स्वरूप भी विचलित हो उठा—साथ ही नारी-सम्मान भी दयनीय-स्थिति में आगया—अन्यथा भारतीय विचार-धारा तो यह रही है:—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।"

वैदिक-साहित्य में सर्वत्र नारी-सम्मान एवं उसकी स्वतन्त्रता पर अनेक संकेत मिलते हैं। स्मृतिकारों ने नारी को बंधन में अवश्य बाँधा किन्तु उसे नैतिक स्वरूप के साथ सम्मानित भी किया। नारी-समाज की प्रतिष्ठा एवं व्यवस्था के हित स्मृति-कारों ने विशद् रूप से विवेचन किया है—जहाँ नारी के पातिव्रत्य धर्म, सती भावना, कर्तव्यतत्परा आदि के संकेत उपलब्ध होते हैं—नारी पुरुष के साथ बंध कर पति-पत्नी के रूप में विश्वास के धरातल पर नैतिकता पूर्ण जीवन जीये। नारी-जीवन के लिये पति को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धु पतिर्गुरुः ।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः ।

पति को ईश्वर तक की संज्ञा दी गई है। प्रसाद के अनेक पात्रों ने इस नीति का अक्षरश: पालन किया है। धर्म, अधिकार, कर्तव्य, त्याग, क्षमा, शुचि, संयम, करुणा, प्रेम व ईश्वर भक्ति आदि के अतिरिक्त राष्ट्र-प्रेम एवं सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में भी शास्त्रों के अनुसार नैतिकता को महत्व दिया है। प्रसाद ने दैववाद का खण्डन करते हुए कर्म की ओर प्रवृत्त रहने के लिए संकेत किया है— जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतु र्भूः, माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

प्रसादजी ने मानव को कर्तव्य पालन के निमित्त सदा सजग रखने का प्रयास किया है; वैयक्तिक स्वार्थों का परित्याग कर कर्तव्य का पालन करना ही श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। मधूलिका अपने कर्तव्य-पालन के निमित्त प्रणय का परित्याग कर देती है, अपने जीवन की समस्त सुखमय अनुभूतियों का विसर्जन कर लेती है। प्रसाद के आदर्श पात्र अपनी गरिमा को अंकित किये बिना नहीं रह पाते हैं। प्रसाद ने इन पात्रों के मध्य उदात्तता तथा त्यागमय कर्तव्य भावना का समावेश इस प्रकार किया है कि—ये पात्र काल्पनिक आदर्शवाद से परिवेष्ठित प्रतीत नहीं होते और न कृत्रिम जीवन जीते हुए ही दिखाई देते हैं। सहजता के साथ धर्म का निर्वाह करते हुए नैतिक-मूल्यों के संरक्षण के लिए इन पात्रों में बलिदान की भावना विद्यमान है।

प्रसादजी का नैतिक-दर्शन शास्त्रीय परम्पराओं के अनुकूल होते हुए भी सम-सामायिक चिन्तन धारा से पूर्णरूपेण प्रभावित है। जहां शास्त्रीय-परम्परायें रूढ़ हो गई हैं—वहां प्रसाद की दृष्टि ने पुनर्विचार के लिए अवसर प्रदान किये हैं।

प्रसाद के पात्रों में एक तो वे पात्र हैं जो संदर्भ की ओर प्रवृत्त हैं तथा दूसरे वे पात्र हैं—जो असद् दिशा की ओर प्रवृत्त हो कर अन्त में निवृत्ति की ओर प्रेरित होते हैं—ऐसे ग्लानि भरे पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के संदर्भ मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—ग्लानि अन्तः करण की शुद्धि का एक विधान है, इससे उद्गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दु:ख से या सुख से कथन भी करते हैं, उसमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। अपने दोष का अनुभव, अपने अपराध का स्वीकार, आन्तरिक अवस्था का उपचार तथा सच्चे सुधार का द्वारा है।"[1] प्रसादजी की दण्ड-व्यवस्था भी आदर्शपूर्ण ही कही जायेगी—क्योंकि प्रसाद शारीरिक अथवा आर्थिक दण्ड-विधान के माध्यम से सुधारवाद की अपेक्षा नहीं करते हैं। उनकी मान्यता रही है कि व्यक्ति को सुधारने के लिए पश्चाताप ही

---

१. चिन्तामणि—पृ० सं० ५८

पर्याप्त अस्त्र है—इस प्रयोग के माध्यम से स्कन्दगुप्त में शर्वनाग, भटार्क, अनन्तदेवी, चन्द्रगुप्त मे मौर्य सेनापति, पर्वतेश्वर आदि तथा अजातशत्रु में अजातशत्रु, छलना, विरुद्धक व प्रसेनजित् आदि पात्र राज्यश्री में रत्नभिक्षु आदि अनेक पात्र पश्चाताप की अग्नि मे जलते हुए सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए। भारतीय संस्कृति के समुपासक प्रसाद ने नैतिक मूल्यों में अभिनव प्रयोग किये किन्तु मूलाधार भारतीय संस्कृति को ही स्वीकार किया। इस संदर्भ में डा० रवीन्द्र ने लिखा है—सरस साहित्यकार के अतिरिक्त प्रसादजी भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के मर्मज्ञ भी थे। प्रसादजी की यह निष्ठा थी कि यदि भारत वर्ष को भारत वर्ष ही रहना है, तो उसे अपने दर्शन और संस्कृति का अनुगमन करते हुए युगानुरूप विज्ञान आदि का संकलन करना चाहिये।"[1] प्रसाद के वे पात्र जो आधुनिक-सभ्यता के समर्थक रहे हैं—वे सभी आन्तरिक रूप से भारतीय-संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों के समर्थक रहे हैं अपितु विदेशी पात्र भी भारतीय संस्कृति में अनुप्राणित हो कर भारतवर्ष के सरल जीवन व उच्च विचारों के सिद्धान्त का पालन करते हुए देखे गये हैं। तितली उपन्यास की शैला पात्र पाश्चात्य सभ्यता में जी कर भी आर्य-संस्कृति की समुपासिका के रूप में प्रस्तुत की गई है।

प्रसाद के नैतिक-चिन्तन के संदर्भ में डा० शर्मा ने कहा है कि—मूलत: उनके नैतिक आदर्श प्राचीन धर्म-ग्रंथों का आश्रय लेकर आगे बढ़े हैं—फिर भी सामयिक नैतिक विचारधारा की वे अपेक्षा नहीं कर सके हैं। इसीलिए उनके नैतिक-आदर्शों में महात्मा गांधी के नैतिक-आदर्शों का समावेश परिलक्षित है। फलस्वरूप उनके नैतिक आदर्श रूढ़िबद्ध परम्पराओं की लकीर मात्र ही नहीं पीटते, अपितु वे जीवन्त और चिरन्तन प्रतीत होते हैं।"[2]

प्रसाद का नैतिक दर्शन नीति-सम्मत है। प्राचीनकाल से चले आ रहे वैदिक मत को आधुनिक-युग की विचारधाराओं से समन्वय कर उसे अभिनव रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रसाद में रही है।

प्रसाद ने नैतिक सिद्धान्तों के लिये चाणक्यनीति, अर्थशास्त्र, कामसूत्र, न्यायभाष्य, मनुस्मृति, जातक खंड, आदि नैतिक-ग्रंथों का अध्ययन किया था। पाश्चात्य-धर्म ग्रंथों का भी लेखक ने पूर्ण मनन किया था। प्रसाद ने मानव को नीति-सम्मत मार्ग पर चलने के लिये सदा प्रेरित किया।

प्रसाद ने सम्पूर्ण विश्व को मानवता की ओर चलने का संदेश दिया। इस

---

१. प्रसाद का नाट्य साहित्य परम्परा एवं प्रयोग

२. प्रसाद-साहित्य की सांस्कृतिक–पृष्ठभूमि—पृ० सं० २२८

विश्व में एक ऐसी अभिनव सृष्टि की कल्पना की—जहाँ न सीमायें हों और न शासकजन्य अधिकार लोलुपता, केवल प्रेम का अथाह सागर उमड़ता रहे और करुणा की वृष्टि होती रहे। चम्पा द्वीप की कल्पना प्रसादजी की मौलिक सृष्टि की कल्पना है—जो मानव को इस महानगर के संत्रासित वातावरण से हटाकर एक ऐसे शान्त द्वीप की ओर ले जाना चाहता है—जहाँ मानव मन की सकल दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन हो जाये अथवा इन प्रवृत्तियों का उदय ही न हो पाये। चम्पा द्वीप मानवी सृष्टि के विकास का—जहाँ संतोष, स्नेह, ममता एवं करुणा का साम्राज्य है, प्रतीक है। आधुनिक सभ्यता के कृत्रिम वातावरण को जहाँ स्थान नहीं है—ऐसा प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि विज्ञान के अभिनव उपकरणों की बाढ़ के साथ मानव अपने मूल स्वरूप को गँवा कर कृत्रिम व्यवहार-पूर्ण वातावरण में जीने का आदी हो गया है। प्रसाद बाह्यपक्ष के उद्घाटन में नहीं अपितु आन्तरिक-वृत्तियों के विकास में सहयोगी बनना स्वीकार करते रहे।

आचार्य श्री सीताराम की मान्यता है कि—"प्रसाद का नैतिक आदर्श केवल ऊपर से ओढ़ा हुआ तथा कथित मानवतावाद का अथवा कल्पित आदर्शों का आवरण-भर नहीं है, प्रत्युत् अपनी वैयक्तिक चारित्रिक विशिष्टताओं को पूर्ण पुरुषार्थ के साथ और अपने परिवेश की पूरा सच्चाई के साथ जीने वाली नैतिकता है। यह नैतिकता उस धर्म और कानून से भी अधिक शक्तिशाली है—जो सामाजिक नियन्त्रण के संदर्भ में एक स्वाभाविक मर्यादा को जन्म देती है, प्रसाद के पात्रों का नैतिक आदर्श कल्पित होकर पात्रों के आभ्यन्तरिक केन्द्र से प्रस्फुटित वैयक्तिक ऊर्जा का प्रतीक है।"

'कामना' नाटक के माध्यम से प्रतीक-पात्रों की रचना करके मानवी-वृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त कर यह सिद्ध किया है कि संतोष के साथ ही मानव सम्पूर्ण दुःखों से हटकर जीवन जी सकता है, कामना विलास की भावनाओं के साथ जीकर मानवी सृष्टि को विकास की ओर नहीं अपितु ह्रासोन्मुखी बनाती है इन प्रतीक-पात्रों के संघर्ष से सिद्ध कर दिया मानव सत्ता की लोलुपता और अधिकार-सुख भोगने के लालसा से असत् पथ की ओर प्रवृत्त होता है, सहज व्यापार के पथ से हट कर कृत्रिमता के रंगीन दर्पण-खण्डों में भ्रमित होता है—वहाँ वह अपनी नैतिक मान्यताओं की सुरक्षा नहीं रख पाता है।

प्रसादजी ने नैतिक मान्यताओं को सहज रूप से प्रस्तुत किया है न कि समाज पर आरोपित किया है। प्रयोगशाला में मनोवैज्ञानिक पद्धति से पात्रों पर विश्लेषण के साथ प्रयोग करने के पश्चात् उन मान्यताओं को प्रतिष्ठित किया—जो सहज रूप से सम-सामयिक चिन्तन के दृष्टिकोण से उपयुक्त ठहर सकी। प्रसादजी साँस्कृतिक परम्पराओं के बंधन में बंधकर भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रेमी रहे—और इसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को मानव के आत्मिक-विकास का साधन स्वीकार किया। प्रसाद

ने अपने साहित्य में ऐसे पात्रों का सृजन किया—जो बंधनमुक्त होकर अपनी विचार-धाराओं के अनुसार नूतन व्यवस्था के साथ जीवन जी सके। किन्तु उन्होंने यह भी सदा ध्यान रखा कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का कहीं अनुचित प्रयोग न हो जाये अथवा इससे उच्छृंखल मनोवृत्ति को उत्साह न मिल सके। वैयक्तिक स्वतन्त्रता से वे आत्मिक-विकास की भूमिका को सहयोग देना चाहते थे। ऐसे पात्रों में—मल्लिका, देवसेना, विजया, सरमा, मणिमाला, कमला, मागन्धी, जयमाला, अलका, मालविका, कोमा, मातृगुप्त, मुद्गल, प्रख्यातकीर्ति, प्रपंचबुद्धि, सिंहरण, प्रेमानन्द एवं शान्तिभिक्षु आदि अनेक व्यक्तित्वों को स्वतन्त्र वैचारिकी के लिए मुक्त कर दिया गया। इन पात्रों में कुछ आरम्भ से ही आत्मिक-विकास की ओर अग्रसर हुये और कुछ समन्वय परिवेश में जीने लगे अन्य उच्छृंखल विचारधाराओं से भी सम्पृक्त रहे किन्तु सभी की अपनी-अपनी मान्यता रही और अपना पृथक् ही जीवन दर्शन रहा। ये पात्र रूढिवादिता की परम्परित व्यवस्था को तोड़ कर सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ अपना जीवन जी रहे थे।

प्रसाद ने अपने इन पात्रों के माध्यम से प्रयुक्त आदर्श-सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की। अपने पात्रोंका प्रथम धर्म राष्ट्रीय स्वीकृत किया। प्रत्येक पात्र को राष्ट्रीय परिवेश से सम्पृक्त रहते हुये जीवन व्यवस्था की ओर प्रेरित किया—ये पात्र राष्ट्र के सम्मान के हित अपना सर्वस्व अर्पित करने को सदा प्रस्तुत रहे—ऐसे पात्रों में चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, सिंहरण, अलका, देवसेना, जयमाला, मधूलिका आदि हैं। कर्तव्य की धुरी पर घूमते हुये ये पात्र त्याग व बलिदान की भावना से प्रेरित होकर मानवीय दृष्टिकोण के साथ जनहिताय व्यस्त प्रतीत होते हैं और कर्तव्य-भावना को ही सर्वोच्च रूप से स्वीकार करते हैं। और यही कारण है कि प्रसाद साहित्य से पात्र का विश्व-साहित्य में दिखाई देना असम्भव सा प्रतीत होता है। प्रसाद ने उन्हें आदर्शनिष्ठ ही नहीं बनाया अपितु यथार्थ के ढाँचे में ढाल कर प्राणों में नैतिकता की श्वांस भर दी है—जिससे सत्य-जीवन जीने के लिये सहमत हैं।

आदर्शनिष्ठ परम्पराओं के संदर्भ में प्रसादजी पूर्णतः स्पष्ट हैं—वे उन मान्यताओं के साथ कभी सहमत नहीं हो सकते -जो समय के साथ चलती हुई लड़खड़ा गई हैं अथवा रूढ़ होकर अंध-विश्वास में परिणत हो गई हैं -प्रसादजी तो उन मान्यताओं के साथ सम्पृक्त हैं जो स्वस्थ विचारधाराओं के साथ युग को नवीन दिशा देने में समर्थ हैं और आदर्श समाज की व्यवस्था में सहयोग रखती है। प्रसाद पाश्चात्य सभ्यता की दौड़ में साथ देने की सलाह कभी नहीं देते हैं—यह आवश्यक है कि विज्ञान की अभिनव उपलब्धियों से यदि विश्व-समुदाय को सुख-शाँति मिलती है तो इस क्षेत्र में हमें पिछड़ना नहीं चाहिये। जहाँ तक पाश्चात्य विचारधाराओं के

परिणाम स्वरूप मुक्तवाद— अर्थात् स्वातंत्र्यवाद का प्रश्न है—वहाँ प्रसाद का कवि इसका समर्थन अवश्य करता है किन्तु यह मुक्तता उच्छृंखलता से युक्त नहीं अपितु मर्यादित है। प्रणय के संदर्भ मे प्रसादजी ने अपने पात्रों को पूर्ण रूप से मुक्त रखा है किन्तु यह मुक्तता स्वेच्छाचारिता अथवा मर्यादाविहीन स्थितियों से अन्वित नहीं है। युवा-वर्ग को पारस्परिक भाव-विनिमय, एक दूसरे की स्वीकारने की स्थिति तथा जीवन-सूत्र में बंध अर जीने के लिए मुक्त रखा है किन्तु अपने ऐसे पात्रों को व्यभिचरित एवं आचरणहीन जीवन जीने के लिये किसी भी क्षण ढीला नहीं छोड़ा—और यही कारण है कि प्रासाद का यह स्वतांत्र्यवाद भी आदर्शवाद से दूर नहीं हो सका। गाला एव मंगल के प्रणय-बंधन को दिग्दर्शित करते हुए प्रसाद ने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म एवं जाति-भेद प्रणय की पावन स्थितियों को भग्न नहीं कर सकते हैं और न स्त्री को अनिच्छा से ही पुरुष अपने साथ बांध कर रख सकता है। आज जो 'तलाक' की समस्या चल रही है—उस संदर्भ में भी प्रसाद पूर्ण रूप से स्पष्ट हैं—क्षणिक विद्रूपता अथवा असमानता के कारण बंधन नहीं खण्डित किये जा सकते हैं, सनातन मान्यताओं को विखण्डित नहीं किया जा सकता है, किन्तु स्त्री पर अनाचार करते हुए उसके अधिकारों की उपेक्षा कर उसे नारकीय जीवन जीने के लिए विवश नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार प्रसादजी ने अनेक अभिनव मान्यताओं की पुष्टि की है।

प्रसाद-साहित्य में नैतिक-दर्शन की विशद् व्याख्या का विवेचन हुआ है। प्रसाद-साहित्य ने आदर्श-पात्रों की रचना की है किन्तु उच्छृंखल-पात्रों में भी हमें नैतिकता के दर्शन मिलते हैं; उनकी भी मान्यताओं में हमें स्वस्थ विचारधारायें देखने को मिलती है। भारतीय आदर्शनिष्ठ साँस्कृतिक परम्पराओं से सम्पृक्त नैतिक-सूत्रों की व्याख्या के साथ अभिनव मान्यतायें भी हमें नैतिक जीवन जीने का संदेश देती हैं।

नामानुक्रम

व

ग्रंथानुक्रम

नामानुक्रम

ग्रंथानुक्रम

अ

आ

इ

ई

उ

च

छ

ज

झ

त

द

ध

न

स

ह

त्र